विद्याभवन आयुर्वेद ग्रन्थमाला
५२



॥ श्रीः ॥

वाग्भट-विवेचन

(वाग्भट का सर्वांगीण समीक्षात्मक अध्ययन)

रचयिता
आचार्य प्रियव्रत शर्मा
एम० ए० (द्वय), ए० एम० एस०, साहित्याचार्य
अध्यक्ष : द्रव्यगुण-विभाग एवं निदेशक :
स्नातकोत्तर आयुर्वेदीय संस्थान,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-१
१९६९

प्रकाशक : चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी
मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी

प्रधान कार्यालय—
चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस
गोपाल मन्दिर लेन,
पो० आ० चौखम्बा, पोस्ट बाक्स ८, वाराणसी–१

THE
VIDYABHAWAN AYURVEDA GRANTHAMALA
52

VĀGBHAṬA-VIVECHANA

(A Comprehensive Critical Study of Vāgbhaṭa)

Author
ACHARYA PRIYAVRATA SHARMA
M. A. (Double), A. M. S., Sahityacharya.
Head of the Department of Darvyaguna & Director, Postgraduate Institute of Indian Medicine, Banaras Hindu University

23cm

THE
CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
VARANASI-1
1939

Also can be had of

THE CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE

Publishers and Antiquarian Book-Sellers

P. O. Chowkhamba, Post Box 8, Varanasi-1 (India)

Phone : 3145

प्रस्तावना

आयुर्वेद में वाग्भट का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वाग्भट नाम के दो आचार्य हुए हैं। प्रथम वाग्भट कदाचित् पाँचवीं या छठीं शताब्दी में हुए थे। उनका अष्टांग-संग्रह आयुर्वेद के इतिहास में विशेष गौरवपूर्ण स्थान का अधिकारी है। आयुर्वेद के आचार्यों ने जीवन को पूर्ण रूप से देखने का प्रयास किया है,—उसके प्राणतत्व, मनस्तत्व और आत्मतत्त्व को भी ध्यान में रखा है। मनुष्य का शरीर केवल जड़ भौतिक पदार्थों का पिण्ड मात्र नहीं है। वह उससे बड़ा है—बहुत बड़ा। यही कारण है कि आयुर्वेद में समग्र मनुष्य को चिकित्स्य माना गया है। उसकी चिकित्सा में उस सामाजिक परिवेश को भी नहीं भुलाया गया है जो मनुष्य को सुखी या दुखी बनाने में योग देता है। यही कारण है कि आयुर्वेद के ग्रन्थों में सांस्कृतिक अध्ययन के लिए जो सामग्री मिलती है वह केवल संयोगवश पाई जाने वाली सामग्री से भिन्न है। वह प्रयत्न-पूर्वक सोच-समझ कर ग्रंथकार द्वारा नियोजित है। व्याकरण या दर्शन के ग्रन्थों में जो सामग्री मिलती है उससे यह प्रकृत्या भिन्न है। व्याकरण में शब्दों या वाक्यों के उदाहरण के रूप में ऐसी सामग्री मिलती है जिससे हम तात्कालिक सामाजिक संदर्भों और वस्तुस्थितियों का अनुमान कर सकते हैं। वे वैयाकरण की प्रधान अभिप्रेत वस्तु नहीं है। परन्तु आयुर्वेद ग्रन्थों में बहुत-सी ऐसी सामग्री है जो ग्रन्थकारों द्वारा सयत्न अभिप्रेत है। इस दृष्टि से चरक, सुश्रुत और उनसे भी पूर्व के आचार्यों के ग्रन्थ बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। वे हमें मानव-जीवन के समृद्ध इतिहास के पुनर्निर्माण के लिए विश्वसनीय सामग्री देते हैं। परन्तु साधारणतः प्राचीन इतिहास के अध्येताओं की दृष्टि इधर नहीं गई है। उन पर या तो आधुनिक शोधकर्ताओं में से उन लोगों की दृष्टि गई है जो चिकित्सा के इतिहास में रुचि रखते हैं या पुरानी पद्धति के उन अध्येताओं की दृष्टि गई है जो चिकित्सा के लिए इन ग्रन्थों को अपना मार्गनिर्देशक मानते हैं। हर शास्त्र की अपनी शास्त्रीय भाषा होती है जो उसमें निष्णात विद्वानों के लिए तो सहज होती है पर दूसरे शास्त्रीय अनुशासनों के लिए अभ्यस्त विद्वानों के लिए कठिन होती है। इन ग्रन्थों की सांस्कृतिक सामग्री के अध्ययन के लिए इनकी भाषा और शैली पर पूर्ण अधिकार की आवश्यकता होती है। इस प्रकार के विद्वान् जिनमें ऐतिहासिक दृष्टि भी हो और चिकित्साशास्त्र के निष्णात विद्वान भी हो विरल ही होते हैं।

इसीलिए सांस्कृतिक अध्ययन के लिए इन ग्रन्थों का बहुत कम उपयोग किया गया है।

मुझे यह देखकर प्रसन्नता होती है कि आयुर्वेद शास्त्र के अधिकारी विद्वानों का ध्यान इस ओर जाने लगा है। डा० प्रियव्रत शर्मा ऐसे ही अधिकारी विद्वान् हैं। उन्होंने वाग्भट के अष्टांग-संग्रह का सांस्कृतिक दृष्टि से विश्लेषण किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में उन्होंने शास्त्रीय अध्ययन के साथ ही साथ सांस्कृतिक अध्ययन प्रस्तुत किया है। उस काल के गृहस्थ जीवन के सामान्य उपकरणों से लेकर धार्मिक जीवन तक के विभिन्न पहलुओं का संक्षिप्त किन्तु मार्मिक विश्लेषण करके उस काल के सामान्य और विशिष्ट जीवन को उरेहने का प्रशंसनीय प्रयास किया है। मेरी विशेष रुचि इसी अंश में है। इसी पक्ष को मैंने बड़े आनन्द के साथ पढ़ा है। अनेक प्रकार के कार्यों में व्यस्त रहते हुए भी उन्होंने यह महत्त्वपूर्ण कार्य संपन्न किया है, यह देखकर बड़ी प्रसन्नता होती है।

सांस्कृतिक अध्ययन एक प्रकार की समग्र दृष्टि की अपेक्षा रखता है। जिस काल-विशेष का अध्ययन किया जा रहा है उसको समझने के लिए सामग्री केवल एक ही ग्रन्थ में नहीं है और भी अनेक साधन हैं। विभिन्न शास्त्रीय ग्रन्थों के अतिरिक्त, चित्र, मूर्ति, वस्तु, खिलौने, मुद्रा, शिलालेख प्रभृति अन्य सामग्रियां हैं। विभिन्न संप्रदायों के धार्मिक ग्रन्थ हैं। विदेशी विद्वानों की गवाहियां हैं। इन सबको मिलाकर देखने की आवश्यकता होती है। रज्जब जी की प्रसिद्ध वाणी 'सब सांच मिलै सो सांच है, ना मिलै सो झूठ' इस क्षेत्र में पूर्णतः लागू होती है। डा० शर्मा ने अन्य समकालीन ग्रन्थों और सामग्रियों से यथासंभव मिलाकर अपना मत निश्चय किया है।

आशा है कि डा० शर्मा के इस महत्त्वपूर्ण अध्ययन का भारतवर्ष के सांस्कृतिक इतिहास के प्रेमी स्वागत करेंगे। इस प्रकार के प्रयास अन्य महत्त्वपूर्ण आयुर्वेदिक ग्रन्थों के बारे में भी होना चाहिए। आशा करनी चाहिए कि डा० शर्मा अपने व्यस्त जीवन में थोड़ा और समय निकाल कर अन्यान्य ग्रन्थों के विवेचन भी प्रस्तुत करेंगे और भारतीय सांस्कृतिक इतिहास के पुनर्गठन के लिए इसी प्रकार मूल्यवान सामग्री देते रहेंगे।

हजारीप्रसाद द्विवेदी

उपक्रम

आयुर्वेद एक प्राचीनतम विज्ञान है। कुछ लोग इसे विभिन्न वेदों का उपवेद मानते हैं किन्तु कुछ विद्वान इसकी धारा वेदों के समानान्तर मानते हैं।[1] संभवतः आदिमानव जब इस पृथ्वी पर अवतीर्ण हुआ तभी से इस जीवन-विज्ञान की आवश्यकता हुई स्यात् उससे भी पूर्व इसकी योजना जगन्नियन्ता के मन में बन चुकी थी। इस दृष्टि से आचार्य सुश्रुत का यह कथन ठीक ही है कि आयुर्वेद का अवतरण सृष्टि के पूर्व ही हो चुका था[2]। यह सब इस महत्वपूर्ण विज्ञान की चिरन्तनता एवं शाश्वतता का ही उद्घोष करते हैं। ऐसे प्राचीन शास्त्र का जिसका मूल काल-धरातल में इतना गहरा पैठा हुआ हो इतिहास लिखना या ऐतिहासिक मूल्यांकन करना अतीव दुष्कर कार्य है। उदाहरण के लिए, ऋग्वेद का काल कोई ६००० ई० पू० मानता है और कोई १०००[3] ई० पू०। आयुर्वेदीय इतिहास के क्षेत्र में भी ऐसी ही कठिनाइयाँ हैं।

सच पूछा जाय तो वस्तुतः आयुर्वेदीय इतिहास का कार्य अभी प्रारम्भ ही नहीं हुआ है। अब तक इस दिशा में जो कार्य हुये हैं वे कुछ तो व्यक्तियों के जीवन-चरित हैं और कुछ ग्रन्थों के विषय में सूचनामात्र, किन्तु इतिहास इतना ही नहीं होता। इसमें व्यक्तियों के अतिरिक्त, विचारों के संघर्ष, उत्थान-पतन, क्रमिक विकास तथा परिणति का स्पष्ट चित्रण होना चाहिए। यह तभी संभव होगा जब साथ ही तत्कालीन सांस्कृतिक एवं सामाजिक स्थितियों का भी सूक्ष्म अध्ययन किया जाय जिससे मूल पृष्ठभूमि का स्वच्छ प्रतिबिम्ब उभर सके। इसके अतिरिक्त, सम-सामयिक व्यक्तियों एवं कृतियों के साथ उसका तुलनात्मक अध्ययन भी होना चाहिए जिससे उसकी समानता और विशेषता लक्षित हो सके। इस प्रकार ऐतिहासिक अध्ययन तथ्यों का आकस्मिक संकलन-मात्र न होकर एक व्यवस्थित वैज्ञानिक प्रक्रिया है जिसमें एक निश्चित पद्धति पर तथा प्रामाणिक सामग्री के आधार पर कार्य किया जाता

---

१. Benoy Kumar Sarkar : Positive background of Hindu Sociology. Ch. V.

२. इह खलु आयुर्वेदो नाम यदुपांगमथर्ववेदस्यानुत्पाद्यैव प्रजाः श्लोकशत-सहस्रमध्यायसहस्रं च कृतवान् स्वयंभूः।—सु० सू० १।३

३. Winternitz : A History of Indian Literature, Vol. I, Part-I, Page 253, 258; Chinmulgand and Mirashi : Review of Indological Research in Last 75 years, page 50-53.

है। इस प्रक्रिया को अपनाने के लिए व्यापक अध्ययन की आवश्यकता है। कठिनाई यह है कि एक ओर आयुर्वेदज्ञ प्राचीन संहिताओं का अर्थ तो कर लेते हैं किन्तु उनका समीक्षा-प्रधान तुलनात्मक अध्ययन नहीं कर पाते और न ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में तथ्यों का सही आकलन ही कर सकते हैं तो दूसरी ओर आधुनिक विद्वान ऐतिहासिक दृष्टि तो रखते हैं किन्तु आयुर्वेद से अनभिज्ञ रहने के कारण उस विषय में उनका प्रवेश नहीं हो पाता फलतः वे उसके अन्तरंग अध्ययन में असमर्थ हो जाते हैं और आभ्यन्तर साक्ष्यों का एक महत्वपूर्ण पक्ष दुर्बल रह जाता है जिस कारण उनकी स्थापनायें प्रायः भ्रामक होती हैं। उदाहरण के लिए, डा० हार्नले ने प्राचीन शास्त्रों के अध्ययन में कठिन परिश्रम किया और आयुर्वेद के इतिहास पर भी विवेचन किया किन्तु विषय में मौलिक प्रवेश न होने के कारण अनेक स्थलों में वह भ्रान्ति के शिकार बने। माधवकर को वह वाग्भट द्वितीय के पूर्व मानने के पक्ष में हैं। आभ्यन्तर साक्ष्यों पर यदि थोड़ा भी ध्यान दिया जाता तो ऐसा भ्रम नहीं होता क्यों कि माधव ने रोगों के सम्बन्ध में अनेक नवीन उद्भावनायें की हैं और यदि वाग्भट द्वितीय उसके बाद होता तो वह अवश्य इन विचारों का समावेश अपने ग्रन्थ में करता किन्तु उसमें इसका तनिक भी संकेत नहीं मिलता। इसी प्रकार के अन्य उदाहरण भी हैं। कुछ तो हास्यास्पद विचार भी मिलते हैं। आयुर्वेदीय इतिहास के एक आधुनिक अधिकारी विद्वान माधव-निदान के रचयिता को सायणाचार्य के भाई माधव के रूप में ग्रहण कर उनका काल १२ वीं शती निर्धारित करते है[१]। इससे स्पष्ट है कि आयुर्वेद का वैज्ञानिक इतिहास लिखने का कार्य अभी शेष है और प्रस्तुत ग्रन्थ उसी दिशा में एक नवीन प्रयास है। इस कार्य से वाग्भट को समझने में तो सहायता मिलेगी ही, अन्य समसामयिक कृतियों के कालनिर्णय में भी नई दिशा उपलब्ध हो सकेगी। उदाहरण के लिए, अष्टांगहृदय तथा शुक्रनीति के वर्णनों में साम्य से शुक्रनीति के काल पर भी प्रकाश पड़ेगा।

उपर्युक्त प्रक्रिया के अनुसार विषय-वस्तु को चार खण्डों में व्यवस्थित किया गया है :—

१—शास्त्रीय अध्ययन　　२—सांस्कृतिक अध्ययन

३—साहित्यिक अध्ययन　　४—ऐतिहासिक अध्ययन

प्रथम खण्ड में अष्टांगसंग्रह की विषय-वस्तु का अध्ययन अन्य आयुर्वेदीय संहिताओं की तुलना में किया गया है जिससे उसकी मौलिकता पर प्रकाश

---

१. Zimner : Hindo Medicine, Page 61.

पड़े और साथ ही आभ्यन्तर साक्ष्य के रूप में तथ्यों का संकलन किया जा सके। अन्त में अष्टांगसंग्रह और अष्टांगहृदय का एक तुलनात्मक अध्ययन भी प्रस्तुत किया गया है जिससे उनके साधर्म्य-वैधर्म्य का ठीक-ठीक परिज्ञान हो सके। दोनों के कर्ता वाग्भट एक हैं या भिन्न इस विवादास्पद प्रश्न का निर्णय बिना इनकी कृतियों के तुलनात्मक अध्ययन के कैसे संभव है ? द्वितीय खण्ड में ग्रन्थ का सांस्कृतिक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है जिसमें भाषा एवं शैली, राजनीतिक एवं आर्थिक स्थिति, भौगोलिक स्थिति, सामाजिक स्थिति, धार्मिक स्थिति तथा शिक्षापद्धति पर विस्तार से विचार किया गया है जिससे कर्ता एवं कृति की पृष्ठभूमि का सच्चा प्रतिबिम्ब उपस्थित किया जा सके। ऐतिहासिक अध्ययन के लिए सांस्कृतिक अध्ययन एक अनिवार्य साधन है। जब उपर्युक्त दोनों अध्ययनों से एक सिद्धान्त की परिकल्पना होती है तब उस काल की परिधि आने वाले लेखकों एवं उनकी कृतियों के साथ विवेच्य कर्ता एवं कृति का तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है जिससे उनके पौवापर्य का कोई संकेत उपलब्ध हो सके। इसी आधार पर दूसरी शती से सातवीं-आठवीं शती तक के लेखकों के साथ वाग्भट का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। वाग्भट चिकित्सक होने के साथ-साथ एक प्रौढ कवि भी हैं और उनकी रचना अष्टांगसंग्रह एक उत्तम काव्य का नमूना है[१] अतः तत्कालीन प्रसिद्ध कवियों के साथ उनकी तुलना करना अधिक उचित समझा गया। इन कवियों में हैं अश्वघोष, कालिदास, विशाखदत, मृच्छकटिक, भट्टि, भारवि, सुबन्धु, बाणभट्ट, दण्डी और माघ। अन्तिम खण्ड ऐतिहासिक अध्ययन में पूर्वोक्त तीनों अध्यायों के आधार पर एक युक्तिसंगत निष्कर्ष पर पहुँचा गया है। इस क्रम में विभिन्न मतों की समीक्षा भी स्वभावतः आवश्यक थी।

यह प्रश्न उठ सकता है कि चरक, सुश्रुत आदि प्रसिद्ध आचार्यों को छोड़कर वाग्भट को इसका प्रथम आलम्बन क्यों बनाया गया ? इसके कई कारण हैं। एक कारण तो यह है कि चरक, सुश्रुत आदि संहितायें इतिहास के उस अन्धकार-युग में जाती हैं जिनका निश्चित पता लगाना कठिन है जब कि वाग्भट का काल कुछ पकड़ में आ सकता है। ज्ञान के क्षेत्र में स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ना ही श्रेयस्कर माना गया है। दूसरी बात यह है कि वाग्भट प्राचीन और मध्ययुग के बीच का एक सेतु हैं, एक ऐसा प्रकाशस्तम्भ है जिसका आलोक पीछे और आगे

---

१. 'The text is in mellifluous verses which excel in Combining the exact knowledge of the scientist with the litrary graces of the Artist.'—G. Srinivasa Murti : Introduction, page iv, Astangahridaya Kosa.

दोनों ओर पड़ता है। इस प्रकार यदि वाग्भट के काल का निर्णय हम कर लें तो उससे पहले की संहिताओं तथा बाद की रचनाओं के ऐतिहासिक अध्ययन एवं कालनिर्णय में सुविधा होगी। इसके अतिरिक्त, वाग्भट भारतीय इतिहास के स्वर्ण-युग गुप्त-काल की प्रतिनिधि रचना होने के कारण इससे तत्कालीन आयुर्वेदीय परम्परा एवं सांस्कृतिक दशा का अच्छा परिचय मिलता है। यह इसीसे सिद्ध होता है कि अपेक्षाकृत नवीन होते हुए भी इसे चरक, सुश्रुत जैसी प्राचीन आर्ष संहिताओं के समकक्ष बृहत्त्रयी में स्थान पाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ[1]। न केवल व्यावहारिक क्षेत्र में बल्कि सैद्धान्तिक क्षेत्र में भी इसका महत्व स्वीकार किया गया[2]।

वाग्भट प्राचीन युग का अन्तिम संहिताकार तथा नवीन युग का प्रथम संग्रहकार है। ज्योतिष के क्षेत्र में जो स्थान वराहमिहिर का है, साहित्य के क्षेत्र में जो स्थान कालिदास का है वही युगान्तरकारी स्थान आयुर्वेद के क्षेत्र में वाग्भट का है। डा० हार्नले ने लिखा है कि पाश्चात्य चिकित्सा के क्षेत्र में जो स्थान गेलन का है वही भारतीय चिकित्सा के क्षेत्र में वाग्भट का है।[3] पाश्चात्य चिकित्सा की "प्रवृत्तियां भारतीय चिकित्सा की प्रवृत्तियों से नितान्त भिन्न हैं तथापि इस अंश में यह उक्ति अवश्य सत्य है कि गेलन के १४०० वर्ष बाद तक कोई तत्समकक्ष विद्वान न हुआ और वाग्भट के बाद तो कोई संहिताकार हुआ ही नहीं"[4]।

अष्टांगसंग्रह आयुर्वेदीय आकरग्रन्थों में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखता है। यद्यपि बृहत्त्रयी में इसके स्थान पर आजकल अष्टांगहृदय का प्रचलन है तथापि

---

१. अत्रिः कृतयुगे चैव द्वापरे सुश्रुतो मतः। कलौ वाग्भटनामा च—

२. निदाने माधवः श्रेष्ठः सूत्रस्थाने तु वाग्भटः।
शारीरे सुश्रुतः प्रोक्तः चरकस्तु चिकित्सिते॥

३. Vagbhata I who once held a position in India somewhat analogous to that of Galen in the madaeval medicine of the west.—Hornle : Ostology, Preface, VI.

४. Nothing so sweeping, so competent, or so imaginative had appeared in medical literature before; it was to be almost fourteen Centuries before Vesalius was to attempt for the same feat—Hall and Hall : A brief History of Science, page 115.

शास्त्रीय एवं ऐतिहासिक दृष्टियों से यह एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है इसमें सन्देह नहीं। यह आश्चर्य का विषय अवश्य है कि ऐसी जीवन्त रचना इतिहास के गर्भ में विलीन कैसे हो गई। यह भारत के स्वर्णयुग का प्रतिनिधित्व करता है और इससे तत्कालीन आयुर्वेदीय परम्परा तथा सांस्कृतिक दशा का अच्छा परिचय मिलता है। लेखक ने स्वयं कहा है कि उसने युगानुरूप सन्दर्भ[1] की रचना की है। अतः उस युग को समझने के लिए यह एक उत्कृष्ट साधन हो सकता है। विशेषतः संप्रति उपलब्ध आयुर्वेदीय संहिताओं में कोई ऐसी नहीं है जिसका ऐतिहासिक स्वरूप पूर्णतः निश्चित हो और विषय के ऐतिहासिक मूल्यांकन या सांस्कृतिक अध्ययन के लिए उपयोगी हों।

अग्निवेश आदि संहिताओं की रचना पर्याप्त पहले हो चुकी थी। ईस्वी सन् की पहली दूसरी शताब्दी तक इनमें अधिकांश प्रतिसंस्कृत भी हो चुकी थीं किन्तु इसके बाद अचानक एक मोड़ आया और इनकी लोकप्रियता में कमी आने लगी। प्रारम्भ में आयुर्वेद समग्र था किन्तु कालान्तर में अध्येताओं की सुविधा के लिए वह आठ अंगों में विभाजित कर दिया गया और पृथक्-पृथक् अंगों पर अनेक संहितायें प्रचलित हुईं। इस क्रम में विशिष्ट विषयों का पर्याप्त विस्तार हुआ और अनेक शास्त्रीय मतवाद स्थापित हुये जिसके कारण शास्त्र के अध्ययन में बहुत समय लगने लगा और एक व्यक्ति के लिए यह प्रायः असंभव-सा हो गया कि वह सभी अंगों में कुशलता प्राप्त कर ले जब कि राजकीय नियंत्रण में लोकसेवा के आधार पर चिकित्साशास्त्र का प्रसार होने पर यह आवश्यक हो गया कि औषधालय का एक चिकित्सक रोगी के सब प्रकार के कष्टों के निवारण में समर्थ हो। इसके अतिरिक्त, इन मतवादों के चक्कर में शास्त्रीय अर्थ भी उलझ गया और किसी निर्णय पर पहुँचना कठिन हो गया परिणामतः दीर्घकालीन अध्ययन के बाद भी अध्येता के मन में संशय बढ़ता ही गया और चिकित्सा के कारण कार्य में प्रवृत्ति कुण्ठित हो गई। अतः इतिहास की पुनरावृत्ति हुई और विषयों को समेट कर एकत्रित करने की आवश्यकता प्रतीत हुई जिसके कारण विभाग के स्थान पर संयोग, विग्रह के स्थान पर संग्रह तथा विस्तार के स्थान पर संक्षेप का आगमन हुआ। अष्टांगसंग्रह इसी संग्रह-प्रवृत्ति का उद्घाटक ग्रन्थ है जिसमें सभी तन्त्रों के अंगभूत विषयों का समावेश किया गया तथा संक्षिप्त एवं स्पष्ट शैली में उनका प्रतिपादन किया गया।[2]

---

१. युगानुरूपसन्दर्भो विभागेन करिष्यते। सू० १।२०

२. सर्वतन्त्राण्यतः प्रायः संहृत्याष्टांगसंग्रहः।
अस्थानविस्तराक्षेपपुनरुक्तादिवर्जितः॥ सू० १।१८

दूसरी बात यह है कि प्राचीन संहिताओं में मौलिक सिद्धान्त एवं दार्शनिक पृष्ठभूमि पर अधिक विचार किया गया था जिससे कारण कालक्रम से अनेक मतवाद ऊपर उभर कर आ गये और अर्थ को आच्छन्न कर लिया। आगे चलकर आयुर्वेद की प्रवृत्ति दार्शनिक पक्ष से हट कर क्रियात्मक पक्ष की ओर मुड़ी। इसका कारण यह था कि मौर्यकाल से लेकर गुप्तकाल तक देश में औषधालयों की एक शृङ्खला स्थापित हो गई जिनका मुख्य कार्यक्रम रोगियों की सेवा करना था और इसके लिए क्रियाकुशल चिकित्सकों की आवश्यकता थी। इसके लिए यह आवश्यक हो गया कि इन मतवादों में समन्वय स्थापित किया जाय और आच्छन्न अर्थतत्वों को प्रकाश में लाया जाय जिससे व्यावहारिक चिकित्सकों को सही दिशानिर्देश प्राप्त हो। विशेषतः कायचिकित्सा-सम्बन्धी विषयों को जो नित्य उपयोग में आने वाले हैं, स्पष्ट करना आवश्यक था (इससे प्रतीत होता है कि शल्य आदि अन्य अंगों का उस समय तक पर्याप्त ह्रास हो चुका था)। उस समय जो आयुर्वेदिक संहितायें उपलब्ध थीं उनमें अस्थान, अतिविस्तर, अतिसंक्षेप, पुनरुक्त आदि दोषों के कारण अर्थ की प्रतीति में कठिनाई होती थी। विषय व्यवस्थित एवं क्रमबद्ध नहीं था तथा प्रतिपादन की शैली वैज्ञानिक न होने से विषय का ग्रहण भी सम्यक् रूप से नहीं हो पाता था। इसके अतिरिक्त, अनेक स्थलों पर उनमें अन्तर्विरोध तथा अन्य संहिताओं से भी विरोध दृष्टिगोचर होता था जिससे पाठकों को इतिकर्त्तव्यता के सम्बन्ध में भ्रम होना स्वाभाविक था। इन्हीं त्रुटियों को देखते हुये चिकित्सकों के लिए नित्य उपयोग में आने वाले एक ऐसे सुगम ग्रन्थ की आवश्यकता थी जो मित्र के समान कार्यक्षेत्र में उनका सहायक हो। वाग्भट ने अष्टांगसंग्रह की रचना कर इस आवश्यकता की पूर्त्ति की।[1]

इतना होते हुए भी आयुर्वेदीय इतिहास के क्षेत्र में वाग्भट एक कठिन समस्या के रूप में रहा है। यह इसी से प्रकट होता है कि इस ओर न केवल देश के अनेक विद्वानों का बल्कि विदेश के भी अनेक समीक्षकों का ध्यान आकृष्ट हुआ। वाग्भटनामधारी अनेक आचार्य भारतीय इतिहास में हो चुके हैं इनमें

---

१. हेतुलिंगौषधस्कन्धत्रयमात्रनिबन्धनः।
विनिगूढार्थतत्वानां प्रदेशानां प्रकाशकः॥
स्वान्यतन्त्रविरोधानां भूयिष्ठं विनिवर्त्तकः।
.... ॥
नित्यप्रयोगेऽदुर्बोधं सर्वांगव्यापि भावतः।
संगृहीतं विशेषेण यत्र कायचिकित्सितम्॥ —सं० सू० १।१९–२१

अष्टांगसंग्रह का रचयिता कौन था अष्टांगसंग्रह और अष्टांगहृदय का रचयिता एक ही था या भिन्न—ये मुख्य समस्यायें हैं। इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण हैं कि एक रचयिता की काव्य, धर्मशास्त्र, आयुर्वेद आदि विभिन्न विषयों पर रचनायें हैं इसका कारण तत्कालीन शिक्षापद्धति, लेखकों का व्यापकज्ञान एवं उनकी बहुमुखी प्रतिभा रही है। उदाहरण के रूप में शार्ङ्गधर, हेमाद्रि, बोपदेव, महेश्वर, हर्षकीर्ति आदि के नाम लिये जा सकते हैं।

१. शार्ङ्गधर की रचनायें साहित्य और आयुर्वेद में क्रमशः शार्ङ्गधर पद्धति तथा शार्ङ्गधर संहिता है।

२. हेमाद्रि एक उच्च प्रशासनिक अधिकारी होते हुए धर्मशास्त्र (चतुर्वर्ग-चिन्तामणि) आदि तथा आयुर्वेद (अष्टांगहृदय की आयुर्वेद-रसायन व्याख्या) का रचयिता है।

३. केशव का पुत्र बोपदेव मुग्धबोध-व्याकरण का प्रणेता तथा शतश्लोकी, हृदयदीपक आदि वैद्यक ग्रन्थों का रचयिता है। साहित्य और धर्मशास्त्र के क्षेत्र में भी इसकी अनेक रचनायें हैं जैसा कि निम्नांकित श्लोक से पता चलता है :—

यस्य व्याकरणे वरेण्यघटनास्फीताः प्रबन्धाः दश
प्रख्याता नव वैद्यकेऽथ तिथिनिर्धारार्थमेकोऽद्भुतः।
साहित्ये त्रय एव भागवततत्त्वोक्तो त्रयस्तस्य भु-
व्यन्तर्वाणिशिरोमणेरिह गुणाः के के न लोकोत्तराः॥
—हरिलीला

४. महेश्वर एक प्रसिद्ध कोशकार-विश्वप्रकाश का रचयिता और आयुर्वेद का धुरन्धर विद्वान् था। विश्वप्रकाश की पुष्पिका में लिखा है :—इति श्रीसकल-वैद्यराजचक्रमुक्ताशेखरस्य गद्यपद्यविद्यानिधेः श्रीमहेश्वरस्य कृतौ विश्वप्रकाशे··· द्वितीयः। इसी प्रकार ग्रन्थ के प्रारंभ में उसने परिचय दिया है :—

यः साहसांकचरितादिमहाप्रबन्धनिर्माणनैपुणगुणागतगौरवश्रीः।
यो वैद्यकत्रयसरोजसरोजबन्धुर्बन्धुः सतां सुकविकैरवकाननेन्दुः॥

विश्वप्रकाश में आयुर्वेद की अनेक औषधियों का वर्णन है। परवर्ती निघण्टुकारों ने इसका उपयोग किया है। राजनिघण्टुकार ने भी इसका निर्देश किया है :—

धन्वन्तरीयमदनादिहलायुधादीन्विश्वप्रकाशयमरकोशसशेषराजौ।
आलोक्य लोकविदितांश्च विचिन्त्य शब्दान् द्रव्याभिधानगणसंग्रह एष सृष्टः॥

५. हर्षकीर्ति एक प्रसिद्ध कोशकार तथा शारदीयाख्यनाममाला का रचयिता है। इसने अनेक आयुर्वेदीय ग्रन्थों यथा योगचिन्तामणि, वैद्यकसारोद्धार की रचना की।

इसके अतिरिक्त एक यह भी प्रश्न उठाया जाता है कि वाग्भट वैदिकधर्मावलम्बी था या बौद्ध ? उनकी रचनायें भी सन्देहग्रस्त हैं। सबसे कठिन तो काल-निर्णय की समस्या है। वाग्भट के काल के सम्बन्ध में जितना मतभेद है उतना शायद ही किसी के सम्बन्ध में हो। यह इसी से समझा जा सकता है कि काल की ऊपरी और निचली सीमा में १४०० वर्षों का अन्तर है। इतनी बड़ी खाई को पाटना एक अत्यन्त दुरुह कार्य है।

किंवदन्ती के आधार पर इन्दु और जेज्जट वाग्भट के शिष्य कहे जाते हैं। यदि यह सत्य हो तो इनके काल-निर्णय से वाग्भट के काल-निर्णय में भी सहायता मिलेगी। अत एव इनके सम्बन्ध में भी अध्ययन प्रस्तुत किया गया है जिससे यह स्पष्ट होता है कि दोनों में कोई भी वाग्भट का शिष्य नहीं है। संभवतः उनका महत्व बढ़ाने के लिए बाद के किसी लेखक ने यह श्लोक बना दिया हो जैसा कि स्वभावतः होता है। इन सभी समस्याओं पर ऐतिहासिक खण्ड में विचार किया गया है।

जहां तक प्रस्तुत रचना की मौलिकता का प्रश्न है, यह नम्रतापूर्वक कहा जा सकता है कि वाग्भट के सम्बन्ध में इतने व्यापक परिप्रेक्ष्य में पहली बार अध्ययन का प्रयास किया गया है। बाह्य और आभ्यन्तर साक्ष्यों को यथासंभव एकत्रित कर उनके आधार पर एक तर्कसंगत पद्धति से सिद्धान्त की स्थापना की गई है। बाह्य साक्ष्यों में निम्नांकित मुख्य हैं :—

१. जेज्जट (९ वीं शती) द्वारा वाग्भट द्वितीय का उद्धरण।
२. वाग्भट की कृतियों का तिब्बती और अरबी अनुवाद (८ वीं शती)।
३. माधवकर (८ वीं शती) द्वारा वाग्भट द्वितीय का उद्धरण।
४. चीनी यात्री इत्सिंग (६७५ ई०) का यात्रा-विवरण।
५. वराहमिहिर (५०५—५८० ई०) द्वारा वाग्भट का उद्धरण एवं अनुकरण।
६. भट्टार हरिचन्द्र (५५० ई०) द्वारा वाग्भट का संकेत न मिलना।

७. वात्स्यायन कामसूत्र (५ वीं शती) का वाग्भट द्वारा उद्धरण। जेज्जट के आधार पर चक्रपाणि (१०५० ई०) ने चरक की टीका की रचना की है और दूसरी ओर जेज्जट ने वाग्भट द्वितीय को अनेक स्थलों पर उद्धृत किया है। अतः उनका काल दोनों के मध्य में देहलीदीपक-न्याय से ९ वीं शती निर्धारित किया गया है। वराहमिहिर तथा भट्टार हरिचन्द्र के साक्ष्य अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। भट्टार हरिचन्द्र का चरकन्यास (चरक-व्याख्या) चरकसंहिता की प्रथम व्याख्या माना जाता है। इसकी एक हस्तलिखित प्रति राजकीय हस्तलिखित

ग्रन्थागार, मद्रास में है। बहुत पहले पं० हरिदत्त शास्त्री के प्रयास से पंजाब के पं० मस्तराम शास्त्री ने इसे प्रकाशित किया था जो सम्प्रति उपलब्ध नहीं है। मद्रास वाली प्रति का मैंने अध्ययन कर उसका एक विवरण सचित्र आयुर्वेद (मई, जून ६७) में प्रकाशित कराया था। उसमें वाग्भट का कहीं कोई संकेत उपलब्ध नहीं होता। भट्टार एक सिद्धहस्त गद्यकवि भी थे जिसका निर्देश बाणभट्ट ने हर्षचरित की प्रस्तावना में किया है। मेरा विचार है कि वैद्य और कवि भट्टार एक ही हैं। यह साहसांक के राजवैद्य थे ऐसी जनश्रुति-परम्परा है जिसका आधार महेश्वरकृत विश्वप्रकाशकोश का एक वचन है। यदि साहसांक से मालवा के यशोधर्मा को लिया जाय, जिसने ५३५ ई० में हूणराज मिहिरकुल को परास्त कर देश का उद्धार किया और विक्रमादित्य की उपाधि धारण की, तो भट्टार का काल लगभग छठीं शती का पूर्वार्धं ठहरता है। वराहमिहिर भी विक्रमादित्य के दरबार में राज-ज्योतिषी थे। यह विक्रमादित्य सम्भवतः यशोधर्मा ही था। वराहमिहिर ने वाग्भट के अनेक योगों को अपनी बृहत् संहिता में उद्धृत किया है तथा और भी समानतायें हैं। उधर वाग्भट भी ज्योतिष के वातावरण से पूर्ण प्रभावित प्रतीत होते हैं। अतः ऐसी संभावना है कि ये दोनों समकालीन हों। वाग्भट जन्मतः सिन्धु प्रदेश के निवासी थे किन्तु ऐसा लगता है कि हूणों की पराजय के बाद तथा भट्टार हरिचन्द्र की मृत्यु के बाद यशोधर्मा ने वाग्भट को अपनी सभा में राजवैद्य के रूप में प्रतिष्ठित किया और इस प्रकार लगभग ५५० ई० के वराहमिहिर तथा वाग्भट दोनों परस्पर संपर्क में आये। यह ज्ञातव्य है कि वराहमिहिर इसके बाद भी ३५ वर्षों तक जीवित रहे और अन्तिम काल में ही अपने समस्त ज्ञानकोश को अन्तिम रचना 'बृहत् संहिता' में भर दिया जिसमें वाग्भट की देन का भी उपयोग किया गया।

अन्तःसाक्ष्यों के अध्ययन के प्रसंग में अनेक महत्वपूर्ण नवीन तथ्य प्रकाश में आये हैं यथा :—

१—देशों के प्रकरण में वाग्भट ने अवन्ति प्रदेश का उल्लेख किया है। इससे स्पष्ट है कि अवन्ति से उनका सम्बन्ध हो जब कि वह एक प्रसिद्ध प्रदेश रहा हो। कांजी के लिए 'अवन्तिसोम' शब्द का प्रयोग हुआ है जो उस काल में वहां का प्रसिद्ध पेय रहा होगा।

२—राजनीतिक परिस्थितियों के अध्ययन से कौटल्य एवं कामन्दकीय नीति का प्रभाव स्पष्ट मालूम होता है। एक आश्चर्यजनक तथ्य यह सामने आया कि अष्टांग-हृदय के सद्वृत्त के लगभग पचास श्लोक अविकल रूप में शुक्रनीति में उपलब्ध होते हैं।

३—सामाजिक स्थिति के अध्ययन में अनेक महत्वपूर्ण तथ्य उपलब्ध हुये हैं। विवाह-वय, बहुपत्नीप्रथा, दिनचर्या, आमोद-प्रमोद, खान-पान, यौन जीवन आदि पर विशेष रूप से विचार किया गया है। यह देखा गया कि विवाह-वय क्रमशः घटता गया है और वाग्भट द्वारा जो निर्धारित विधान है वही बाणभट्ट की रचनाओं में मिलता है। इसी प्रकार दिनचर्या भी हर्षचरित तथा कादम्बरी के नायकों की वैसी ही है। दैनिक जीवन पर स्मृतियों तथा नीतिग्रन्थों का विशेष प्रभाव था। स्मृतियों में भी याज्ञवल्क्य-स्मृति तथा विष्णुस्मृति जैसी परवर्ती स्मृतियों की छाया विशेष रूप से वाग्भट पर मिलती है। दन्तधावन के प्रकरण विष्णुस्मृति के वचन अविकल रूप में वाग्भट द्वारा उद्धृत हुये हैं। याज्ञवल्क्यस्मृति का काल तीसरी शती माना जाता है, विष्णु-स्मृति थोड़ा और बाद का है। इसी प्रकार यौन जीवन पर वात्स्यायन कामसूत्र का स्पष्ट प्रभाव मिलता है। वाग्भट के अनेक स्थलों पर उसका उपयोग है। कामसूत्र ५ वीं शती की रचना माना जाता है अतः अष्टांगसंग्रह उसके बाद ही का हो सकता है। इसी प्रकार गुप्तकालीन चतुर्भाणी से भी इसका सादृश्य देखा जा सकता है।

४—धार्मिक स्थिति भी महत्वपूर्ण है। अष्टांगसंग्रह में बौद्ध एवं वैदिक धर्म दोनों का समन्वय मिलता है। शिव, सूर्य, कार्तिकेय, विनायक तथा देवी की पूजा के साथ-साथ बुद्ध, अवलोकितेश्वर, अपराजिता, तारा आदि के पूजन का भी विधान है। मायूरी, महामायूरी आदि मंत्रों का भी प्रयोग है और मंत्रयान का विशेष प्रभाव मिलता है। वज्रयान का प्रारम्भ नहीं हुआ था। (वज्रयान का प्रारम्भ इन्द्रभूति—८ वीं शती से मानते हैं)। फिर भी समाज पर श्रौत, धर्म एवं गृह्यसूत्रों का विशेष प्रभाव लक्षित होता है। अथर्ववेदोक्त विधान भी मिलते हैं। अथर्वपरिशिष्टोक्त अनेक विधियाँ अष्टांगसंग्रह में मिलती हैं। संस्कारों में भी षष्ठीपूजन, कर्णवेध आदि मिलते हैं जो परवर्ती स्मृतियों द्वारा प्रतिपादित हैं।

५—शिक्षणपद्धति तथा साहित्य-रचना में गुप्तकालीन मौलिक प्रवृति का स्पष्ट आभास मिलता है। कथक—चारण की परम्परा भी प्रचलित हो चली थी जिसका विकास हम बाणभट्ट की रचनाओं में पाते हैं। आयुर्वेदीय रसशास्त्र का भी प्रारम्भ हो चुका था।

इस प्रकार वाग्भट का काल कौटल्य अर्थशास्त्र, याज्ञवल्क्यस्मृति, विष्णु-स्मृति तथा वात्स्यायन कामसूत्र के बाद का सिद्ध होता है। निचली सीमा में बाणभट्ट की रचनायें मिलती हैं।

६—भाषा, शैली एवं सांस्कृतिक दृष्टि से अन्य रचनाओं के साथ तुलना करने से भी अनेक तथ्य सामने आये हैं। कालिदास और शूद्रक का स्पष्ट प्रभाव वाग्भट पर लक्षित होता है। वाग्भट में आलंकारिक युग का प्रारम्भ देखा जाता है जो क्रमशः भारवि, बाणभट्ट और दण्डी में विकसित होता हुआ माघ में प्रौढि को प्राप्त होता है। छन्दों का विकास भी कालिदास, वाग्भट और भारवि में क्रमशः मिलता है।

७—अष्टांगसंग्रह और अष्टांगहृदय के कर्त्ता एक हैं या भिन्न इस प्रश्न की समीक्षा के लिए दोनों का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। अनेक स्थलों पर विरोध को दृष्टि में रखते हुये तथा अन्य तथ्यों का विचार करते हुये दोनों भिन्न माने गये हैं।

इस प्रकार सारे तथ्यों के पर्यायलोचन से वाग्भट का काल वात्स्यायन कामसूत्र (५ वीं शती) और वराहमिहिर (६ ठी शती) के मध्य में ठहरता है जिसकी ऊपरी सीमा याज्ञवल्क्यस्मृति तथा निचली सीमा बाणभट्ट से निर्धारित होती है। अष्टांगसंग्रह को अपनी स्थिति के लिए प्राचीन संहिताओं के साथ निरन्तर संघर्ष करना पड़ा। इसका कारण रहा एक तो तथाकथित अनार्षत्व तथा दूसरा बौद्ध धर्म की छाप। इस संघर्ष में कभी तो यह सिर उठा लेता था और कभी दबा हुआ सांस लेता रहता था। संग्रह की रचना के बाद लगातार चार शताब्दियों तक इसका प्रभाव छाया रहा। १० वीं शती से १२ वीं शती तक यह दबा रहा और चरक-सुश्रुत का बोलबाला रहा। १३ वीं शती से पुनः इसका प्रभुत्व जागा और इस काल में इस पर अनेक टीकायें लिखी गई[1]। यह स्थिति लगभग १८ वीं शती के मध्य तक रही। इसके बाद लगभग दो शताब्दी तक पुनः प्राचीन संहिताओं पर व्याख्याओं की रचना हुई। वर्तमान शताब्दी के मध्य से पुनः वाग्भट की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट हुआ है और इस काल में इस पर अनेक टीकायें लिखी गई हैं। इस प्रकार प्राचीन संहिताओं के साथ इसकी आंखमिचौनी होती रही और यह उच्चावच गति से आगे बढ़ता रहा।

ग्रन्थ के अन्त में परिशिष्ट भी दिये गये हैं जिनमें अनेक महत्वपूर्ण सूचनायें एकत्रित की गई हैं।

---

१. मल्लिनाथ (१४ वीं शती) ने काव्य ग्रन्थों की व्याख्या में सर्वत्र अष्टांगहृदय को ही उद्धृत किया है।

भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के मूर्धन्य मनीषी डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपने व्यस्त जीवन में से बहुमूल्य समय निकाल कर इस ग्रन्थ की प्रस्तावना लिखने की कृपा की है, इसके लिए मैं उनका अतीव उपकृत हूँ।

इस विशाल कार्य में समय-समय पर अपने संस्थान के तथा अन्य विद्वानों से विचार-विमर्श के क्रम में महत्वपूर्ण सुझाव प्राप्त हुए हैं जिसके लिए मैं उनका कृतज्ञ हूँ। अपने संस्थान के पुस्तकालयाध्यक्ष श्री विजयनारायण मिश्र एम० ए० को धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने आवश्यक पुस्तकें जुटाने में सहायता की तथा समय-समय पर विचार-विमर्श में आवश्यक सूचनायें भी दीं। पुस्तकालयाध्यक्ष ऐसा ही होना चाहिए जो पुस्तकों का तटस्थ संरक्षकमात्र न होकर अनुसंधान-कर्त्ताओं के कार्यों में सक्रिय सहयोग प्रदान करे। पुस्तक की पाण्डुलिपि व्यवस्थित करने में संस्थान के श्री संकठाप्रसाद, श्रीदेवनन्दन मिश्र तथा श्री महाराजनारायण सिंह ने सहायता की है, इसके लिए वे धन्यवाद के पात्र हैं।

चौखम्बा संस्कृत सीरीज तथा चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी के व्यवस्थापकों को भी धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने अनेक बाधाओं को पार करते हुये इसे प्रकाशित किया है।

प्रियव्रत शर्मा

विषय-सूची

प्रथमखण्ड : शास्त्रीय अध्ययन

द्वितीयखण्ड : सांस्कृतिक अध्ययन

तृतीयखण्ड : साहित्यिक अध्ययन

चतुर्थखण्ड : ऐतिहासिक अध्ययन

परिशिष्ट

संकेत

अ० को०	अमरकोष
अ० प०	अथर्वपरिशिष्ट
अनु० पर्व	अनुशासनपर्व
अ० शा०	अभिज्ञानशाकुन्तल
आ० द०	आतंकदर्पण
ऋतु०	ऋतुसंहार
क०	कल्पस्थान
का०	कादम्बरी
का० उ०	कादम्बरी उत्तरभाग
का० जातकर्मोत्तराध्याय	काश्यपसंहिता, जातकर्मोत्तराध्याय
का० नी०	कामन्दकीय नीतिसार
का० पू०	कादम्बरी पूर्वभाग
का० मी०	काव्यमीमांसा
का० सू०	कामसूत्र
कि०	किरातार्जुनीय
कु०	कुमारसंभव
कौ० अ०	कौटल्य अर्थशास्त्र
कौ० सू०	कौशिकसूत्र
च०	चरकसंहिता
च० क०	चरक कल्पस्थान
चक्र०	चक्रपाणि
च० चि०	चरक चिकित्सास्थान
च० वि०	चरक विमानस्थान
च० शा०	चरक शारीरस्थान
च० सि०	चरक सिद्धिस्थान
च० सू०	चरक सूत्रस्थान
चि०	चिकित्सास्थान
छा०	छान्दोग्योपनिषद्
तै० ब्रा०	तैत्तिरीय ब्राह्मण
द० कु०	दशकुमारचरित

द० कु० पू०	दशकुमारचरित पूर्वपीठिका
द० कु० उ०	दशकुमारचरित उत्तरपीठिका
नाव०	नावनीतक
प० प्र०	परिभाषाप्रदीप
पा० भा०	पातंजल महाभाष्य
बु० च०	बुद्धचरित
बृ० जा०	बृहज्जातक
बृ० सं०	बृहत् संहिता
बौ० ध०	बौधायन धर्मसूत्र
भा० प्र०	भावप्रकाश
भे०	भेलसंहिता
भे० चि०	भेलसंहिता चिकित्सास्थान
भे० नि०	भेलसंहिता निदानस्थान
भे० शा०	भेलसंहिता शारीस्थान
भे० सू०	भेलसंहिता सूत्रस्थान
मनु०	मनुस्मृति
म० भा०	महाभारत
म० भा० व०	महाभारत वनपर्व
मा० नि०	माधवनिदान
माल०	मालविकाग्निमित्र
मु० रा०	मुद्राराक्षस
मृ० क०	मृच्छकटिक
मेघ०	मेघदूत
मेघ० पू०	मेघदूत पूर्वभाग
या० स्मृ०	याज्ञवल्क्यस्मृति
रघु०	रघुवंश
ल० जा०	लघुजातक
वा० ध०	वाशिष्ठ धर्मसूत्र
विक्र०	विक्रमोर्वशीय
वि० स्मृ०	विष्णुस्मृति
वै० जी०	वैद्यजीवन
शा०	अभिज्ञानशाकुन्तल
शिशु०	शिशुपालवध

शु० नी०	शुक्रनीति
सा० मा०	साधनमाला
सु०	सुश्रुतसंहिता
सु० उ०	सुश्रुत उत्तरतन्त्र
सु० क०	सुश्रुत कल्पस्थान
सु० चि०	सुश्रुत चिकित्सास्थान
सु० नि०	सुश्रुत निदानस्थान
सु० शा०	सुश्रुत शारीरस्थान
सु० सू०	सुश्रुत सूत्रस्थान
सौ०	सौन्दरनन्द
सं०	अष्टांगसंग्रह
सं० उ०	अष्टांगसंग्रह उत्तरस्थान
सं० क०	अष्टांगसंग्रह कल्पस्थान
सं० चि०	अष्टांगसंग्रह चिकित्सास्थान
सं० नि०	अष्टांगसंग्रह निदानस्थान
सं० शा०	अष्टांगसंग्रह शारीरस्थान
सं० सू०	अष्टांगसंग्रह सूत्रस्थान
सां० त०	सांख्यतत्वकौमुदी
ह० च०	हर्षचरित
हि० ध०	हिरण्यकेशिधर्मसूत्र
हृ०	अष्टांगहृदय
हृ० उ०	अष्टांगहृदय उत्तरस्थान
हृ० नि०	अष्टांगहृदय निदानस्थान
हृ० शा०	अष्टांगहृदय शारीरस्थान
हृ० सू०	अष्टांगहृदय सूत्रस्थान
A. B. O. R. I.	Annals of Bhandarkar Oriental Research Institute
G. O. M. L.	Goverment Oriental Manuscripts Library
I. H. Q.	Indian Historical Quarterly.
J, B. O. R, S.	Journal of Bihar and Orissa Research Society.
J. R. A. S.	Journal of Royal Asiatic Society.

वाग्भट-विवेचन

प्रथम खण्ड

शास्त्रीय अध्ययन

वाग्भट ने जिन परिस्थितियों में अष्टांगसंग्रह की रचना की उनका स्पष्ट निर्देश प्रारम्भिक अध्याय में किया गया है। आयुर्वेद के आठ विभाग विभिन्नता प्राप्त कर चुके थे और प्रत्येक अंग पर पर्याप्त वाङ्मय एकत्र हो चुका था। एक अंग पर विभिन्न आचार्यों द्वारा निर्मित संहिताओं में कुछ स्थलों पर मतभेद तो रहते थे किन्तु अधिकांश विषय एक ही जैसा रहता था। इसका परिणाम आगे चलकर यह हुआ कि मतभेदों के कारण शास्त्रीय जटिलतायें बढ़ने लगीं और अधिकांश विषय की पुनरावृत्ति के कारण पठन-पाठन में समय अधिक लगने लगा। इससे व्यावहारिक क्षेत्र में कठिनाइयां बढ़ने लगीं। इन्हीं कठिनाइयों को दूर करने के उद्देश्य से इस ग्रंथ की रचना हुई। विषय को व्यावहारिक रूप देने के लिए एक संक्षिप्त क्रम अपनाया गया तथा विषय-वस्तु का विन्यास व्यवस्थित रूप में किया गया। इन सबका लक्ष्य यह था कि इस ग्रन्थ का अध्येता एक अच्छा युगानुरूप व्यावहारिक चिकित्सक बन सके।

गुप्तकाल भारत के इतिहास का स्वर्णयुग कहा जाता है। इस समय प्रत्येक क्षेत्र में सांस्कृतिक पुनरुत्थान की प्रवृत्ति उद्भूत हुई और यह धारा आगे तक प्रवाहित होती गई। ज्ञान-विज्ञान की प्रत्येक शाखा में अनेक लेखक अवतीर्ण हुये और विशाल वाङ्मय का निर्माण हुआ। क्या साहित्य, क्या ज्योतिष, क्या दर्शन सभी क्षेत्रों में युगानुरूप रचनायें हुईं। महाकवि कालिदास, वराहमिहिर आदि महापुरुष इसी युग में हुये। ऐसी स्थिति में यह कैसे सम्भव था कि आयुर्वेद का क्षेत्र अछूता रह जाता ऐसा शास्त्र जिसका लोक से घनिष्ठ संपर्क हो? इस महान् कार्य को वाग्भट ने पूरा किया अतः उनकी रचना अष्टांगसंग्रह आयुर्वेद के क्षेत्र में एक युग-प्रतिनिधि रचना है विशेषतः तत्कालीन परिस्थितियों को हृदयंगम करने के लिये यह एक उत्तम साधन है। इसके लिये आवश्यक है कि वाग्भट की मौलिक विशेषताओं का अध्ययन किया जाय क्योंकि यद्यपि उन्होंने उस समय उपलब्ध अनेक संहिताओं का आधार लिया और यह भी कहा कि 'न मात्रामात्रमप्यत्र किंचिदागमवर्जितम्'[1] तथापि किसी लेखक की कृति पर तत्कालीन समाज का प्रतिबिम्ब अवश्य पड़ता है और रचना को युगानुरूप व्यावहारिक रूप देने के लिये लोकप्रचलित परम्परा का उपयोग उन्होंने अवश्य किया होगा। उपर्युक्त उद्धरण में 'आगम' शब्द भी इस दृष्टि से सार्थक है क्योंकि यह शास्त्र और परम्परा दोनों का द्योतक है। इससे यह समझने में भी सहायता मिल सकती है कि वर्तमान काल में उपलब्ध आयुर्वेदीय संहिताओं का रूप वाग्भट के काल में कैसा था और इससे उनके प्रति-

---

१. सं० सू० १।२२.

संस्कार तथा प्रतिसंस्कर्ता आदि के संबन्ध में भी आवश्यक सूचनायें उपलब्ध होने की संभावना है। कुछ विद्वानों का ऐसा मत है कि दृढ़बल के द्वारा चरक का प्रतिसंस्कार अष्टांगसंग्रह के आधार पर हुआ।[1] ऐसे मतों की समीक्षा वाग्भट के ऐसे विवेचनात्मक अध्ययन से ही संभव है। जबतक अंतरंग-परीक्षा न हो तबतक केवल बहिरंग परीक्षा के आधार पर कोई निर्णय लेना संभव और उचित नहीं है। अतः प्रस्तुत खण्ड में वाग्भट की मौलिक विशेषताओं का अध्ययन किया जायगा। स्वभावतः यह कार्य चरक, सुश्रुत आदि उपलब्ध संहिताओं के साथ अष्टांगसंग्रह के तुलनात्मक अध्ययन की पृष्ठभूमि में ही होगा। अन्त में संग्रह और हृदय का भी तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जायगा।

विषय-विभाग

ग्रन्थ की अवतारणा चरक-शैली पर की गई है। कई वाक्य तो दोनों में एक ही हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि इसमें आयुर्वेद के आठ अंगों का उल्लेख है तथा कायचिकित्सा के अतिरिक्त शल्य, शालाक्य आदि अंगों के विशेषज्ञ आचार्यों का नामनिर्देश है। चरकसंहिता में केवल आत्रेय के शिष्य जो कायचिकित्सा के आचार्य थे उन्हींका निर्देश है और सुश्रुतसंहिता में केवल शल्यके आचार्यों का। चरक ने सूत्रस्थान के अन्तिम अध्याय में आयुर्वेद के आठ अंगों का उल्लेख किया है और सुश्रुत ने प्रारम्भिक अध्याय में ही इनका निर्देश किया है। सुश्रुत ने अनेक स्थलों पर 'अष्टाग' शब्द का प्रयोग किया है और ऐसा विचार किया है कि वैद्य अष्टांगविद् होना चाहिए।[2] इससे स्पष्ट है कि वाग्भट ने अवतारणाशैली तो चरक से ली किन्तु विषयवस्तु के लिए सुश्रुतसंहिता से अधिक सहायता ली। प्रारम्भ में अध्यायसंग्रह भी सुश्रुत के आधार पर ही किया।

चरक ने सूत्रस्थान के विषयों का विभाजन सात चतुष्कों (औषध, स्वस्थ, निर्देश, कल्पना, रोग, योजना तथा अन्नपान) तथा दो संग्रहाध्यायों में किया है।[3] यह कहना कठिन है कि यह चतुष्क-योजना स्वयं चरक की है या परवर्ती प्रतिसंस्कर्त्ताओं की फिर भी इस व्यवस्था में विषयों का विभाग पूर्णरूप से स्पष्ट नहीं हो पाता है। सुश्रुत ने ऐसा विभाग नहीं किया है और उसमें भी विविध विषय यत्र-तत्र विकीर्ण हैं। वाग्भट ने यद्यपि ऐसी किसी औपचारिक योजना का उल्लेख नहीं

---

१. Hoernle : Studies in the Medicine of Ancient India; Part I, section, 1; Introduction, Para 7.

२. सु० सू० ३।४४; सु० उ० ६६।१;

३. 'औषधस्वस्थनिर्देशकल्पनारोगयोजनाः। चतुष्काः षट् क्रमेणोक्ताः सप्तमश्चान्नपानिकः ॥' च० सू० ३०।४२.

किया है तथापि उसके प्रारम्भिक वक्तव्य[1] से यह स्पष्ट हो जाता है कि वह प्राचीन संहिताओं का आधार शैली एवं विषयवस्तु की दृष्टि से ले तो रहा है किन्तु विषय को अधिक विशद एवं प्रांजल बनाने के लिए उसे एक व्यवस्थित क्रम से उपस्थित कर रहा है जिससे पाठकों को भ्रान्ति न हो और समय भी कम लगे। इसके लिए अध्यायों को तो क्रमबद्ध किया ही विषयों को भी जो यत्र तत्र विकीर्ण थे यथास्थान व्यवस्थित किया। ऐसे अनेक उदाहरण हैं जिनसे स्पष्ट होता है कि वाग्भट ने विषय-व्यवस्था में स्वतन्त्र बुद्धि का पूरा उपयोग किया है। शवच्छेद का उदाहरण लें। यों विषयवस्तु की दृष्टि से अष्टाङ्गसंग्रह चरक की अपेक्षा सुश्रुत के अधिक निकट है किन्तु शवच्छेद-विधि का वर्णन सुश्रुत ने शारीरप्रकरण[2] में किया है जब कि वाग्भट ने शल्यप्रकरण में।[3] अरिष्ट-लक्षणों का वर्णन सूत्रस्थान में न कर शारीर में किया। इसी प्रकार अन्नपानगत विष का वर्णन चरक ने चिकित्सा में, सुश्रुत ने कल्पस्थान में और वाग्भट ने सूत्रस्थान में स्वस्थवृत्त-प्रकरण के अन्तर्गत किया।[4]

व्यावहारिकता की दृष्टि से एक अन्तर यह भी आया कि दार्शनिक विषयों का तनिक भी स्पर्श वाग्भट ने नहीं किया। विभिन्न दार्शनिक वादों और वाग्जालों से निर्लिप्त रहकर उन्होंने केवल त्रिस्कन्ध (हेतु, लिङ्ग, औषध) का ही निरूपण किया।[5]

अध्यायों की संख्या एवं क्रम

	भेल	चरक	काश्यप	सुश्रुत	वाग्भट (वृद्ध)
सूत्र	३०	३०	३०	४६	४०
निदान	८	८	८	१६	१६
विमान	८	८	८	×	×
शारीर	८	८	८	१०	१२
इन्द्रिय	१२	१२	१२	×	×
चिकित्सा	३०	३०	३०	४०	२४
कल्प	१२	१२	१२	८	८
सिद्धि	१२	१२	१२	×	×
	१२०	१२०	१२०	१२०	१००
खिलभाग/उत्तरतन्त्र			८०	६६	५०

१. 'अस्थानविस्तराक्षेपपुनरुक्तादिवर्जितः।—सं० सू० १।१८.
२. सु० शा० ५।४६. ३ सं० सू० ३४।३९.
४. च० चि० २३; सु० क० ९; सं० सू० ८.
५. हेतुलिङ्गौषधस्कन्धत्रयमात्रनिबन्धनः।'—सं० सू० १।१९.

अध्यायों की संख्या एवं क्रम में वाग्भट ने सुश्रुत का ही आधार किञ्चित् परिवर्तन के साथ लिया है। यह तुलनात्मक तालिका से सिद्ध हो जाता है। सुश्रुतसंहिता के कुल अध्यायों की संख्या १८६ है और चरकसंहिता के अध्यायों की १२० किन्तु वाग्भट ने दोनों के बीच में अपने अध्यायों की संख्या रक्खी है। इससे उसमें मध्यस्थ दृष्टिकोण का भी पता चलता है और सुश्रुत की ओर झुकाव का भी। यदि खिलभाग और उत्तरतन्त्र को छोड़ दिया जाय तो इन सभी संहिताओं में अध्यायों की कुल संख्या १२० होती है। इनके लिए यह संख्या कैसे नियत की गई यह रहस्यमय प्रतीत होता है। ऐसी सम्भावना है कि उस काल में मनुष्य की परमायु १२० वर्ष की थी[1] और कल्पना यह थी कि जिस प्रकार कोई व्यक्ति विभिन्न अवस्थाओं को पार करता हुआ जीवन के चरम क्षण तक पहुंचता है उसी प्रकार ग्रन्थ भी विभिन्न स्थानों से होता हुआ १२० वें अध्याय में परिणति प्राप्त करता है। इस दृष्टि से यदि देखें तो अध्याय वर्ष का तथा स्थान अवस्था का प्रतीक है। इस विचार के पीछे ग्रन्थ की पूर्णता की कामना रही होगी। इस प्रकार यदि वाग्भट द्वारा रचित अष्टाङ्गसंग्रह के अध्यायों की संख्या देखें तो इसकी सम्पुष्टि हो जाती है। इसमें उत्तर स्थान को छोड़कर १०० अध्याय हैं जो कि बाद में मनुष्य की परमायु मानी गई है।

अष्टाङ्गसंग्रह के प्रथम अध्याय में प्रारम्भिक अवतारणा के बाद के २६ श्लोकों में (२३–४९) ग्रन्थ के कुशल रचयिता ने आयुर्वेद के मौलिक सिद्धान्तों का बड़ा ही स्पष्ट और सूत्ररूप में वर्णन किया है। लेखक की समास-शैली का यह अद्‌भुत नमूना है। उसके बाद अध्याय-संग्रह के रूप में ग्रन्थ की विषय-वस्तु का संकेत है। इसी प्रकार द्वितीय अध्याय में शिष्योपनयनीय का वर्णन है जब शिष्य उपनीत होकर आयुर्वेद के अध्ययन में प्रवृत्त होता है। इसके बाद सारा विषय व्यवस्थित रूप में निम्नांकित क्रम से आता है।

	अध्याय	विषय
सूत्रस्थान	३–११	स्वस्थवृत्त (दिनचर्या, रात्रिचर्या, ऋतुचर्या, सद्‌वृत्त, आहारविधि)
	१२–१८	द्रव्यविज्ञान
	१९–२०	दोषधातुमल-विज्ञान
	२१–२२	रोगविज्ञान
	२३–४०	चिकित्सा-विधियाँ (पञ्चकर्म, गण्डूष, तर्पण, सिराव्यध आदि)
शारीरस्थान	१–८	शारीरविज्ञान

1. बृ, जा. ७।५.

	९–१२	अरिष्टविज्ञान
निदानस्थान	१–१६	रोगनिदान
चिकित्सितस्थान	१–२४	कायचिकित्सा
काल्पस्थान	१–७	पञ्चकर्म-कल्प
	८	परिभाषा
उत्तरस्थान	१–६	कौमारभृत्य
	७–८	भूतविद्या
	९–१०	मानसरोग
	११–२८	शालाक्य
	२९–३५	शल्यतन्त्र
	३६–३७	क्षुद्ररोग
	३८–३९	गुह्यरोग
	४०–४८	अगदतन्त्र
	४९	रसायन
	५०	वाजीकरण

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वाग्भट ने विषय को वैज्ञानिक रीति से व्यवस्थित किया और अनेक तथ्यों को स्वतन्त्र अध्यायों में रखकर उन्हें प्रकाश में खड़ा किया।

किन्तु इतना होने पर भी यह कहना पक्षपात होगा कि वाग्भट इस कार्य में पूर्ण सफल हुये क्योंकि अभी भी जहाँ-तहाँ विषय स्थानच्युत दृष्टिगोचर होते हैं अतः इतना ही कहा जा सकता है कि उसने एक नवीन प्रयास किया और यथासाध्य इसको आगे बढ़ाया।

विषय-वस्तु

अब विषयवस्तु की दृष्टि से वाग्भट की मौलिकता एवं विशेषता पर विचार करना है। वाग्भट ने पुरानी बातों को ग्रहण करते हुये भी उनमें नवीनता का समावेश किया है जो कि गुप्तकालीन सांस्कृतिक पुनरुत्थान का महत्त्वपूर्ण चिह्न है। आगे एक-एक कर क्रमशः इन पर बिचार किया जा रहा है।

शारीर

सुश्रुत में शवच्छेद-विधि का वर्णन है और उनका उपदेश है कि शवच्छेद के द्वारा अङ्गविनिश्चय का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। इससे प्रतीत होता है कि सुश्रुत के काल में शवच्छेद प्रचलित था और शारीर ज्ञान के लिए इसका महत्व समझा जाता था। वाग्भट के काल में क्या स्थिति थी कहना कठिन है। यद्यपि शवच्छेद-विधि का वर्णन सुश्रुत के आधार पर किया गया है किन्तु यह शारीर में

न होकर शल्य के प्रसंग में है। शारीरस्थान में कहीं शवच्छेद का महत्त्व भी नहीं बतलाया गया है। डा० हर्नले ने वाग्भट के शारीर ज्ञान की कटु आलोचना की है।[1] जो भी हो, ऐसा अनुमान होता है कि उनके समय शवच्छेद प्रचलित नहीं था और चीर-फाड़ का अवसर शल्यशास्त्री को ही उपलब्ध होता था। अतः वाग्भट का वर्णन प्रत्यक्ष पर आधारित न होकर अन्य संहिताओं विशेषतः सुश्रुत पर आधारित है।

वाग्भट ने शुक्र का स्वरूप स्निग्ध, शुक्ल, मधुगन्धि, मधुर, पिच्छिल तथा घृत तैल या मधु के वर्ण का बतलाया है।[2] सुश्रुत ने तैलक्षौद्रवर्ण का 'केचित्' से उल्लेख किया है[3] जिससे उनकी इसके प्रति अरुचि व्यक्त होती है। शुक्रस्राव का काल १६ से ७० वर्ष की आयु तक बतलाया है।[4] शुक्रदोषों में विशिष्ट योगों का उल्लेख वाग्भट ने किया है। पुरुष के साथ समागम के समय स्त्री को भी शुक्र का स्राव होता है किन्तु यह गर्भकर नहीं होता[5] अतः इसका कोई महत्त्व नहीं है।

आर्तव का स्राव १२ से ५० वर्ष की आयु तक स्त्रियों में होता है। आर्तवदोषों की चिकित्सा गुह्यप्रतिषेध अध्याय में बतलाई गई है। पुष्पदर्शन के चौथे दिन स्त्री अपने पति को तन्मय होकर देखे क्योंकि उस समय जैसे पुरुष को देखती या सोचती है वैसे ही पुत्र को जन्म देती है। सुश्रुत ने चौथी रात से मासपर्यन्त समागम का विधान किया है किन्तु वाग्भट का कथन है कि गुणवान् पुत्र की इच्छा होने पर चार रात और छोड़ दे अर्थात् पुष्पदिन से सात रात।[6] उसके बाद पुत्र की कामना हो तो अष्टमी, दशमी या द्वादशी को और कन्या की कामना हो तो पञ्चमी, सप्तमी या नवमी को सहवास करे। इन तिथियों में उत्तरोत्तर आयु और सौभाग्य की वृद्धि होती है। इनके बाद उत्तरोत्तर इनका ह्रास होता है। युग्म तिथियों में पुत्र और

---

1. 'The inconsistencies and incongruities as expressed above clearly prove that Vagbhata I possessed no experimental knowledge of the Skeleton, but that he constructed his list of its bones theoretically from the information provided in the Compendia of Charaka and Sushruta which Compenpia as we shall see in the following paragraph, he can not have possessed in their original and genuine form, and which, from want of anatomical knowledge, he was unfitted to use critically'—

Hoernle : Studies in the medicine of Ancient India, Part—1 (Osteology). Oxford, 1907, Page—96.

२. सं० शा० १।९ ३. सु० शा० २।११

४. सं० शा० १।२१ ५. सं० शा० १।७२ ६. सं० शा० १।४७

अयुग्म में कन्या के जन्म में कारण यह दिया गया है कि उन-उन तिथियों में क्रमशः शुक्र और आर्तव का प्राबल्य रहता है। यदि आहार की विशेषता से कदाचित् अयुग्म तिथियों में शुक्र की प्रबलता हो जाय तो पुरुष सन्तान तो होती है किन्तु वह स्त्री की आकृति का, दुर्बल और हीनांग होता है। इसी प्रकार यदि युग्मतिथियों में शुक्र की न्यूनता हो जाय तो स्त्री सन्तान होती है जो पुरुषाकृति और दुर्बल होती है। एकादशी और त्रयोदशी को सहवास करने से नपुंसक सन्तान होती है।[१]

इसके बाद उपाध्याय पुत्रीय विधान करे। पुत्रीय विधान के मन्त्र जो चरक के हैं वही वाग्भट में भी आये हैं केवल अन्तर इतना ही है कि वाग्भट ने इसे अति-संक्षिप्त कर दिया है। सम्भवतः वाग्भट के काल में वैदिक विधान इतना जटिल नहीं रहा होगा। उसके बाद स्त्री-पुरुष का सहवास हो। पुरुष विपरीत रति न करावे क्योंकि इससे स्त्रीचेष्ट पुरुष या पुंचेष्ट स्त्री सन्तान होती है।[२] विपरीतरति का उल्लेख चरक और सुश्रुत ने नहीं किया है।

गर्भ हो जाने पर पुष्य नक्षत्र में पुंसवन का विधान है। कुछ लोग कहते हैं कि बारह दिनों तक करना चाहिए। उसमें भी कुछ लोगों का मत है कि विषम दिनों में होना चाहिए और कुछ लोग कहते हैं कि प्रतिदिन होना चाहिए। पुंसवन के अनेक योग दिये गये हैं और अन्त में यह कहा गया है कि ब्राह्मण और वृद्ध स्त्रियाँ इनके अतिरिक्त और जो कहें किया जाय। ये योग गृह्यसूत्रों में कथित योगों से बहुत मिलते-जुलते हैं।[3] चरक में एक विधान है कि स्वर्ण, रजत या लौह का पुरुषक बनाकर आग में तपाकर दही या दूध में बुझावे और पुष्य में पीवे।[४] यह विधान अष्टांगसंग्रह में नहीं है किन्तु अष्टाङ्गहृदय में है।[५]

सन्तान के वर्ण के सम्बन्ध में भी वाग्भट ने विशेष विचार किया है। सन्तान का वर्ण शुक्र के वर्ण, माता के आहार-विहार और देश एवं कुल पर निर्भर करता है। यों पाञ्चभौतिक दृष्टि से तेजोधातु का जल और आकाश के सम्पर्क से गौरता; पृथ्वी और वायु के सम्पर्क से कृष्णता तथा सर्व धातुसाम्य होने पर श्यामता होती है।

पुंसवन आदि विधियों की सफलता दैव और कर्म के सामन्जस्य पर बतलाई गई है। वाग्भट दोनों के समन्वय के समर्थक हैं।[६]

भूतहृत गर्भ की धारणा के सम्बन्ध में वाग्भट का कथन है कि राक्षसगण केवल ओज का अपहरण करते हैं शरीर का नहीं अतः यह धारणा निराधार है।[७]

---

१. सं० शा० ११४८–५१ २. सं० शा० ११५८

३. B. C. Lele : Some Atharvanic portions in the Grihyasutras, 1927 (Bonn) पुंसवन-प्रकरण।

४. च० शा० ८।१६ ५. हृ० शा० ११३८

६. सं० शा० ११६९ ७. सं० शा० ११६७–६८

गर्भ के व्यक्त होने पर कुक्षिगौरव, अरुचि, पादशोथ, अम्लाभिलाष आदि लक्षण बतलाये गये हैं। गर्भस्थापन होने पर आर्तव अवरुद्ध हो जाता है और वही उपनीयमान होकर 'अपरा' कहलाता है। कोई कोई इसे 'जरायु' भी कहते हैं। वाग्भट यहाँ पर 'अपरा' और 'जरायु में भ्रान्त हो गये हैं यद्यपि दोनों दो पृथक् वस्तुयें हैं। यही अवरुद्ध रक्त रोमराजी का प्रादुर्भाव करता है। जरायु से बचा रक्त और ऊपर जाता है जिससे कपोल और पयोधरों में स्थूलता आती है और ओष्ठ एवं चूचुकों में कृष्णता आती है। यही रक्त स्तनों में आगे चल कर स्तन्य का कारण बनता है।[1]

मासिक गर्भविकासक्रम में वाग्भट ने चरक और सुश्रुत का समन्वय किया है। क्लैब्यादि स्वीकर तथा अन्य भाव और तृतीय मास में दौहृद चरक के अनुसार लिखा है।[2] अन्य विचार सुश्रुत के अनुसार हैं।[3] सुश्रुत चतुर्थ मास में दौहृद मानते हैं। वाग्भट ने एकीय मत के रूप में उद्धृत किया है कि कुछ लोग तीन पक्ष से पांच मास तक दौहृद काल मानते हैं।[4] अष्टम मास में ओज के अस्थिर होने से गर्भ का का जन्म व्यापत्तिमान होता है और माता को ग्लानि होती है। चरक के इस कथन का अनुसरण वाग्भट ने किया है और सुश्रुत के मत का उल्लेख 'अन्ये, से किया है जिससे अरुचि प्रकट होती है।[5]

गर्भकाल में गर्भ के पोषण का बड़ा ही सुन्दर वर्णन वाग्भट ने किया है। नाभिनाड़ी, अपरा और मातृहृदय इनका सम्बन्ध, माता के आहार रस का इस माध्यम से गर्भशरीर में संचरण तथा उसकी कायाग्नि से पक्व होकर धातुनिर्माण यह क्रम अत्यन्त विशद रूप से उपस्थित किया गया है। यह भी लिखा है कि जैसे जैसे गर्भ वृद्धि प्राप्त करता है वैसे-वैसे गर्भ-भार और आहाररस-भार के कारण माता का बल क्षीण होता जाता है।[6]

प्रसव-काल में जो दो मन्त्र वाग्भट ने दिये हैं उनमें एक तो चरक में मिलता है और दूसरा सुश्रुत के मूढ-गर्भचिकित्सा-प्रकरण का है।

प्रसव के बाद अपरा—पातनके अनेक योग वाग्भट ने दिये हैं जिनमें चरक-सुश्रुत के अतिरिक्त उनके अपने भी योग प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार मक्कल्ल शूल में भी है। वाग्भट द्वारा निर्दिष्ट वत्सकादि गण का मद्य के साथ प्रयोग इन दोनों में किया गया है।

अंगविभागीय प्रकरण का प्रसंग करते हुये त्वचा का वर्णन किया गया है।

---

१. सं० शा० २।१०—१२.
२. च० शा० ४।१७
३. सु० शा० ३।१४..
४. सं० शा० २।१८.
५. सं० शा० २।२७—२८.
६. सं० शा० २।३३, ५९,

चरक के अनुसार ६ त्वचाओं का वर्णन करने के बाद 'अन्ये' से सुश्रुतोक्त सात त्वचाओं का भी वर्णन किया गया है।[१] इसी प्रकार अन्य प्रसंगों में भी है। अधिकांश सुश्रुत का ही अनुसरण किया गया है। शवच्छेद की व्यवस्था शारीरज्ञान के लिए न होने से प्रत्यक्ष का आधार नहीं रहा और ऐसी स्थिति में प्राचीन आचार्यों का अनुसरण ही एकमात्र शरण रह गया।

अस्थियों की संख्या चरक के अनुसार तथा अस्थियों के प्रकार सुश्रुत के अनुसार वर्णित हैं।[२] अस्थियों की संख्या में भी, कुल संख्या तो चरक के समान है किन्तु विवरण सुश्रुत के आधार पर है और चरक से कुछ चीजें लेकर संख्या पूरी की गई हैं (देखें तालिका)। इस प्रकार चरक और सुश्रुत के समन्वय का प्रयत्न किया गया है किन्तु प्रत्यक्ष आधार न होने के कारण यह सैद्धान्तिक एवं काल्पनिक ही रह गया।[3] 'स्नायु' के लिए 'स्नाव' शब्द का प्रयोग किया गया है।[४] दोष धातुमलों का परिमाण चरक के अनुसार अर्धाञ्जलि मान से लिखकर सुश्रुत के मत का इस प्रकार उल्लेख किया कि 'धान्वन्तरीय लोग कहते हैं कि दोषधातुमल चल हैं अतः उनका परिमाण-निर्देश अशक्य है, केवल स्वास्थ्य के द्वारा अनुमान से लक्षित हो सकता है।[५]

---

१. सं० शा० ५।२४-३३. 		२. सं० शा० ५।६८,७२

३. "The system of Vagbhata I is peculiar. Its aim is to combine the systems of Charaka and Sushruta." Hoernle : Osteology, page 152.

"As to Vagabhata I he follows his usual practice of Compromise. With Sushruta he holds the separate existence of two nasal, 2 malar and two maxillary bones and with Atreya-Charaka the separate existence of the superior alveolar process. In the main, therefore, his system agrees with the system of Sushruta, the only difference being that he divides the superior maxillary horizontally into two separate bones, an upper and a lower, the upper being the body (हनुबन्धन), and the lower the alveolar process (दन्तोलूखल) It is a difference which indicates a distinct decadence in anatomical knowledge." 		ibid, page 179.

४. सं० शा० ५।८४-८५ 		५. सं० शा० ५।९९-१००

अस्थिसंख्या का तुलनात्मक विवरण

क्रम संख्या	अस्थिनाम	वाग्भट	सुश्रुत	चरक	चरक से गृहीत
१.	नख	२०	—	२०	२०
२.	अंगुलि	६०	६०	६०	
३.	शलाका	२०	२०	२०	
४.	प्रतिबन्धक, स्थान	४	४	४	
५.	कूर्च्च	८	८	×	
६.	गुल्फ एवं मणिबन्ध	८	८	६	
७.	जंघा एवं अग्रबाहु	८	८	८	
८.	पार्ष्णि	४	४	२	
९.	जानु एवं कूर्पर	४	४	४	
१०.	ऊरु एवं बाहु	४	४	४	
११.	पर्शुका (स्थालक-अर्बुद सहित)	७२	७२	७२	
१२.	पृष्ठ	३०	३०	४५	
१३.	उर	८	८	१४	
१४.	भग	१	१	१	
१५ क	त्रिकँ	१	१	×	
१५ ख	गुद	×	१	×	
१६.	नितम्ब	२	२	२	
१७.	अक्षक	२	२	२	
१८.	अंस	२	×	२	२
१९.	अंसफलक	२	×	२	२
२०.	गण्ड	२	२	×	
२१ क	कर्ण	२	२	×	
२१ ख	नेत्र	×	×	×	
२२.	शंख	२	२	२	
२३.	जत्रु	१	×	१	१
२४.	तालु	१	१	२	
२५.	ग्रीवा	१३	९	१५	
२६.	कण्ठनाड़ी	४	४	×	
२७.	हनु	२	२	३	
२८.	दन्त	३२	३२	३२	
२९.	दन्तोलूखल	३२	×	३२	३२
३०.	नासा	३	३	१	
३१.	शिर	६	६	४	
	योग	३६०	३००	३६०	५७

स्रोतों के संबन्ध में वाग्भट ने चरक का अनुसरण किया है। स्रोतों के स्वरूप के संबन्ध में उसने मध्यम मार्ग निकाल कर चरक और सुश्रुत दोनों के मतों को 'अन्ये' 'अपरे' के द्वारा एकीय मत के रूप में उद्धृत किया है। वाग्भट स्रोतों के ही विशिष्ट रूप को सिरा और धमनी मानते है[१] जब कि सुश्रुत दोनों में भेद मानते हैं [२] और चरक अभेद मानते हैं।[३] दार्शनिक भाषा में यदि कहा जाय तो स्रोत के सम्बन्ध में चरक अद्वैत, सुश्रुत द्वैत तथा वाग्भट विशिष्टाद्वैत मत के समर्थक हैं।

स्रोतों की दुष्टि दोषों के द्वारा होती है और दोष अग्निदोष से दूषित होते हैं। अतः अग्नि पर ही आयु, आरोग्य, बल आदि आश्रित हैं और उसी से रञ्जक आदि पित्त, भूताग्नियाँ तथा धात्वग्नियाँ संबद्ध हैं। अग्नि के सम्बन्ध में यह कहा गया कि पित्तविशेष ही पाचक संज्ञक अग्नि है। कुछ आचार्य कहते हैं कि दोष धातुमलों के संपर्क से उत्पन्न आन्तरिक ऊष्मा (ताप) ही जो विशिष्ट अधिष्ठान में रहनेवाली तथा निर्दिष्ट कर्म करनेवाली है अग्नि कहलाती है।[४]

धातु-पाक क्रम में सार-मल का वर्णन करते हुए वाग्भट ने शुक्र का सार ओज बतलाया है और यह कहा है कि अत्यन्त शुद्ध होने से उसमें मल नहीं होता। मलाभाव के कारण ही अन्य आचार्य कहते हैं कि शुक्र का पाक ही नहीं होता और कुछ लोग शुक्र का सार गर्भ को मानते हैं। ओज दो प्रकार का माना है। पर ओज हृदयस्थ अष्टबिन्दुप्रमाण है और अपर ओज प्रसृति-प्रमाण, रसात्मक और क्षयवृद्धि-शील है। पर ओज अपर ओज का आधार है।[५] धातुपाक के संबन्ध में आचार्यों के जो विभिन्न मत हैं उनमें वाग्भट केदारकुल्यान्याय का समर्थक है अतएव एकीय मत के रूप में खलेकपोतन्याय तथा क्षीरदधिन्याय का निर्देश किया है।[६]

मर्मों के प्रकार का वर्णन करते हुए वाग्भट ने सुश्रुत के मत का ही अनुसरण किया है किन्तु 'अन्ये' के द्वारा यह लिखा है कि स्वभाव से ही ऐसा होता है। जिस प्रकार चन्द्रकान्त, सूर्यकान्त तथा लोह चुम्बक का प्रतिनियत कर्म होता है उसी प्रकार मर्मों का भी प्रभाव स्वभावजन्य होता है, कहीं आघात लगने पर मृत्यु होती है और कही नहीं होती। इस पर भी कुछ आचार्य हेतु देते हैं कि जहाँ मर्मच्छेद होने पर सिरासंकोच होने के कारण रक्तस्राव कम होता है वहाँ मृत्यु नहीं होती और जहाँ अतिरक्तस्राव होता है वहाँ मृत्यु हो जाती है।[७]

प्रकृति के संबन्ध में दोषों का संबन्ध बतलाते हुए वाग्भट ने कहा कि वातादि दोष दो प्रकार के हैं प्राकृत और वैकृत। प्राकृत दोष प्रकृति के कारण होते हैं

---

१. तत्र स्रोतसामेव विशेषाः सिरा धमन्यः' सं० शा० ६।४८
२. सु० शा० ९।११
३. च० वि० ५।१४
४. सं० शा० ६।५३-५६.
५. सं० शा० ६।६६; ८।८.
६. सं० शा० ६।६८-६९.
७. सं० शा० ७।३१-३२

और वैकृत दोष आगे चलकर क्षयवृद्धि से युक्त होकर विभिन्न लक्षण उत्पन्न करते हैं।[१] प्रकृति दोषानुसार सात, गुणानुसार सात तथा जात्यादि सात बतलाई गई है।[२] इसके अतिरिक्त, वय, बल, सार, प्रमाण, निन्दितानिन्दित शरीर तथा दीर्घायु के लक्षण चरकानुसार बतलाये गये हैं।

नपुंसक

चरक ने आठ प्रकार के[३] और सुश्रुत ने सात प्रकार के नपुंसक[४] बतलाते हैं। वाग्भट ने संख्या तो चरक के अनुसार आठ रक्खी है किन्तु प्रकारों में सुश्रुतोक्त भेदों का भी समावेश किया है। इसके अतिरिक्त, जब शुक्र या रज का बीज भाग दूषित हो जाता है तब स्त्री में वन्ध्या, पूतिप्रजा और वार्ता तथा पुरुष में वन्ध्य, पूतिप्रज और तृणपूलिंग या तृणपूलिक संज्ञक विकार उत्पन्न होते हैं।[५]

इस प्रकार चरक के नरषण्ड और नारीषण्ड इन दो प्रकारों के स्थान पर सुश्रुत के आसेक्य और सौगन्धिक भेदों को रखकर वाग्भट ने इन दोनों का समन्वय किया है।

नपुंसकभेद

चरक	सुश्रुत	वाग्भट
१. द्विरेता	आसेक्य	द्विरेता
२. पवनेन्द्रिय	सुगन्धी	वातेन्द्रिय
३. संस्कारवाही	कुम्भीक	संस्कारवाह्य
४. नरषण्ड	—	आसेक्य
५. नारीषण्ड	—	सौगन्धिक
६. वक्री	—	वक्री
७. ईर्ष्याभिरति	ईर्ष्यक	ईर्ष्यालु
८. वातिक षण्डक	षण्ड	वायुपिण्डक

दोषादिविज्ञान

आयुर्वेद में दोष, धातु और मल शरीर के मूल उपादान माने गये हैं और इन्हीं की विकृति से रोगों की उत्पत्ति कही गई है। अतः स्वाभाविक है कि आयुर्वेद का कोई भी शारीरिक विचार इनके बिना पूर्ण नहीं होता। चरक, सुश्रुत

---

१. सं० शा० ८।७ २. सं० शा० ८।२१

३. च० शा० २।१८-२१ ४. सु० शा० २।३४-४०

५. सं० शा० २।३८-५१

आदि प्राचीन आयुर्वेदीय संहिताओं में इनका प्रतिपादन सूत्र रूप से किया गया है जिसमें सैद्धान्तिक पक्ष अधिक प्रबल है। वाग्भट का दृष्टिकोण व्यावहारिक होने से उसने इसे व्यावहारिक रूप दिया है और इसके लिए उसे व्यास और समास दोनों शैलियों का उपयोग करना पड़ा है। कुछ बातों को तो छोड़ दिया गया है और कुछ बातों को नई रीति से विशद कर दिया गया है।

प्रारंभ में दोष-धातु-मलों का प्राकृत कर्म सूत्र रूप में बतलाकर इनकी वृद्धि और क्षय का लक्षण दिया है। दोष-वृद्धि के लक्षणों में अनेक अन्य लक्षणों का समावेश कर उसे स्पष्ट किया गया है यथा वातवृद्धि के लक्षणों में संज्ञानाश, प्रलाप आदि का उल्लेख किया गया जो सामान्यत: व्यवहार में मिलते हैं।[1] धातुओं की वृद्धि के लक्षणों का उल्लेख करते हुये उनका सामञ्जस्य दोषों के लक्षणों के साथ स्थापित किया गया है यथा रसवृद्धि में श्लेष्मविकार, रक्तवृद्धि में पित्तविकार, मांसवृद्धि में श्लेष्मरक्तविकार, मेदोवृद्धि में श्लेष्मरक्तमांसविकार के लक्षणों की उपस्थिति बतलाई गई है।[2] धातुओं और दोषों का संबन्ध बतलाते हुए यह कहा गया है कि अस्थि में वायु, रक्त और स्वेद में पित्त तथा शेष धातुओं में श्लेष्मा रहता है।[3] दोषों के क्षय-लक्षणों में उनके अपने लक्षणों में कमी के साथ साथ विपरीत दोष-लक्षणों में वृद्धि का भी उल्लेख किया गया है यथा वातक्षय के लक्षणों में अल्पवाक् अल्पचेष्टता आदि के साथ साथ प्रसेक, अरुचि हृल्लास का भी निर्देश किया गया है जो श्लेष्मवृद्धि के लक्षण हैं।[4]

वाग्भट के मत से क्षय और वृद्धि की उपलब्धि क्रमशः विपरीत गुणों की वृद्धि और क्षय से होती है और मलों की वृद्धि और क्षय का परिज्ञान उनके अतिसंग और उत्सर्ग से होता है।[5] चरक के मत से वृद्धि में दोष के लक्षण बढ़ जाते है और क्षीणावस्था में घट जाते हैं तथा विरोधी लक्षणों की वृद्धि हो जाती है।[6] स्पष्टतः वाग्भट ने दोष के स्वलक्षणों पर बल न देकर विपरीत लक्षणों पर ही बल दिया है। वाग्भट का यह भी विचार है कि वृद्धि की अपेक्षा क्षय अधिक कष्टकर होता है क्योंकि लोगों को इसका अभ्यास नहीं होता है।[7] जैसा ऊपर कहा गया है, धातुओं और मलों में विशिष्ट दोषों की उपस्थिति मानी गई है यथा अस्थि में वायु, रक्त-स्वेद में पित्त और शेष में श्लेष्मा। अतः इनकी वृद्धि और क्षय के कारण भी समान ही होते हैं केवल अस्थि को छोड़ कर।

---

१. सं० सू० ११।६ २. सं सू० ११।७
३. सं० सू० ११।१३ ४. सं० सू० ११।९
५. सं सू० ११।१२ ६. च० सू० १८।५५.
७. सं० सू० ११।१२

शरीर के स्थूल धातुओं में श्लेष्मा की उपस्थिति होने के कारण सभी प्रकार की वृद्धि प्रायः संतर्पणजन्य और श्लेष्मा से युक्त होती है। इसी प्रकार सभी प्रकार के क्षय प्रायः अपतर्पण के कारण और वातजन्य होते हैं।[1] अतः वृद्धि और क्षय से उत्पन्न विकारों का उपचार क्रमशः लंघन और बृंहण से किया जाता है। वायु की वृद्धि और क्षय में क्रमशः बृंहण और लंघन किया जाता है।

धातुओं की वृद्धि और क्षय के विचार को और आगे बढ़ाते हुये वाग्भट ने एक मौलिक विचार प्रस्तुत किया है कि धातुओं में स्थित अग्नि की मन्दता और तीक्ष्णता से क्रमशः उनकी वृद्धि और क्षय होता है।[2] धातुगत अग्नि जब मन्द होगी तो धातुओं की वृद्धि होगी और उसके तीक्ष्ण होने पर उनका क्षय होगा। सामान्यतः आहार मिलते रहने से यह अग्नि आहार की ओर अभिमुख रहती है और धातुओं की ओर मन्द रहती है अतः धातुओं की वृद्धि होती है। इसके विपरीत, आहार नहीं मिलने पर यह अग्नि धातुओं की ओर केन्द्रित होकर उनका पाचन करने लगती है। विकारों की स्थिति में यह धातुपाक-क्रिया होती है जो घातक मानी गई है।[3] यों भी यदि धात्वग्नि अतितीक्ष्ण हो जायगी तो धातुक्षय होने लगेगा। वृद्धि और क्षय की परम्परा आगे की ओर चलती है। पूर्व धातु की वृद्धि होने पर अग्रिम धातु भी बढ़ जाती है और इसी प्रकार पूर्वधातु के क्षय से अग्रिम धातु का भी क्षय होता है। यह क्रम प्रतिलोम भी होता है जिसका उल्लेख वाग्भट ने नहीं किया किन्तु आगे चल कर विजयरक्षित ने स्पष्ट किया।[4]

दोष-प्रसंग में दोष-धातु-मलों का पारस्परिक सम्बन्ध बतलाते हुए वाग्भट ने कहा कि दोष दूषित होकर रसके माध्यम से धातुओं को दूषित करते हैं और फिर इन दोनों के माध्यम से मल दूषित होते हैं।[5]

दूषण-स्वभाव होने से दोष, धारण करने से धातु तथा आहार का मल होने तथा शरीर को मलिन करने से मल संज्ञा हुई है।[6] प्रत्येक दोष के पाँच-पाँच भेद किये गये हैं और पाँचों के नाम भी निर्धारित किये गये हैं। चरक में पाँचों वायु के नाम हैं, सुश्रुत में पित्त के पाँच प्रकारों का भी नाम आता है। वाग्भट में इन दोनों के अतिरिक्त श्लेष्मा के पाँच प्रकारों के नाम भी दिये गये हैं। इसके अतिरिक्त आमाशय में रंजक पित्त की उपस्थिति बतलाई है।[7] यह एक स्पष्ट विकास-परम्परा है।

---

१. सं० सू० १९।१३ २. सं० सू० १९।१६-१७

३. आ० द० (मा० नि०) ज्वर निदान, श्लो० २४ (२)

४. मधुकोष (मा० नि०) राजयक्ष्मनिदान, श्लो० २

५. सं० सू० १९।१९ ६. सं० सू० २०।३ ७. सं० सू० २०।५

दोषों की वृद्धि दो प्रकार की बतलाई गई है संचय और प्रकोप। ऊष्मगुणोपहित रूक्षादि भाव वायु का संचय करते हैं और शीतगुणोपहित प्रकोप। इसी प्रकार ऊष्मगुणोपहित स्निग्धादि भाव उसका प्रशम करते हैं। पित्त का संचय शीतगुणोपहित तीक्ष्णादि भावों से, प्रकोप शीतगुणोपहित इन्हीं भावों से तथा प्रशम मन्दादि भावों से। कफ का शीतगुणोपहित स्निग्धादि भावों से संचय, ऊष्मगुणोपहित इन भावों से प्रकोप तथा रूक्षादि भावों से प्रशम होता है। ऐसा स्वभाव काल तथा आहार आदि के कारण होता है।[1] संचय, प्रकोप तथा प्रशम के संबन्ध में वाग्भट के ये विचार सैद्धान्तिक परीक्षण की दिशा में महत्वपूर्ण देन है।

प्रकुपित दोषों के स्वरूप के प्रसंग में वाग्भट ने आचार्य कपिल के मत का निर्देश किया है जो प्रकुपित दोषों के लक्षणों की उपलब्धि रस द्वारा करते हैं। यथा पित्त का कट्वम्ललवण से, कफ का स्वाद्वम्ललवण से तथा वायु का कषायतिक्तकटु से परिज्ञान किया जाता है। इसका आधार अनुमान है क्योंकि ये दोष समान रसों से बढ़ते हैं तथा विपरीत रसों से घटते हैं। इसी प्रसंग में वाग्भट ने सुश्रुत के मत का भी उल्लेख किया है कि पित्त विदग्ध होने पर अम्ल तथा श्लेष्मा लवण हो जाता है।[2]

दोष-प्रकोप के हेतुओं का सविस्तर वर्णन निदानस्थान (१ अ०) में किया गया है। प्रकुपित दोषों के लक्षण-कर्म का वर्णन करने के अतिरिक्त उनसे उत्पन्न होने वाले आविष्कृततम नानात्मज विकारों का भी उल्लेख किया है यथा वातविकार ८०, पित्तविकार ४० और कफविकार २०। इस प्रसंग में विभिन्न विकारों के रूप में परिगणित दाह, ओष आदि भावों के लक्षण भी दिये गये हैं और इस सम्बन्ध में विभिन्न आचार्यों के मत भी 'अन्ये' के द्वारा उद्धृत किये गये हैं। विकारों के दो वर्गों का भी निर्देश किया गया है[3] महाविकार और क्षुद्रविकार महाविकार में स्वतन्त्र व्याधि आते हैं और क्षुद्र विकार में ऐसे लक्षण जो अपने अधिष्ठानभूत अंगों से ही अभिहित होते हैं यथा नखभेद, हृदयोपलेप आदि।[4]

अंशांशकल्पना से दोषों के ६३ भेद भी बतलाये गये हैं जिसके अन्त में यह कहा गया कि धातुओं के साथ इनका संयोग तथा दूष्यों की वृद्धि एवं क्षय का विचार करते हुए उनकी अंशांशकल्पना की दृष्टि से ये भेद अनन्त होते हैं।[5] अतः व्यावहारिक दृष्टि से भी यह विषय अत्यन्त गम्भीर और महत्वपूर्ण है और इसका परिशीलन आगम, प्रत्यक्ष एवं अनुमान के द्वारा सावधानी से करना चाहिए

१. सं० सू० २०।८
२. सं० सू० २०।२२–२३
३. सं० सू० २०।१६-१७.
४. सं० सू० २०।१८.
५. सं० सू० २०।३८.

और इनका उपक्रम भी देशकाल आदि का विचार कर करना चाहिए। उक्त अनुक्त सभी विकारों में इन्हीं दोषों के लक्षण और कर्म मिलते हैं तथा उसीके अनुसार उनकी चिकित्सा की जाती है। अतः विकारों के निदान एवं चिकित्सा में दोषों का ज्ञान सर्वोपरि है।

सुश्रुत ने जिन क्रियाकालों का उल्लेख्य किया है[1] उसका निर्देश नहीं मिलता। संभवतः उसे शल्यतंत्रोपयोगी समझ कर अन्य आचार्यों ने ग्रहण करना आवश्यक नहीं समझा।

दोषों के उपक्रम के क्रम में वाग्भट ने पित्त दोष का उपक्रम बतलाया है वह सांस्कृतिक एवं साहित्यिक दृष्टियों से अद्भुत नमूना है।[2] वातपित्त में ग्रीष्म, कफवात में वसन्त तथा कफपित्त में शरदृतु में विहित उपक्रम करने का विधान है। दोषों की चिकित्सा में प्रयुक्त होने वाले रसों के क्रम का भी विवेचन किया गया है। प्रकुपित वायु में लवण, अम्ल, मधुर, पित्त में तिक्त, मधुर, कषाय तथा कफ में कटु, तिक्त और कषाय रसों का क्रमशः प्रयोग करने का विधान बतलाया गया है।[3]

दोषों के उपक्रम की प्रक्रिया के सम्बन्ध में अनेक मतों का उद्धरण वाग्भट ने दिया है। पराशर का मत है कि दोषों का उपक्रम चयावस्था में ही करना चाहिए। यदि ऐसा न हो सका तो प्रकोपावस्था में ऐसा उपाय करना चाहिए कि उससे अन्य दोषों का विरोध न हो। यदि सभी दोष कुपित हों तो शेष दोषों का विरोध न करते हुए बलिष्ठ दोष की चिकित्सा करनी चाहिए और यदि सबका बल समान हो तो वात, पित्त और कफ इस क्रम से दोषों का शमन करना चाहिए क्योंकि वात सभी दोषों में स्वभावतः बलिष्ठ और सबका नेता है अतः नेता की पराजय से सबकी पराजय निश्चित है। कुछ आचार्य दोषों का स्थानक्रम से उपक्रम करने का विधान करते हैं। शरीर में दोषों की स्थिति ऊपर से नीचे कफ, पित्त और वात इस क्रम से है अतः इसी क्रम से दोषों की चिकित्सा करनी चाहिए क्योंकि कफ के द्वारा शिर, हृदय, कण्ठ का प्रलेप होने पर अरुचि आदि विकार उत्पन्न होते है और अन्नपान अवरुद्ध होने पर रोगी की स्थिति कैसे ठीक हो सकती है[1]? कफ के बाद पित्त का स्थान आता है जो मध्यदेश का निवासी है तथा वात का मित्र और आशुकारी है। सबसे अन्त में वात का स्थान आता है। कुछ आचार्य पित्त की मध्यस्थिति, आशुकारिता तथा वात से उसके सम्बन्ध को देखते हुए उसी का सर्वप्रथम शमन करने का उपदेश करते हैं उसके बाद वात का तथा अन्त में कफ का। आचार्य

---

१. सं० सू० २१।३३ २. सं० सू० २१।४.

३. सं० सू० २१।७–८

सुश्रुत का कथन है कि यह क्रम सर्वत्र उपयोगी नहीं होता जैसे ज्वर और अतिसार में क्रमशः पित्त, कफ और वात का शमन करना चाहिए क्योंकि ज्वर में संताप से तथा अतिसार में सरता से पित्त की प्रधानता लक्षित होती है। उसके बाद गौरव, अग्निमांद्य, जाड्य आदि उत्पन्न करने वाला कफ अनुबल रहता है। इन दोनों के बाद वायु का स्थान होता है जो बढ़ कर अपने लक्षण उत्पन्न करता है। कुछ आचार्य इन रोगों में भी उपयुक्त क्रम को न मानकर कफ, पित्त और वात यह क्रम मानते हैं क्योंकि ज्वर आमाशय से उद्भूत होता है और वह कफ का स्थान है तथा अपने स्थान में कुपित दोष प्रबल होते हैं। उसके बाद पित्त और वात का शमन करना चाहिए। इस प्रकार वात, पित्त और कफ इन तीनों दोषों की समान प्रमुखता देखकर आचार्य वाग्भट ने इसका उपसंहार किया कि अपने-अपने लक्षणों से दोषों के बलाबल का परीक्षण कर उसी क्रम से चिकित्सा की व्यवस्था करे। इस सम्बन्ध में कोई कठोर नियम नहीं निर्धारित किया जा सकता।[१]

दोषों के पारस्परिक सम्बन्ध तथा रोगजनकता पर विचार करते हुए वाग्भट ने कहा कि किसी कुपित दोष को शान्त करने में विरोधी दोष समर्थ नहीं होते क्योंकि उनका दोषात्मक स्वभाव है और उनके गुण भी उनमें सामान्य होते हैं[२]। तब यह भी प्रश्न उठता है कि परस्परविरोधी दोष फिर सान्निपातिक विकार कैसे उत्पन्न करते हैं ? इसका उत्तर यह दिया गया है कि जिस प्रकार कि गुण परस्पर विरुद्ध होने पर भी सृष्टि का आरम्भ करते हैं उसी प्रकार त्रिदोष के द्वारा भी ऐसे विकारों का आरम्भ होता है।[3] वस्तुतः इसका उचित समाधान नहीं हो सका है क्योंकि त्रिदोष की रोगोत्पादकता सिद्ध करने के लिए त्रिगुण का दृष्टान्त देते हैं और त्रिगुण की सृष्ट्यारंभकता सिद्ध करने के लिए त्रिदोष का आश्रय लेते हैं[४] इस प्रकार यह चक्रकापत्ति हो जाती है।

अन्त में आम का लक्षण बतला कर साम दोषों की चिकित्सा का विधान किया गया है।[५]

द्रव्यविज्ञान

विविधौषधविज्ञानीय अध्याय में औषध का विभिन्न दृष्टियों से वर्गीकरण किया गया है[१] यथाः—

१. सं० सू० २१।१५–२८.

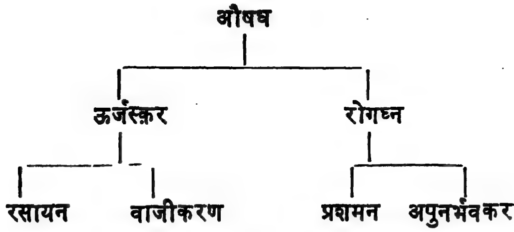
२. सं० सू० २१।३०–३१. ३. सं० सू० २१।३२.

४. सां० त०—१३.

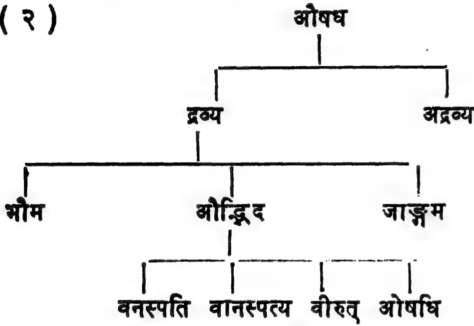
५. सं० सू० २१।३६–४१.

६. सं० सू० १२।३–१०

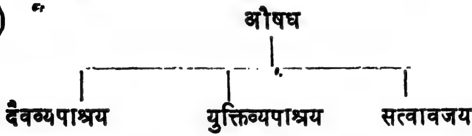
(१)


औषध
ऊर्जस्कर
रोगघ्न
रसायन
वाजीकरण
प्रशमन
अपुनर्भवकर

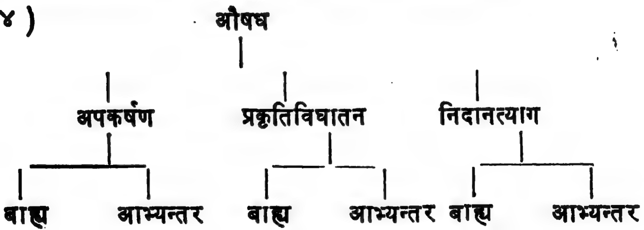
(२)


औषध
द्रव्य
अद्रव्य
भौम
औद्भिद
जाङ्गम
वनस्पति
वानस्पत्य
वीरुत्
ओषधि

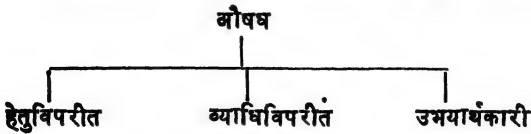
(३)


औषध
दैवव्यपाश्रय
युक्तिव्यपाश्रय
सत्वावजय

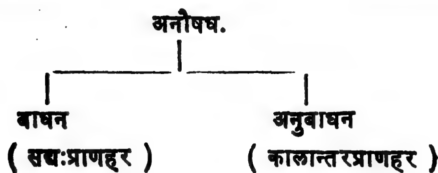
(४)


औषध
अपकर्षण
प्रकृतिविघातन
निदानत्याग
बाह्य
आभ्यन्तर
बाह्य
आभ्यन्तर
बाह्य
आभ्यन्तर

(५)


औषध
हेतुविपरीत
व्याधिविपरीत
उभयार्थकारी

(६)


अनौषध.
बाधन
(सद्यःप्राणहर)
अनुबाधन
(कालान्तरप्राणहर)

वाग्भट के काल में रत्नों और धातुओं तथा समुद्र से उत्पन्न होने वाले द्रव्यों मुक्ता, प्रवाल, शंख, समुद्रफेन आदि का प्रयोग बहुत होने लगा था अतः इनका वणन कुछ विकसित रूप में उपलब्ध होता है।

रसाञ्जन[१] तथा वंशलोचन का पाठ अन्य पार्थिव द्रव्यों के साथ है। वंशलोचन के प्रसंग में वंशरोचना और तवक्षीरी[२] दो शब्द आते हैं। संभवतः दूसरा तवाशीर का वाचक है और संभव है यूनानी संपर्क से आया हो। लवणों के प्रसंग में कृष्ण लवण का उल्लेख आया है जिनके विषय में लिखा है कि यह सौवर्चल के समान गुणवाला होता है किन्तु निर्गन्ध होता है।[3] इस प्रकार वाग्भट के मत में काला नमक के लिए सौवर्चल ही उपयुक्त शब्द है।

हिंगु बोष्काणदेश (काबुल) की श्रेष्ठ मानी गई है।[४] जीरा आदि द्रव्यों को एक साथ लिखा है और उन्हें 'अन्नगंधहर' बतलाया है।[५] इन्हीं को चरक ने 'आहारयोगिवर्ग' में रखा है। इसी प्रकार शतपुष्पा आदि गंध द्रव्यों का एक साथ उल्लेख किया है।[६] इन द्रव्यों का वर्णन राजनिघंटु ने शतपुष्पादि वर्ग तथा भावप्रकाश ने कर्पूरादि वर्ग में किया है 'विषाद्वयम्' से दो प्रकार की अतिविषा संभवतः एक प्रतिविषा (विखमा) ली गई है।[७] 'बलात्रय' का उल्लेख वाग्भट ने किया है जो आगे[८] चल कर 'बलाचतुष्टय' हो गया। इसमें बला, अतिबला तथा नागबला का समावेश होता है। ताम्बूल तथा उसके परिवार पूग आदि का गुणकर्म भी लिखा है।[९] अगस्त्य के पुष्प का स्वरस नस्य के रूप में चातुर्थिक ज्वर में बतलाया गया है।[१०] परवर्ती ग्रन्थों में उसकी पत्ती के स्वरस का नस्य उपयोगी कहा गया है[११]।

चरक और सुश्रुत ने जिस प्रकार वनौषधियों का परिचय वनवासियों के संपर्क से करने को कहा है उसी प्रकार वाग्भट ने भी बतलाया है।[१२] इससे पता चलता है कि लोक में या शास्त्र में वनस्पति-परिचय की कोई वैज्ञानिक पद्धति विकसित नहीं हो सकी थी जिसका परिणाम आगे चलकर स्वभावतः यह हुआ कि अनेक द्रव्य संदिग्ध कोटि में चले गये और अनेक सदा के लिए लुप्त हो गये।

---

१. सं० सू० १२।२६ २. सं० सू० १२।२९
३. सं० सू० १२।३५.
४. श्रेष्ठं बोष्काणदेशजम्'—सं० सू० १२।६७;
५. सं० सू० १२।६३. ६. सं० सू० १२।६८
७. सं० सू० १२।७०; ८. सं० सू० १२।८२
९. सं० सू० १२।८३–८५. १०. सं० सू० १२।८९
११. चातुर्थिकहरं नस्यं मुनिद्रुमदलाम्बुना'—वै० जी० १।५४
१२. सं० सू० १२।१०१

अग्र्य-प्रकरण में चरक ने १५२ द्रव्यों तथा भावों का उल्लेख किया है[1] और वाग्भट ने १५५।[2] इससे स्पष्ट है कि वाग्भट ने इन परम्परा को विकसित कर आगे बढ़ाया है तथा अनेक व्यवहारसिद्ध औषधियों का उसमें समावेश कर उन्हें प्रकाश में खड़ा किया है। उदाहरण के लिए,

१. वासा का रक्तपित्त में; कण्टकारी का कास में; लाक्षा का सद्यःक्षत में; नागबला का क्षयक्षत में; हरिद्रा का प्रमेह में; लशुन का गुल्म तथा वातविकार में; त्रिफला का तिमिर रोग में तथा लाजा का छर्दि में, प्राधान्य कहा गया है। अग्रच प्रकरण में चरक ने इनका उल्लेख नहीं किया है।

२. चरक ने चित्रकमूल को दीपनीय, पाचनीय, गुदशूल, शोथ एवं अर्श में सर्वोत्तम लाभकर बतलाया है। वाग्भट ने इसका विधान केवल शुष्कार्श में किया है और इसके साथ साथ भल्लातक का भी निर्देश किया है।

३. चरक ने केवल एरण्डमूल का उल्लेख किया है एरण्डतैल का नहीं किन्तु वाग्भट ने इसके साथ साथ एरण्डतैल का अभ्यास वर्ध्म, गुल्म, वातविकार तथा शूल में सर्वश्रेष्ठ कहा है।

इसी प्रकार चरक ने कुटजत्वक् का उल्लेख रक्तसंग्रहणीय रूप में किया है किन्तु वाग्भट ने इसके अतिरिक्त कुटज का विशेष रूप से रक्तार्श में प्रयोग लिखा है।

४. अयोरज को पाण्डुरोगघ्न द्रव्यों में वाग्भट ने सर्वश्रेष्ठ लिखा है। प्राचीन संहिताओं में भी लौह का प्रयोग पाण्डुरोग में मिलता है। भेलसंहिता में इसका स्पष्ट वर्णन है।[3] चरक ने इसका उल्लेख अग्रच प्रकरण में नहीं किया है।

५. गुग्गुलु का प्रयोग प्राचीन चिकित्सकों द्वारा वातव्याधि में होता रहा[4] किन्तु वाग्भट के काल में उसका मेदोरोग में भी प्रयोग होने लगा था[5] और इस रूप में लोक में प्रसिद्ध हो गया था। इसके अति सेवन से क्लैब्य होता है। यह बात भी वाग्भट ने ही सामने रखी।[6] 'चतुर्भाणी', जो गुप्त कालीन रचना है, में भी यह प्रसंग आया है।[7]

---

१. च० सू० २५।३९ २. सं० सू० १३।५

३. भे० चि० १९।२२, ३३–४५ ४. सु० चि० ५।४९–५४

५. सं० सू० १२।७५; १३।३; ६. सं० उ० ४९।१७८

७. 'वधाय किल मेदसो यदपिबं पुरा गुग्गुलुं तदेतदुपहन्ति मे व्यतिकरामृतं त्वदगतम्।

मेदः क्षयाय पीतो यदि गुग्गुलुरिन्द्रियक्षयं कुरुते।
धूपार्थोऽपि न कार्यो गुग्गुलुना कामयमानेन॥'—पादताड़ितक, ७४–७५;

त्रिफलागुग्गुलु का व्रण में प्रयोग बतलाया गया है।

६. कुछ स्थलों में स्पष्टता के लिए नाम परिवर्तित कर किया गया है यथा चरक में शालिपर्णी का अभिधान विदारिगंधा पर्याय से है किन्तु वाग्भट ने इसे 'शालिपर्णी' शब्द से ही कहा है।

७. एक गुणकर्म वाले द्रव्य जो चरक में पृथक् पृथक् कहे गये थे उन्हें एकत्र कर दिया गया है। यथा माष, शष्कुली तथा अविक्षीर श्लेष्मपित्तजनन के रूप में पृथक् पृथक् तीन स्थलों पर उल्लिखित हैं किन्तु वाग्भट ने तीनों को एक ही साथ रख दिया—'माषाः शष्कुल्यो अविक्षीरं च पित्तश्लेष्मजननानाम्"

८. चिकित्सा-कर्म के अन्तर्गत कुछ विधियों का भी उल्लेख वाग्भट ने किया है। यथा ज्वरहर में उपवास को सर्वश्रेष्ठ तथा विद्रधि आदि को दूर करने वालों में रक्ता शोक को सर्वोतम बतलाया है। इससे प्रतीत होता है कि वाग्भट के काल में ज्वर-चिकित्सा में उपवास का प्रमुख स्थान था। चीनी यात्री इत्सिग ने भी इस बात का उल्लेख अपने यात्रा-विवरण में किया है।[१]

रक्तावसेक का भी शल्यचिकित्सकों में बहुशः प्रयोग होता होगा।

९. चरक ने निसंशयकर भावों में सर्वोतम दो भावों को गिनाया है एक वैद्य-समूह और दूसरा दृष्टकर्मता। वाग्भट ने इनमें दृष्टकर्मता को तो रहने दिया किन्तु वैद्यसमूह को हटा दिया। इससे अनुमान होता है कि वैद्यसमूह के द्वारा किसी विषय पर विशेषतः रोगी के संम्बन्ध में विचार विमर्श की परम्परा समाप्त हो रही थी।

द्रव्यों के वर्गीकरण का विचार चरक ने मुख्यतः एक अध्याय में सुश्रुत ने दो अध्यायों में तथा वाग्भट ने तीन अध्यायों में दिया है। स्पष्टतः वाग्भट ने चरक और सुश्रुत दोनों के गणों को उसी रूप में ले लिया हैं। कहीं-कहीं समन्वय का प्रयत्न भी किया है। इसी लिए यहाँ महाकषायों की संख्या ४५ तथा गणों की संख्या २५ हो गयी जब कि चरक और सुश्रुत में उनकी संख्या क्रमशः ५० और ३७ है। वाग्भट ने चरक के गणों को 'महाकषायसंग्रह' तथा सुश्रुत के गणों को 'विविध गण संग्रह' में किया है। सम्भवतः इसका कारण यह हो सकता है कि चरक ने उन्हें 'महाकषाय' की संज्ञा दी है और सुश्रुत ने उन्हें 'गण' कहा है। समन्वय के प्रयत्न का एक स्पष्ट दृष्टांत है कि चरक ने दशमूल के द्रव्यों का निर्देश तो किया किन्तु 'शोथहर' की संज्ञा से जब कि सुश्रुत ने उन्हें दशमूल के अन्तर्गत किया। वाग्भट ने इन दोनों को एकत्र कर समन्वित कर दिया और लिखा कि दशमूल

---

१. "In it the most & important rule is Fasting"

—Itsing: A record of Buddhist practices in india.

Ch. XXVIII. Page 134.

शोथहर है—शोफं दशमूलमाढयच्च ।[1] इसी प्रकार पंचकोल का भी निरूपण वाग्भट ने किया ।[2] त्रिजात, चतुर्जात गण भी निर्धारित किये ।[3] पंचमूल सुश्रुत ने पांच ही बतलाये हैं बृहत् पंचमूल, लघु पंच मूल, तृण–पंचमूल, वल्ली–पंचमूल और कंटकपंचमूल किन्तु वाग्भट ने दो पंचमूल और जोड़े है मध्यम पंचमूल और जीवनीय पंचमूल ।[4] इसी प्रकार शोधनीय गणसंग्रह में तीन प्रकार के धूमोपयोगी (प्रयोगिक, स्नैहिक, तीक्ष्ण) द्रव्यगणों का उल्लेख किया है ।[5] सुश्रुत के गणों में एक नया गण 'वत्सकादि गण' जोड़ा है जिसमें चरक के दस शूलहर द्रव्यों के अतिरिक्त और बारह समानगुण द्रव्य हैं ।[6] दूसरे, सुश्रुत के बृहत्यादि, उत्पलादि, आमलक्यादि तथा लाक्षादि इन पांच गणों को छोड़ दिया है। कुछ गणों के नाम में परिवर्तन कर दिया है तथा सुश्रुत के काकोल्यादि और सालसारादि गणों का पाठ वाग्भट ने क्रमशः पद्मकादि तथा असनादि नाम से किया है । जहां तक चरक की बात है, चरक के गणों का पाठ उसी क्रम से ज्यों का त्यों उद्धृत किया है केवल वमनोपग, विरचनोपग, आस्थापनोपग, अनुवासनोपग और शिरोविरेचनोपग इन पांच महाकषायों को छोड़कर । सम्भवतः उन्हें इसलिए यहाँ छोड़ दिया गया हो कि उनका निर्देश शोधन गणों के प्रकरण में कर दिया गया गया है । दूसरा उदाहरण क्रमभंग का यह हैं कि शोथहर गण का उल्लेख उसी क्रम से न कर अन्त में किया गया संभवतः उसका दशमूल से सामञ्जस्य दिखलाने के लिए ही ऐसा किया गया । इस प्रकार हम देखते हैं कि वाग्भट ने प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रवर्त्तित वर्गीकरण पद्धति को तो ज्यों का त्यों रखा किन्तु कुछ परिवर्तन-परिवर्धन यत्र तत्र किये जिनका आधार व्यवहार ही कहा जा सकता है ।

सुश्रुत ने शोधन-प्रकरण में वमन के अन्तर्गत फल और मूल में प्रयुक्त होने वाले द्रव्यों का उल्लेख किया हैं किन्तु वाग्भट ने उसके अन्तर्गत पिच्छा, पुष्प पत्र, कन्द सार का भी उल्लेख किया है ।[7]

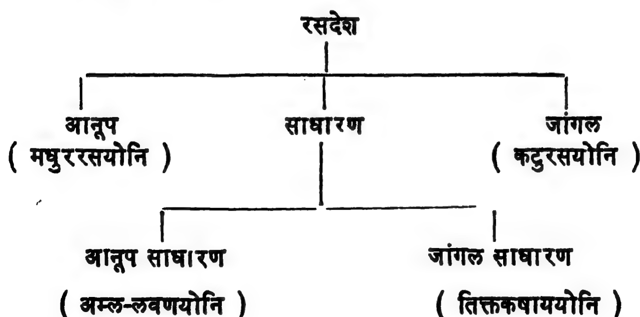
एक विचित्र बात यह है कि विरेचन में कम्पिल्लक के फलरज का प्रयोग सुश्रुत ने बतलाया है किन्तु वाग्भट ने उसकी त्वचा का प्रयोग लिखा है ।[8] संभव है यह लिपिदोष हो किन्तु यदि यह सचमुच ठीक हो तो इससे पता चलता है कि कम्पिल्लक-फलरज का ठीक-ठीक परिज्ञान लेखक को न हो और उसके प्रयोग के विषय में भी भ्रान्ति हो । कम्पिल्लक की त्वचा में विरेचन-कर्म की स्थिति परीक्षा का विषय है ।

---

१. सं० सू० १५।४४. २. सं० सू० १२।५५–५६.
३. सं० सू० १२।४६–४९ ४. सं० सू० १२।५९–६०.
५. सं० सू०१४।७–९. ६. सं० सू० १६।२७–२८.
७. सं० सू० १४।३. ८. सं० सू० ३६।३.

इसी प्रकार तिल्वक और लोध्र के सम्बन्ध में प्रचलित सन्देह का बीज भी हम वाग्भट में पाते हैं।[1] दृढबल ने चरक में दोनों को पर्यायवाची शब्द मान कर भ्रम फैलाया है। यह प्रकरण अष्टांग संग्रह में ज्यों का त्यों मिलता है। वाग्भट को हम दृढबल के पूर्व माने या बाद में किन्तु वह इस सम्बन्ध में भ्रान्त थे इतना तो स्पष्ट है। द्रव्यों के परिचय को शास्त्रीय स्वरूप न देना और उसे वनवासियों के हाथ में छोड़ देने की यही स्वाभाविक परिणति हो सकती हैं।

सैद्धान्तिक क्षेत्र में जटिलता को छोड़कर वाग्भट ने एक व्यावहारिक मोड़ दिया और विभिन्न आचार्यों के मतों में एक समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया। रस की पांचभौतिकता सिद्ध करने के लिए उसने द्रव्य की पांचभौतिकता से प्रारम्भ किया है और उन्हीं युक्तियों के आधार पर जिनका प्रयोग चरक ने रस के लिए किया है।[2] रस के छः स्कन्धों का वर्णन करने के बाद सभी स्कन्धों के श्रेष्ठ द्रव्यों का उल्लेख किया गया है यथा मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त और कषाय स्कन्धों में क्रमशः घृत, आमलक, सैंधव, पटोल, पिप्पली और हरीतकी श्रेष्ठ है।[3] इस प्रसंग में रसदेशों का वर्णन किया है जिनमें तत्तद् रसों की प्रमुखता होती है यथा अनूप देश को मधुररसयोनि तथा जांगलदेश को कटुरसयोनि माना गया है। दोनों के बीच में आनूप साधारण और जांगल साधारण रक्खा है जिनमें प्रथम में अम्ल-लवण और दूसरे में तिक्तकषाय रखे गये हैं।[4]



रसस्कन्धों के कर्म की दृष्टि से कुछ द्रव्य अपवाद की श्रेणी में रखे गये हैं। यहाँ तिक्त-कटुकस्कन्ध में अपवादभूत द्रव्यों में पिप्पली और लशुन जोड़े गये हैं।[5]

१. सं० सू० २।३३,३५.
२. सं० सू० १८।३.
३. सं० सू० १८।२८.
४. सं० सू० १८।२९–३१.
५. सं० सू० १८।२६.

विपाक के संबन्ध में आचार्यों में मतभेद रहा है। चरक तीन विपाक मानते हैं मधुर, अम्ल और कटु। सुश्रुत इसका खण्डन करते हैं और दो विपाक मानते हैं गुरु और लघु। इस प्रसंग में उन्होंने यथारसविपाकवाद तथा अनवस्थितविपाकवाद का भी उल्लेख किया है।[१] वाग्भट ने अनेक युक्तियों के द्वारा यथारसविपाकवाद का खंडन किया है और चरक के अनुसार तीन विपाक माना है। इस क्रम में उसने पराशर के मत का उद्धरण किया है जो अम्लरस का अम्लविपाक, कटुरस का कटुविपाक तथा शेष चार रसों—मधुर, लवण, तिक्त, कषाय—के लिए मधुर विपाक मानते हैं। उनका तर्क यह है कि यदि तिक्त-कषाय का विपाक मधुर नहीं मानेंगे तो पित्त-शमन कार्य उनके द्वारा कैसे होगा[२] ?

विपाक के स्वरूप के संबन्ध में चरक और सुश्रुत के विचारों में मौलिक अन्तर दृष्टिगोचर होता है। चरक मधुर, अम्ल और लवण विपाक मानते हैं अतः उनके मत में उसका स्वरूप रसात्मक होता है[3] सुश्रुत विपाक की स्थिति जाठराग्नि के कार्यक्षेत्र में ही सीमित मानते है अतः वह पाचन के समकक्ष हो जाता है। इस अर्थ में वह उसका स्वरूप गुणात्मक मानते हैं। जिस द्रव्य का पाचन देर में या विष्टम्भ के साथ हो वह गुरुविपाक और जिसका पाचन यथाकाल और सरलता से हो वह लघुविपाक कहलाया।[४] इस प्रसंग में स्पष्टतः वाग्भट चरक के अनुयायी हैं और विपाक को रसात्मक मानते हैं।[५]अष्टांगहृदयकार ने विपाक का यह लक्षण किया कि जाठराग्नि का कार्य पूर्ण होने पर आहार के परिणामान्त में जो रस उत्पन्न होता है उसे विपाक कहते हैं[६] अतः उसका अधिष्ठान पोषक रस होता है। चरक ने ऐसा कोई लक्षण नहीं दिया है; ग्रहणी प्रकरण में जाठराग्नि के कार्यक्षेत्र में उन्होंने तीन पाक माने हैं जिन्हें प्रपाक कहा गया है।[७] यह स्पष्ट नहीं होता कि उनका प्रपाक और विपाक एक ही है या भिन्न ? यदि एक ही है तब उनका दृष्टिकोण सुश्रुत के समीप आ जाता है। ऐसी स्थिति में अष्टांगहृदयकार की उद्भावना मौलिक मानी जायगी।

वीर्य के संबन्ध में चरक ने अष्टविधवीर्यवाद तथा द्विविधवीर्यवाद का निर्देश तो किया है किन्तु 'केचिद्' शब्द से उनके प्रति अरुचि व्यक्त की है। अन्त में उन्होंने बहुविधवीर्यवाद का ही समर्थन किया है। उनका कथन है कि द्रव्य की सारी क्रियायें वीर्य के द्वारा ही होती हैं अतः जिस शक्ति के द्वारा कर्म हो वही वीर्य है।[८] स्पष्टतः

१. सु० सू० ४०।८ २. सं० सू० १६।१६–२० ३. च० सू० २६।५५,
४. सु० सू० ४०।८–१०., यदुपयुक्तं चिराद् विपच्यते विष्टम्भयति वा स विपाक दोषः। —सु० सू० ४५।६.,
५. सं० सू० १७।१७., ६. हृ० सू० ९।२०,
७. च० चि० १५।९, ८. च० सू० २६।६१–६२

कर्मभेद से यह अनेक प्रकार की होगी। सुश्रुत ने अष्टविधवीर्यवाद का 'केचित्' से उल्लेख कर अग्निषोमीय सिद्धान्त के आधार पर द्विविधवीर्यवाद की स्थापना की है।[1] वाग्भट ने उपर्युक्त तीनों मतों का निर्देश किया है। किन्तु अष्टविधवीर्यवाद की विशद व्याख्या की है और अपना सुझाव उस ओर व्यक्त किया है। उसका कथन है कि वीर्य शक्ति रूप है और जो गुण शक्तिरूप होते हैं वही वीर्य की कोटि में आ जाते हैं। चूंकि गुरु, लघु, मृदु, तीक्ष्ण शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष ये आठ गुण इस दृष्टि से अन्य गुणों में श्रेष्ठ एवं उत्कृष्ट हैं अतः अपनी शक्ति से रस, विपाक तथा अन्य गुणों को पराभूत कर देते हैं। इस प्रकार वीर्यसंज्ञा शास्त्रीय रूढ होने पर भी शक्ति के अर्थ में गुर्वादि के लिए लौकिक हो जाती है।[2] सुश्रुत ने जो अष्टविध वीर्य गिनाये हैं उनमें गुरु-लघु के स्थान पर विशद-पिच्छिल है। वह गुरु-लघु गुणों का प्रयोग विपाक के संबन्ध में ही करते हैं। उपर्युक्त रूप में जब वीर्य को शक्ति के रूप में मानते हैं तब सर्वोत्कृष्ट द्रव्य की जो स्वाभाविक शक्ति है वह प्रभाव कहलाता है। द्रव्यों के विशिष्ट कर्म यथा मणिमन्त्रादि, पुंसवन, वशीकरण आदि कार्य इसी के कारण होते हैं[3]।

इनमें द्रव्य के कुछ कर्म रस से, कुछ गुण से, कुछ वीर्य, विपाक या प्रभाव से होते हैं। यदि इन सबका समान बल रहा तो रस को विपाक, इन दोनों को वीर्य तथा इन सबको प्रभाव दबा देता है। किन्तु इन सबका बलवैषम्य होने पर क्या होगा ? इसका समाधान वाग्भट ने ही किया है। उनका कथन है कि इनमें जो बलवान् होगा वह दूसरों को दबा देगा और अपना कार्य करेगा, क्योंकि विरुद्ध गुणों का संयोग होने पर बलवान् से दुर्बल का पराभव हो जाता है। विरुद्ध होने पर भी ये एक दूसरे का नाश नहीं करते जैसे परस्परविरुद्ध दोष और गुण मिलकर कार्य करते हैं।[4]

लशुन और पलाण्डु का यों सुश्रुत ने भी वर्णन किया है किन्तु उन्हें व्यावहारिक धरातल पर लाकर उसके गुण दोषों की छानबीन वाग्भट के काल में हुई। इसीलिए वाग्भट ने अनेक प्रसंगों में उनके उदाहरण दिये हैं।[5]

स्वस्थवृत्त

दिनचर्या का जो वर्णन वाग्भट ने किया है उस पर धर्मसूत्रों का विशेष प्रभाव लक्षित होता है। ब्रह्ममुहूर्त्त में उठना, मिट्टी और जल से शौच, आचमन और उसके नियम, दन्तधावन के नियम ये सब धर्मसूत्रोक्त विधि से मिलते जुलते हैं। निषिद्ध दन्तधावनों की जो लंबी सूची वाग्भट ने दी है तथा 'पाला-

१. सु० सू० ४०।४
२. सं० सू० १७।११–१५, २६
३. सं० सू० १७।४४–५१
४. सं० सू० १७।२३–२६
५. सं० सू० १७।२२,४७,

प्रभासवं दन्तधावनं पादुके त्यजेत्'[1] यह धर्मसूत्रों से ही उद्धृत है। दन्तधावन के प्रसंग में वाग्भट के जो श्लोक हैं वह विष्णुस्मृति के वचनों से बिल्कुल मिलते जुलते हैं। तुलना करें :—

१. "वट्यसनार्कखदिरकरंजकरवीरजम्। सर्जारिमेदापामार्गमालतीककुभोद्भवम्। कषायतिक्तकटुकं मूलमन्यदपीदृशम्।"—सं० सू० ३।१३–१४

"वटासनार्कखदिरकरंजबदरसर्जनिम्बारिमेदापामार्गमालतीककुभबिल्वानामन्यतमं काषायं तिक्तं कटुकं च।"—वि० स्मृ० ६१।१४-१५

२. "नैव श्लेष्मातकारिष्टविभीतधवधन्वजान्। बिल्वबब्बुलनिर्गुण्डीशिग्रुतिल्वकतिन्दुकान्।। कोविदारशमीपीलुपिप्पलेङ्गुदगुग्गुलून्। पारिभद्रकमम्लीकामोचकी शाल्मलीं शणम्।।
—सं० सू० ३।२०-२१.

"नैव श्लेष्मातकारिष्टविभीतधवधन्वजम्। न च बन्धूकनिर्गुण्डीशिग्रुतिल्वकतिन्दुजम्।
न च कोविदारशमीपिलुपिप्पलेङ्गुदगुग्गुलुजम्।
न पारिभद्रिकाम्लीकामोचकशाल्मलीशणजम्।।'—वि० स्मृ० ६१।।१-५

वाग्भट ने निषिद्ध दन्तधावनों में बन्धूक के स्थान पर बब्बुल रक्खा है तथा बिल्व जो विष्णुस्मृति में विहित दन्तधावनों में है वह वाग्भट के द्वारा निषिद्ध कोटि में रखा गया। इस स्वल्प अन्तर के अतिरिक्त दोनों में उपर्युक्त साम्य आश्चर्यजनक और महत्त्वपूर्ण है। इससे स्पष्ट है कि उस समय लोक की दैनिक जीवनचर्या पर धर्मसूत्रों का व्यापक प्रभाव था।

१०८ मंगलों के साथ घृतावेक्षण की विधि दी गई है।[2] घृतावेक्षण अथर्वपरिशिष्टोक्त विधान है।[3] वराहमिहिर में अनेक अथर्वपरिशिष्टोक्त विधियाँ, घृतावेक्षण पुष्याभिषेक आदि दृष्टिगोचर होते हैं।[4] इस आधार पर ऐसा अनुमान होता है कि वाग्भट की रचना वराहमिहिर के काल की है जब अथर्वपरिशिष्टोक्त विधान लोकप्रचलित थे।

प्रातःकाल ताम्बूलीदल के सेवन का विधान बतलाया गया है।[5] चरक और सुश्रुत में भी ताम्बूलपत्र का सेवन अन्य सुगन्धि मुखशोधन द्रव्यों के साथ विहित है[6] किन्तु वाग्भट का 'ताम्बूली' शब्द विशेष सार्थकता रखता है। 'ताम्बूली' का अर्थ ब्रजभाषा की बोली में 'पत्ती' है जो पान के शौकीन लोग प्रयोग करते हैं। एक और स्थल में वाजीकरण प्रसंग में वाग्भट ने ताम्बूल का वर्णन किया है और

---

१. बौ० ध० २।६४; आप० ध० १।११।११।३१
२. सं० सू० ३।२४, ३. अ० प० ८
४. बृ० सं० ४८; हि० ध० २६।८।५१; वि० स्मृ० ६।१५; का० ध० १२।३४
५. सं० सू० ३।३६-३८; ६. च० सू० ५।७६-७७; सु० चि० २४।११

बतलाया है कि वह शकांगनाओं के कपोल की तरह पाण्डुवर्ण तथा अपने परिवार (उपकरणों) के साथ शोभित है।[१] इससे प्रतीत होता है कि वाग्भट स्वयं पान के शौकीन थे और पकी मगही पत्ती का प्रयोग करते थे। इससे बहुत कुछ उनके वासस्थान के विषय में भी अनुमान किया जा सकता है। मगही पान की जन्मभूमि 'मगध, है अतः स्वाभाविक है कि पाटलिपुत्र मगध की राजधानी होने के कारण इस पान की खान हो। हूणों के उपद्रव के कारण गुप्तकाल की दूसरी राजधानी उज्जयिनी बनी। वाराणसी इन दोनों के मार्ग में पड़ती थी। अतः इन प्रदेशों में मगही पान का प्रसार स्वाभाविक था। वाग्भट सिन्धु देश का निवासी था। हर्ष के काल में हम देखते हैं कि सिन्धु देश पर उसका आधिपत्य था।[२] उसके पूर्व भी इन राजधानियों से उसका यातायात द्वारा घनिष्ठ सम्बन्ध था। इस प्रकार वहाँ तक मगही पान का पहुँचना कठिन अवश्य था पर असंभव नहीं।

सुसज्जित होकर जीविकोपार्जन के लिए जाने का विधान है और उसी संबन्ध में राजसेवा का भी वर्णन है[३]। इससे प्रतीत होता है कि वाग्भट के काल में कोई प्रभावशाली सम्राट् था और राजसेवा जीविका का एक महत्त्वपूर्ण साधन माना जाता था।

क्षौरकर्म के संबन्ध में वाग्भट ने विधान किया है कि पक्ष में तीन बार बाल बनावे[४] जब कि भेल में मास में तीन बार बनाने का विधान है[५]।

भेलसंहिता में प्रातःस्नान का विधान है[६] किन्तु वाग्भट ने कहा है कि प्रातःकालीन अपना जीविका-कर्म करने के बाद जब बुभुक्षा प्रतीत हो तब अभ्यंग और व्यायाम करे और उसके बाद स्नान करे।[७] बाणभट्ट की रचनाओं में भी ऐसे ही संकेत मिलते हैं। तत्कालीन राजभवनों में स्नान-भूमि के पास व्यायाम-भूमि भी रहती थी।[८] हर्षचरित में व्यायाम के द्वारा कठिन मांसपेशियों और सुगठित शरीर का अनेक बार उल्लेख हुआ है। इससे प्रतीत होता है कि व्यायाम उस समय की दिनचर्या का प्रधान अंग था।[९]

दस कर्मपथों की रक्षा और दस पापकर्मों का त्याग यह बौद्धधर्म तथा स्मृतियों

---

१. 'शकांगनागण्डतलाभिपाण्डुताम्बूलपत्रं परिवारशोभि—सं० उ० ४९।७९

२. 'सिन्धुराजज्वरः'—ह० च० पृ० २०३

३. सं० सू० ३।३९-४० ४. सं० सू० ३।५४

५. संहारश्चोद्रोमनखं त्रिर्मासस्य च मानवः।' भे० सू० ७।१५

६. भे० सू० ६।२३. ७. सं० सू० ३।५५—५६

८. हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन पृ० २११

९. अनवरतव्यायामकृतकर्कशशरीरेण—ह० च० पृ० १७

के आधार से लिया गया है।[१] वाग्भट स्वयं ब्राह्मण थे किन्तु उनके गुरु बौद्ध थे अतः उनकी रचना में अनेक बौद्ध धर्म के संकेत उपलब्ध होते हैं।

सायंकाल लघु भोजन कर रात्रि में शास्ता (बुद्ध) का स्मरण कर सोने का तथा रात्रि के अपरभाग में जग कर धर्म के चिन्तन का विधान है।[२]

तृतीय तथा अष्टम अध्याय के अन्त में राजप्रशस्ति तथा राजव्यवहार की बातें बतलाई गई हैं। यह विषय गुप्तकालीन कामन्दकीय नीतिसार तथा शुक्रनीति से बिलकुल मिलता जुलता है।

कालविभाग के प्रसंग में सुश्रुत ने निमेष काष्टा, कला, मुहूर्त, अहोरात्र, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, संवत्सर, युग का निर्देश किया है।[3] वाग्भट ने इसे किंचित् परिवर्तन के साथ लिया है। 'नाड़िका' नामक विभाग को वह कला और मुहूर्त के बीच में रखते हैं। इसी प्रकार मुहूर्त के बाद वह याम रखते हैं। 'युग' को उन्होंने नहीं रक्खा। इनमें 'नाड़िका' शब्द महत्वपूर्ण है। हर्षचरित में इस शब्द का उल्लेख घड़ी के अर्थ में हुआ है। संभवतः उस काल में जल घड़ी या बालू की घड़ी को 'नाड़िका' या 'नालिका' कहते थे।[४]

वाग्भट ने ऋतुसन्धि का उल्लेख किया है।

एक ऋतु के अन्तिम तथा दूसरी ऋतु के प्रथम सप्ताह के बीच का काल ऋतुसंधि कहलाता है। इसके अतिरिक्त, ऋतु के तीन आधार (मास, राशि और स्वरूप) पर लक्षण का भी उल्लेख किया है। इससे प्रतीत होता है कि उस समय तक काल के सम्बन्ध में पर्याप्त विचार हो चुका था जिसका समावेश उसने अपने ग्रन्थ में किया।[५]

विभिन्न ऋतुओं का वर्णन भी वाग्भट ने उत्कृष्ट अलंकृत एवं सरस शैली में किया है। जिससे यह सिद्ध होता है कि वह आयुर्वेद के प्रकाण्ड विद्वान् होते हुए एक उच्च कोटि के कवि भी थे। हेमन्त और शिशिर ऋतुओं में भूमिगर्भगृहों का सेवन शय्या के पास अङ्गारधान रखना, कम्बल आदि का बिछावन, शरीर पर

---

१. सं० सू० ३।११६-११८; २. सं० सू० ३।१२०; ३. सु० सू० ४।६१, ६३

४. हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन पृ० २०४

कादम्बरी, पूर्वभाग पृ० २१६ 'अनवरतगलन्नाडिकाकलितकालावली:'

कादम्बरी: एक सांस्कृतिक अध्ययन पृ० ७६

५. सं० सू० ४।६१, ६३

केसर या अगुरु का घना लेप बतलाया है। वसंत ऋतु में सहकार और उत्पल से सुगन्धित आसव पीने का विधान किया है।[1] सहकार आम्र की एक सुगन्धित जाति है तथा उसके एक अवस्थाविशेष का बोधक हैं।[2] सुगन्ध के लिए सहकार-तैल का भी प्रयोग किया जाता था।[3] गुप्त एवं उत्तर गुप्तकाल में इसका प्रचुर प्रयोग होता था।[4] वाग्भट ने इसका कई स्थलों पर उल्लेख किया है।

ग्रीष्मऋतु में तालवृन्त की हवा का सेवन तथा यंत्रसलिल तथा धारागृह में शयन का विधान किया है। वर्षा ऋतु के वर्णन में दीर्घिका तथा साग्नियान भवन का उल्लेख है। गुप्तकाल एवं उत्तर गुप्तकाल के भवनों में इनकी व्यवस्था होती थी। फिर मकान ऐसा हो जहाँ मच्छड़, चूहे तथा कीड़े-मकोड़े न हों इससे प्रतीत होता है कि मकान पक्के और हवादार होते होंगे। मच्छड़ों को दूर करने की भी कोई व्यवस्था होगी। मच्छड़ों का उल्लेख वाग्भट ने अनेक स्थलों में किया है इससे स्पष्ट है कि उसका ध्यान उनकी रोगकारिता की ओर गया था। हवा के लिए भी तालवृन्त का ही उस समय प्रयोग होता था।

वर्षाऋतु में सवारी के लिए हथिनियों का प्रयोग बतलाया है। हर्षचरित में करेणुकाओं का प्रयोग सवारी के लिए आया है।[5]

वाग्भट ने शरद् ऋतु के वर्णन में पृथ्वी को 'शालिशालिनी' कहा है। गुप्तकाल में शालि की अनेक उत्तम जातियों की खेती होती थी और चावल का पर्याप्त प्रचार था। कालिदास ने 'कलम' तथा धान के खेतों का सुन्दर वर्णन किया है।[6] वाग्भट स्वभावतः इस काल में होने से शालि से सुपरिचित हैं। इस ऋतु में अगस्त्योदक के प्रयोग का विधान किया है। जो जल दिन में सूर्य की किरणों तथा रात में चाँदनी में कुछ दिनों तक रक्खा जाता है उसे 'अगस्त्योदक' कहते हैं[7]। इस क्रिया से जल 'निर्विष' और अमृतोपम हो जाता है। शरद् में अगस्त्य-उदय से सम्बन्ध होने के कारण इसे यह संज्ञा दी गई है। कालिदास ने भी इसका निर्देश किया है।[8] इससे प्रतीत होता है कि गुप्तकाल में इसका लोक में प्रचलन था। संभवतः इस प्रक्रिया से वर्षाऋतु द्वारा जन्य दोषों का निराकरण हो जाता था। अन्य ग्रन्थों में इसे 'हंसोदक' या 'अंशूदक' कहा गया है। चरक में भी इसकी संज्ञा 'हंसोदक' है।[9]

---

१. सं० सू० ४।२६ २. सं० सू० ४।१९०;
३. सु० सू० ४५, तैलवर्ग १६.
४. हर्षचरित-एक सांस्कृतिक अध्ययन पृ० १७२-१७३
५. ह० च० पृ० १६९ ६. रघु० ४।३७
७ सं० सू० ४।५६–५७ ८. रघु० ४।२१; १३।३६
९. च० सू० ६।४६-४७

५. रोगानुत्पादनीय

इस प्रकरण के प्रारम्भिक भाग में विभिन्न शारीरिक वेगों के अवरोध से उत्पन्न रोगों का निर्देश करते हुए उन्हें न रोकने का उपदेश किया है और शेष भाग में शारीरिक दोषों का संशोधन समय-समय पर करते रहने की सलाह दी गई है। दृष्टान्त द्वारा यह समझाया गया है कि जिस प्रकार मणि में मलिनता न होने पर भी कालक्रम से आ जाती है और इसके लिए उसकी सफाई बराबर करती रहनी पड़ती है उसी प्रकार शरीर का भी शोधन करते रहना चाहिए। यदि ऐसा न किया गया तो दोष संचय की सीमा से आगे बढ़कर अनेक रोग उत्पन्न करते हैं। वाग्भट ने इन रोगों की सूची दी है।

'सत्याश्रये वा द्विविधे यथोक्ते पूर्वं गदेभ्यः प्रतिकर्म नित्यम्।
जितेन्द्रियं नानुपतन्ति रोगास्तत्कालयुक्तं यदि नास्ति दैवम्॥

(च० शा० २।४३)

चरक के इस श्लोक के ऊपरी दो चरण वाग्भट में इस प्रकार मिलते है :—

अर्थेष्वलभ्येष्वकृतप्रयत्नं कृतादरं नित्यमुपायवत्सु।'

(सं० सू० ५।४७)

६. द्रवद्रव्यविज्ञानीय

चरक-संहिता में यह प्रकरण अन्नपान-विधि अध्याय (सू.२७) के अन्तर्गत चार वर्गों में (मद्यवर्ग, जलवर्ग, गोरसवर्ग, इक्षुवर्ग) वर्णित है। वाग्भट ने इस सारे प्रकरण को दो अध्यायों में व्यवस्थित किया है। द्रवद्रव्यविज्ञानीय अध्याय में वस्तुविषय जल-वर्ग, क्षीरवर्ग, इक्षुवर्ग, मधुवर्ग, तैलवर्ग मद्यवर्ग तथा मूत्रवर्ग इन छः वर्गों में विभक्त है तथा अन्नस्वरूपविज्ञानीय अध्याय में शूकधान्यवर्ग, शिम्बीधान्यवर्ग, कृतान्नवर्ग, मांसवर्ग, शाकवर्ग, फलवर्ग, तथा मात्रादिवर्ग आये हैं। सुश्रुत में भी यह प्रकरण दो स्वतन्त्र अध्यायों में विभक्त है किन्तु उपर्युक्त वर्गों में अवान्तरवर्ग बना कर विषय का वर्गीकरण विस्तृत कर दिया गया है यथा क्षीरवर्ग में आनेवाले दधि, तक्र, घृत आदि के लिये पृथक्वर्ग किये गये हैं। स्पष्टतः वाग्भट और सुश्रुत की वर्गीकरणपद्धति में साम्य है केवल इस अन्तर के साथ कि सुश्रुत में यह अधिक विस्तृत है।

विषयवस्तु की दृष्टि से भी वाग्भट सुश्रुत के अधिक निकट है।

वाग्भट ने भूमिविशेष से जल का गुण बतलाया है।[1] सुश्रुत ने इसका प्रतिवाद किया है।[2] वाग्भट ने यह विषय चरकसंहिता से लिया है और इसे विकसित किया है।

---

१. सं० सू० ६।९-११ २. सु० सू० ४५।२

जल के भेद भी वाग्भट ने आठ[1] और सुश्रुत ने सात किये हैं ।[2] वाप्य जल का भेद सुश्रुत में नहीं है ।

देशभेद से नदियों के जल की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए वाग्भट ने विन्ध्य और पारियात्र का भी निर्देश किया है ।[3] हिमालय और मलयपर्वत से उद्भूत नदियों का जल चरक ने अमृतोपम बतलाया है[4] किन्तु सुश्रुत ने इन्हें रोगजनक कहा है ।[5] वाग्भट ने इन दोनों का समन्वय कर विरोध-परिहार किया है । उसने लिखा है कि पहाड़ों से झरनों के रूप में गिरने वाली तथा प्रवाहशील नदियों का जल तो लघु एवं पथ्य होता है किन्तु यदि उनका जल स्थिर हो जाता हैं तो वह कृमि श्लीपद, हृद्रोग आदि विकार उत्पन्न करते हैं ।[6]

जल-शोधन के प्रकरण में वाग्भट ने सुश्रुत के द्वारा निर्दिष्ट केवल प्रसादन का वर्णन किया है, निक्षेपण तथा शीतीकरण नहीं लिया । इसके अतिरिक्त तापन, परिस्रावण, गंधनाशन की व्यवस्था की गई है ।[7]

इसी प्रसंग में वाग्भट ने नारिकेलोदक का वर्णन किया है[8] जो चरक और सुश्रुत में नही मिलता । संभव है, वाग्भट के काल में नारिकेलोदक का बहुशः प्रचलन लोक में हो गया हो । इसका एक प्रमुख कारण सम्भवतः उत्तर-दक्षिण का प्रचुर सम्पर्क रहा हो ।

क्षीरवर्ग—वाग्भट ने चरक के आधार पर दुग्ध के किलाट, मोरट, पीयूष आदि का वणन किया है किन्तु यह वर्णन चरक की अपेक्षा कुछ विकसित प्रतीत होता है । सुश्रुत ने इसका और भी विस्तार में वर्णन किया है और सन्तानिका आदि का भी उल्लेख किया है । पुराण घृत का भी सुश्रुत ने विशद वर्णन किया है जब कि चरक और वाग्भट में यह संक्षिप्त रूप से मिलता है ।

इक्षुवर्ग—वाग्भट ने सुश्रुत के अनुसार इक्षु की अनेक जातियों का उल्लेख किया है । शर्करा के विषय में सुश्रुत में मधुशर्करा, यवासशर्करा तथा मधूकपुष्पोत्थ फाणित का उल्लेख लिया है[9] जब कि वाग्भट ने काश, शर, दर्भ के पत्र से उत्पन्न शर्करा का उल्लेख किया है ।[10] इससे प्रतीत होता है कि वाग्भट के काल में अनेक ऐसे द्रव्यों में शर्करा बनाई जाती थी ।

---

१. सं० सू० ६।१२
२. सु० सू० ४५।३
३. सं० सू० ६।१९-२०
४. च० सू० २७।२१०-२११
५. सु० सू० ४५।१३;
६. सं० सू० ६।१७-१८
७. सं० सू० ६।२६-२८
८. सं० सू० ६।५१
९. सु० सू० ४५।१७-१९;
१०. सं० सू० ६।८९

तैलवर्ग—यह प्रकरण भी सुश्रुत के अनुसार किन्तु संक्षिप्त है। सहकारतैल का वर्णन सुश्रुत ने किया है[1] किन्तु वाग्भट ने तैलप्रकरण में उसका उल्लेख नहीं किया है। सहकारतैल को सुश्रुत ने अतिसुगन्धि लिखा है। ज्ञातव्य है कि यह उस युग में सुगन्ध के लिए प्रयुक्त होता था। हर्षचरित में इसका अनेक स्थलों पर निर्देश हुआ है।

मद्यवर्ग—वाग्भट ने द्राक्षा, इक्षु, मधु, शालि और व्रीहि ये पांच उत्तम मद्य की योनि बतलाई है।[2] उसने वातकीपुष्प से अभिषुत द्राक्षासव[3] का भी वर्णन किया है जो रोचन, दीपन तथा कास और पीनस में उपयोगी होता है। संभवतः द्राक्षासव का यह सर्वप्रथम उल्लेख है।

७. अन्नस्वरूपविज्ञानीय

वाग्भट ने शूकधान्यों में श्रेष्ठता की दृष्टि से रक्तशालि, महाशालि और कलम यह क्रम रक्खा है।[4] चरक में भी यही क्रम है।[5] सुश्रुत ने रक्तशालि के बाद कलम दिया है और महाशालि का स्थान बहुत पीछे।[6] कलम धान्य का उल्लेख साहित्यकारों ने भी बहुशः किया है जिससे प्रतीत होता है कि यह लोक में बहुत प्रचलित था।

शिम्बीधान्यों में सुश्रुत ने मूंग और उसमें भी हरी मूंग अच्छी बतलाई है।[7] तदनुसार वाग्भट ने भी लिखा है।[8] सुश्रुत ने कलम के अतिरिक्त त्रिपुटक का उल्लेख किया है।[9] वाग्भट ने इसका निर्देश नहीं किया। वाग्भट ने राजमाष[10] का वर्णन चरक के आधार पर किया है।[11]

कृतान्नवर्ग में दकलावणिक, घारिका, इण्डरिका आदि कल्पनायें वाग्भट की मौलिक कृति प्रतीत होती हैं।[12] इण्डरिका संभवतः दक्षिण भारत में प्रचलित इडली है।

शाकवर्ग में वल्लीफलों का एक विशेष वर्ग प्रकाश में आया जिसमें कूष्माण्ड सर्वोत्तम माना गया।[13] जीवन्ती शाकों में सामान्यतः श्रेष्ठ मानी गई है।

---

१. 'सहकारतैलमीषत्तिक्तमतिसुगन्धि" —सु० सू० ४५।१६ तैलवर्ग

२. सं० सू० ६।१३३ ३. सं० सू० ६।१३१

४. सं० सू० ७।३; ५. च० सू० २७।८

६. सु० सू० ४६।१ ७. सु० सू० ४६।१९

८. सं० सू० ७।२६ ९. सु० सू० ४६।७

१०. सं० सू० ७।२७ ११. च० सू० २७।२५

१२. सं० सू० ७।५१, ६६ १३. सं० सू० ७।१३४

वाग्भट में फलों में द्राक्षा फलोत्तमा बतलाई गई है।[1] वाग्भट ने आम्र के प्रसंग में सहकार-रस का भी वर्णन किया है।[2]

मात्रादिवर्ग में वाग्भट ने आहार के सम्बन्ध में मात्रा, देश, काल आदि भावों के महत्त्व का सोदाहरण प्रतिपादन किया है। भूमिसात्म्य के प्रसंग में अनेक देशों का निर्देश किया है। मयूर के मांस के लिए लिखा है कि यह यों विशेष पथ्य नहीं है किन्तु श्रोत्र, स्वर, आयु, एवं नेत्र के लिए हितकर है।[3] मयूर का मांस मौर्यकाल में विशेष प्रचलित हुआ। अशोक ने जीवहत्या का निषेध कर दिया था फिर भी उसके रसोईघर में नित्य मयूर और हरिण का मांस बनता था।[4] उसी समय से लोक में इसका विशेष प्रचार हुआ।

'धातकीगुड़तोयानि कारणं मद्यशुक्तयोः' (सं० सू० ७।२४३) इससे पता चलता है कि आसव-अरिष्ट बनाने की वर्तमान विधि वाग्भट काल से ही चली आ रही है।

८. अन्न-रक्षाविधि—

राजसत्ता के लिए विभिन्न राजाओं में घात-प्रतिघात चलते रहते थे और इसी प्रसंग में उनकी हत्या के लिए विषप्रयोग भी किये जाते थे। अतः राजवैद्य के लिए इस संबन्ध में विशेष ज्ञान आवश्यक हो गया था। राजा की रक्षा के लिए अष्टांग आयुर्वेद में कुशल प्राणाचार्य का उसके सन्निकट रहने का उपदेश किया गया है।[5] सुश्रुत में इस प्रसंग में तो नहीं किन्तु अन्य स्थलोंमें अष्टांगवित् वैद्य की चर्चा आई है। हर्षचरित में भी आया है कि महाराज हर्ष का कुलक्रमागत वैद्य रसायन अष्टांग आयुर्वेद में निपुण था।[6]

राजा के हाथ में औषधि और रत्न बंधा हो, तब भोजन कराने का विधान है।[7] भेल-संहिता में भी ऐसा उल्लेख है।[8] मयूर विषघ्न पक्षी है अतः उसके द्वारा भोजन दिखलाने का भी विधान है।[9]

---

१. सं० सू० ७।१६८ २. सं० सू० ७।१९०

३. सं० सू० ७।२४० ४. अशोक के धर्मलेख पृ० २८

५. सं० सू० ८।४;

६. तेषांतु भिषजां मध्ये पौनर्वसवो युवाऽष्टादशवर्षदेशीयः तस्मिन्नेव राजकुले कुलक्रमागतो गतः परम्पारमष्टाङ्गस्यायुर्वेदस्य...रसायनो नाम वैद्यकुमारकः।

—ह. च. पृ. २७५–२७६.

७. सं० सू० ८।८

८. 'ओषधींश्च मणींश्चैव मंगलान् धारयेत् सदा–' भे० सू० ७।१५;

९. सं० सू० ८।८

वाग्भट ने सविष अन्न की परीक्षा के निम्नांकित विभाग किये हैं :—

१. स्वरूप-परीक्षा

२. अग्नि-परीक्षा

३. जन्तु-परीक्षा

भेल में स्वरूप परीक्षा,[१] चरक में अग्नि, जंतु एवं पात्र-परीक्षा,[२] सुश्रुत में अग्नि-परीक्षा एवं जन्तु-परीक्षा का वर्णन है।[३] स्पष्टतः इस सम्बन्ध में वाग्भट ने इन सब संहिताओं का उपयोग किया है। इसके अतिरिक्त, तत्कालीन प्रचलित राजव्यवहार तथा अर्थ-शास्त्र के ग्रन्थों का भी उपयोग किया गया है। अतः यह विषय अन्य संहिताओं की अपेक्षा अत्यन्त विकसित विशद एवं व्यावहारिक रूप से उपस्थित हुआ है।

विभिन्न माध्यमों के द्वारा विष-प्रयोग और उसकी चिकित्सा का वर्णन वाग्भट ने किया है। ऐसे वर्णन भेल तथा सुश्रुत में भी आये हैं किन्तु वाग्भट ने इसे आवश्यकतानुसार और विकसित किया है तथा नये-नये माध्यमों एवं उसकी चिकित्सा का उल्लेख किया है यथा छत्र, चामर, व्यजन, कंकतक आदि। विष से दूषित भूमि, जल एवं वायु आदि के लक्षण और उनकी चिकित्सा का भी वर्णन है। विषकन्या का भी वर्णन आया है।[४] विषप्रतिषेध के लिए तीक्ष्णविष का मणिधारण भी बतलाया गया है।[५]

प्रशस्त महानस का लक्षण, सूद एवं सूदाधिपति के स्वरूप का वर्णन भी हुआ है। भैषज्यागार का भी इसी प्रसंग में उल्लेख है। भैषज्यागार में ढक्कनदार घटी, मूषा में तथा फलकों पर औषध रखनी चाहिए।[६]

युद्धक्षेत्र में वैद्य के शिविर का उल्लेख सुश्रुत ने 'युक्तसेनीय अध्याय' में किया है।[७] वाग्भट ने भी इसके अनुसार इसका उल्लेख किया है।[८]

विष-चिकित्सा के प्रसंग में वाग्भट ने सर्वार्थसिद्ध अंजन का वर्णन विस्तार से किया है। देवताओं की पूजा कर गजस्कन्ध पर आरोपित कर उसको जुलूस के साथ राजा के घर ले जाने का विधान है और धारणी विद्या का पाठ करते हुए नेत्र में अंजन करने का विधान है। यह अञ्जन पापरक्षोविषापह, चक्षुष्य, आयुष्य तथा शत्रुघ्न बतलाया गया है[९] सर्वार्थ सिद्ध अञ्जन का उल्लेख बाणभट्ट ने भी किया है।[१०]

---

१. भे० सू० १८।४–७

२. च० चि० २३।१०९–११३

३, सु० क० १।२६–३०

४. सं० सू० ८।८७–८९

५. सं० सू० ८।५८

६. सं० सू० ८।५९–६३.

७. सु० सू० ३४।१०–११.,

८. सं० सू० ८।६६

९. सं० सू० ८।९१.

१०. ह० च० पृ० ४२; का० पू० पृ० ६४३

इस प्रसंग में वराहमिहिर का भी स्मरण हो आता है जो ध्वजयष्टि को हाथी पर जुलूस में ले जाते हैं।[1]

इस सम्बन्ध में बृहस्पति-कृत योगों का उल्लेख किया गया है।[2] बृहस्पति और शुक्र का निर्देश भट्टार हरिचन्द्र ने अपनी चरकव्याख्या में किया है।[3] विषघ्न प्रयोगों में मणिधारण के अनेक योग दिये गये हैं।

अध्याय के अन्त में राजव्यवहार का विषयविस्तार से दिया है[4] यह शुक्रनीति तथा कामन्दकीय नीतिसार के वर्णनों से बहुत मिलता-जुलता है।

९. विरुद्धान्नविज्ञानीय

इस प्रसंग में जनपदोध्वंसकारक वातादि भावों की विकृति ग्रहों की विकृत गति, भौम, आन्तरिक्ष तथा दिव्य उत्पात तथा सामुदायिक कर्म से बतलायी गई है।[5] दैव और पौरुष तथा काल और अकाल मृत्यु का सोदाहरण विवेचन किया गया है।[6] इस क्रम में बौद्धों द्वारा निर्दिष्ट चतुर्विध मृत्यु का भी उल्लेख किया है।[7] 'शुचि-तैलदशो दीपः' यह दीप का दृष्टान्त अश्वघोष का अतिप्रिय है।[8] चरकने भी इसका उपयोग किया है।

१०. अन्नपानविधि

वाग्भट ने स्वभाव, संयोग आदि सात आहार–कल्पनाविशेषों का वर्णन किया है।[9] चरक ने इन्हीं को आठ आहारविधि–विशेषायतन के रूप मे लिखा है।[10] स्पष्टतः वाग्भट ने उपयोग-व्यवस्था के अन्तर्गत उपयोक्ता तथा उपयोग-संस्था दोनों का समावेश कर लिया है। उपयोग-व्यवस्था का विशद वर्णन वाग्भट ने किया है जिससे तत्कालीन सामाजिक स्थिति पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

भोजन के विविधि वस्तुओं के लिए विभिन्न पात्रों का वर्णन क्रमबद्ध रूप में दिया गया है।[11] सुश्रुत में भी यह वर्णन मिलता है।[12] खल, कट्टर आदि अम्ल पदार्थों के लिए वाग्भट ने कांस्यपात्र का विधान किया है जब कि सुश्रुत ने पत्थर के पात्र का उल्लेख किया है।

१, बृ० सं० ४३।२३-२६. २. सं० सू० ८।१०२.

३. 'देखें मेरा लेख–'भट्टार हरिचन्द्र और उनकी चरक-व्याख्या' सचित्र आयुर्वेद अप्रैल, मई '६७.

४. सं० सू० ८।१३४-१४९. ५. सं० सू० ९।९५-९६.

६. सं० सू० ९।१०६-११३. ७. सं०सू० ९।११६.

८.सौ० १६।२८. ९. सं० सू० १०।४.

१०. च० वि० १।१८. ११. सं० सू० १०।३५।३६.

१२. सु० सू० ४६।४-९.

अनुपान के प्रसंग में वात में अम्ल, पित्त में शर्करोदक और कफ में विशेषकर नेत्र और गले के रोगों में त्रिफलोदक का विधान किया है।[१] रात्रि में त्रिफला का मधु और घृत के सेवन का उपदेश किया है। इससे नेत्र की ज्योति बढ़ती है तथा रोगों का प्रतिषेध और निराकरण होता है।[२]

११. मात्राशितीय

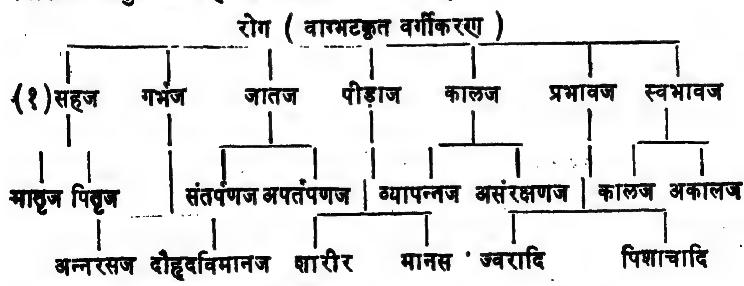
अजीर्ण के प्रकारों के जो लक्षण कहे गये हैं उनमें से अधिकांश श्लोक (५१; ५५; ५७) माधव निदान में ज्यों के त्यों उद्धृत हैं। विसूची में पार्ष्णिदाह और अञ्जन का विधान किया गया है।[३] सुश्रुत ने भी पार्ष्णिदाह लिखा है।[४]

आहार और औषध के पाचन-काल का निर्देश वाग्भट ने किया है। उसने लिखा है कि सम अग्नि रहने पर भोजन का पाचन चार याम (१२ घन्टे) में और औषध का दो याम (६ घंटे) में होता है। अग्नि की तीक्ष्णता या मन्दता से इसी प्रकार परिवर्तन हो सकता है।[५]

रोगविज्ञान और कायचिकित्सा

सुश्रुत ने रोग चार प्रकार के बतलाये हैं आगन्तु, शारीर, मानस और स्वाभाविक।[६] पुनः आगे चलकर रोगों के दो वर्ग किये गये शस्त्रसाध्य और स्नेहादि क्रियासाध्य। रोग दुःखसंयोग को कहते हैं और दुःख आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक तीन प्रकार का होता है अतः इस दृष्टि से रोग तीन प्रकार के होते हैं। पुनः कारण भेद से सात प्रकार के होते हैं।[७]

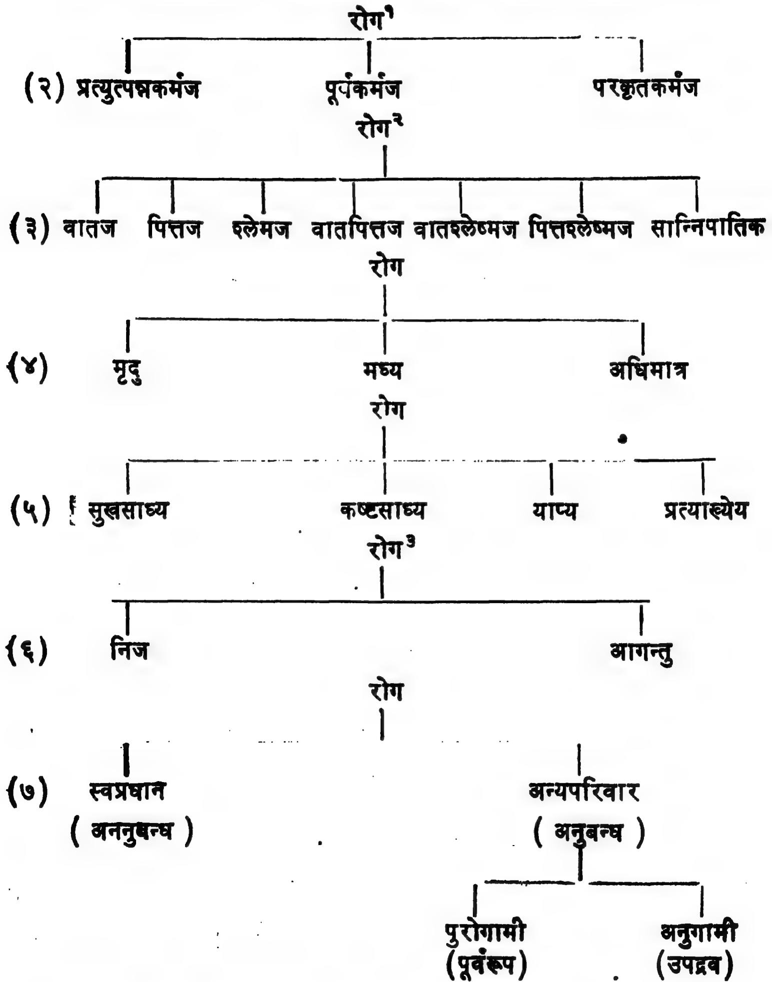
वाग्भट ने इसी पद्धति का अनुसरण कर किञ्चित् परिवर्तन के साथ रोगों का वर्गीकरण प्रस्तुत किया है[८] जो निम्नांकित रूप में है :—



१. सं० सू० १०।४६.
२. सं० सू० १०-७२.
३. सं० सू० ११।३५.
४. सु० उ० ५६।१०.
५. सं० सू० ११।६१.
६. सु० सू० १।२०
७. सु० सू. २४।१-२
८. सं० सू० २२।३.

सुश्रुतोक्त वर्गीकरण यहाँ पर दिया जा रहा है। उससे तुलना करने पर स्पष्ट होगा कि वाग्भट ने अन्धानुकरण न कर अनेक परिवर्तन किये हैं और व्यावहारिक दृष्टि से विषय का संक्षेप भी किया है।

इसके अतिरिक्त वाग्भट ने निम्नांकित दृष्टियों से भी वर्गीकरण किया है :—



निदानार्थंकर रोगों की भी विस्तृत सूची वाग्भट ने दी है।[4]

---

१. सं० सू० २२।४।६. २. सं० सू० २२।७
३. सं० सू० २२।९ ४. सं० सू० २२।१६

रोग (सुश्रुतोक्त वर्गीकरण) सु० सू० २४।१-२

- आध्यात्मिक
  - आदिबलप्रवृत्त
    - मातृज
    - पितृज
  - जन्मबलप्रवृत्त
    - रसकृत
    - दौहृदापचारकृत
  - दोषबलप्रवृत्त
    - (१) आतङ्कसमुत्पन्न — मिथ्याहाराचारज
    - (२) आमाशयसमुत्थ — पक्वाशयसमुत्थ
    - (३) शारीर — मानस
- आधिभौतिक
  - संघातबलप्रवृत्त
    - शस्त्रकृत
    - व्यालादिकृत
- अधिदैविक
  - कालबलप्रवृत्त
    - व्यापन्नर्तु कृत
    - अव्यापन्नर्तु कृत
  - दैवबलप्रवृत्त
    - अथर्वकृत
    - उपसर्गकृत
      - विद्युदशनिकृत
      - पिशाचादिकृत
        - संसर्गज
        - आकस्मिक
  - स्वभावबलप्रवृत्त
    - कालकृत
    - अकालकृत

रोगी-परीक्षा

चरक ने रोगी-परीक्षा आप्तोपदेश, प्रत्यक्ष तथा अनुमान के द्वारा करने का विधान किया है।[1] पुनः आगे चलकर द्विव्रणीय चिकित्साध्याय में दर्शन, स्पर्शन और प्रश्न इन तीन के द्वारा परीक्षा का वर्णन किया गया है।[2] सुश्रुत ने त्रिविध परीक्षा का खण्डन कर षड्विध परीक्षा का विधान किया है।[3] वाग्भट (वृद्ध) ने चरक का ही अनुकरण किंचित् परिवर्तन के साथ किया है। उसने आप्तोपदेश, प्रत्यक्ष, प्रश्न और अनुमान इन चार के द्वारा रोगी-परीक्षा का उपदेश किया है।[4] स्पष्टतः वाग्भट ने चरक की त्रिविध परीक्षा में प्रश्न जोड़कर उसे चतुर्विध कर दिया। साथ ही रस-परिज्ञान का भी प्रत्यक्ष के अन्तर्गत उल्लेख नहीं किया। ऐसा प्रतीत होता है कि रस, गन्ध और शब्द का प्रत्यक्ष के द्वारा ग्रहण करने का महत्व रोग-

१. च० वि० ४।३.
२. च० वि० २५।२२
३. सु० सू० १०।३.
४. सं० सू० २२।१७

ज्ञान की दृष्टि से कम होता गया। अनुमान की भी आवश्यकता कम होती गई और उसका अन्तर्भाव प्रश्न में हो गया। अतः आगे चलकर आचार्यों ने प्रत्यक्ष के दर्शन और स्पर्शन तथा प्रश्न को लेकर त्रिविध परीक्षा का व्यावहारिक सूत्र बनाया। दृढ़बल-प्रतिसंस्कृत चरक के अंश में यही परीक्षा मिलती है। इसी का खण्डन सुश्रुत ने किया है और आगे चलकर अष्टांगहृदय ने इसी त्रिविध परीक्षा का उल्लेख किया[1]।

नाड़ी-परीक्षा वाग्भट में नहीं मिलती और न अष्टस्थान-परीक्षा का ही विधान है। इससे स्पष्ट है कि वाग्भट के बाद ही इनका विकास हुआ।

इसके अतिरिक्त, आतुरवृत्त में प्रश्न के द्वारा यह पता लगाना चाहिए कि वह किस देश में उत्पन्न हुआ, कहाँ बढ़ा और रोग कहाँ उत्पन्न हुआ। उस देश के आहार, विहार, सात्म्य आदि के सम्बन्ध में भी ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। दोष भी किस आहार-विहार से कुपित हुआ इसकी जानकारी करनी चाहिये क्योंकि उसी के अनुकूल चिकित्सा से उसकी शान्ति होती है। निदान का मृदु, मध्य या अतिमात्र सेवन हुआ इसका भी पता लेना चाहिए। रोग के अधिष्ठान का भी परिज्ञान होना चाहिए क्योंकि अधिष्ठान का ज्ञान चिकित्सा के लिए आवश्यक है।[2]

इत्सिंग ने अपने यात्रा-विवरण में लिखा है कि उस काल में रोगी-परीक्षा में शब्द (स्वर) और आकृति पर विशेष ध्यान दिया जाता था। नाड़ीपरीक्षा का प्रारम्भ नहीं हुआ था। इससे संकेत मिलता है कि अष्टस्थान का बीज-वपन वाग्भट-काल में हो चुका था जो आगे चल कर पल्लवित और पुष्पित हुआ।[3]

निदान

निदानस्थान का प्रथम अध्याय 'सर्वरोगनिदान' है जिसमें निदान-सम्बन्धी सामान्य बातें बतलाई गई हैं। सर्वप्रथम ज्वर आदि रोगों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में पौराणिक आख्यान दिया गया है।[4] इसका आधार संभवतः चरकसंहिता है।

---

१. हृ० सू० १।२२

२. सं० सू० २३।३.

३. "The medical Science, one of the five Sciences (vidyas) in India, shows that a physician, having inspected the voice and countenance of the diseased, prescribes for the latter according to the eight sections of medical science."

—Itsing : A record of Buddhist practices in India. Ch. XXVII, page 127

४. सं० नि० १।५६

निदान, पूर्वरूप, रूप, उपशय और संप्राप्ति इस निदानपंचक का स्वरूप भी वाग्भट ने स्पष्ट कर दिया है[१] जिसका अनुसरण आगे चलकर अष्टांगहृदयकार[२] ने और माधवकर[३] ने किया। रोगों के साथ नक्षत्रों का सम्बन्ध भी उद्घाटित किया गया है। यह कहा गया है कि आधान, जन्म, निधन, प्रत्वर तथा विपत्कर नक्षत्र में जो व्याधि उत्पन्न होती है वह कष्टकर या मृत्युकर होती है। ज्वर के संबन्ध में विस्तार से बतलाया गया है कि किस नक्षत्र में उत्पन्न ज्वर कितने दिन तक चलेगा।[४] इस प्रकरण के अन्त में 'इत्याह हारितः' होने से पता चलता है कि यह हारीत के आधार पर किया गया है।

ज्वर-प्रकरण में कहा है कि ज्वरोष्मा मल या धातुओं का पाक कर वात, पित्त, कफ के अनुरूप क्रमशः सात, दस या बारह दिनों में ज्वरमोक्ष या मृत्यु का कारण बनती है ऐसा अग्निवेश का मत है किन्तु हारीत इसकी अवधि चौदह, दिन, अठारह दिन तथा बाईस दिन मानते हैं।[५] माधवनिदान में ये दोनों मत उद्धृत हैं[६] किन्तु पृष्ठभूमि स्पष्ट न होने से अर्थ स्पष्ट नहीं होता। प्रलेपक, वातबलासक, हारिद्रक, रात्रिक और पूर्वरात्रिक ज्वरों का वर्णन वाग्भट ने किया है।[७] चरक में इनमें से कोई नहीं मिलता। केवल सुश्रुत में दो प्रलेपक और वातबलासक मिलते हैं।[८] सुश्रुतानुसार प्रलेपक और वातबलासक का उल्लेख माधवनिदान में भी हुआ है।[९]

रक्तपित्त-प्रकरण में वाग्भट का यह कथन कि पित्त रक्त की विकृति है और यह रक्त के स्थान प्लीहा और यकृत् से उत्पन्न होता है[१०] अतीव महत्त्वपूर्ण तथ्य है जो आधुनिक विज्ञान से मिलता-जुलता है। आधुनिक विज्ञान के अनुसार भी टूटे हुए रक्तकणों से पित्त के प्रमुख घटक बनते हैं।

इसी प्रकार श्वास रोग के निदान में यह कहा गया कि कास की वृद्धि से या कासोक्त निदान से श्वास होता है।[११] इस प्रकार कास और श्वास का संबन्ध स्थापित किया गया जो नितान्त व्यावहारिक है।

'अरिवद् विशसन्तीति इति अर्शांसि' अर्थात् शत्रु के समान जो पीडा देते हैं वे अर्श कहलाते हैं। ये दो प्रकार के हैं सहज और जन्मोत्तरकालज। पुनः दो प्रकार के होते हैं शुष्क और आर्द्र।[१२]

---

१. सं० वि० १।८-१४
२. हृ० ति० १।२-११
३. मा० नि० ज्वर ५।१३
४. सं० नि० १।२१-३२
५. सं० नि० २।५८-६१
६. मा० नि० ज्वर० २४ (१-२)
७. सु० उ० ३९।५१,५५
८. सं० नि० २।८७-९१
९. मा० नि० ज्वर० ४०-४१
१०. सं० नि० ३।५-६
११. सं० नि० ४।३;
१२. सं० नि० ७।३;

अतिसार दो प्रकार का बतलाया गया है साम और निराम तथा सरक्त और रक्तरहित। आम दोष के कारण पुरीष पानी में डूब जाता है और निराम रहने पर भी यदि कफ की अधिकता हो तब भी डूब जाता है।[१] भयज और शोकज अतिसार में वात और पित्त दोषों की प्रमुखता कही गई है और इन्हीं के लक्षण वहाँ मिलते हैं।[२]

ग्रहणी का सामान्य लक्षण कृशता, धूमक, तमक, ज्वर, मूर्च्छा, शोथ बतलाया गया है।[३]

प्रमेह के भेदों में वाग्भट ने अधिकांश चरक का अनुसरण किया है।[४] केवल कफज प्रमेहों में चरक के सान्द्रप्रसादमेह तथा शुक्लमेह के स्थान पर वह सुश्रुत के अनुसार सुरामेह और पिष्टमेह मानता है। यह वाग्भट की समन्वयात्मक प्रवृत्ति का द्योतक है।

प्रमेह के भेद

	क्र० सं०	चरक	सुश्रुत	वाग्भट
श्लैष्मिक	१.	उदकमेह	उदकमेह	उदकमेह
	२.	इक्षुबालिकारसमेह	इक्षुबालिकामेह	इक्षुमेह
	३.	सान्द्रमेह	सान्द्रमेह	सान्द्रमेह
	४.	सान्द्रप्रसादमेह	सुरामेह	सुरामेह
	५.	शुक्लमेह	पिष्टमेह	पिष्टमेह
	६.	शुक्रमेह	शुक्रमेह	शुक्रमेह
	७.	शीतमेह	लवणमेह	शीतमेह
	८.	सिकतामेह	सिकतामेह	सिकतामेह
	९.	शनैर्मेह	शनैर्मेह	शनैर्मेह
	१०.	आलालमेह	फेनमेह	लालामेह
पैत्तिक	११.	क्षारमेह	क्षारमेह	क्षारमेह
	१२.	कालमेह	अम्लमेह	कालमेह
	१३.	नीलमेह	नीलमेह	नीलमेह
	१४.	लोहितमेह	शोणितमेह	शोणितमेह
	१५.	मांजिष्ठमेह	मंजिष्ठामेह	माञ्जिष्ठमेह
	१६.	हारिद्रमेह	हरिद्रामेह	हारिद्रमेह
वातिक	१७.	वसामेह	वसामेह	वसामेह
	१८	मज्जमेह	सर्पिर्मेह	मज्जमेह
	१९.	हस्तिमेह	हस्तिमेह	हस्तिमेह
	२०.	मधुमेह	क्षौद्रमेह	मधुमेह

१. सं० नि० ९।१५-१७.
२. सं० नि० ९।१४-१५
३, सं० नि० ९।२३.
४. सं० नि० १०।३

कामला के संबन्ध में भी वाग्भट ने मौलिक विचार प्रस्तुत किया है। आचार्यों ने प्रायः ऐसा कहा है कि पाण्डुरोगी जब अत्यधिक पित्तल पदार्थों का सेवन करता है तब कामला हो जाती है किन्तु वाग्भट ने इसे उद्धृत करते हुए भी अन्त में लिखा कि 'पाण्डुरोगाद् ऋतेऽपिच' अर्थात् पाण्डुरोग के बिना भी यह होती है।[१] इसकी उपेक्षा करने पर शोथयुक्त होने पर यह कुम्भकामला कहलाती है। हलीमक का भी वर्णन किया है और उसके पर्याय 'लोढर' 'अलस' दिये हैं।[२]

कुष्ठ और क्रृमि का निदान एक साथ बतलाया गया है जब कि चरक और सुश्रुत में ये दोनों प्रकरण पृथक्-पृथक् अध्यायों में हैं। संभवतः इसका कारण यह है कि वाग्भट कुष्ठ में क्रृमि का विशेष सम्बन्ध देखते हों। कुष्ठ की निरुक्ति में कहा गया है कि चूँकि यह शरीर को कुत्सित बना देता है अतः कुष्ठ कहलाता है। कुष्ठ में क्लेद, शोथ और क्रृमि उत्पन्न होते हैं किन्तु श्वित्र में नहीं होते अतः श्वित्र को कुष्ठ से पृथक् मानते हैं।[३] सुश्रुत किलास को कुष्ठ का ही एक रूप मानते हैं केवल इस अन्तर से कि किलास केवल त्वचागत और अपरिस्रावी होता है।[४] सात महाकुष्ठ और ग्यारह क्षुद्रकुष्ठ (वाग्भट ने क्षुद्रकुष्ठ शब्द का प्रयोग नहीं किया है) माने गये हैं[५] किन्तु गणना में किञ्चित् भेद आचार्यों में देखा जाता है। (देखिये तालिका) अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति के कारण वाग्भट ने चरक, सुश्रुत दोनों के समन्वय का प्रयत्न किया है यथा महाकुष्ठ में सब प्रकार तो उसने चरक के अनुसार दिये किन्तु सिध्म के स्थान पर सुश्रुत के अनुसार दद्रु को रक्खा। इन प्रकारों में दोष-सम्बन्ध का निरूपण भी सुश्रुत के अनुसार किया है। यह ज्ञातव्य है कि संप्राप्ति की दृष्टि से चरक और सुश्रुत में पर्याप्त अन्तर है यथा कपाल, ऋष्य जिह्व और काकणक कुष्ठों को सुश्रुत पित्तज मानते हैं किन्तु चरक उन्हें क्रमशः वातज, वातपित्तज और त्रिदोषज मानते हैं।

क्रृमि का भी वर्णन विशद रूप से किया गया है[६] जिसके अनुसार आगे चलकर माधवकर ने वर्णन किया है।[७]

---

१. सं० नि० १३।१८–१९ २. सं० नि० १३।२०–२२

३. सं० नि० १४।६–८ ४. सु० नि ५।१५;

५. सं० नि० १४।९–१२ ६. सं० नि० १४।४५–५८

७. मा० नि० क्रिमि० १–१६,

कुष्ठ के भेद

	क्र० सं०	चरक	सुश्रुत	वाग्भट
महाकुष्ठ	१.	कपाल	कपाल	कापाल
	२.	औदुम्बर	औदुम्बर	औदुम्बर
	३.	मण्डल	अरुण	मण्डल
	४,	ऋष्यजिह्व	ऋष्यजिह्व	ऋष्यजिह्व
	५.	पुण्डरीक	पुण्डरीक	पुण्डरीक
	६.	सिध्म	दद्रु	दद्रु
	७.	काकणक	काकणक	काकणक
क्षुद्रकुष्ठ	८.	एककुष्ठ	एककुष्ठ	एककुष्ठ
	९.	चर्माख्य	रकसा	चर्माख्य
	१०.	किटिभ	किटिभ	किटिभ
	११.	वैपादिक	विसर्प	विपादिका
	१२.	अलसक	परिसर्प	अलस
	१३.	दद्रु	सिध्म	सिध्म
	१४,	चर्मदल	चर्मदल	चर्मदल
	१५.	पामा	पामा	पामा
	१६.	विस्फोट	महाकुष्ठ	विस्फोट
	१७.	शतारु	स्थूलारु	शतारु
	१८.	विचर्चिका	विचर्चिका	विचर्चिका

चिकित्सा के आतुर-परीक्षा और औषध-परीक्षा ये दो प्रमुख अंग हैं। इन दोनों परीक्षाओं का वर्णन हो चुका है। दोष, दूष्य, देश, काल, बल, अग्नि, आहार, सात्म्य, सत्त्व, प्रकृति और वय की परीक्षा पर विशेष ध्यान देना चाहिए क्योंकि चिकित्सा की सफलता इन्हीं पर आश्रित है।

चिकित्सा दो भागों में विभाजित की गई है बृंहण और लंघन। लंघन भी दो प्रकार का है शोधन और शमन।[1] अतिस्थौल्य का विस्तार से वर्णन किया है जो आगे चल कर मेदोरोग की संज्ञा में अभिहित हुआ।[2] गुग्गुल के प्रयोग का विधान भी वाग्भट ने किया है।[3] चरक ने इस प्रकरण में इसका उल्लेख नहीं किया।

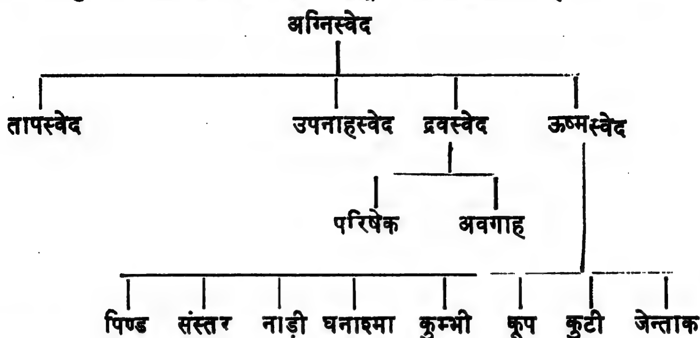
पञ्चकर्म का विषय संक्षिप्त रूपमें वर्णित है और उसके पूर्वकर्म के रूप में स्नेह-स्वेद का भी वर्णन दो स्वतन्त्र अध्यायों में है। स्वेद के प्रकार सुश्रुत के अनुसार किये

१. सं० सू० २४।४,६.

२. सं० सू० २४।२५,२६; मा० नि० ३४।१-९.

३. सं० सू० २४।३५.

गये हैं।[1] किन्तु चरक के प्रकारों को भी अन्तर्भूत कर लिया गया है[2]। यथा—



इसके बाद तीन अध्यायों में क्रमशः वमनविरेचन, बस्ति तथा नस्य का वर्णन है। बस्ति-प्रकार में आस्थापन, अनुवासन और उत्तरबस्ति का उल्लेख है। इन सबकी निरुक्ति भी दी गई है यथा—

१. बस्तिना दीयते बस्तिं वा पूर्वमन्वेत्यतो बस्तिः।[3]

२. तद् वयः स्थापनाद् दोषस्थापनाद् वाऽऽस्थापनमित्युच्यते।[4]

३. यतश्चासावनुवसन्नपि न दुष्यत्यनुवासरमपि दीयत इत्यनुवासनम्।[5]

४. स निरूहादुत्तरमुत्तरेण वा मार्गेण दीयत इत्युत्तरबस्तिः।[6]

बस्तियों की संख्या के विषय में वाग्भट ने अनेक आचार्यों के मत का उल्लेख करते हुए कहा है कि आचार्य चरक के मत में बस्तियों की संख्या तीन से अधिक नहीं है क्योंकि दोष तीन ही हैं, चौथा दोष नहीं है जिसके लिए बस्ति का विधान किया जाय। कुछ लोग कर्मानुसार उत्क्लेशन, शोधन और शमन बस्तियों की तीन संख्या मानते हैं। वाग्भट के मत में सम्यङ् निरूढ के लक्षण उत्पन्न होने पर ही बस्ति पूर्ण समझनी चाहिए, संख्या की कोई सीमा नहीं है।[7] नस्य तीन प्रकार का बतलाया गया है[8]। धूमपान को चरक ने नस्य का ही एक भेद माना है। वाग्भट ने धूमपान तीन प्रकार का, शमन, बृंहण और शोधन तथा कासघ्न, वामन और व्रणधूपन कहा है।[9] गंडूषादि विधि अध्याय के अन्तर्गत चार प्रकार के गंडूष, तीन प्रकार के प्रतिसारण, तीन प्रकार के मुखालेप, मूर्धतैल चार प्रकार का, कर्णपूरण तथा शिरोबस्ति-

---

१. सु० चि० ३२।१.   २. च० सू० १४।३९-४०.
३. सं० सू० २८।३.   ४. सं० सू० २८।६.
५. सं० सू० २८।८.   ६. सं० सू० २८।४९-५५.
७. सं० सू० २८।४९-५५   ८. सं० सू० २९।३.
९. सं० सू० ३०।४.

विधि का वर्णन है।[१] क्रम की दृष्टि से यह सुश्रुत के समान है। पंचकर्म का विषय चरक के दो स्थानों में विस्तार से वर्णित है। सुश्रुत में भी आठ अध्यायों में है।

रोगों की चिकित्सा में अनेक नये-नये सरल योगों का समावेश वाग्भट ने किया है। सरल और सफल चिकित्सा वाग्भट की विशेषता है। यथा पित्तज्वर में केवल पर्पट या गुडूची, आमलक से युक्त या कुटकी पीसकर चीनी के साथ लें;[२] वातपित्त ज्वर में द्राक्षादि फाण्ट या हिम चमेली फूल से वासित कर ले; पित्तश्लेष्मज्वर में वासापुष्प और पत्र का स्वरस चीनी और मधु मिला कर ले। इसी प्रकार के अनेक सिद्ध मुष्टियोग सर्वत्र उपलब्ध होते हैं।

रक्तपित्त में वासास्वरस शर्करा और मधु के साथ पीने का विधान है।[३] क्षतज कास में नागबला, मुलेठी, मण्डूकपर्णी और शुण्ठी के कल्प का उपदेश किया गया है। राजयक्ष्मा में चन्द्रकान्त नामक भक्ष्य का विधान किया है।[४] प्रवाहिका के लिए 'बिबिसी' शब्द का प्रयोग किया गया है। मूत्राघात में प्रवालचूर्ण तण्डुलोदक के साथ तथा समान शर्करा मिलाकर यवक्षार लेने का विधान है।[५] सभी प्रमेहों में हरिद्रारस आमलक मधु के साथ प्रातः ले[६] इसी प्रकार गुडूची और आमलक स्वरस मिलाकर ले। पैत्तिक गुल्म में एरण्डतैल दूध में मिलाकर तथा कम्पिल्लक मधु के साथ दे।[७] वाग्भट ने कुष्ठ में रसायन विधान से लौह, तुवरक, भल्लातक, बाकुची, गुग्गुलु और चित्रक का प्रयोग करने का उल्लेख किया है। 'माणिभद्र वटक' नामक योग का भी विधान किया है।[८] इसमें शोधन के लिए यह विधान किया है कि कुष्ठ रोगी एक-एक पक्ष पर वमन; एक-एक मास पर विरेचन; तीन-तीन दिन पर शिरोविरेचन तथा ६–६ मास पर रक्तमोक्षण करावे।[९] पित्त और रक्त से आवृत वायु को छोड़कर सभी आवृत वात के विकारों में लशुन लाभकारी बतलाया गया है।[१०]

शल्य

वाग्भट के काल में शल्यतंत्र की क्या स्थिति थी यह विचारणीय विषय है। शल्यतन्त्र वस्तुतः तत्कालीन सैन्य एवं युद्ध की आवश्यकताओं एवं स्वरूपों से उद्भूत होता है और कालक्रम से उसी के अनुरूप परिचालित एवं परिवर्तित होता रहता है।

---

१. सं० सू० ३११३,१३,१४,१६,१९,२१.

२. सं० चि० ११७६–७७

३. सं० चि० ३।३३.

४. सं० चि० ७।१६;

५. सं० चि० १३।५;

६. सं० चि० १४।५;

७. सं० चि० १६।१८,२५.

८ सं० चि० २११२८

९. सं० चि० २११८६;

१०. सं० चि० २२।३८;

वाग्भट ने शल्यगत विषयों का विस्तृत विवरण दिया है और कहीं कहीं सुश्रुत की अपेक्षा भी विस्तार किया है अतः यह सन्देह का स्थल नहीं है कि उस काल में शल्य एक व्यावहारिक विषय था और जो भी लिखा गया वह सुश्रुत के आधार पर और शेष कल्पना के बल पर। हर्षचरित ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक दृष्टियों से एक महत्त्वपूर्ण सामग्री है। श्री हर्ष के सैन्य-प्रस्थान के विवरण में सैन्य के सभी अङ्गों का निर्देश है किन्तु वैद्य का नहीं है[1] जब कि वाग्भट में लिखा है कि वैद्य का शिविर पृथक् होगा और उस पर विशिष्ट पताका-चिह्न होगा।[2] यह अवश्य है कि राज्यवर्धन जब हूणों से युद्ध करके लौटा है तो उसके शरीर पर पट्टियाँ बँधी हुई थी[3] किन्तु यह स्पष्ट नहीं होता कि पट्टियाँ किसके द्वारा बाँधी गई। इसके विपरीत, कायचिकित्सा का विस्तृत विवरण राजा प्रभाकरवर्धन की बीमारी के वर्णन प्रसंग में मिलती है।[4] उस प्रसंग में रसायन, सुषेण आदि कायचिकित्सकों का भी उल्लेख किया गया है। चीनी यात्रियों के विवरणों में भी कायचिकित्सा पर भी विशेष बल दिया गया है। इन सब तथ्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि शल्यकर्म यद्यपि एक व्यावहारिक विषय था तथापि कायचिकित्सकों की प्रधानता थी।[5] इसका एक प्रमुख कारण यह रहा होगा कि संज्ञाहीनता का कोई समर्थ उपाय न रहने के कारण शल्य-प्रक्रिया वैद्य और रोगी दोनों के लिए अत्यन्त कष्टकर होती होगी और इसी लिए इसे कष्टतम कर्म कहा गया है।[6] जहाँ तक हो सके औषधों से ही उपचार का विधान किया गया है और लाचारी स्थिति में ही शस्त्रकर्मका आश्रय लेने की सलाह दी गई है।[7]

शवच्छेद-विधि का विवरण सुश्रुत ने शारीर-प्रकरण में किया है अतः यह स्पष्ट है कि शारीर ज्ञान के लिए उसका उपयोग होता होगा किन्तु वाग्भट ने इसका निर्देश

---

१. ह० च० पृ० ३६२-३८०. २. सं० सू० ८।६६.

३. हूणनिर्जयसमरशरव्रणबद्धपट्टकैर्दीर्घधवलैः'''शबलीकृतकायम् ह० च० पृ० ३०९। तुलना करें अष्टांगहृदय के इस वचन से:"शुचिसूक्ष्मदृढाः पट्टाः कवल्यः सविकेशिकाः। धूपिताः मृदवः श्लक्ष्णाः निर्वलीकाः व्रणे हिताः॥" सू० २९।२९। ज्ञातव्य है कि संग्रह में पट्टी के लिए 'प्रसाबन्ध' तथा पट्ट शब्दों का प्रयोग हुआ है। किन्तु हृदय में पट्ट का प्रयोग हुआ है। संभव है, इसका प्रारम्भ संग्रह से ही हो।

४. ह० च० पृ० २६४-२७७. ५. भे० शा० ४।१८.

६. तत्त्वतः कष्टतममस्ति शस्त्रकर्म–सं० शा० ४।३६.

७. द्विविधे हि व्याधावुपायापेक्षे निज आगन्तौ वा भेषजविषयातीते शस्त्रकर्म प्रयुज्यते।'–सं० सू० ३८।३.

शल्य-प्रकरण में किया है।[1] क्या इससे यह अभिप्राय लिया जाय कि शल्यतंत्र के प्रसंग में शवों पर अभ्यास (operative Surgery) किया जाता था ?

यन्त्र

ऐसा प्रतीत होता है कि वाग्भट के काल तक शल्यकर्म के लिए अनेक नवीन यन्त्रों का आविष्कार हो चुका था अतः उनकी संख्या का निर्धारण संभव नहीं था; अतएव वाग्भट ने कहा कि कर्म के अनुसार उनकी इयत्ता निर्धारित करना असंभव है यद्यपि कुछ लोग कहते हैं कि यन्त्रों की संख्या १०१ है।[2] इस प्रकार एकीय मत के रूप में सुश्रुत का उल्लेख है। आगे भी विषय का निरूपण सुश्रुत के आधार पर ही है किन्तु पर्याप्त मौलिकता और विशेषता के साथ।

सुश्रुत के अनुसार ६ प्रकार के यन्त्र बतलाये गये हैं।[3] किन्तु 'उपयन्त्र' के स्थान पर वाग्भट में 'अनुयन्त्र' शब्द है। केवल शब्दों का ही अन्तर नहीं है वस्तु का भी भेद है। संदंश यन्त्र के समान मुचुण्डी का वर्णन वाग्भट ने किया है।[4] अर्शोयन्त्र तीन प्रकार का कहा गया है जो लोह, दाँत, शृङ्ग या काष्ठ का बना होता है। इसी प्रकार भगन्दर, घ्राणार्श तथा अर्बुद के लिए यन्त्र होते हैं। इनके अतिरिक्त, शृङ्ग, अलाबु, घटी का भी उल्लेख है। अंगुलित्राणक, योनिव्रणदर्शन, नाड़ीव्रणप्रक्षालन तथा अभ्यंजनयन्त्र का भी उल्लेख वाग्भट ने किया है।[5] अनुयंत्रों में वाग्भट ने वल्कल और लता का उल्लेख नहीं किया है।

शस्त्र

सुश्रुत ने बीस शस्त्र बतलाये हैं[6] किन्तु वाग्भट ने छब्बीस शस्त्रों की गणना की है।[7] इनमें कर्त्तरी, सर्पवक्त्र, शलाका, कर्णव्यधन, सूचीकूर्च, खज ये छः वाग्भट के विशेष हैं। शस्त्रकर्म भी सुश्रुत ने आठ किन्तु वाग्भट ने बारह बतलाये हैं।[8] पाटन, प्रच्छान, कुट्टन और मथन ये चार कर्म वाग्भट में विशिष्ट बतलाये गये हैं। दन्तशंकु सुश्रुत में दन्त के आहरण के लिए प्रयुक्त हुआ है जब कि वाग्भट में वह दन्तलेखन के नाम से है और दन्तशर्करा के लेखन के लिये विहित है।[9] अन्य शस्त्रों के भी कर्म विशद रूप में वर्णित हैं। अंगुलीशस्त्रक का प्रयोग कण्ठरोगों में तथा शलाका का लिंगनाश के व्यध के लिए प्रयोग होता था। शलाका ताम्र की बनी

---

१. सं० सू० ३४।३९.
२. सं० सू० ३४।३-४.
३. सु० सू० ७।३.
४. सं० सू० ३४।७
५. सं० सू० ३४।११-१३
६. सु० सू० ८।२,
७. सं० सू० ३४।२२
८. सं० सू० ३४।२३
९. सं० सू० ३४।२४

होती थी। कर्तरी व्रण, स्नायु आदि को काटने के लिए, सर्पवक्त्र नाक-कान के अर्श तथा अर्बुद को काटने में, कर्णव्यधन कर्णव्यध के लिए, सूचीकूर्च—सात आठ सुइयों का समूह-श्वित्र, कुष्ठ, इन्द्रलुप्त आदि में प्रच्छान के लिए तथा खज नासा के भीतर रक्तमोक्षण के लिए प्रयुक्त हुये हैं। इससे स्पष्ट है कि उस समय शल्यकर्म के विस्तार के कारण यन्त्रशस्त्रों के कर्म, संख्या एवं स्वरूप का भी विकास हुआ।

अनुशस्त्रों में वाग्भट ने सुश्रुत के त्वक्सार को छोड़ दिया है तथा सूर्यकान्त और समुद्रफेन को जोड़ दिया है।[1]

सुश्रुत ने बारह यन्त्रदोष तथा आठ शस्त्रदोष बतलाये हैं किन्तु वाग्भट ने यन्त्र दोष भी आठ ही गिनाये हैं।[2]

जलौका

वाग्भट ने जलौका के सविष और निर्विष ये दो भेद तो किये किन्तु पुनः उसके अवान्तर भेद नहीं किये। इनका अङ्गुल-प्रमाण भी बतलाया। परम प्रमाण उनका १८ अंगुल कहा गया जिनमें ४ से ६ अंगुल तक का प्रयोग मनुष्यों में और शेष गज और अश्व में किया जाता था। पुनः उनका स्त्री और पुरुष में भेद किया गया और उन दोनों के लक्षण बतलाये गये। बहुदोष, चिरकालीन रोगों में पुरुष तथा विपरीत में स्त्री जलौका का प्रयोग करने का विधान वाग्भट ने किया है। यह भी लिखा है कि जिस प्रकार हंस क्षीरोदक से क्षीर का ग्रहण कर लेता है उसी प्रकार जलौका दूषित रक्त का ग्रहण कर लेता है।[3]

क्षारकर्म

सुश्रुत ने क्षार के दो भेद किये हैं पानीय और प्रतिसारणीय।[4] इन्हीं को वाग्भट ने क्रमशः अन्तःपरिमार्जन और बहिःपरिमार्जन कहा है।[5] बहिःपरिमार्जन भी मृदु, मध्य और तीक्ष्ण तीन प्रकार का बतलाया है। क्षार के गुण और दोष सुश्रुत में आठ किन्तु वाग्भट में दस बतलाये गये हैं।[6] क्षारनिर्माण के प्रसंग में जो यंत्र वाग्भट में आये हैं वे सुश्रुत से भिन्न हैं।[7]

अग्निकर्म

अग्निकर्म के उपकरणों में वाग्भट ने सूर्यकान्त, सूची, मुलेठी, मोम, स्वर्ण, ताम्र, लोह, रजत और कांस्य का भी परिगणन किया है।[8] विभिन्न अवयवों के दाह में

---

१. सं० सू० ३४।३२
२. सं० सू० ३४।३३
३. सं० सू० ३५।५
४. सु० स० ११।४
५. सं० स० ३९।४,६;
६. सं० सू० ३९।११
७. सं० सू० ३९।८-९
८. सं० सू० ४०।३.

इनका आवश्यकतानुसार प्रयोग होता है। दग्ध पहले दो प्रकार का बतलाया गया सम्यग्दग्ध और प्रमाददग्ध। प्रमाददग्ध पुनः चार प्रकार का है—तुत्थ, दुर्दग्ध, सम्यग्दग्ध और अतिदग्ध। सुश्रुत ने जिसे प्लुष्ट कहा वही वाग्भट में तुत्थ है।[१]

सिराव्यध

वाग्भट ने कहा है कि जिस प्रकार कायचिकित्सा में बस्ति प्रधान है उसी प्रकार शल्यतंत्र में सिराव्यध अर्ध या पूर्ण चिकित्सा है। इसका कारण यह है कि विकारों का जैसा अधिष्ठान रक्त है वैसा दूसरा दूष्य नहीं है।[२]

इसी प्रसंग में रक्त का लक्षण भी बड़े स्पष्ट रूप में दिया है। रक्त को दूष्य कहा है किन्तु कुछ लोग दोष और कुछ लोग उभयात्मक मानते हैं।[३] आगे चल कर रक्तस्रावण तथा रक्तस्थापन द्रव्यों का भी परिगणन किया है जिनकी आवश्यकता इस कार्य में होती है।

शल्याहरण

सुश्रुत में शल्य की गति पाँच प्रकार की बतलाई है किन्तु वाग्भट ने तीन प्रकार की कही हैं ऊर्ध्व, अधः और तिर्यक् तथा ये तीनों ऋजु और वक्रभेद से दो प्रकार की होती हैं।[४] आकृतिभेद से चार प्रकार का शल्य कहा गया है वृत्त, द्विकोण त्रिकोण और चतुष्कोण।[५] इससे प्रयोग में आने वाले विभिन्न आकार के शस्त्रों का परिज्ञान होता है। अन्त में आँख और कान के शल्य के लक्षण और उनके आहरण का उपाय विस्तार से दिया है।

शस्त्र-कर्मविधि

वाग्भट का कथन है कि निज और आगन्तु दोनों प्रकार के रोगों में जब औषध की सामर्थ्य नहीं रहती तब शस्त्रकर्म का प्रयोग होता है।[६] इससे प्रतीत होता है कि शल्यतन्त्र के रोगों में भी पहले औषध का प्रयोग होता था उसके बाद लाचारी होती थी तभी शस्त्रकर्म किया जाता था। शस्त्रकर्म के पूर्व अच्छा भोजन देकर मद्यपान कराते थे जिससे नशे में शस्त्रकर्म का बोध न हो।[७]

व्रण के सम्बन्ध में यह कहा है कि स्निग्ध, वृद्ध तथा ब्राह्मणों की मनोज्ञ कथा सुनने से तथा मन में आशा एवं उत्साह रखने से व्रण का रोपण शीघ्र होता है।[८]

---

१. सं० सू० ४०।६-७
२. सं० सू० ३६।४-५
३. सं० सू० ३६।६
४. सं० सू० ३७।३
५. सं० सू० ३७।११
६. सं० सू० ३८।३
७. सं० सू० ३८।१३;
८. सं० सू० ३८।३२;

व्रणचिकित्सा

आठ व्रण के आशय कहे गये हैं।[१] असाध्य व्रणों का वर्णन करते हुए यह कहा गया है कि शिरः कपाल के भिन्न होने पर जब मस्तुलुङ्ग का दर्शन हो तब उसे असाध्य समझना चाहिए।[२]

सुश्रुत में आलेप तीन प्रकार का बतलाया है आलेप, प्रलेप और प्रदेह। वाग्भट में लेप तीन प्रकार का कहा है। प्रदेह, प्रलेप और कल्क। पुनः आलेप दस प्रकार का कहा—स्नैहिक, निर्वापण, प्रसादन, स्तम्भन, विलायन, पाचन, पीड़न, शोधन, रोपण, सवर्णीकरण।[३] रात्रि में प्रदेह का प्रयोग नहीं करना चाहिए इस प्रसंग में वाग्भट ने पुष्कलावत के मत का उद्धरण किया है।[४] अनेक नये योगों का भी विधान किया है। सद्योव्रण में वाग्भट ने चक्रतैल का उपयोग किया है।[५] अस्थिभग्न में भी इसका प्रयोग है। अस्थिभग्न का विषय सुश्रुत के अनुरूप ही है।

भगन्दर

सुश्रुत ने वात, पित्त, कफ, सन्निपात और आगन्तु से क्रमशः शतपोनक, उष्ट्रग्रीव, परिस्रावी, शम्बूकावर्त और उन्मार्गी ये पाँच प्रकार के भगन्दर बतलाये हैं।[६] वाग्भट ने पिटका (अपक्व भगन्दर) के दोषभेद से सात प्रकारों का वर्णन किया है और उसी प्रकार भगन्दर के आठ प्रकार बतलाये हैं[७]—

१. वातज—शतपोनक
२. पित्तज—उष्ट्रग्रीव
३. कफज—परिस्रावी
४. वातपित्तज—परिक्षेपी
५ वातकफज—ऋजु
६. कफपित्तज—अर्शोभगन्दर
७. सन्निपातज—शम्बूकावर्त
८. आगन्तुज—उन्मार्गी

भगन्दर की चिकित्सा के लिए अनेक नवीन औषधयोगों का विधान वाग्भट ने किया है।

श्लीपद

वाग्भट ने ग्रन्थि, अर्बुद, श्लीपद, अपची और नाड़ी का वर्णन एक ही अध्याय

---

१. सं० उ० २९।१३
२. सं० उ० २९।२९
३. सं० उ० ३०।७-८
४. सं० उ० ३०।११
५ सं० उ० ३१।२६
६. सु० नि० ४।२-६
७. सं० उ० ३३।१३-२०

में किया है।[१] सुश्रुत ने वृद्धि और उपदंश के साथ श्लीपद का वर्णन किया है।[२] चरक में शोथ के प्रकरण में श्लीपद का अतिसंक्षिप्त उल्लेख किया है।[३]

वाग्भट ने श्लीपद-चिकित्सा में अनेक सरल औषधयोगों का विधान किया है यथा एरण्डतैल का गोमूत्र के साथ एक मास तक सेवन, वर्धमानहारीतकी आदि।[४]

क्षुद्ररोग

सुश्रुत ने इस प्रकरण में ४४ रोगों का उल्लेख किया है।[५] वाग्भट ने ३६ रोगों का वर्णन किया है[६] और अवशिष्ट रोगों में से कुछ का गुह्यरोगविज्ञानीय में तथा कुछ का शिरोरोग में किया है। चरक में अधिकांश शोथप्रकरण में निर्दिष्ट हैं। इसके विवेचन से भी स्पष्ट होता है कि वाग्भट ने अनेक नये विकारों का वर्णन किया है और इनकी चिकित्सा में भी नवीनता का समावेश किया है।

गुह्यरोग

वाग्भट ने गुह्यरोगों का एक पृथक् प्रकरण दो अध्यायों (उत्तर ३८, ३९ अ०) में व्यवस्थित किया है जिसमें पुरुष-स्त्री के यौन रोगों (Venereal diseases) की निदान-चिकित्सा वर्णित है। इससे स्पष्ट है कि कामशास्त्र का अधिक प्रचार होने के कारण यौन रोगों की बहुलता थी अतः उसके पृथक् विवरण और व्यवस्था की आवश्यकता हुई। अन्य आचार्यों द्वारा वर्णित ५ उपदंश तथा १८ शूकदोषों का इसमें समावेश कर इन विकारों की संख्या ३३ बतलाई गई है।[७] स्त्रियों की २० योनिव्यापदों का भी इसी प्रकरण के अन्त में वर्णन किया गया है।[८] इनकी चिकित्सा में अनेक योगों का भी वर्णन है।

क्षुद्ररोग

सुश्रुत	वाग्भट
१. अजगल्लिका	१. अजगल्लिका
२. यवप्रख्या	२. यवप्रख्या
३. अन्धालजी	३. अलजी

१. सं० उ० ३४।१८-२४ २. सु० नि० १२।८-११
३. च० चि० १२।९८ ४. सं० उ० ३५।१८-२०
५. 'समासेन चतुश्चत्वारिंशत् क्षुद्ररोगाः भवन्ति।' सु० नि० १३।१,
६. सं० उ० ३६।३४
७. 'दोषाः दुष्टाः गताः गुह्यं त्रयोविंशतिमामयान्।
जनयन्त्युपदंशादीन्'—सं० उ० ३८।२
८. सं० उ० ३८।३२

४. विवृता	४. विवृता
५. कच्छपी	५. कच्छपी
६. वल्मीक	६. वल्मीक
७. इन्द्रवृद्धा	७. विद्धा
८. पनसिका	८. पनसिका
९. पाषाणगर्दभ	९. पाषाणगर्दभ
१०. जालगर्दभ	१०. जालगर्दभ
११. कक्षा	११. कक्षा
१२. विस्फोटक	१२. विस्फोटक
१३. अग्निरोहिणी	१३. अग्निरोहिणी
१४. चिप्प	१४. चिल्य
१५. कुनख	१५. कुनख
१६. अनुशयी	१६. गर्दभी
१७. विदारिका	१७. विदारी
१८. शर्करार्बुद	१८. शर्करार्बुद
१९. पामा	१९. मण्डला
२०. विचर्चिका	२०. गन्धनामा
२१. रकसा	२१. राजिका
२२. पाददारिका	२२. इरिगल्लिका
२३. कदर	२३. कदर
२४. अलस	२४. अलस
२५. इन्द्रलुप्त	२५. इन्द्रलुप्त (शिरोरोगाध्याय में वर्जित)
२६. दारुणक	२६. खलति ,,
२७. अरूंषिका	२७ दारुणक ,,
२८. पलित	२८. अरूंषिका ,,
२९. मसूरिका	२९. पलित
३०. यौवनपिडका	३०. मसूरिका
३१. पद्मिनीकंटक	३१. मुखदूषिका
३२. जतुमणि	३२. पद्मकंटक
३३. मशक	३३. जतुमणि
३४. चर्मकील	३४. मशक
३५. तिलकालक	३५. चर्मकील
३६. न्यच्छ	३६. तिलकालक

३७. व्यङ्ग	३७. लाञ्छन	
३८. परिवर्तिका	३८. व्यङ्ग	
३९. अवपाटिका	३९. नीलिका	
४०. निरुद्धप्रकश	४०. उत्कोठ, कोठ	
४१. संनिरुद्धगुद	४१. अवपाटिका	(गुह्यरोग विज्ञानीय में वर्णित)
४२. अहिपूतन	४२. निरुद्धमणि	
४३. वृषणकच्छू	४३. रुद्धगुद	
४४. गुदभ्रंश	४४. प्रसुप्ति	

शालाक्य

सुश्रुत संहिता में उत्तर तंत्र के प्रथम २६ अध्यायों में शालाक्य के विषयों का विस्तार से वर्णन किया गया है। चरक ने त्रिमर्मीय चिकित्सा (चिकित्सा स्थान २६ अध्याय) के प्रकरण में इन रोगों का वर्णन किया है। वाग्भट ने सूत्रस्थान के तीन अध्यायों (३१, ३२, ३३) में शालाक्य में प्रयुक्त भेषज-कल्पनाओं का निर्देश कर मुख्य विषय का प्रतिपादन उत्तरस्थान के १८ अध्यायों (११ से २८) में किया है । सुश्रुत ने मुखरोगों का वर्णन शालाक्य से पृथक् किया है किन्तु वाग्भट ने उसका वर्णन शालाक्य प्रकरण में ही किया है ।

वाग्भट ने गण्डूष चार प्रकार का बतलाया है स्नैहिक, शमन, शोधन और रोपण इनमें प्रथम तीन क्रमशः वात, पित्त और कफजन्य रोगों में प्रयुक्त होते हैं और रोपण मुखव्रण में उपयोगी होता है।[1] सुश्रुत ने शमन के लिए 'प्रसादन' शब्द दिया है। गण्डूष और कवल में भेद तो दोनों ने बतलाया है किन्तु वाग्भट ने 'गण्डूष' का वर्णन किया है और सुश्रुत ने 'कवल' का ।

प्रतिसारण सुश्रुत में चार प्रकार का—कल्क, रसक्रिया, क्षौद्र तथा चूर्ण कहा है[2] जब कि वाग्भट ने क्षौद्र छोड़कर शेष तीनों का उल्लेख किया है ।[3]

इसके अतिरिक्त वाग्भट ने मुखालेप तीन प्रकार का—दोषघ्न, विषघ्न और वर्ण्य बतलाया है।[4] मूर्धतैल भी अभ्यंग, परिषेक, पिचु और बस्ति चार प्रकार का बतलाया है।[5] शिरोबस्ति की विधि का विस्तार से वर्णन किया गया है।[6] अन्त में कर्णपूरण का विधान है ।

वाग्भट ने आश्चोतन और बिडालक का वणन किया है।[7] सुश्रुत ने आश्चोतन

---

१. सं० सू० ३१।३.
२. सु० चि० ४०।६१.
३. सं० सू० ३१।११
४. सं० सू० ३१।१४
५. सं० सू० ३१।१६
६. सं० सू० ३१।१९
७. सं० सू० ३२।३

तीन प्रकार के लेखन, स्नेहन, और रोपण बतलाये हैं[१] किन्तु वाग्भटने ऐसा वर्गीकरण नहीं किया है।

अञ्जन सुश्रुत के मत से तीन प्रकार का लेखन, रोपण और प्रसादन है[२] किन्तु वाग्भट ने इनमें एक स्नेहन और जोड़ कर चार प्रकार किये हैं।[३] कल्पनाभेद से सुश्रुत ने तीन प्रकार किये हैं गुटिका, रस और चूर्ण तथा वाग्भट ने पिण्ड, रसक्रिया और चूर्ण। प्रसादन चूर्ण जब तीक्ष्ण अंजन से अतिसंतप्त नेत्र में शान्त्यर्थ प्रयुक्त होता है तब उसे प्रत्यञ्जन कहते हैं।[४] रसभेद से अञ्जन छः प्रकार का होता है। तीक्ष्णता के अनुसार उसके मृदु और तीक्ष्ण दो भेद होते हैं।

रसभेद से अञ्जन रखने के पात्र विभिन्न होते हैं। यथा मधुर के लिये सौवर्ण, अम्ल के लिए राजत; लवण के लिये मेषशृङ्गमय; कटु के लिए वैदूर्य या पत्थर का; तिक्त के लिए कांस्यमय तथा कषाय के लिए ताम्र या लौह का पात्र होना चाहिए।[५] नल, प्लक्ष, पङ्कज, स्फटिक तथा शंख के बने पात्र में शीत अञ्जन रखना रखना चाहिए। इसी प्रकार शलाका भी स्वर्ण, रजत, ताम्र, लौह और अंगुलि की होती है। सबमें मृदु होने से अङ्गुलि ही प्रधान मानी गई है।[६] वर्ति को घिसने के लिए तीक्ष्ण शिला का भी उल्लेख है।

तर्पण और पुटपाक का भी वर्णन है। पुटपाक सुश्रुत ने स्नेहन, लेखनीय और रोपणीयलेखनीय तीन प्रकार का बतलाया है।[७] वाग्भट ने रोपणीय के स्थान पर 'प्रसादन' शब्द दिया है।[८]

नेत्ररोग

सुश्रुत ने नेत्ररोगों की संख्या ७६ बतलाई है और वाग्भट ने ९४ रोगों का वर्णन किया है। चरक (दृढ़बलप्रतिसंस्कृत अंश) में ९६ नेत्ररोगों का उल्लेख है और माधव निदान में ७८ नेत्र रोगों का वर्णन है। इस आधार पर डा० हानले[९] का मत है कि माधव कर ने सुश्रुतोक्त संख्या में दो और जोड़ कर ७८ किया और दृढबल ने वाग्भट के ९४ और माधव के दो लेकर ९६ नेत्ररोगों का वर्णन किया अतः वह काल की दृष्टि से वाग्भट, माधव, दृढबल यह क्रम रखते हैं। किन्तु सूक्ष्मता से विचार करने पर स्पष्ट हो जायगा कि यह आधार अत्यन्त दुर्बल है। तथ्य यह है कि

१. सु० उ० १८।४३-४४ २. सु० उ० १८।५०

३. सं० सू० ३२।७ ४. सं० सू० ३२।८

५. सं० सू० ३२।१० ६. सं० सू० ३२।११

७. सु० उ० १८।१९; ८. सं० सू० ३३।७

९. Hornle : Studies in The Medicine of Ancient india, Part I, Intro. para 7-8.

उस समय शालाक्य तंत्र के भी निमि, कराल, सात्यकि, भद्रशौनक आदि के अनेक संप्रदाय प्रचलित थे और इन रोगों की संख्या परवर्ती लेखक इनमें से किसी एक का आधार लेकर निर्धारित करते थे जैसा कि सुश्रुत ने निमिसम्प्रदाय के अनुसार ७६ संख्या रखी[1] तथा दृढबल ने कराल संप्रदाय के अनुसार ९६ रखी।[2] वाग्भट ने संभवतः कराल सम्प्रदाय का आधार तो लिया किन्तु उनमें दो का अन्य रोगों में अन्तर्भाव कर उनकी संख्या ९४ निर्धारित की। माधव कर ने संभवतः सुश्रुत का आधार लिया किन्तु दो और नेत्ररोगों (कुञ्चन तथा पक्ष्मशात) संभवतः कराल सम्प्रदाय का जोड़ कर नेत्ररोगों की संख्या ७८ कर दी। इस पर श्रीकण्ठदत्त की व्याख्या अवलोकनीय है।[3] वाग्भट ने संख्या की दृष्टि से कराल संप्रदाय का आधार लेते हुए भी वर्णन-क्रम में निमि आदि अन्य आचार्यों के मतों का भी उपयोग किया है जैसा कि उनकी प्रारंभिक प्रस्तावना तथा बीच के उद्धरणों से ज्ञात होता है। सुश्रुत तथा वाग्भट के अनुसार नेत्ररोगों की संख्या का तुलनात्मक विचार निम्नोक्त तालिका से स्पष्ट होगा:—

नेत्ररोग

	सुश्रुत	वाग्भट
१. वर्त्मगत	२१	२४
२. सन्धिगत	९	
३. शुक्लभागगत	११	२७
४. कृष्णभागगत	४	
५. सर्वगत	१७	१६
६. दृष्टिगत	१२	२७
७. बाह्यगत	२	
	७६	९४

१. निमिप्रणीताः षट्सप्ततिर्नेत्ररोगा: न करालभद्रशौनकादिप्रणीताः। डल्हण (सु० उ० १।५)

२. 'नेत्रामयेषु आचार्याणां विप्रतिपत्तिः; नेत्ररोगाणां षट्सप्ततिः विदेहः प्राह, करालस्तु षण्णवतिम्; अशीतिं सात्यकिः प्राह। तेषु करालमतेनैवैतदभिधानम्।' चक्र० (च० चि० २६।१३०)

३. कुञ्चनं च कस्यापि तन्त्रस्य माधवकरेण लिखितं न सौश्रुतं, तेन सुश्रुतोक्त— षट्सप्ततिसंख्या न हीयते, एवं वक्ष्यमाणेऽपि पक्ष्मशाते बोद्धव्यम्।—मधुकोश, नेत्ररोग-निदान श्लो० ९६;

इस प्रकार यदि कराल संम्प्रदाय के अन्तर्गत कुञ्चन और पक्ष्मशात इन दो रोगों को मानें तो काल की दृष्टि से दृढबल, वाग्भट और माधव यह क्रम होगा।

नेत्ररोगों की चिकित्सा में भी वाग्भट ने अनेक नये योगों का उल्लेख किया है।

कर्णरोग

सुश्रुत ने २८ कर्णरोगों का तथा वाग्भट ने २५ कर्णरोगों का वर्णन किया है। वाग्भट ने अनेक नये रोगों का उल्लेख किया है यथा कूचिकर्णक, पिप्पली, विदारिका, पालीशोष, तन्त्रिका, परिपोट, उत्पात, उन्मन्थोगल्लिर, दुःखवर्धन, लिह्या। कर्णशूल की उत्पत्ति प्रतिश्याय, जलक्रीड़ा आदि कारणों से बतलाई गई है। पैत्तिक कर्णशूल में पाक होने पर पीले रंग की लसीका का स्राव होता है और यह लसीका जहाँ-जहाँ लगती है वहाँ-वहाँ पाक हो जाता है।[1] यह वाग्भट की एक महत्वपूर्ण सूचना रोगों के संक्रमण के सम्बन्ध में है। कर्णरोगों की चिकित्सा के क्रम में बिल्वतैल का निर्देश किया गया है तथा पूतिकर्ण में सर्षपतैल के कर्णपूरण का विधान है। इसी प्रकरण में पन्द्रह कर्णसन्धियों का सुश्रुत के अनुसार वर्णन किया है। यदि कर्णसन्धि का संधान न हो तो क्षौमसूत्र से सीने का विधान है। कर्णवर्धन के अनेक योग दिये गये हैं।[2] उस समय भूषण के निमित्त तथा सौन्दर्य-दृष्टि से कान के ऊपर विशेष ध्यान दिया जाता था और इस सम्बन्ध में अनेक शल्यकर्म तथा औषध प्रयोग किये जाते थे। अन्त में नासासन्धान-विधि तथा ओष्ठसन्धान-विधि का भी वर्णन किया गया है।[3] इससे प्रतीत होता है कि ये शस्त्रकर्म वाग्भट के काल में पूर्ण प्रचलित थे।

नासारोग

वाग्भट ने १८ नासारोगों का वर्णन किया है और सुश्रुत के अनुसार इनकी संख्या ३१ है। आपाततः संख्या कम होने पर भी वाग्भट ने कुछ नये रोग का वर्णन किया है यथा पुटक।[4] रोगों के लक्षण भी बड़े स्पष्ट रूप में दिये हैं। अपीनस रोग में बतलाया है कि घुघुर-श्वास, अधिक वेदना होती है तथा भेंड़ की तरह इसकी नाक बराबर गीली रहती है और उससे पिच्छिल, शीत, पका और गाढ़ा सिंघाणक (नासा मल) निकलता रहता है।[5] यह रोग का बड़ा चित्रमय सजीव वर्णन है। नासामल के लिये 'सिंघाणक' शब्द का प्रयोग अमरकोश में दिया है।[6] नासारोगों का

१. सा लसीका स्पृशेद्‌यद्यत्तत्तत्पाकमुपैति च।'—सं० उ० २१।३

२. सं० उ० २२।८१-८४; ३. सं० उ० २२।८५,८९;

४. सं० उ० २३।१९; ५. सं० उ० २३।१५

६. नासामलं तु सिंघाणं पिञ्जूष कर्णयोर्मलम्।' अ० को०

सामान्य लक्षण भी वाग्भट ने बतलाया है कि सभी नासारोगों में श्वास में कठिनाई, पीनस, बराबर छींक आना, सानुनासिक उच्चारण, नासा में दुर्गन्ध तथा शिरः शूल ये लक्षण होते हैं।[1]

चिकित्सा में सभी प्रतिश्यायों में पहले पाचनार्थ योग दिये जाते है। उसके बाद शिरोविरेचन दिया जाता है। इस प्रसंग में क्षवकचूर्ण, कट्फल आदि का प्रयोग किया गया है। पित्तज प्रतिश्याय में शीतोपचार के प्रसंग में धारागृहों का सेवन भी बतलाया गया है।[2]

नासार्श के शस्त्रकर्म के उपद्रवों का उल्लेख करते हुए कहा है कि हीनछेद से पुनर्वृद्धि अतिछेद से स्वरक्षय, गन्धाज्ञान, वीसर्प और मूर्च्छा होतीं है, अतः समछेदन करना चाहिये।[3]

मुखरोग

सुश्रुत ने सात आयतनों में ६५ मुखरोग गिनाये हैं[4] और वाग्भट ने आठ आयतनों में ७५ मुखरोगों का परिगणन किया है।[5] जो निम्नांकित तालिका से स्पष्ठ होगा :—

मुख रोगों की संख्या

आयतन	सुश्रुत	वाग्भट
१. ओष्ठ	८	११
२. गण्ड	—	१
३. दन्तमूल	१५	१३
४. दन्त	८	१०
५. जिह्वा	५	६
६. तालु	९	८
७. गल	१७	१८
८. मुख	३	८
	६५	७५

१. सं० उ० २३।२१;

२. व्यजनपवनविधूयमानश्च नीलशाद्वलोपवनशिशिरकरकिरणधारागृहाणि सेवेत।— सं० उ० २४।१४।

३. सं० उ० २४।४२;

४. मुखरोगाः पञ्चषष्टिः सप्तस्वायतनेषु'—सु० नि० १६।१।

५. ओष्ठे गण्डे द्विजे मूले जिह्वायां तालुके गले।
वक्त्रे सर्वत्र चेत्युक्ताः पञ्चसप्ततिरामयाः॥—सं० उ० २५।६८;

इससे स्पष्ट है कि वाग्भट ने इस विषय को काफी विकसित किया है।

मुखरोगों का निदान बतलाते हुए वाग्भट ने कहा है कि मांस, मछली, मधुरद्रव्य धूम, सिराव्यध आदि का अनुचित प्रयोग तथा दन्तधावन नहीं करने से मुखरोग होते हैं।[१]

ओष्ठ का प्रकरण खण्डोष्ठ से प्रारम्भ हुआ है और जलार्बुद नामक रोग का वर्णन है। गण्ड में गण्डालजी नामक रोग का उल्लेख है।[२]

दन्तगत रोगों में दालन, दन्तहर्ष, शर्करा, कपालिका, श्याव और कृमिदन्तक सुश्रुत और वाग्भट दोनों में परिगणित है किन्तु दोनों के स्वरूप में पर्याप्त अन्तर है। उदाहरणार्थ, सुश्रुत के मत में दालन वह रोग है जिसमें वायु के कारण अतितीव्र पीड़ा होती है।[3] किन्तु वाग्भट के मत से अतिपीड़ा के साथ साथ गरम और ठंडे स्पर्श का सहन न होना भी एक लक्षण है अतः इसका एक नाम भी शीत दिया है।[४] शीत-उष्ण की असहिष्णुता सुश्रुत ने दन्तहर्ष रोग का लक्षण बतलाया है[५] किन्तु वाग्भट ने अम्ल वस्तुओं के अधिक सेवन से इसकी उत्पत्ति बतलाई है[६] जो व्यवहारतः भी ठीक मालूम पड़ती है। सुश्रुत ने भञ्जनक और हनुमोक्ष इन दो रोगों का वर्णन किया है। जिनमें वातव्याधि विशेषतः अर्दित के लक्षण प्रकट होते हैं। वाग्भट ने इनका उल्लेख नहीं किया, इसके विपरीत, चाल, दन्तभेद, कराल, अधिदन्त रोगों का विशेष उल्लेख किया है।[७]

जिह्वा के रोगों में अधिजिह्व का उल्लेख हुआ है। सुश्रुत ने इसका वर्णन कण्ठरोगों में किया है।

तालु के रोगों में सुश्रुतोक्त अध्रुष और तुण्डिकेरी रोगों का उल्लेख वाग्भट ने नहीं किया है उसके बदले तालुपिटका का वर्णन किया है।[८] सुश्रुतोक्त 'मांससंघात' का नाम 'तालुसंहति' किया है।[९] सुश्रुतोक्त 'तुण्डिकेरी का स्पष्ट अन्वर्थ वर्णन वाग्भट ने गलरोगों के प्रकरण में किया है। गलार्बुद और गलगण्ड का भी इस प्रकरण में वर्णन है।

वाग्भट ने मुखपाक के अतिरिक्त, ऊर्ध्वगुद[१०], अर्बुद तथा पूत्यास्यता रोगों का

---

१. सं० उ० २५।२। २. सं० उ० २५।१२।१३;
३. सु० नि० १६।२६ ४. सं० उ० २५।१४
५. सु० नि० १६।२८ ६. सं० उ० २५।१५.
७. सं० उ० २५।१६-१९ ८. सं० उ० २५।३८
९. सं० उ० २५।४०
१०. 'अधः प्रतिहतो वायुरर्शोगुल्मकफादिभिः। यात्यूर्ध्वं वक्त्रदौर्गन्ध्यं कुर्वन्नूर्ध्वगुदस्तु सः।। सं० उ० २५।६२

विशेष उल्लेख है। ऊर्ध्वगुद रोग वह है जिसमें अर्श, गुल्म आदि रोगों के कारण वायु प्रतिलोम होकर ऊपर की ओर मुख में दुर्गन्ध करती हुई निकले। दिव्यावदान में लिखा है कि राजा अशोक को यह व्याधि हुई थी जिसे 'ऊर्ध्वगुद' संज्ञा दी गई है[1] किन्तु मूल ग्रन्थ में कहीं इस नाम का उल्लेख नहीं है और जो लक्षण वहाँ दिये गये हैं वे भी इसमें नहीं है। अशोक के मुख से पुरीष का निर्गमन होता था[2] जब कि ऊर्ध्वगुद में केवल वायु का ऊर्ध्व गमन होता है।

पूत्यास्यता दन्तधावन आदि मुखशुद्धि न करने से उत्पन्न मुख दुर्गन्धि को कहते हैं।[3] इसमें यह भी ध्वनित होता है कि उस काल में दन्तधावन आदि मुख शोधन के उपायों पर विशेष जोर दिया जाता था। चिकित्सा प्रकरण में भी सदा दन्तधावन आदि के सेवन का उपदेश किया गया है।[4]

खण्डौष्ठ का लेखन कर क्षौमसूत्र से सीने का विधान है।[5] क्रिमिदन्त में सप्तच्छद तथा अर्क के क्षीर से दन्तपूरण तथा सर्षप और करंज के तैल का पूरण विहित है। दन्तशूल के निवारण के लिए हिंगु, कट्फल, कुन्दरु आदि द्रव्यों को कपड़े में बाँधकर दाँत पर रखने का विधान है। यदि इन उपायों से शूल शान्त हो तो संदश यन्त्र से दाँत को पकड़ कर शस्त्र से अगल-बगल से हटा कर उसे निकाल डाले।[6] दाँत निकालने के बाद मुख धोकर मुलेठी का चूर्ण मिला कर तैल या मधु का गंडूषधारण करे। अन्य रोगों में भी शस्त्रकर्म का विधान है इससे प्रतीत होता है कि इन रोगों में शस्त्रकर्म का पूर्ण प्रचलन था। मुखपाक में सामान्यतः त्रिफलाक्वाथ मधु मिलाकर तथा अन्य तिक्तकटुकषाय द्रव्यों के क्वाथ से मुख धोना चाहिए। मृद्वीका, पाठा, जाती, मातुलुङ्ग, अर्जुनपत्र और जीवक के पल्लवों को बिना निगलते हुए चबावे। खदिरादि वटी का भी उल्लेख है। रसांजन का भी मधु मिला कर निष्ठीवन सर्व-मुखरोग एवं नाड़ी का नाशक है। पित्तज मुखपाक में मदयन्ती पत्र तथा कफज मुख-पाक में निर्गुण्डी और तुलसी के पत्र से निष्ठीवन का विधान है।[7]

मुख, दन्तमूल एवं गले के रोगों में रक्तस्रावण का उपदेश किया गया है।[8] कण्ठ रोग प्राणवायु के मार्ग में स्थित होने से श्वास का भी अवरोध कर देते हैं अतः इनकी चिकित्सा शीघ्र करनी चाहिए।

---

१. अत्रिदेव : अष्टांगसंग्रहटीका, भाग २, पृ० २७९

२. दिव्यावदान (कुणालावदानप्रकरण) पृ० २६३-२६४

४. सं० उ० २५।६७

४. सदा च दन्तधावनादीन् सेवेत—'सं० उ० २६।१४

५. सं० उ० २६।२

६. सं० उ० २६।१८

७. सं० उ० २६।५७-५८

८. सं० उ० २६।६२

शिरोरोग

सुश्रुत में शिरोरोग ग्यारह बतलाये गये हैं।[1] चरक ने कियन्तःशिरसीय अध्याय (सू० १७ अ०) में पाँच शिरोरोग गिनाये हैं और आगे चल कर (सि० ९।७०-८८) दृढ़बल ने शंखक, अर्धभेदक, सूर्यावर्त, अनन्तवात का परिगणन किया है। वाग्भट ने १० रोगों का वर्णन किया है जिसमें अनन्तवात का उल्लेख नहीं किया है और शिरःकम्प का विशेष वर्णन किया है।[2]

इनके अतिरिक्त, वाग्भट ने कपाल के नव रोगों का वर्णन किया है। ये हैं उपशीर्षक, पिटका, अर्बुद, विद्रधि, अरूंषिका, दारणक, इन्द्रलुप्त, खलति और पलित। इन रोगों का सुश्रुत ने क्षुद्र रोगों के अन्तर्गत वर्णन किया है।

शिरोरोगों की चिकित्सा में नस्य और शिरोबस्ति का विशेष विधान है। शिरोबस्ति के लिये सुश्रुत ने मस्तिष्क-शिरोबस्ति शब्द का भी प्रयोग किया है।[3] अनेक विशिष्ट औषधकल्पों का विधान भी किया गया है।

कौमारभृत्य

अष्टाङ्गसंग्रह उत्तरस्थान के प्रारम्भिक छः अध्यायों में कौमारभृत्य का विषय व्यवस्थित है। यह मुख्यतः तीन शीर्षकों में विभक्त किया जा सकता है जातकर्म, बालरोग और बालग्रह।

जातकर्म का विषय चरक और सुश्रुत में शारीर स्थान में ही प्रसवानन्तर कर्म के प्रसंग में वर्णित है।[4] काश्यप में इसका पृथक् अध्याय है।[5] वाग्भट ने भी उत्तरस्थान के प्रथम अध्याय में यह विषय स्वतन्त्र रूप से रक्खा है। वाग्भट ने जातकर्म प्राजापत्य विधि से करने का उपदेश किया है।[6] प्रतिदिन बच्चे के कर्णपथ में तैल में भिगोया रुई रखने का भी विधान है।[7] रक्षाकर्म का विधान वाग्भट में है जिससे तत्कालीन लौकिक परम्परा एवं विश्वासों पर प्रकाश पड़ता है। चरक ने अथर्ववेदविद् ब्राह्मणों द्वारा शान्तिकर्म कराने का विधान दिया है।[8] वाग्भट ने इसके साथ-

---

१. सु० उ० २५।१-२; २. सं० उ० २७।९, १२;

३. "मस्तिष्कशिरोबस्तिघ्राणुतैलमभ्यंगार्थे-" सु० चि० ५।२८

"अर्दितातुरं बलन्तमुपकरणवन्तं च वातव्याधिविधानेनोपचरेद् वैशेषिकैश्च मस्तिष्कशिरोबस्तिनस्यधूमोपनाहस्नेहनाडीस्वेदादिभिः।-" सु० चि० ५।३१

४. च० शा० ८; सु० शा १०; ५. का० जातकर्मोत्तराध्याय;

६. सं० उ० १।१० ७. सं० उ० १।१४

८. च० शा० ८।४८.

साथ मायूरी, महामायूरी तथा अन्य बौद्ध विद्याओं का भी उल्लेख किया है[1] जिससे इनके प्रचार का संकेत मिलता है। सूतिकागार का भी अच्छा चित्रण किया गया है। चौथे दिन स्तन्यपान का विधान है।

षष्ठी निशा में उसकी पूजा का वर्णन वाग्भट ने दिया है।[2] काश्यपसंहिता में इसका विस्तृत वर्णन है।[3] बाणभट्ट ने कादम्बरी में भी इसका उल्लेख किया है।[4] ऐसा समझा जाता है कि गुप्तकाल में षष्ठीपूजा का विशेष प्रचार था। चरक और सुश्रुत में इसका निर्देश नहीं मिलता।

दसवें या बारहवें दिन प्रसूता स्नानोत्सव करे और बच्चे का नामकरण करना चाहिए। वाग्भट ने कहा है कि नामकरण जन्म के सौवें दिन या एक वर्ष पूरा होने पर भी कर सकते हैं।

कुमारागार का विधान वाग्भट ने किया है जो प्रशस्तलक्षणयुक्त, उपकरणयुक्त, निर्मल, निर्वात, प्रवात, प्रकाशयुक्त, खटमल, चूहे, मच्छड़ से रहित तथा वृद्ध और वैद्य से युक्त हो।[5] कुमारधार का भी वर्णन किया है जो बच्चे की देखभाल करे।[6]

बच्चे की रक्षा के लिए हस्त, ग्रीवा और शिर में मणिधारण का विधान है।[7] अथर्ववेद में ऐसे अनेक मणियों का वर्णन मिलता है। आगे तक यह परम्परा अक्षुण्ण रूप में चलती रही। शाकुन्तल में भी दुष्यन्त-सुत भरत के हाथ में अपराजिता का मणिबन्ध रक्षार्थ मारीचि काश्यप ने दिया था।[8]

चौथे मास में निष्क्रमण, पञ्चम मास में धरणी-उपवेशन, छठे मास में अन्नप्राशन (काश्यप छठे मास में फलप्राशन तथा दसवें मास में अन्नप्राशन का विधान करते हैं[9]) छठे, सातवें या आठवें मास में कर्णवेध करना चाहिए। चरक में कर्णवेध का उल्लेख नहीं मिलता। कानों के बढ़ने तथा दृढ़ होने पर स्वर्ण में जड़े हुए रत्नों का धारण कराना चाहिए।[10] वाग्भट ने लिखा है कि एक वर्ष तक बच्चे को घर से बाहर ले जाकर दीपक, धूप, अग्नि या अन्य चमकीली वस्तु नहीं दिखलानी चाहिए। काश्यप

---

१. 'तथा ब्राह्मणोऽथर्ववेदविद्दशाहं शान्तिकर्म कुर्यात्। मायूरीं महामायूरीमार्यारत्नकेतुधारिणीं चोभयकालं वाचयेत्॥' सं० उ० १।७

२. सं० उ० १।२६. 		३. काश्यप चि० ९९–१००; १४५;

४. 'भगवतीं षष्ठीदेवीं कुर्वता'—का० पृ० २१९;२२८;

५. सं० उ० १।३२; 		६. सं० उ० १।५७;

७. सं० उ० १।३७;

८. अ० शा० अंक ७ (कालिदास ग्रन्थावली, द्वितीय खण्ड, पृ० १३९)

९. काश्यप खिलस्थान पृ० ३१८. 		१०. सं० उ० १।४८

में प्रथम मास में सूर्योदय और चन्द्रोदय का दर्शन कराने का विधान किया है।[1]

बच्चे के लिए क्रीड़ाभूमि का भी सुन्दर वर्णन किया गया है[2]। क्रीड़ाभूमि समतल, कंकड़ पत्थर से रहित तथा निम्बोदक आदि से सिक्त हो। निम्बोदक आदि से सिक्त करने का विधान महत्वपूर्ण है, इससे जन्तुओं के नष्ट होने से बच्चे में किसी रोग के संक्रमण का भय नहीं रहेगा। खिलौने लाख के, आवाज करने वाले चित्रविचित्र, सुन्दर बड़े तथा गाय, घोड़े, फल आदि की आकृति के हों।

शक्ति हो जाने पर यथावर्ण विद्या के अध्यापन का विधान है तथा विद्या के साथ-साथ धर्म और विनय की शिक्षा का विधान किया गया है जिससे युवावस्था आने पर वह इन्द्रियरूपी दुष्ट घोड़ों द्वारा पथभ्रष्ट न हो[3] कादम्बरी में चन्द्रापीड़ और वैशम्पायन की शिक्षा के क्रम में तथा शुकनासोपदेश में इसका सुन्दर वर्णन किया गया है[4]। विनय की शिक्षा से बौद्धों के विनयपिटक का भी बोध होता है।

प्रतिदिन बालक के अभ्यंग, उद्वर्त्तन और स्नान का विधान है। स्नान के लिए सर्वौषधि या जीवनीयद्रव्यों के जल का ग्रहण करना चाहिए[5]। अथर्वपरिशिष्ट में भी पुष्यस्नान-प्रकरण में सर्वौषधियों का विधान है[6]।

बालक की ऋतुचर्या का भी विधान है। शीत और वसन्त में घृतप्राशन तथा ग्रीष्म में जीवनीयगण से शृत शीतल दुग्ध के प्रातःकाल सेवन का उपदेश है[7]। प्रतिदिन मेध्य और आयुष्य लेहों का सेवन करने का भी विधान है।

मृद्भक्षण से उत्पन्न होने वाले अनेक रोगों का उल्लेख करते हुए बच्चे को मिट्टी खाने की आदत न पड़े इसके लिए सतर्क रहना चाहिए[8]। जब तक मसूड़े दृढ़ न हो जाँय तब तक दन्तधावन प्रारंभ नहीं करना चाहिए[9]।

बालरोग

बच्चे की वेदना के परिज्ञान के लिए विभिन्न संकेतों का निर्देश काश्यप ने वेदनाध्याय में किया है।[10] वाग्भट ने शिर, हृदय, उदर और बस्ति इन प्रमुख अंगों में स्थित वेदना के संकेतों का उल्लेख किया है। आँख बन्द किये रहने से शिर में पीड़ा समझनी चाहिए। जीभ ओठ काटने, श्वास तथा मुट्ठी बाँधने से हृदय में; मूत्र-पुरीष में विकृति, वमन, आध्मान, अंत्रकूजन, स्तनदंश, ऐंठन, पीठ को झुकाना, उदर

---

१. काश्यप खिल० पृ० ३१६; २. सं० उ० १।६०
३. सं० सू० १।६१; ४. का० शुकनासोपदेश
५. सं० सू० १।६३; ६. अ० प० ५।१।४–५;
७. सं० उ० १।६५ ८. सं० उ० १।७४
९. सं० उ० १।७५, १०. काश्यप सू० २५

का उठना इनसे उदर में; मूत्ररोध, प्यास मूर्छा, भय, इधर-उधर ताकना, खल्ली, हाथ पैर में जकड़ाहट, कुबड़े की तरह झुक जाना, बाल नोचना इनसे वस्ति और गुह्य में तथा स्वभावातिरिक्ति रोदन और मुखविकृति से सर्वत्र पीड़ा का अनुमान करना चाहिए।

स्तन्य के विविध विकारों का वर्णन कर उनकी चिकित्सा का प्रतिपादन विस्तार से किया गया है[१]। दन्तोद्भेद को सर्वरोगायतन कहा गया है[२]। सामान्यत: दीर्घायु बालक के दाँत आठवें मास या बाद में निकलते हैं शेष के चतुर्थ मास के बाद।[३] यह कहा गया है कि बिड़ालों के पृष्ठभंग में, मयूरों के शिखा निकालने के समय और बालकों के दन्तोद्भेद के समय ऐसा कोई अंग नहीं जो पीड़ित न होता हो।[४] इन रोगों में अनेक योगों का विधान किया गया है किन्तु साथ-साथ यह कहा गया है कि दन्तोद्भेदजन्य रोगों में बालक को अधिक यंत्रणा न दे क्योंकि ये रोग स्वयं शान्त हो जाते हैं।[५]

बालक के रोगों में क्षीरालसक, पारिगर्भिक, महापद्म, पर्वानुप्लव[६], तालुकंटक, तालुपात, अनामक[७] (गुदकुट्ट) नाभिविकार तथा मृत्तिकाभक्षणजन्य विकारों का वर्णन किया है।

जो बालक जन्म से ही सदन्त हो या जिसके ऊपरी दाँत पहले निकलें उसके लिए दैवव्यपाश्रयचिकित्सा (शान्ति, नैगमेषपूजन, प्रायश्चित्त, ब्राह्मणभोजन आदि) का विधान है।[८]

पारिगर्भिक रोग में यदि बालक की क्षुधा शान्त न हो तो उसे क्षीरीवृक्ष के मूल में रख कर विधिपूर्वक स्नान करावे और श्वेत वस्त्र, रत्न, अलंकारों से उसे अलंकृत करे। इसी प्रकार वृक्ष को भी अलंकृत करे। बाद में दोनों के अलंकार का विनिमय करे। यह क्रिया आयुष्य और सर्वरोगहर है।[९]

क्षीरप बालकों में औषध देने का एक यह भी विधान है कि जो औषध बालक को देनी हो उससे माता के स्तन का लेप करे और थोड़ी देर के बाद उसे धो दे और तब बच्चे को स्तनपान करावे।[१०]

---

१. सं० उ० २।१४ २. दन्तोद्भेदश्च सर्वरोगायतनम्।'—सं० उ० २।१९

३. सं० उ० २।२०

४. पृष्ठभंगे विडालानां बर्हिणां च शिखोद्गमे। दन्तोद्भेदे च बालानां न हि किंचिन्न दूयते॥ सं० उ० २।२५

५. सं० उ० २।४७ ६. सं० उ० २।७२

७. सं० उ० २।७९–८२ ८. सं० उ० २।६२.

९. सं० उ० २।६८. १०. सं० उ० २।९७.

बालग्रह

सुश्रुत ने कहा है कि शौचभ्रष्ट तथा तर्जित कुमारों को ग्रह आक्रान्त करते हैं[१]।

वाग्भट ने भी कहा है कि बालक को डराना नहीं चाहिए क्योंकि त्रस्त बालक को ग्रह आक्रान्त कर लेते हैं।[२] इसके अतिरिक्त वस्त्रपात, परस्पर्श आदि से भी उन्हें बचाना चाहिए। वस्त्रस्पर्श, गात्रस्पर्श आदि रोगसंक्रमण के माध्यम हैं[३] अतः स्पष्टतः इनसे रक्षा का उद्देश्य उपर्युक्त उपदेश में विहित है। इन कारणों पर सूक्ष्म विचार करने से प्रतीत होता है कि प्राचीन आचार्य ग्रहजन्य रोगों में मानसिक विकारों तथा औपसर्गिक रोगों को लेते थे। अकस्मात् बालक के शरीर में अद्भुत विकृत लक्षण उत्पन्न होने पर उसका कोई दृश्य कारण बोधगम्य न होने से एक अदृश्य कारण का सहारा लिया गया। ऐसे ही विकारों को ग्रहजन्य बाधाओं में वर्गीकृत किया है।

सुश्रुत ने ग्रहों की संख्या ९ मानी है; स्कन्द, स्कन्दापस्मार, शकुनी, रेवती, पूतना, अन्धपूतना, शीतपूतना, मुखमण्डिका, नैगमेष।[४] काश्यप ने रेवती को ही माना है और उसीके बीस नामों में पूतना, शीतपूतना, अन्धपूतना, मुखमण्डिका, षष्ठी आदि हैं।[५] यह स्कन्द के समान षण्मुखी है और स्कन्द की बहन मानी गई है। षष्ठी पूजा का भी यही रहस्य प्रतीत होता है। इस प्रकार ग्रहों में स्कन्द और रेवती यही दोनों मुख्य हैं। एक पुरुष और एक स्त्री। इन्हीं से आगे चलकर विभिन्न पुरुष विग्रह तथा स्त्रीविग्रह ग्रहों की कल्पना हुई। वाग्भट के अनुसार पाँच पुरुषविग्रह (स्कन्द, विशाख, मेषास्य, श्वग्रह, पितृग्रह) तथा सात स्त्रीविग्रह (शकुनि, पूतना, शीतपूतना, अन्धपूतना, मुखमण्डिका, रेवती, शुष्करेवती) हैं। इस प्रकार वाग्भट ने बारह ग्रह माने हैं।[६] श्वग्रह, पितृग्रह तथा शुष्करेवती वाग्भट की विशिष्ट कल्पना प्रतीत होती है।[७] श्वग्रह धनुस्तम्भ तथा जलसंत्रास का द्योतक है और शुष्करेवती में उदरगत यक्ष्मा के लक्षणों का अन्तर्भाव है। वाग्भट ने इन विकारों को परिलक्षित कर विशिष्ट संज्ञायें प्रदान की।

---

१. सु० उ० २७।४.

२. त्रासयेन्नाविधेयं च त्रस्तं गृह्णन्ति हि ग्रहाः। वस्त्रपातात् परस्पर्शात् पालयेल्लंघनाच्च तम्।—सं० उ० १।५९.

३. प्रसंगात् गात्रसंस्पर्शान्निःश्वासात् सहभोजनात्। एकशय्यासनाच्चैव वस्त्रमाल्यानुलेपनात्॥ कुष्ठं ज्वरश्च शोषश्च नेत्राभिष्यन्द एव च। औपसर्गिकरोगाश्च संक्रामन्ति नरान्नरम्॥ सु० नि० ५।२९-३०

४. सु० उ० २७।२-३.

५. काश्यप चि० पृ० ९८-१०४.

६. सं० उ० ३।२.

७. सं० उ० ३।१३,१४,२१.

ग्रहों की चिकित्सा में भूतविद्योक्त पान, अभ्यञ्जन और घृत के सेवन का विधान किया गया है। बौद्धों की अपराजिता विद्या को भूर्जपत्र में गोरोचन से लिख कर बच्चे के गले में बाँधने का उपदेश किया गया है।[1] इसके अतिरिक्त बलि और मन्त्र-पाठ भी बतलाया गया है। एक स्वतन्त्र अध्याय (उ० ५ अ०)में स्नपन विधि का विस्तार से वर्णन किया गया है। अथर्वपरिशिष्ट में इस प्रकार का विधान है[2] और वराहमिहिर ने भी बृहत् संहिता में इसका वर्णन किया है।[3] इसी प्रसंग में जात हारिणियों का भी निर्देश है।[4] काश्यप ने इनका विस्तार से वर्णन किया है।[5] इसके बाद अन्तिम अध्याय में प्रत्येक ग्रह की चिकित्सा बतलाई गई हैं। इसमें प्रत्येक ग्रह के लिए बलि, धूप, अभ्यंग, मणिधारण, स्नान, मन्त्र आदि का विधान किया गया है।

भूतविद्या

चरक में भूतविद्या का कोई स्वतन्त्र अध्याय नहीं मिलता यद्यपि चिकित्सा में दैवव्यपाश्रय चिकित्सा का एक पृथक् विभाग है।[6] उन्माद, अपस्मार का वर्णन भी अन्य रोगों के साथ किया गया हैं यद्यपि आगन्तून्माद में भूतों की कारणता मानी गई है। सुश्रुत ने अमानुषोपसर्ग प्रकरण (उ० ६०) में इस विषय का स्वतन्त्र वर्णन किया है और उसी के क्रम में उन्माद, अपस्मार रोगों का भी वर्णन किया हैं। उसने इन रोगों में भूत की कारणता पर बल न देकर इन्हें दोषज माना है।[7] भेल का भी ऐसा ही मत है।[8] वाग्भट ने दो स्वतन्त्र अध्यायों में (उ० ७,८) में इसका वर्णन कर उसी क्रम में अगले दो अध्यायों में उन्माद और अपस्मार का वर्णन किया है। अतः वाग्भट में यह विषय अधिक विकसित मिलता है।

असंख्य भूतपरिवार होने पर भी सुश्रुत आठ ग्रहाधिपतियों को मुख्य मानते हैं जब कि वाग्भट अठारह भूताधिपतियों को मानते हैं। प्रज्ञापराधी, उन्माद-अपस्मार से विकृतचित्त, ज्वरादि रोगों से युक्त तथा पूयरक्तादिसहित व्रणयुक्त पुरुष पर ये आक्रमण करते हैं। यह मुख्यतः मनोविकार उत्पन्न करते हैं।[9]

देवग्रह से ग्रस्त पुरुष संस्कृत में भाषण करता है[10] इससे प्रतीत होता है कि उस समय शिष्टवर्ग की भाषा संस्कृत थी जैसा कि नाटकों में हम देखते हैं। मृच्छकटिक में संस्कृत बोलने वाली स्त्री का व्यङ्ग किया गया है[11] यक्षग्रहसे पीड़ित मनुष्य ब्राह्मण

१. सं० उ० ४।७. २. अ० प० ४२.
३. बृ० सं० ४८ ४. सं० उ० ५।२१.
५. काश्यप क० ९. ६. च० सू० ११।५२.
७. सु० उ० ६१।१३-१६. ८. भे० नि० ८।१९.
९. तत्रावलोकयन्तो जनयन्ति मनोविकारं सुरासुरग्रहाः—सं० उ० ७।१०.
१०. सं० उ० ७।१७. ११. मृ० क० ३ अंक, पृ० १४८

और वैद्य का अनादर करने वाला होता है।[१] इससे प्रतीत होता है कि उस काल में ब्राह्मण और वैद्य का समाज में पर्याप्त आदर था।

चिकित्सा में बलि, होम आदि का विधान किया गया है। द्वादशभुज ईश्वर, स्थाणु और प्रमथगण, आर्यावलोकित का पूजन और जप तथा मायूरी विद्या का पाठ भी भूतबाधा में विहित है।[२]

ग्रहोपश्लिष्ट पुरुषों के लिए पान, अभ्यंग और बस्ति में महास्नेह का विधान किया गया है।

अगदतन्त्र

अगदतन्त्र का विषय वाग्भट के नौ अध्यायों (उत्तरस्थान ४० से ४८ अ०) में व्यवस्थित है। चरकसंहिता के एक ही अध्याय में यह विषय संक्षेप से निर्दिष्ट है। सुश्रुतसंहिता के कल्पस्थान में उस विषय का वर्णन विस्तार से किया गया है। विष की उत्पत्ति के संबन्ध में पौराणिक आख्यान चरक और वाग्भट दोनों में समान है। इसमें जङ्गम विषों के सम्बन्ध में कहा गया है कि वह पृथिवी का भार हलका करने के लिए सर्प आदि के रूप में विष्णु के द्वारा निर्मित हुआ है।[3] इससे प्रतीत होता है कि सर्पविष से मृत्यु की संख्या अधिक थी और उसका कोई निश्चित एवं सफल उपचार नहीं था।

विषों का वर्गीकरण और परिगणन सुश्रुत के अनुसार किया गया है। स्थावर और जंगम विषों के अतिरिक्त कृत्रिम विषों का एक वर्ग होता है जिसे 'गर' कहते हैं।

विष के वेगों के सम्बन्ध में धन्वन्तरि आदि ऋषि सात तथा पुनर्वसु आत्रेय आठ वेग मानते हैं। इस मतभेद का उल्लेख करके वाग्भट ने चरक के अनुसार आठ वेगों का उल्लेख किया है।[४] इस प्रसंग में उसने नग्नजित्, विदेहपति, आलम्बायन और धन्वन्तरि के मतों का निर्देश किया है।[४] दूषीविष का भी उल्लेख किया गया है।

विष-चिकित्सा के प्रसंग में विभिन्न अगदों का वर्णन करते हुए दो अगद कौटिल्य के दिये बतलाये हैं।[५] इनमें एक मणिधारण के लिए है। इसके अतिरिक्त ब्राह्म अगद, शिवकृत अगद, औशनस अगद तथा काश्यपोक्त योगों का विधान है। सभी गर विषों में सुवर्णमाक्षिक और सुवर्ण की भस्म शर्करा और मधु के साथ लेने से लाभकर होती है।[६]

---

१. सं० उ० ७।२२; २. सं० उ० ८।३३-३५;
३. सं० उ० ४०।५; ४. सं० उ० ४०।२६-३२;
५. सं० उ० ४०।५९, ६१; ६. सं० उ० ४०।८७;

सुश्रुत ने कन्दज विषों के लक्षणों का विस्तार से वर्णन किया है।[१] वाग्भट ने इसका वर्णन संक्षेप से कर कुछ अन्य विषों का वर्णन किया है जो संभवतः उस काल में हत्या के लिए प्रयुक्त होते थे। उदाहरण के लिए हरताल विष का लक्षण और उसकी चिकित्सा बतलाई गई। संभवतः शंखिया विष का भी इसी में अन्तर्भाव किया गया है। धतूरे के विष का भी वर्णन किया गया है।[२]

विष की चिकित्सा चौबीस प्रकार से चरक ने बतलाई है इनमें मन्त्र सर्वप्रथम आया है।[३] वाग्भट ने भी मंत्र की प्रशंसा करते हुए कहा है कि केवल औषध से शान्त विष पुनः प्रकुपित हो सकता है इसलिए किसी मन्त्र से विष की चिकित्सा करनी चाहिए।[४] चूँकि मन्त्रसिद्धि दुर्लभ होती है इसीलिए अगदों का प्रयोग विहित है। इससे प्रतीत होता है कि विषचिकित्सा में मन्त्र और औषधि का समान रूप से प्रयोग होता था और एक दूसरे के पूरक माने जाते थे। दण्डी के दशकुमारचरित में भी ऐसा ही उल्लेख आया है।[५]

विष का प्रयोग होने पर प्रकृति, काल आदि अनुकूल मिलने पर जब तीक्ष्णता आती है तब वह अवस्था 'विषसंकट' कहलाती है। यह अत्यन्त गम्भीर अवस्था मानी गई है इससे कोई कोई ही बचता है।[६]

सर्पों के सम्बन्ध में वाग्भट ने बड़े विस्तार से उनकी जाति, आयु, उत्पत्ति विकास आदि का वर्णन किया है। सर्पों को उनके स्वरूप और स्वभाव के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य और शूद्र इन चार वर्गों में विभक्त किया है।[७] आशीविष सर्पों के विषय में कहा गया है कि वह घोरतम होते हैं और उनके विष से शायद ही कोई बचता है। तिथियों और नक्षत्रों के विचार से भी विष की असाध्यता का निरूपण किया गया है।[८] चिकित्सा के क्रम में भोज, वैतरण से उद्दिष्ट योग का उल्लेख किया है।[९] शिर में काकपद बना कर औषध देने का भी उल्लेख है। अध्याय के अन्त में कहा गया है कि चिकित्सक शंकर, अस्थिक और काश्यप इन सूत्रकारों की अर्चना कर विषार्त के लिए मन्त्र, विद्या और औषध का प्रयोग करे।[१०] विष-शान्ति के लिए विषघ्न औषधियों के धारण का भी विधान है।[११]

---

१. सु० क० २।१६;

२. सं० उ० ४०।१०१-१०३;

३. च० चि० २३।३५-३७;

४. सं० उ० ४०।१११

५. द० कु० पू० १।७७

६. सं० उ० ४०।११२

७. सं० उ० ४१।२१-२४;

८. सं० उ० ४१।५४;

९. सं० उ० ४२।३९;

१०. सं० उ० ४२।६९

११. सं० उ० ४२।७०;

कीट-विष के प्रकरण में अनेक कीटों के विष का वर्णन और चिकित्सा कही गई है। वृश्चिक-विष में अनेक नये योगों का विधान है।

लूताओं में बोधिवृक्ष, श्लेष्मातक और बहेड़े का प्रयोग विहित है।[१]

शृगाल आदि पागल पशुओं के द्वारा काटे जाने पर 'जलत्रास' रोग की उत्पत्ति का वर्णन सुश्रुत ने किया है।[२] वाग्भट ने मुख्यतः इसे पागल कुत्ते के द्वारा माना है। इसे अलर्क विष की संज्ञा दी गई है।[३] इसकी चिकित्सा में अनेक नवीन योगों का उल्लेख वाग्भट ने किया है यथा नलमूल को जल में पीस कर पान और लेप; बिजौरे नींबू के पत्तों को चबा कर दंशस्थान पर बाँधना; अर्कक्षीर का विरेचन; धतूरे का फल और जड़ तथा काठगूलर की जड़ सीधु से पीस कर तण्डुलोदक से पीना तथा जलवेतस के पत्र, त्वक् और मूल का क्वाथ पीना।[४]

अन्तिम अध्याय में विष का चिकित्सकीय उपयोग बतलाया गया है। यहाँ तक कहा गया कि जो मनुष्य विषका सेवन करता है उसे किसी प्रकार के विष, अकाल-मृत्यु या ग्रह का भय नहीं है।[५] इससे प्रतीत होता है कि विषों का प्रयोग चिकित्सा में पर्याप्त प्रचलित था।

रसायन

चरक ने चिकित्सास्थान का प्रारम्भ रसायन प्रकरण से किया है सुश्रुत ने चिकित्सा के मध्य में इसे स्थान दिया है और वाग्भट ने इसे ग्रन्थ के अन्त में रक्खा है। चरक ने त्रिफला, पिप्पली, भल्लातक,, शिलाजतु, लोह आदि द्रव्यों का उल्लेख किया है और सुश्रुत ने विडंग, बला, वाराही, शतावरी, बीजक, काश्मर्य, मण्डूकपर्णी, हैमवती वचा आदि द्रव्यों का प्रयोग किया है। चरक और सुश्रुत दोनों ने दिव्य ओषधियों का वर्णन किया है।[६] वाग्भट ने दिव्य ओषधियों का उल्लेख नहीं किया है इससे पता चलता है कि उस काल तक दिव्य ओषधियाँ रहस्यमय हो चुकी थीं और उनकी कोई व्यवहारिक उपयोगिता नहीं रही थी।

वाग्भट ने चरक के अनुसार रसायन के दो भेद किये हैं कुटीप्रावेशिक और वातातपिक जिनमें कुटीप्रावेशिक अधिक फलदायक माना गया है। वाग्भट ने

---

१. सं० उ० ४४।३५; २. सु० क० ७।४०-६३;

३. सं० उ० ४६।७-१२

४. जलवेतसपत्रत्वङ्मूलं क्षुण्णं पचेज्जले। स क्वाथः शीतलः पीतः परं श्वविषभेषजम्॥—सं० उ० ४६।६०;

५. 'अकालमृत्योर्ग्रहपाप्मतो वा विषाशिनो नास्ति भयं नरस्य।'—सं० उ० ४८।५९

६. च० चि० १।१।७; सु० चि० २९, ३०;

हरीतकी का दोषानुसार प्रयोग किया है तथा उत्तम हरीतकी की पहचान भी दी है।[१] धातुओं में लोह तथा ताम्र, रजत और सुवर्ण के प्रयोग का विधान है और इनका उत्तरोत्तर द्विगुण गुणोत्कर्ष बतलाया गया है।[२] सुश्रुत में महाकुष्ठचिकित्सित में अयस्कृतियों के प्रयोग का उल्लेख है।[३] सुश्रुत और चरक दोनों के योगों का उल्लेख वाग्भट ने किया है। तुवरक का वर्णन सुश्रुत के अनुसार है। भल्लातक, पिप्पली, सोमराजी, लशुन, पलाण्डु, कुक्कुटी, कंचुकी, गुग्गुलु, शिलाजतु, स्वर्णमाक्षिक, वृद्धदारुक, कुष्ठ इनका वर्णन विस्तार से किया गया है और इनके योगों का उल्लेख रसायनकार्य के लिए हुआ है। लशुन की प्रशस्ति नावनीतक में भी है।[४] काश्यप में एक स्वतंत्र लशुनकल्पाध्याय में इनके गुणों का प्रशस्तिमूलक उल्लेख है।[५] गुग्गुलु अतिमात्रा में प्रयुक्त होने पर तिमिर, मुखशोष, क्लैब्य, कार्श्य और मोह उत्पन्न करता है इसका उल्लेख वाग्भट ने किया है।[६] 'शिवा गुटिका' भी इसी ग्रन्थ का योग है जिसका उद्धरण चक्रदत्त आदि परवर्ती लेखकों ने किया।[७] इन द्रव्यों ने अतिरिक्त, छोटे छोटे सरल योग भी बतलाये गये हैं जिनमें पुनर्नवा, अश्वगन्धा, कृष्णतिल, भृंगराज आदि का प्रयोग बतलाया गया है। एक रसायन-योग में पारद का प्रयोग हुआ है।[८] लगभग यही योग वराहमिहिर की बृहत् संहिता में भी मिलता है।[९]

अध्याय के अन्त में वाग्भट ने संकेत किया है कि यदि घी, दूध आदि पौष्टिक आहार मिलता रहे तो कुटीप्रवेश के बिना भी रसायन के फल मिलते हैं।[१०] इस संबन्ध में गोष्ठ शब्द का प्रयोग किया गया है वराहमिहिर[११] तथा भारवि[१२] ने भी इसका सुन्दर चित्रण किया है जिससे तत्कालीन ग्रामीण संस्कृति का परिचय मिलता हैं।

वाजीकरण

इस प्रकरण में चरक और सुश्रुत के अतिरिक्त अनेक नवीन योगों का विधान वाग्भट ने किया है। चरक ने सुवर्ण के मण्डलों से शृत दुग्ध का प्रयोग बताया है।[१३] वाग्भट ने उसके अतिरिक्त, रजत, लोह, ताम्र और सीस का भी विधान किया है।[१४]

---

१. सं० उ० ४९।१८, २. सं० उ० ४९।१४
३. सु० चि० १०।९ ४. नावनीतक-लशुनकल्प
५. काश्यप-लशुनकल्पाध्याय (क. ५)
६. सं० उ० ४९।१७८,
७. सं उ० ४९।१९३ ८. सं० उ० ४९।२४५,
९. बृ० सं० ७६।३ १०. सं० उ० ४९।२६९,
११. बृ० सं ४८।११ १२. कि० ४ सर्ग
१३. च० चि० १।३।११ १४. सं० उ० ५०।६२,

वाजीकरण के लिए पादलेप के योग वाग्भट ने दिये हैं।[१] नावनीतक में ऐसे योग आये हैं।[२] इसी प्रकरण में आगे चलकर कामसूत्रोक्त प्रयोगिकाधिकरण में कथित चतुःषष्टि कलाओं का उल्लेख है।[३] इससे प्रतीत होता है कि वाग्भट ने इस विषय में वात्स्यायन कामसूत्र का भी आधार लिया है। कामसूत्र गुप्तकालीन रचना है और संभवतः वाग्भट के काल में उसका प्रर्याप्त प्रचार रहा होगा।

तन्त्रयुक्तियाँ

ग्रथ के अन्त में तंत्रयुक्तियों का वर्णन है। सुश्रुत में बत्तीस[४] तथा चरक में छत्तीस[५] तंत्रयुक्तियों का वर्णन है। वाग्भट ने भी छत्तीस तंत्रयुक्तियों का उल्लेख किया है।[६] कौटल्य ने अर्थशास्त्र में बत्तीस तन्त्रयुक्तियों का उल्लेख किया है।[७] भट्टार हरिश्चन्द्र ने अपनी चरकन्यास व्याख्या में चालीस तंत्रयुक्तियाँ दी हैं। इस संबन्ध में चक्रपाणि की सूचनायें भी महत्वपूर्ण है और उनसे ऐतिहासिक कालक्रम पर अच्छा प्रभाव पड़ता है। तंत्रयुक्तियों की संख्या के विभाग की दृष्टि से देखें तो सुश्रुत, दृढबल, अष्टांगसंग्रह और भट्टार हरिश्चन्द्र यह क्रम आता है।[८]

भैषज्यकल्पना

वाग्भट ने कल्पस्थान के अन्तिम (अष्टम) अध्याय में भैषज्यकल्पना के विषय का मुख्य रूप से प्रतिपादन किया है। ओषधिसंग्रहण और संरक्षण के अतिरिक्त पञ्चविध कषायकल्पना का वर्णन किया गया है।[९] रस और चूर्ण को कपड़े में छानकर बनाते थे। कल्क पत्थर से कूटकर बनता था। क्वाथ के लिए ताम्र, लोह या मिट्टी के पात्र के प्रयोग का विधान है। क्षीरपाक में केवल द्रव्य से उनका रस पूरा नहीं आता अतः उसे क्वाथ के साथ पकाने का उपदेश है।[१०] स्नेहपाक के विषयमें अन्य आचार्यों के मत का उल्लेख है।[११] स्नेहपाक तीन प्रकारका बताया गया है मन्द, चिक्कण और और खरचिक्कण।[१२] अन्य आचार्यों ने इसके लिये मृदु, मध्य और खर शब्दों का प्रयोग किया है।

---

१. सं० उ० ५०।६६–६७ २. नावनीतक

३, सं० उ० ५०।८२–८३, ४. सु० उ० ६५।१

५ च० सि० १२।६९, ६. सं० उ० ५०।९७,

७. कौ० अ० १५।१

८. देखें मेरा लेख—'भट्टार हरिचन्द्र और उनकी चरकव्याख्या' सचित्र आयुर्वेद मई '६७।

९. सं० क० ८।९, १०. सं० क० ८।१०–१२,

११. सं० क० ८।१९–२० १२. सं० क० ८।३०,

इन कल्पों के अतिरिक्त, रोगानुसार लेह, पाक, वटी, मोदक, अरिष्ट, आसव, सुरा, तथा अन्य विविध कल्पों का विधान किया गया है।

मान–परिभाषा

चरक और वाग्भट की मान–परिभाषा समान है केवल चरक ने तीन माशे का शाण बतलाया है[१] जब कि वाग्भट ने चार माशे का शाण कहा है।[२] संभव है, यह प्रतिसंस्कर्तृ-प्रमाद का फल हो। सुश्रुत ने दूसरे ही प्रकार से इसका विचार दिया है। ऊपर के सुवर्ण मान और नीचे के कर्ष आदि मानों के मध्य में एक धरण मान माना है जो दोनों के बीच में सेतु का कार्य करता है।[३] वाग्भट ने धरण मान का भी संकेत समन्वय दृष्टि से कर दिया है।[४]

रसशास्त्र

सुश्रुत ने युक्तसेनीय अध्याय में कहा है कि राजा की रक्षा रसविशारद वैद्य और मन्त्रविशारद पुरोहित करें।[५] चूँकि यह कथन मुख्यतः विषों के प्रसंग में है अतः यहाँ रस शब्द से विष का ही ग्रहण करना चाहिए। ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में रस शब्द का प्रयोग विष के अर्थ में होता था। बाद में धातुओं का और क्रमशः पारद का आगमन होने से उसका अर्थ बदलता गया किन्तु अभी भी रसशास्त्र के ग्रन्थों में विषों का वर्णन उसके आदिकाल का स्मारक है और धातुओं का वर्णन उसकी विकास-श्रृंखला का।

वाग्भट के काल में विषों का उपयोग विभिन्न रोगों की चिकित्सा में बढ़ गया था अत एव उसने विष-प्रकरण में विषोपयोगी चिकित्सा का एक स्वतन्त्र अध्याय में वर्णन किया है। धातुओं का भी प्रयोग प्राचीन काल की अपेक्षा बढ़ा था। प्राचीन काल में मुख्यतः लोह, सुवर्ण और रजत का प्रयोग होता था किन्तु वाग्भट के काल में ताम्र, सीस, सुवर्णमाक्षिक आदि का भी प्रयोग होने लगा था।

धातुओं का प्रयोग किस रूप में होता था यह विचारणीय है। प्रायः धातुओं के चूर्ण का प्रयोग किया गया है। सुश्रुत में अयस्कृतियों का वर्णन है जिसमें धातुओं को अग्नि में तपाकर किसी द्रव में बुझा कर और अनेक बार इस प्रक्रिया को

---

१. च० क० १२।९३ २. सं० क० ८।२५

३. सु० चि० ३१।८ ४. सं० क० ८।२५.

५. दोषागन्तुजमृत्युभ्यो रसमन्त्रविशारदौ। रक्षेतां नृपतिं नित्यं यत्नात् वैद्य-पुरोहितौ। सु० सू० ३४।५.

दुहरा कर तथा खदिरांगार में पाक कर उनका सूक्ष्म चूर्ण बना लिया जाता था।[1] कई बार इन्हें घृत मधु में लेह बनाकर एक वर्ष तक रख कर उसके बाद प्रयोग किया जाता था।[2]

पाकों के प्रकार में स्थालीपाक[3] और आदित्यपाक[4] का उल्लेख आता है। धातुओं के 'पुटपाक' वर्णन का नहीं मिलता है किन्तु सुश्रुत में 'खादिरांगार में पाक' से अग्निपाक का संकेत मिलता है।[5] इसके अतिरिक्त वाग्भट में 'मूषान्तर्ध्मातचूर्णिताम्'[6] का उल्लेख है जिससे पता चलता है मूषा के अन्दर रख कर फूंक कर उसका चूर्ण बनाया जाता था। भेषजसंग्रहालय के उपकरणों में भी घटी-मूषा का उल्लेख है।[7]

सामान्यतः पहले धातुओं की भस्म के लिए चूर्ण शब्द का प्रयोग किया जाता था यद्यपि औषधियों को आग में जलाने के बाद उनकी भस्म का वर्णन है।[8] अतः यह कहना शायद उचित नहीं होगा कि 'भस्म' शब्द का प्रचलन न होने के कारण ही धातुओं की भस्म के लिए चूर्ण शब्द का प्रयोग किया गया। वास्तविकता यह प्रतीत होती है कि धातुओं की वैसी राख लोग बनाने में सफल नहीं होते होंगे जैसी वनस्पतियों की होती थी अत एव उसे भस्म कहने में वे संकोच का अनुभव करते थे। वाग्भट के वर्णनों से यह भी स्पष्ट होता है कि उनके काल में धातुओं की भस्म बनाने का कार्य प्रारम्भ हो गया था और तदर्थ घटी-मूषा आदि उपकरणों का भी प्रचलन था। अत एव वाग्भट ने कहीं-कहीं इनके लिए 'भस्म' शब्द का प्रयोग किया भी है।[9] संभवतः अपने वर्तमान अर्थ में 'भस्म' शब्द का प्रयोग यहीं से प्रारम्भ होता है।

जहाँ तक पारद के प्रयोगका प्रश्न है, अष्टांगहृदय में शालाक्य के अन्तर्गत नेत्र-रोग में नाग के साथ पारद के अंजन का विधान है।[10] आभ्यन्तर प्रयोग के लिए एक ही योग रसायन प्रकरण में है जहाँ वह स्वर्णमाक्षिक, शिलाजतु आदि अन्य औषधियों के साथ मिलाकर प्रयुक्त हुआ है।[11] यह स्पष्ट नहीं होता कि वह पारद शोधित था

---

१. सु० चि० १०।९. २. च० चि० १।३।१५-२३ (लोहरसायन)

३. सु० चि० १०।१० (स्थाल्यां गोमयाग्निना विपचेत्)

४. सं० उ० २८।३२,५३

५. सु० चि० १०।९, (खदिरांगारतप्तानि उपशान्ततापानि सूक्ष्मचूर्णानि कारयेत्)

६. सं० उ० १६।१३,१४, ७, सं० सू० ८।५९.

८. सु० सू० ११।६. ९. सं० उ० ४०।८४,६।३०

१०. रसेन्द्रभुजगौ तुल्यौ तयोस्तुल्यमथांजनम्। ईषत्कर्पूरसंयुक्तमञ्जनं तिमिरापहम् ॥ हृ० उ० १३।३६.

११. शिलाजतुक्षौद्रविडंगसर्पिर्लोहाभयापारदताप्यभक्षः।
आपूर्यते दुर्बलदेहधातुस्त्रिपञ्चरात्रेण यथा शशांकः ॥—सं० उ० ५०।२४५.

या अपने प्राकृत रूप में किन्तु अनुमान होता है कि वह शुद्ध ही रहा होगा। यह तो स्पष्ट होता है कि चिकित्सा में पारद का प्रयोग अन्यत्र नहीं मिलता अतः संभवतः यह रसशास्त्र के प्रारम्भ का ही युग रहा होगा किन्तु इतना तो निश्चित है कि उसका शिलान्यास बहुत पहले हो चुका था और वाग्भट के काल तक वह काफी आगे बढ़ गया था यद्यपि उसका स्वरूप स्थूलतः ग्राह्य नहीं था।

यह भी सम्भावना है कि रसायन के अन्य विशिष्ट ग्रन्थ इसके समानान्तर हों किन्तु यदि ऐसा होता तो उसको प्रतिच्छाया अवश्य इसमें मिलती जैसा कि परवर्ती चिकित्सा-ग्रन्थों में हुआ है।

अष्टांगसंग्रह और अष्टांगहृदय : तुलनात्मक अध्ययन

१. विषयक्रम—संपूर्ण ग्रन्थ का विषय अष्टांगसंग्रह में १५० अध्यायों में तथा अष्टांगहृदय में १२० अध्यायों में व्यवस्थित किया है यथा:—

क्रमसंख्या	स्थान	संग्रह	हृदय	अन्तर
१	सूत्रस्थान	४०	३०	—२५%
२	शारीरस्थान	१२	६	—५० %
३	निदानस्थान	१६	१६	०
४	चिकित्सास्थान	२४	३२	+२५%
५	कल्पस्थान	८	६	+२५%
६	उत्तरस्थान	५०	४०	+२५%
कुल		१५०	१२०	—२०%

इससे स्पष्ट होगा कि हृदय में संग्रह की अपेक्षा सूत्रस्थान के विषय संक्षिप्त कर दिये गये हैं जिससे सैद्धान्तिक ह्रास सूचित होता है। इसी प्रकार शारीरस्थान में भी ५० प्रतिशत की कमी शारीरज्ञान का ह्रास लक्षित करता है। निदान का विषय ज्यों का त्यों है किन्तु चिकित्सा में वृद्धि है जिससे प्रतीत होता है कि चिकित्सा का व्यावहारिक पक्ष विकसित हो रहा था। पंचकर्म-प्रणाली का क्रमशः ह्रास होने से इसमें भी स्वभावतः संकोच दृष्टिगोचर होता है। उत्तरस्थान में भी इसी प्रकार कमी हो गई।

सूत्रस्थान

२. मंगलाचरण—ग्रंथ के प्रारम्भिक मङ्गलाचरण में संग्रहकार ने 'बुद्धाय तस्मै नमः' के द्वारा स्पष्ट रूप से बुद्ध को नमस्कार किया है किन्तु हृदयकार ने अपूर्ववैद्याय नमोऽस्तु तस्मै' कह कर इसे अस्पष्ट ही रक्खा जिसकी व्याख्या परवर्ती टीकाकार अनेक प्रकार से करते हैं। इससे बुद्ध के प्रति संग्रहकार की विशेष भक्ति प्रदर्शित होती है।

३. आयुर्वेदावतरण—आयुर्वेदावतरण-प्रकरण में संग्रहकार ने अनेक पूर्वाचार्यों का नामतः निर्देश किया है किन्तु हृदयकार ने अत्यन्त संक्षिप्त रूप से 'अग्निवेशादि' कहकर उनका संकेतमात्र किया।

४. प्रयोजन और स्वरूप—संग्रह सब तन्त्रों का सार लेकर बनाया गया और हृदय सारतर का समुच्चय (सारतरोच्चय) है; एक सार है दूसरा सारतर। अरुणदत्त ने स्पष्ट किया है :—

"सारतरग्रहणेनैतद् द्योतयति, संग्रहेणैव साराणामुच्चयः कृतः। अनेन तथा सारतराणां प्रदेशानामुच्चयः क्रियते।"—अ० द० (सू० ४)

५ शिष्योपनयनीय—यह अध्याय हृदय में बिलकुल छोड़ दिया गया है। इसके अन्तर्गत का चिकित्सा—चतुष्पाद तथा साध्यासाध्यता का विषय पूर्व अध्याय में ही समाविष्ट कर बाकी विषयों को छोड़ दिया है।

६. दिनचर्या—

संग्रह (सूत्र० ३ अ०)	**हृदय (सूत्र० २ अ०)**
(क) शौचानन्तर आचमन	×
(ख) दन्तधावन का सविस्तर उल्लेख, निषिद्ध दन्तधावन तथा 'पालाशमासनं दन्तधावनं पादुके त्यजेत्'।	दन्तधावन का संक्षिप्त उल्लेख तथा 'पालाशमासनं' का उल्लेख नहीं।
(ग) घृतावेक्षण का विधान	×
(घ) अञ्जन	×
(च) धूमपान तथा गन्धमाल्य-धारण	धूम का उल्लेख पर वर्णन नहीं, गंधमाल्य का उल्लेख नहीं
(छ) 'ताम्बूलीकिसलय' (जाती, लवंग, कर्पूर, कंकोल, कटुक, पूगफल, चूर्ण और खदिर सहित) के सेवन का विधान (ताम्बूली—किसलय संभवतः मगही पत्ती का वाचक है)	ताम्बूल का प्रयोग 'ताम्बूली—किसलय' का नहीं।
(ज) अभ्यंग, व्यायाम, मर्दन उद्वर्त्तन, एवं गरम जल से स्नान; स्नान के बाद देवतार्चन।	अभ्यंग में सुगंधितैल का उल्लेख नहीं; व्यायाम के बाद मर्दन नहीं तथा स्नान के बाद देवतार्चन का विधान नहीं।
(झ) हवन, दान आदि के बाद भोजन तथा भोजन के बाद कथा-वार्ता, मनोरञ्जन।	हवन तथा भोजन के बाद कथा-वार्ता का उल्लेख नहीं।

(ट) सद्वृत्त का सविस्तर उल्लेख, दश कर्मपथों की रक्षा तथा दश पापकर्मों का त्याग।	सद्वृत्त का संक्षिप्त उल्लेख, दश कर्मपथों का निर्देश नहीं; अवसरवादिता पर विशेष बल; रत्न-सिद्धमन्त्र-महौषधियों का धारण; मद्यविक्रया, संधान आदि का निषेध, मद्यातिसक्ति का निषेध; हीन तथा अनार्यसेवा का निषेध
७. रात्रिचर्या— शाम को लघु भोजन कर शास्ता का स्मरण कर सोने का विधान है। दो-तीन आप्त परिचारक हों; शिर पूर्व या दक्षिण की ओर हो; पूर्वापर निशाभाग में धर्म का चिन्तन करे, अन्त में राजव्यवहार-सम्बन्धी उपदेश हैं; एक अन्तिम श्लोक में 'सुगति, शब्द आया है।	हृदय में यह प्रकरण यहाँ नहीं है। आगे अन्नरक्षाध्याय में निद्रा और ग्राम्यधर्म का वर्णन है।

८. **ऋतुचर्या**—अष्टांगसंग्रह (सू० ४अ०) में ऋतुचर्या का वर्णन सरल रूप में है किन्तु हृदय (सू० ३ अ०) में उसका विस्तार से तथा अलंकारिक रूप में वर्णन किया गया है। हृदय ने हेमन्त में 'अंगारतापसन्तप्तगर्भभूवेश्मचरण' का उपदेश किया है। ग्रीष्म में सक्तु-शर्करा, रस, रसाला, रागखांडव, पानक, पंचसार, शर्करासहित माहिष दुग्ध, धारागृह जिसमें पुस्तस्त्री के स्तन, हाथ या मुँह से उशीरजल निकलता हो, सुसूक्ष्म तनुवस्त्र तथा शरदऋतु में अगस्त्योदय से निर्विष हंसोदक का उल्लेख किया गया है।

९. **रोगानुत्पादनीय**—इस प्रकरण में (सू० ४ अ०) हृदय ने चरक के 'दोषाः कदाचित् कुप्यन्ति जिताः लङ्घनपाचनैः, उद्धृत किया है। यह संग्रह (सू० ५ अ०) में नहीं है।

१० **द्रवद्रव्यविज्ञानीय**—संग्रह (सू० ६ अ०) में यह विषय विस्तार से दिया गया है किन्तु हृदय (सू० ५ अ०) में अनेक अंश छोड़ दिये गये हैं यथा हृदय में देश भेद से जलगुण, जल के आठ भेद, दूषित जल, स्वर्ण तथा मृण्मय पात्र मे स्थित शाल्यन्न से दिव्य जल की परीक्षा, चन्द्रकान्तोद्भव एवं हिमकरोद्भव जल, तक्र का निषेध, कासेषुदर्भच्छदसंभवा शर्करा, मधु के भ्रामर आदि भेद नहीं हैं। तैलवर्ग में केवल छः तैलों का वर्णन है जब कि संग्रह में चौंतीस तैलों का वर्णन है। इस सम्बन्ध में जो

पौराणिक आख्यान संग्रह में दिया है वह भी नहीं है तथा वसा मज्जा के भी विवरण नहीं हैं। इसी प्रकार मद्य में जगल, मेदक, कोहली, मधूलक, सुरासव, धातक्यासव द्राक्षासव, मृद्वीकासव, इक्षुरसासव हृदय में नहीं है तथा मद्य के द्रव्यों का भी उल्लेख नहीं है। मूत्रों का भी पृथक्-पृथक् गुणकर्म नहीं हैं तथा प्राणियों के पुरीष और पित्त का भी उल्लेख नहीं है।

११ अन्नस्वरूप—अन्नप्रकरण में हृदय (सू० ६ अ०) ने क्षुद्रधान्यों की विस्तृत सूची नहीं दी तथा उद्दालक और मधूलिका का उल्लेख नहीं किया। इसी प्रकार शिम्बीधान्यों की संक्षिप्त सूची दी तथा कलाय, कुशाम्र, मकुष्ठ, मसूर और शिम्बी का उल्लेख नहीं है। कृतान्नवर्ग में पर्पट, रागषाडव, मन्थ, शष्कुली, मोदक, सक्तु-भोजन विधि, कर्कन्धुबदरादिसक्तु, घारिका और इडंरिका नहीं हैं। मांसवर्ग में हंस और कुलीर का मांस नहीं है।

शाकवर्ग में श्यामादि गण नहीं हैं, कलम्बादि में निष्पाव, कुमारजीव, पीलु-पर्णिका, त्रिपर्णी आदि नहीं हैं और शतावर्यंकुर, एरंड, लांगली ये विशिष्ट हैं, बिल्व रास्ना, बला, गुडूची, चित्रक का उल्लेख नहीं है। हरितकवर्ग की संक्षिप्त सूची है जिसमें धानका, खराश्वा नहीं है, आर्द्रिका विशिष्ट है। पलाण्डु का उपयोग स्वेदन[1] तथा आहार में बतलाया गया हैं। गृञ्जनक का उल्लेख हृदय में है, संग्रह में नहीं।

संग्रह (सू० ७ अ०) में फलवर्ग में द्राक्षा, दाडिम, मोचादि, तिन्दुकादि का वर्णन है किन्तु हृदय में तिन्दुकादि, बिल्वफल, सिंचितिका, भव्य, क्षीरीवृक्षफल, अक्षकीफल, सहकार, लवली आदि फल नहीं हैं। कपित्थ और जम्बू का एक साथ उल्लेख है।[2]

मात्रादि वर्ग के बदले हृदय ने औषध वर्ग दिया है जिसमें लवण, क्षार, हिंगु आदि औषधियाँ त्रिफला, त्रिजात आदि गण दिये गये हैं। पंचमूल में वल्ली और कंटक पंचमूल नहीं हैं।

१२. अन्नरक्षा—इस प्रकरण (सू०८) में संग्रहकार ने राजा का महत्व बतलाते हुये विशेषतः विष से उसकी रक्षा का विधान विस्तार से किया है। इस प्रसंग में आर्यावलोकितेश्वर, आर्यतारा आदि बौद्ध देवताओं तथा ब्रह्मा आदि हिन्दू देवताओं और जनक आदि ऋषियों की पूजा का विधान बतलाया गया है। धारिणी विद्या के पाठ का भी दो बार उल्लेख आया है। अनेक औषधियों के मणि-धारण का भी निर्देश है। अन्त में राजा की प्रशस्ति और राजव्यवहार का उपदेश दिया गया है।

---

१. पलाण्डु, बालू और आँटे का चोकर इनको एक साथ मिला कूटकर पोटली बना इससे सेकने की परम्परा अभी भी है।

२. 'कपित्थजम्बूफलबाडभक्षणम्'।

हृदयकार (सू० ७) ने 'राजा राजगृहासन्ने' में केवल यही श्लोक देकर आगे विष-प्रतीकार बतलाया है। इस प्रसंग में सिन्धुवार, तण्डुलीयक आदि औषधियों का निर्देश है। मणिधारण का निर्देश नहीं है। विष के साधनों का विस्तार से उल्लेख नहीं है यथा दन्तकाष्ठ, विषकन्या, अञ्जन, नस्य, धूम, अभ्यंग, उद्वर्तन, आवरण, पादपीठ छत्र, शिरोभ्यंग, कर्णपूरण, मुखालेप। इसके अतिरिक्त विरुद्धभोजन और निद्रा तथा ग्राम्यधर्म का इसी अध्याय में वर्णन है।

१३. विरुद्धान्न-विज्ञानीय—संग्रह मे यह स्वतंत्र अध्याय (सूत्र ९) है जिसमें निद्रा, मैथुन-विधि, व्याधिक्षमत्व, जनपदोध्वंस, कालाकालमृत्यु इन विषयों का विस्तृत विवेचन है। इस प्रसंग में बौद्धों द्वारा प्रतिपादित चतुर्विध मरण तथा श्येनाजिरादि याग, दैर्घ्यंश्रवस साम, चित्रवृन्द इष्टि आदि अनेक वैदिक विधानों का उल्लेख है। हृदय में इनका पूर्वोक्त अध्याय में ही समावेश कर लिया गया है और उपर्युक्त विषय भी इसमें नहीं हैं।

१४. अन्नपानविधि और मात्राशितीय—संग्रह में ये दोनों अध्याय (सूत्र १०, ११) स्वतन्त्र हैं किन्तु हृदय में मात्राशितीय (सू० ८) के अन्तर्गत ही ये सारे विषय आ गये हैं। इसके अतिरिक्त, कुछ विषयवस्तु का भी भेद है यथा हृदय में शालि, गोधूम, बिस, इक्षु, मोच, चोच, आम्र, मोदक, उत्कारिका आदि के शीलन का विधान है, जो संग्रह में नहीं है। अनुपान का विस्तृत वर्णन संग्रह में है किन्तु हृदय में शर्करोदक, त्रिफलोदक, फलाम्ल और आसव का उल्लेख नहीं है। भोजन के विविध पात्रों का उल्लेख संग्रह में है किन्तु हृदय में नहीं है। आहारपरिणामकर भावों का निर्देश भी संग्रह में है किन्तु हृदय में नहीं।

१५. द्रव्य-विज्ञान—यह विषय संग्रह में सात अध्यायों (१२-१८) में विस्तार से वर्णित है। विविधौषधविज्ञानीय तथा अग्रय-संग्रह में द्रव्यों का; शोधनादिगण संग्रह, महाकषायसंग्रह, विविधगणसंग्रह में द्रव्यों के विभिन्न गणों का जिनमें क्रमशः द्रव्यों के १०, ४५ और २५ गण निर्धारित किये गये हैं तथा द्रव्यादि विज्ञानीय और रसभेदीय में द्रव्यविज्ञान के मौलिक सिद्धान्तों का वर्णन किया गया है। हृदय में यह विषय केवल तीन अध्यायों (सू० ९, १०, १५) में समाविष्ट है। विविधौषध-विज्ञानीय तथा अग्रयसंग्रह नहीं है। अष्टांगहृदय के उत्तरस्थान के ४० अध्याय में अग्रयप्रकरण दिया गया है। इसमें व्यावहारिक आधार पर रोगों के लिए विशिष्ट द्रव्यों का निर्धारण किया है। संग्रह की अपेक्षा इसमें मौलिकता अधिक है और द्रव्य भी विशिष्ट हैं यथा प्रमेह में आमलकी, प्लीहामय में पिप्पली, वातरक्त में गुडूची, वातश्लैष्मिक रोगों में हरीतकी, बस्तिरोगों में शिलाजतु, छर्दि में लाजा, ज्वर में मुस्तापर्पटक, स्थौल्य में रसाञ्जन। गणों के

प्रकरण में केवल एक अध्याय (सू० १५) है जिसमें द्रव्यों के तैंतीस गण बतलाये गये हैं। द्रव्यादि-विज्ञानीय में शमन द्रव्यों का भौतिक संघटन नहीं दिया है। इसके अतिरिक्त, विपाक के सम्बन्ध में पराशर का मत नहीं दिया है किन्तु विपाक का लक्षण[1] सर्वप्रथम हृदयकार ने किया जो आज तक चला रहा है और इसी के आधार पर अवस्थापाक तथा निष्ठापाक का भेद किया जाता है। विचित्र-प्रत्ययारब्ध द्रव्यों के उदाहरण थोड़े हैं और रस की छः संख्या के प्रतिपादन में युक्तियाँ नहीं दी गई हैं। रसभेदीय अध्याय में भी रसों के स्कन्ध संक्षिप्त हैं। संग्रह ने छः रस-स्कन्धों में श्रेष्ठ द्रव्यों का उल्लेख किया है तथा रसदेश का भी वर्णन किया है किन्तु हृदय में यह विषय नहीं है।

१६. दोषादिविज्ञानीय—इस प्रकरण (सू०१९) में दोषों, धातुओं और मलों के कर्मों का वर्णन संग्रहकार ने सामान्य रूप से किया है किन्तु हृदयकार (सू० ११) ने धातुओं और मलों के एक-एक विशिष्ट कर्म निर्धारित किये हैं।

१७. दोषभेदीय—दोषों का भौतिक संघटन, उनके द्वारा होने वाले नानात्मज विकार, महाविकार, क्षुद्रविकार, दाह आदि विविध लक्षणों का स्वरूप तथा दोषों के कर्मों के सम्बन्ध में सुश्रुत और कपिल के मतों का उद्धरण संग्रहकार (सू० २०) ने दिया है। 'हृदयकार (सू० १२) ने दोषों का भौतिक संघटन स्पष्ट रूप से नहीं दिया तथा नानात्मज विकार, महाविकार और क्षुद्रविकार, दाह आदि का स्वरूप तथा उपर्युक्त आचार्योंके मत इनका उल्लेख नहीं किया।

१८. दोषोपक्रमणीय—इस प्रसंग में संग्रहकार (सू० २१) ने पराशर और सुश्रुत आदि आचार्यों के मतों का उद्धरण देकर दोषों के उपक्रम का सुन्दर विवेचन किया है। हृदयकार (सू० १३) ने यह विवेचन छोड़ दिया है।

१९. रोगभेदीय और भेषजावचारणीय—संग्रह के ये दो अध्याय (सू० २२, २३) हृदय में नहीं हैं। इनके विषयों को संक्षिप्त रूप से हृदयकार ने उपर्युक्त अध्यायों में ही समाविष्ट किया है। संग्रहकार ने जो सप्तविध रोग बतलाये हैं वह हृदय में नहीं है।

२०. विविधोपक्रमणीय—संग्रहकार (सू० २४) ने सन्तर्पण—अपतर्पण द्रव्यों की सूची दी है किन्तु हृदय (सू० १४) में सन्तर्पण द्रव्यों की सूची नहीं है।

२१. स्नेह-विधि—हृदयकार ने सात सद्यःस्नेहन द्रव्यों का उल्लेख किया है जो संग्रह (सू० २५) में नहीं हैं।

---

१. 'जाठरेणाग्निना योगाद् यदुदेति रसान्तरम्। रसानां परिणामान्ते स विपाक इति स्मृतः॥ —च० सू० ९।२०

२२ स्वेद-विधि—संग्रह (सू० २६) में स्वेद के विभिन्न प्रकार तथा जेन्ताक स्वेद का वर्णन किया है। हृदय (सू० १७) में केवल स्वेद में चार वर्ग किये गये, जेन्ताक का उल्लेख नहीं है तथा अन्य उपभेद भी नहीं है।

२३. वमनविरेचन-विधि—संग्रहकार (सू० २७) ने वेगाभिघातशील स्त्री आदि सदातुरों का वर्णन किया है। भेषज के भी तीक्ष्ण, मध्य और मृदु तीन भेद किये है। हृदय (सू० १८) में यह प्रसंग नहीं है।

२४. बस्ति-विधि—संग्रह (सू० २८) में वात के कर्म, बस्ति की प्रधानता, त्रिविध बस्ति, सबकी निरुक्ति तथा बस्तिनेत्र के द्रव्यों का उल्लेख किया है। बस्ति-प्रणयन के सम्बन्ध में धान्वन्तरीय मत का उद्धरण दिया हैं। हृदय (सू० १९) में ये विषय नहीं हैं; बस्ति-नेत्र के द्रव्यों में मणि, शंख, शृङ्ग और दन्त का उल्लेख भी (सू० २०) नहीं हैं।

२५. नस्य-विधि—संग्रहकार (सू० २९) ने नस्य की निरुक्ति दी है हृदयकार ने नहीं।

२६ धूमपान-विधि—संग्रहकार (सू० ३०) ने धूमपान के द्रव्यों का नामतः उल्लेख नहीं किया है जबकि हृदय (सू० २१) में उनका विस्तृत उल्लेख है।

२६. आश्च्योतनाञ्जन-विधि—हृदय (सू० २३) में बिडालक तथा अञ्जनपात्र का उल्लेख नहीं है। इसके अतिरिक्त इसमें अञ्जन तीन प्रकार के (लेखन, रोपण, प्रसादन) बतलाये गये हैं जो संग्रह (सू० ३२) में चार प्रकार के हैं।

२७. यन्त्रशस्त्र-विधि—यह अध्याय हृदय (सू० २५-२६) में दो भिन्न भिन्न अध्यायों (यन्त्र-विधि और शस्त्र-विधि) में है। हृदय में यन्त्रों की संख्या नहीं बतलाई गई है। नये यंत्रों में शल्यनिर्घातिनी नाड़ी तथा सर्पफणाकार अश्मरीहरण यन्त्र का वर्णन है। किन्तु पायित, धारा, निशानी, योग्या, धारासंस्थापन तथा शवच्छेद का वर्णन नहीं है जब कि संग्रह में इनका सविस्तार वर्णन है। इससे प्रतीत होता है कि तबतक शवच्छेद की परम्परा पूर्णरूप से समाप्त हो गई थी और शारीर ज्ञान में उसका कोई स्थान नहीं रह गया था। हृदय में जलौका, अलाबु, घटी, शृंग का इसी अध्याय में वर्णन है किन्तु संग्रह ने इनका वर्णन पृथक् अध्याय (सू० ३५ जलौका-विधि) में किया है।

२८. सिराव्यध-विधि—इस प्रकरण (सू० ३६) में संग्रहकार ने सिराव्यध को बस्ति के समान बतलाया है और रक्त को दोष और दूष्य दोनों कहा है। हृदय (सू० २७) में यह नहीं है, रक्त केवल दूष्य माना गया है।

२९. शल्याहरण-विधि—संग्रह (सू० ३७) में शल्य की गति त्रिविध और हृदय (सू० २८) में पञ्चविध बतलाई गई है।

३० क्षाराग्निकर्म-विधि—संग्रह में यह प्रकरण दो स्वतन्त्र अध्यायों (सू० ३९, ४०) में है और हृदय में एक ही अध्याय (सू० ३०) में है। हृदय में क्षार के प्रकार तथा दग्ध गुण-दोषों का उल्लेख नहीं किया है।

शारीरस्थान

१. पुत्रकामीय—संग्रहकार (शा० १) ने विवाह का वय पुरुषों के लिए २१ वर्ष तथा स्त्रियों के लिए १२ वर्ष बतलाया है और प्रजोत्पादन के लिए क्रमशः २५ और १६ वर्ष कहा गया है। हृदयकार (सू० १) ने विवाह का वय तो नहीं बतलाया है किन्तु प्रजोत्पादन का वय स्त्रियों के लिए १६ वर्ष और पुरुषों के लिए २० वर्ष है। संग्रह में यह कहा है कि पुत्रीय विधान के अवसर पर स्त्री जिस रूप, वर्ण और चरित्र का पुत्र चाहती हो उसी प्रकार के जनपद का ध्यान करे किन्तु हृदय ने इस संबन्ध में ऐसा विधान स्त्री-पुरुष दोनों के लिए किया है (हृ० शा० १।३१)। संग्रहकार ने प्रसवकाल में प्रजास्थापन महौषधियों का शिर और दक्षिण पाणि में धारण का उपदेश किया है किन्तु हृदय में इसका उल्लेख नहीं है। सन्तति के वर्ण का विवरण देते हुए संग्रहकार ने 'श्याम' वर्ण का उल्लेख किया है और उसका कारण सर्वधातुसाम्य बतलाया है। यह हृदय में नहीं है।

२. गर्भावक्रान्ति—पुंसवन-प्रकरण में हृदय (शा० १) में यह विधान है कि स्वर्ण रजत या लोह का पुरुषक बनाकर अग्नि में तपा कर दूध में बुझावे और उस दुग्ध का पान करे यह संग्रह में नहीं है। चरक के अनुसार संभवतः यह हृदय में लिया गया है।

संग्रहकार ने लिखा है कि अष्टम मास में माता में स्थिर ओज होने के कारण उस समय यदि प्रसव हो तो शिशु की मृत्यु हो जाती है और माता को केवल ग्लानि होती है किन्तु हृदयकार ने लिखा है कि नारी का जीवन संशययुक्त हो जाता है।

संग्रह में नपुंसक के प्रकारों का वर्णन है यह हृदय में नहीं है। देवाराधन, मांसौदन-बलि आदि का जो विधान संग्रह में है वह भी हृदय में नहीं मिलता।

३. गर्भव्यापद्—मूढगर्भ के प्रकरण में हृदय (शा० २) ने दो विष्कम्भ नाम के मूढगर्भ बतलाये हैं जो शस्त्रकर्मसाध्य बतलाये गये हैं। यह संग्रह (शा० ४) में नहीं है।

४. अंगविभाग—त्वचा के प्रकरण में संग्रहकार (शा० ५) ने छः त्वचाओं का वर्णन किया है और 'अन्ये' कर के सात त्वचाओं का निर्देश किया है किन्तु हृदयकार (शा० ३) ने सात त्वचाओं का ही उल्लेख किया है। इसी प्रकार कोष्ठांगों में क्लोम, नाभि, डिम्भ, बस्ति का उल्लेख हृदयकार ने किया है जो संग्रह में नहीं है।

हृदय में दस प्राणायतनों का भी उल्लेख है। अस्थि के सम्बन्ध में हृदय ने ३६० संख्या बतलाई है और धन्वन्तरि के मत से ३०० बतलाई है किन्तु संग्रह में ३६० ही है, धन्वन्तरि के मत का उल्लेख नहीं है। इसी प्रकार हृदयकार ने २१० सन्धियों (आत्रेय के मत से २०००) का निर्देश किया है। संग्रह में यह नहीं है।

अग्नि के प्रसंग में हृदयकार ने ग्रहणी का सविस्तर वर्णन किया है।

संग्रहकार ने मांस, स्नायु, अस्थि सन्धि, सिरा ये पांच प्रकार के मर्म बतलाये हैं किन्तु हृदयकार ने इनके अतिरिक्त एक धमनी-मर्म भी रक्खा है।[1] प्रकृति के सम्बन्ध में संग्रहकार ने सात दोषप्रकृति, सात सत्वप्रकृति तथा सात जात्यादि प्रकृतियों का वर्णन किया है किन्तु हृदय में जात्यादि प्रकृतियों का उल्लेख नहीं है। रस-रक्तादि का अंजलि प्रमाण हृदय ने दिया है किन्तु संग्रह में नहीं है। इसी प्रकार देश का निर्देश भी हृदय के इस प्रकरण में है; संग्रह में रसयोनि के रूप में देश का वर्णन किया है।

वय के विभाग में संग्रहकार ने बाल, मध्य और वृद्ध की क्रमशः १६,६० और उनके बाद की आयुसीमा रक्खी है किन्तु हृदयकार ने वृद्धावस्था ६० के बाद न रखकर ७० के बाद रक्खी है।

शरीर का प्रमाण अंगुलि-प्रमाण से ८४ अंगुलि संग्रहकार ने कहा है किन्तु हृदयकार ने अपने हाथ से ३½ हाथ बतलाया है।

ओज के सम्बन्ध में संग्रहकार ने अष्टबिन्द्वात्मक और प्राकृतिक ओज का उल्लेख किया है किन्तु हृदयकार ने अष्टबिन्द्वात्मक ओज का निर्देश नहीं किया है।

५. **विकृति-विज्ञानीय**—हृदयकार (शा० ५) ने अरिष्ट के दो प्रकार स्थायी और अस्थायी का उल्लेख परकीय मत से किया है, संग्रहकार (शा० ९) ने इसका निर्देश नहीं किया।

निदानस्थान

१. **ज्वर-निदान**—संग्रह (नि० २) में ज्वर के अनेक भेदों में प्रलेपक, वातबलासक, हारिद्रक तथा रात्रिक का उल्लेख है किन्तु हृदय में इनका निर्देश नहीं है।

चिकित्सितस्थान

१. **ज्वर**—संग्रह (चि० १) में सर्व ज्वर से निवृत्ति के लिए दैवव्यपाश्रय चिकित्सा के अन्तर्गत आर्यावलोकित, पर्णशबरी, अपराजिता, आर्यतारा की आराधना का विधान किया गया है किन्तु हृदय (चि० १) में इनका कोई निर्देश नहीं है केवल साधु, गुरु, द्विज और देवताओं की पूजा का उल्लेख है।

---

१. मांसास्थिस्नायुधमनीसिरासन्धिसमागमः। बाहुल्येन तु निर्देशः षोढैवं मर्मकल्पना' हृ० शा० ४।३८-३९

२. राजयक्ष्मा—इस प्रकरण (चि० ४) में संग्रहकार ने चन्द्रकान्त (भक्ष्य), अजासेवन तथा सोमेष्टि का विधान किया हैं। ये हृदय (चि० ५) में नहीं हैं।

३. अर्श—संग्रह (चि० १०) में निर्दिष्ट गुलगुल्वासव, माणिभद्र वटक, आमलकारिष्ट, अभयारिष्ट, दन्त्यरिष्ट, दुरालभारिष्ट हृदय (चि० ८) में नहीं हैं। हृदय में विशिष्ट योग सूरणपुटपाक है जो संग्रह में नहीं है।

४. अतीसार—हृदय (चि० ९) में कपित्थाष्टक के समान दाडिमाष्टक चूर्ण है जो संग्रह (चि० ११) में नहीं है।

५. प्रमेह—संग्रहकार (चि० १४) ने शोणितमेह में मदयन्तीकल्क, मधुमेह में कदर, खदिर और गुग्गुलु के कषाय का निर्देश किया है तथा भल्लातक को सर्वमेहघ्न बतलाया है। हृदय (चि० १२) में इनका निर्देश नहीं है। इसके विपरीत, हृदय में अयस्कृति है तथा कपित्थ, जम्बू और तिन्दुक से प्रस्तुत रागखण्डव हैं जो संग्रह में नहीं मिलते।

६. उदर—हृदयकार (चि० १५) ने उदर रोग में अयस्कृतियां का विधान किया है जो संग्रह (चि० १७) में नहीं है।

७. पाण्डु—इसी प्रकार पाण्डु में अनेक नवीन योग हृदय (चि० १६) में मिलते हैं यथा गोमूत्रभावित लौहचूर्ण, मण्डूरवटक आदि। इसके विपरीत, संग्रहोक्त (चि० १८) अनेक योग हृदय में नहीं है यथा वज्राभिधान गुटिका, द्राक्षादि लेह, बीजकसारारिष्ट, गण्डीरारिष्ट, मस्त्वरिष्ट।

८. श्वयथु—संग्रह (चि० १९) में इस रोग में निर्दिष्ट अष्टशतारिष्ट तथा चण्डागुरुलेप हृदय (चि० १७) में नहीं हैं।

९. कुष्ठ—कुष्ठ-प्रकरणोक्त संग्रह (चि० २१) के 'जिनजिनसुततारा' के स्थान पर 'शिवशिवसुततारा' हृदय (चि० १९) ने दिया है। धार्मिक दृष्टिकोण से यह सूचना महत्वपूर्ण है।

कल्पस्थान

१. भेषजकल्प—इस प्रकरण में हृदयकार (क० ६) ने भेषज की मात्रा का विधान किया है जो संग्रह (क० ८) में नहीं है।

उत्तरस्थान

१. बालोपचरणीय—संग्रहकार (उ० १) ने सूतिकागार में अथर्ववेदज्ञ ब्राह्मणों के द्वारा दस दिनों तक शान्ति कर्म करने का तथा मायूरी, महामायूरी तथा आर्यारत्नकेतुधारिणी के पाठ का विधान किया है। इसके अतिरिक्त, आर्या, पर्णशबरी, अपराजिता को गोरोचन से चित्रित कर माता और शिशु कण्ठ तथा शिर में धारण करें ऐसा विधान है। हृदय (उ० १) में इन सब बातों का नितान्त अभाव

है। कुमारधार, क्रीडाभूमि, क्रीडनक, विद्याध्ययन, रक्षोघ्न विधान, अभ्यंगोद्वर्तन, स्नान, मृद्भक्षण से रक्षा तथा दन्तधावन-निषेध भी हृदय में नहीं है। हृदय में शिशु को प्रीणन मोदक देने का विधान है।

संस्कारों में चौथे मास में निष्क्रमण तथा एक वर्ष तक घर से बाहर न निकलने का विधान हृदय में नहीं है।

२. **बालग्रह**—इसका पौराणिक आख्यान जो संग्रह (उ० ३) ने दिया है वह हृदय (उ० ३) में नहीं है।

बालग्रह-प्रतिषेध (सं० उ० ४) में अपराजिता, प्रतिसरा तथा गणसहित भूतेश को भूर्जपत्र में गोरोचन से चित्रित कर धारण करने का विधान संग्रह ने किया है, यह हृदय में नहीं है। तारा, वैडूर्य का भी उल्लेख हृदय में नहीं है।

३. **भूतविज्ञान**—संग्रह (उ० ७) ने भूतलोक अनन्त तथा उसका परिवार असंख्येय बतलाया है। हृदय (उ० ४) में यह नहीं मिलता।

४. **तिमिर-प्रतिषेध**—तिमिररोग के लिए हृदय (उ० १३) के ये दो विशिष्ट योग संग्रह (उ० १६) में नहीं मिलते—

१. नाग, गन्धक, ताम्र, रजत, वंग तथा अञ्जन इन्हें अन्तर्धूम पक्व कर अंजन बनाना।

२. पारद, नाग, अंजन और कर्पूर मिलाकर अंजन।

इसके विपरीत, संग्रहोक्त दैवव्यपाश्रय चिकित्सा सुषभव्य, सुकन्या आदि का स्मरण हृदय में नहीं है।

५. **अभिष्यन्द-प्रतिषेध**—संग्रह (उ० १९) ने इसके लिए मरिचचतुष्टय तथा मरिचद्वय का उल्लेख किया है किन्तु यह हृदय (उ० १५) में नहीं है।

इसके अतिरिक्त, विभिन्न नेत्ररोगों के लिए पाशुपत योग तथा ताम्र, तुत्थक, रसांजन, रीतिपुष्प, मनःशिला, समुद्रफेन और पुष्पकासीस का बहुल प्रयोग हृदयकार ने किया है।

६. **सद्योव्रण-प्रतिषेध**—सद्योव्रण के रोगियों को तैलपूर्ण द्रोणी में लिटाने का विधान हृदयकार (उ० २६) ने किया है जो संग्रह (उ० ३१) में नहीं है।

७. **विष-प्रतिषेध**—हृदय (उ० ३७) में उसके लिए एक विधान है कि उपवासिनी स्नाता शुक्लवासा कन्या उक्त ओषधियों से पुष्य नक्षत्र में अगद प्रस्तुत करे और वैद्य यह मन्त्र पढ़ कर दे 'नमः पुरुषसिंहाय नमो नारायणाय च' आदि। पुनः द्वितीय मन्त्र का विधान है। यह चन्द्रोदय नामक शान्तिकर्म संग्रह (उ० ४७) में नहीं है।

८. **सर्पविष-प्रतिषेध**—सर्पविष में दष्ट स्थान के चूषण का विधान हृदयकार (उ० ३६) ने किया है। संग्रह (उ० ४२) में वह नहीं है।

१०. रसायन-विधि—संग्रह (उ० ४९) द्वारा निर्दिष्ट हरीतकी, आयस, ताम्र, रूप्य, सुवर्ण, नागबला, सारवृक्ष, अलम्बुसा, पलाण्डु, कुक्कुटी, कंचुकी, गुल्गुलु, ताप्य, वृद्धदारक, कुष्ठ, भृंग तथा काश्मर्य रसायन हृदय (उ० ३९) में नहीं हैं। संग्रहोक्त प्रसिद्ध औषध-योग शिवा गुटिका भी हृदय में नहीं है। इसके अतिरिक्त, हृदय में गोक्षुर, वाराहीकन्द, शुण्ठी और चित्रक का वर्णन किया गया है।

११. वाजीकरण-विधि—हृदय (उ० ४०) में उच्चटा का प्रयोग है जो संग्रह (उ० ५०) में नहीं मिलता। संग्रह में जितने प्रयोग हैं हृदय में उसकी अपेक्षा कम हैं। संग्रह का पादलेप का प्रयोग हृदय में नहीं है।

उत्तरस्थान म वर्णित रोगों की चिकित्सा के क्रम में संग्रह से भिन्न अनेक औषध योग हृदय में दिये गये हैं।[1]

अध्याय के अन्त में हृदयकार ने अपनी रचना का परिचय देते हुए उपसंहार में कहा है कि अष्टांगहृदय महामुनि के मत का अनुसरण करनेवाला है तथा महासागर की तरह गंभीर संग्रह के अर्थ का बोधक है। अष्टांगसंग्रह भी एक समुद्र के समान विशाल तन्त्र है अतः अल्प-सामर्थ्य पुरुषों के लिए यह पृथक् तन्त्र निर्मित हुआ है। इसके पठन से मनुष्य संग्रह के बोध में समर्थ तथा चिकित्साभ्यास में कुशल होता है। यदि चरक पढ़ते हैं तो सुश्रुतोक्त रोगों से परिचय प्राप्त नहीं होता और यदि सुश्रुत पढ़ते हैं तो चरकोक्त चिकित्सा से अनभिज्ञ रह जाते हैं किन्तु इस ग्रन्थ के माध्यम से दोनों परम्पराओं का ज्ञान हो जाता है। वैज्ञानिक क्षेत्र में आर्ष-अनार्ष का प्रश्न नहीं उठना चाहिए क्योंकि सत्य सत्य ही है चाहे वह किसी महर्षि के मुख से निकले या एक सामान्य मनुष्य से, अतः सुभाषित का ग्रहण करना चाहिए। वास्तव में यह ग्रन्थ आयुर्वेद वाङ्मय का हृदय है।

संग्रह के अन्त में ग्रन्थकार ने अपना परिचय दिया है। ग्रंथ के संबन्ध में कहा है कि प्राचीन तन्त्रों में जो विषय संक्षिप्त, संशयित, विस्तृत और विप्रकीर्ण था उसे सम्यक् रूप से व्यवस्थित किया है। यह वस्तुतः अपार आयुर्वेदसमुद्र का सार-समुच्चय है। आर्ष-अनार्ष के प्रसंग में कहा कि ब्रह्मा ने आयुर्वेद का स्मरण कर उपदेश किया और हमने सुन कर अतः स्मृति से अधिक प्रामाण्य श्रुति का होना चाहिए। अन्त में वैज्ञानिक सत्य पर बल दिया गया।

इस प्रकार विषयवस्तु की दृष्टि से दोनों ग्रन्थों के पर्यालोचन से स्पष्ट होता है कि—

---

१. इसके लिए देखें—हृ० उ० १।९; २।५४-५६; ३।५५-५७; ११।४५; २२।७०; २२।८१–८९; ५७-१०४;१०७; २४।५२–५८; ३०।१२; ३७।७०-७४

१. संग्रह के अनेक विवरण हृदय में नहीं उपलब्ध होते।

२. हृदय में अनेक तथ्य ऐसे उपलब्ध होते हैं जो संग्रह में नहीं है और सीधे चरक सुश्रुत आदि प्राचीन ग्रन्थों से लिये गये हैं।

३. किन्हीं स्थलों में दोनों में मतभेद भी दृष्टिगोचर होता है।

४. बौद्धधर्म की छाया भी संग्रह की अपेक्षा हृदय में कम मिलती है।

५. सांस्कृतिक दृष्टि से भी दोनों में पर्याप्त अन्तर है।

६. वर्णनक्रम में संग्रहकार सुश्रुत की ओर तथा हृदयकार चरक की ओर अधिक झुके हुये हैं यद्यपि दोनों का लक्ष्य समन्वय और सारसंकलन ही है।



द्वितीय खण्ड

सांस्कृतिक अध्ययन

भाषा और शैली

वाग्भट शब्दों के शिल्पी हैं और इस दृष्टि से उनका नाम सार्थक है। अष्टांग-संग्रह की भाषा प्रांजल, पाणिनीय, सुसंस्कृत एवं प्रवाहमय है। इसमें अनेक गुप्त-कालीन शब्द मिलते हैं यथा अलिंजर[1]। स्वयं 'गुप्त' शब्द भी रक्षा के अर्थ में अनेक बार प्रयुक्त हुआ है[2] यद्यपि उत्तर कालीन वाङ्मय में इसका प्रयोग कम मिलता है। संभवतः गुप्तकाल में यह प्रयोग प्रचलित था[3]। कुछ बौद्धकालीन शब्द भी मिलते हैं यथा प्रत्यय (हेतु के अर्थ में) और जेन्ताक। चरकसंहिता में व्यवहृत 'खुड्डाक' या 'खुड्डीका' शब्द इसमे नहीं मिलता। 'वर्धन' शब्द वर्धन (बढ़ाने) तथा कर्त्तन (काटने) दोनों अर्थों में प्रयुक्त हुआ है[4]। ऐसा प्रयोग यद्यपि स्मृतियों में मिलता है तथापि परवर्ती साहित्य में प्रायः नहीं मिलता। चरक और सुश्रुत आदि संहिताओं में इसके बदले "नाभिवर्धन' के स्थान पर 'नाभिकल्पन' शब्द प्रयुक्त हुआ है। 'स्नायु' के लिए 'स्नाव' शब्द का तथा 'प्रवाहिका के लिए 'बिबिसी' का प्रयोग असाधारण है।[5] वर्णों के प्रकरण में 'श्याम' शब्द का प्रयोग हुआ है और यह कहा गया है कि सर्वधातुसाम्य होने पर श्यामता होती है[6]। संभवतः वैष्णव धर्म के प्रभाव से श्याम वर्ण का महत्त्व बढ़ा हो और तब सर्वधातुसाम्य की स्थिति में लाकर उसे सर्वोपरि स्थान दिया गया हो। चित्त के साथ "सामिष" विशेषण बौद्ध प्रयोग है[7]। कुछ लौकिक अनुकरणात्मक शब्द भी व्यवहृत हुये हैं यथा घुकघुकास्वनम्, चटचटायते, घुघु‍ंरक आदि[8]।

शैली गद्यपद्यमय है। पद्यभाग में विविध छन्दों का प्रयोग हुआ है विशेषतः अनुष्टुप्, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, उपजाति, स्वागता, द्रुतविलम्बित, पुष्पिताग्रा, पृथ्वी

---

१. अत्रिदेव गुप्तः अष्टांगसंग्रह टीका—चि० ९।१९ वक्तव्य चरक स० १५।७ ने इसके लिए 'मणिक' शब्द दिया है। इन्दु ने भो मणिक का पर्याय अलिञ्जर दिया है:'मणिकोऽलिञ्जराख्यो जलाधारः'—सं नि० ९।१० । देखें—हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन पृ० १८४, २०८ टि० तथा अलञ्जरः स्यानमणिकः'—अ० को० २।९।३१

२. सं० सू० ८।५९, उ० १।७६., ३१।३९; ४२।१७

३. F. W. Thomas : JRAS., 1909 Page, 740

४. नाभिनालं..........तीक्ष्णेन शस्त्रेण वर्धयेद् । सं० उ० १।५

सुवर्ष्माणमरोगं च शनैः कर्णौ विवर्धयेत् । सं० उ० २१।८० १।५, ४७

५. सं० शा० ५।८४–८५; चि० ११।७–८, ११ ६. सं० शा० १।६५

७. सं० उ० ५०।१२६ ८. सं० शा० १०।८, सू० ८।२०, शा० ११।३

शिखरिणी, शालिनी, रथोद्धता, कुसुमितलतावेल्लिता, नर्कुटक, औपच्छन्दसिक, दण्डक आदि छन्दों का प्रयोग हुआ है। यह छन्द-वैचित्र्य अष्टांगहृदय में अधिक मिलता है। कालिदास की रचनाओं में छन्दयोजना अपेक्षाकृत सरल है तथा उनमें कुछ प्राचीन वैदिक छन्द भी मिलते हैं जो उसके पूर्ववर्तित्व का द्योतक है।[1]

छन्दयोजना की एक विशिष्ट शैली यह थी कि श्लोक के अन्तिम चरण में छन्द का नाम समाविष्ट कर दिया जाता था। वाग्भट ने इस श्लेषालंकार शैली का अनुसरण कर कुछ श्लोकों में इसका प्रयोग किया है यथा—

स्वागता—

बीजकस्य रसमंगुलिहार्यं शर्करां मधु घृतं त्रिफलां च।
शीलयत्सु पुरुषेषु जरत्ता स्वागताऽपि विनिवर्तत एव॥

—सं० उ० ४९।२२७

द्रुतविलम्बित—

सहचरं सुरदारु सनागरं क्वथितमम्भसि तैलविमिश्रितम्।
पवनपीडितदेहगतिः पिबन् द्रुतविलम्बितगो भवतीच्छया॥

—सं० चि० २३।३३

पृथ्वी—

नवामलकशुक्तयो मधु घृतं रजश्चायसं चतुष्टयमयोघटस्थमिति चूर्णितं वत्सरम्।
क्रमेण लिहतः पयोऽनु पिबतश्च पथ्याशिनश्चिरं भवति जीवितं क्षयमुपैति पृथ्वी जरा॥

—सं० उ० ४९।२३३

अष्टांगहृदय में इनके अतिरिक्त दो और हैं:—

पुष्पिताग्रा—

मधु मुखमिव सोत्पलं प्रियायाः कलरणना परिवादिनी प्रियेव।
कुसुमचयमनोरमा च शय्या किसलयिनी लतिकेव पुष्पिताग्रा॥

—हृ० उ० ४०।४६

शार्दूलविक्रीडित—

हिंगूग्राविडशुण्ठ्यजाजिविजयावाट्याभिधानामयै
श्चूर्णः कुम्भनिकुंभमूलसहितैर्भागोत्तरं वर्धितः।
पीतः कोष्णजलेन कोष्ठजरुजो गुल्मोदरादीनयं
शार्दूलः प्रसभं प्रमथ्य हरति व्याधीन् मृगौघानिव॥

—हृ० चि० १४।३६

1. देखें:—कीथः संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० १३१

वाराहमिहिर की बृहत्संहिता में ऐसे चमत्कार का प्रदर्शन एक पूरे अध्याय (अ० १०४) में किया गया है। निम्नाङ्कित तालिका में कालिदास तथा वाग्भट की छन्दोयोजना का तुलनात्मक विवरण दिया जा रहा है।

छन्द

कालिदास (अभिज्ञानशाकुन्तलम्)	अष्टांगसंग्रह	अष्टांगहृदय
१. अनुष्टुप्	अनुष्टुप्	अनुष्टुप्
२. आर्या	आर्या	आर्या
३. वसन्ततिलक	वसन्ततिलक	वसन्ततिलक
४. शिखरिणी	×	×
५. मालिनी	मालिनी	मालिनी
६. शार्दूलविक्रीडित	शार्दूलविक्रीडित	शार्दूलविक्रीडित
७. स्रग्धरा	स्रग्धरा	स्रग्धरा
८. मन्दाक्रान्ता	×	मन्दाक्रान्ता
९. वंशस्थ	वंशस्थ	वंशस्थ
१०. पुष्पिताग्रा	पुष्पिताग्रा	पुष्पिताग्रा
११. उपजाति	उपजाति	उपजाति
१२. द्रुतविलम्बित	द्रुतविलम्बित	द्रुतविलम्बित
१३. सुन्दरी	×	×
१४. हरिणी	हरिणी	हरिणी
१५. औपच्छन्दसिक	औपच्छन्दसिक	औपच्छन्दसिक
१६. वैदिकछन्द उपजातिभेद	×	×
१७. अपरवक्त्र	×	×
१८. गाथा	×	×
१९. इन्द्रवज्रा	इन्द्रवज्रा	इन्द्रवज्रा
२०. पृथ्वी	पृथ्वी	पृथ्वी
२१. शालिनी	शालिनी	शालिनी
२२. प्रहर्षिणी	×	×
२३. रथोद्धता	रथोद्धता	रथोद्धता
२४. रुचिरा	×	×
२५. ×	भुजंगप्रयात	भुजंगप्रयात
२६. ×	स्वागता	स्वागता
२७. ×	तोटक	तोटक

कालिदास (अभिज्ञानशाकुन्तल)	अष्टांगसंग्रह	अष्टांगहृदय
२८. रुचिरा	दोधक	दोधक
२९. ×	नकुटक	नकुंटक
३०. ×	कुसुमितलतावेल्लिता	कुसुमितलतावेल्लिता
३१. ×	चम्पकमाला	×
३२. ×	सारिणी	×
३३. ×	×	उपचित्रा
३४. ×	×	गीति
३५. ×	×	दण्डक
३६. ×	×	धीरललिता
३७. ×	×	भद्रा
३८. ×	×	मत्तमयूर
३९. ×	×	मात्रासमक
४०. ×	×	मुखचपला
४१. ×	×	विपुला
४२. ×	×	वैतालीय
४३. ×	×	वैश्वदेवी
४४. ×	×	शुद्धविराट्
४५. गाथा	×	गाथा

अष्टांगसंग्रह में प्रसाद एवं माधुर्य गुणों का बाहुल्य है। प्रसाद गुण यथा—

'सरिद्ध्रदानां हिमवद्दरीणां चन्द्रोदयानां कमलाकराणाम्।
मनोरमान्यापि कथा प्रवृत्ता दाहं च तृष्णां च निहन्ति सद्यः॥
—सं० चि० ९।२१

'नार्यश्च नेत्रोत्पलकर्णपूराः मध्यं वयः किंचिदिव स्पृशन्त्यः।
मनोऽनुकूला हरिचन्दनार्द्रास्तृड्दाहमच्छदिवथून् जयन्ति॥—चि०९।१९

माधुर्य गुण—

'वसन्ते दक्षिणो वायुराताम्रकिरणो रविः।
नवप्रवालत्वक्पत्राः पादपाः ककुभोऽमलाः॥ सं० सू० ४।२१.
"करेणुकाभिः परिवारितेन विक्षोभणं वारणयूथपेन।
आस्फालनं शीकरवर्षणं च सिन्धोः स्मरन् दाहतृषोरगम्यः॥"
—सं० चि०९।२०

गद्यभाग में अधिकांश छोटे-छोटे वाक्य और असमस्त पद हैं किन्तु कहीं-कहीं

समस्त पदों के लम्बे-लम्बे वाक्य भी दृष्टिगोचर होते हैं। इस प्रकार इस ग्रन्थ में उत्कलिका, चूर्णक तथा आविद्ध इन तीनों शैलियों का प्रयोग हुआ है।

१. चूर्णक (छोटे छोटे समस्त पद) यथा—"बिभीतककल्कं वा तण्डुलाम्बुना। गुलगुलुं वा गोमूत्रेण। हरीतकीं वा तुल्यगुडां वा शुण्ठीं पुनर्नवाकषायानुपानम्। आर्द्रकं वा तुल्यगुडमर्षपलाभिवृद्धं पंचपलप्रकर्षं प्रयुंजीत।"

—सं० चि० १९।३

"दीर्घकालप्रसक्ते तु ग्रन्थो त्रिफलां प्रयुंजीत। मधुपिप्पलीर्वा। मुस्तासक्तुभल्लातकानि वा। शीधुमधुशर्करान् वा। मातुलुंगरसानुविद्धां मदिरां वा। गिरिजतु वा गुल्मभेदनं वा।"

—सं० चि० २०।१२

२. उत्कलिका (लम्बे-लम्बे समासयुक्त पद) यथा—"मदनजीमूतकेक्ष्वाकुकोशातकीद्वयफलपुष्पपत्राणि, कुटजकरंजत्रपुससर्षपपिप्पलीविडंगैलाप्रत्यक्पुष्पाहरेणुपृथ्वीकाकुस्तुम्बुरुप्रपुन्नाटानां फलानि शारदानि च, हस्तिपर्णीकोविदारकर्बुदारारिष्टाश्वगंधानीपबिदुलबिम्बीबन्धुजीवकश्वेताशणपुष्पीसदापुष्पीवचाचित्राचित्रकमृगेन्द्रवारुणीसुषवीचतुरंगुलस्वादुकंटकपाठापाटलीशार्ङ्गष्टामधुकमूर्वासतप्पर्णसोमवल्कद्वीपिशिग्रुसुमनःसौमनस्यायवानीवृश्चीवपुनर्नवामहासहाक्षुद्रसहेक्षुकाण्डकालवृन्तपिप्पलीमूलचविकानलदोशीरह्रीबेरमूलानि।" सं० सू० १४।३

"अथ यः शिशिरपवनधरणीधरविविधवनगहननदीतडागपल्वलोदपानकमलकुमुदकुवलयाकीर्णो रम्योऽतिस्थिरस्निग्धभूमिर्भूरिहरिततृणोऽतिदूरविस्तृतप्रतानप्रवालोपसंछन्नपादपः सस्यसरीसृपखगबहुलः श्लेष्मपित्तप्रायो गुर्वोषधिसलिलः श्लीपदगलरोगापचीज्वराद्यामयोपद्रुतजनपदः सोऽनूपो मधुरयोनिः।"

—सं० सू० १८।१९

३. आविद्ध (समासरहित) यथा—"दृष्ट एव चास्मिंश्चकोरस्याक्षिणी विरज्येते, कोकिलस्य स्वरो विकृतिमेति, हंसस्य गतिः स्खलति, कूजति भृंगराजः, माद्यति क्रौञ्चः, विरौति कृकवाकुः, विक्रोशति शुकः, सारिका च छर्दयति, चामीकरोऽन्यतो याति, कारण्डवो म्रियते, जीवंजीवको ग्लायति, हृष्टरोमा भवति नकुलः, शकृद् विसृजति वानरः, रोदिति पृषतः, हृष्यति मयूरो दर्शनादेव चास्य विषं मन्दतामुपैति।'

—सं० सू० ८।२३

"अनुपानं खलु तर्पयति प्रीणयत्यूर्जयति बृंहयति देहस्य पर्याप्तिमभिवर्धयति भुक्तमवसादयत्यन्नसंघातं भिनत्ति मार्दवमापादयति क्लेदयति सुखपरिणामितामाशुव्यवायितां चाहारमुपनयति।"

—सं० सू० १०।५४

अलंकारों में शब्दालंकार तथा अर्थालंकार दोनों का बहुल प्रयोग मिलता है। शब्दालंकारों में अनुप्रास तथा यमक प्रयुक्त हुये हैं।

अनुप्रास

(क) छेकानुप्रास यथा—

"नैव श्लेष्मातकारिष्टबिभीतधवधन्वजान् ।
बिल्वबब्बुलनिर्गुण्डीशिग्रुतिल्वकतिन्दुकान् ॥
कोविदारशमीपीलुपिप्पलेङ्गुदगुग्गुलून् ।
पारिभद्रकमम्लीकामोचक्यौ शाल्मलीं शणम् ॥" —सं० सू० ३।२०-२१

"अनंगालिंगितैरंगैः क्वापि चेतो मुनेरपि ।
तरंगभंगभ्रुकुटीतर्जनैर्मानिनीमनः ॥ —सं० चि० ९।३९

(ख) लाटानुप्रास यथा—

'शरदि व्योम शुभ्राभ्रं किंचित् पंकांकिता मही ।
प्रकाशकाशसप्ताह्लकुमुदा शालिशालिनी ।।' —सं० सू० ४।५०

'किंशुकाशोकचूतादिवनराजिविराजिताः ।
कोकिलालिकुलालापकलकोलाहलाकुलाः ।।' —सं०सू० ४।२२

यमक यथा—

'कुंकुमेनानुदिग्धांगो गुरुणाऽगुरुणापि वा ।
लघूर्णैः प्रावृतः स्वप्यात् काले धूपाधिवासितः[1] ।।'—सं० सू० ४।२२

'कान्ता वनान्ताः परपुष्टघुष्टाः[2] रम्याः स्रवन्त्यः सततं स्रवन्त्यः ।
मद्यं मदामोदकरं विशेषाद् हृद्या प्रसन्ना सुरभिः प्रसन्ना ।।
—सं० उ० ४९।७९

अलंकारों में उपमा का प्रयोग अधिक हुआ है। इसके अतिरिक्त उत्प्रेक्षा, रूपक, व्यतिरेक, निदर्शना, दीपक आदि अलंकारों का भी प्रयोग हुआ है।

उपमा यथा—

शिलाजतुक्षौद्रविडंगसर्पिर्लोहाभयापारदताप्यभक्षः ।
आपूर्यते दुर्बलदेहधातुस्त्रिपंचरात्रेण यथा शशांकः ।।—सं० उ० ४९।२४५

रूपक यथा—

तृष्णादीर्घमसद्विकल्पशिरसं प्रद्वेषचंचत्फणं ।
कामक्रोधविषं वितर्कदशनं रागप्रचण्डेक्षणम् ।।
मोहास्यं स्वशरीरकोटरशयं चित्तोरगं दारुणम्
प्रज्ञामंत्रबलेन यः शमितवान् बुद्धाय तस्मै नमः ।।—सं० सू० १।१

तुलना करें १. गुरुणि वासांस्यगुरुणि चैव सुखाय शीते ह्यसुखाय घर्मे ।
चन्द्रांशवश्चन्दनमेव चोष्णे सुखाय दुःखाय भवन्ति शीते । बु० च० ११।४२

२. निरीक्षमाणाय जलं सपद्मं वनं च फुल्लं परपुष्टजुष्टम् । —सौ० न० ७।२३

उत्प्रेक्षा यथा—

दाहं मन्दानिलोद्धूताः कुल्याः सलिलमालिनः ।
चलत्प्रवालांगुलिभिस्तर्जयन्ति महाद्रुमाः ॥—सं० चि० २।८६
यस्योपयोगेन शकांगनानां लावण्यसारादिविनिर्मितानाम् ।
कपोलकान्त्या विजितः शशांकः रसातलं गच्छति निर्विदेव ॥—
—सं० उ० ४९।१३९

'लिम्पतीव तमोऽगानि वर्षतीवाञ्जनं नभः' के अनुकरण पर निम्नांकित उदाहरण द्रष्टव्य है:—

तस्माद् या यस्य हृदयं विशतीव वरांगना ।
तुल्यस्वभावा या हारिमृजारूपगुणान्विता ॥
पाशभूतैर्वहत्यंगैर्लविण्यमिव मूर्तिमत् ।
आलपन्त्यमृतेनैव या गात्राणि निषिंचति ।
पिबन्तीव च पश्यन्ती स्पृशन्ती लिखतीव या ।
नित्यमुत्सवभूता या या समानमनःशया ॥—सं० उ० ४९।७६

दीपक यथा—

न तन्निषेवा जरसाभिभूयते न पन्नगैर्नापि गरैर्न वृश्चिकैः ।
न पाण्डुमेहज्वरशोफयक्ष्मभिर्न कण्ठनेत्रश्रवणत्वगामयैः ॥
—सं० उ० ४६।११९

निदर्शना यथा—

पाययेद् दोषहरणं मोहादामज्वरे तु यः ।
प्रसुप्तं कृष्णसर्पं स कराग्रेण परामृशेत् ॥—सं० चि० २।३९

यथासंख्य यथा—

तैर्भवेद् विषमस्तीक्ष्णो मन्दश्चाग्निः समैः समः ।
कोष्ठः क्रूरो मृदुर्मध्यो मध्यः स्यात्तैः समैरपि ॥—सं० सू० १।२६

स्वाभावोक्ति यथा—

ग्रीष्मेऽतसीपुष्पनिभस्तीक्ष्णांशुर्दावदीपिताः ।
दिशो ज्वलन्ति भूमिश्च मारुतो नैर्ऋतः सुखः ॥
पवनातपसंस्वेदैर्जन्तवो ज्वरिता इव ।
तापार्ततुंगमातंगमहिषैः कलुषीकृताः ॥
दिवाकरकरांगारनिकरक्षपिताम्भसः ।
प्रवृद्धरोधसो नद्यश्छायाहीना महीरुहाः ॥
विशीर्णजीर्णपर्णाश्च शुष्कवल्कलतांकिताः । —सं० सू० ४।२८–३१

विभावना यथा—

प्रभातमारुतोद्धूताः प्रालेयजलवर्षिणः ।
स्मर्यमाणा अपि घ्नन्ति दाहं मलयपादपाः ॥—सं० चि० ९।१८

व्यतिरेक यथा—

तीव्रेण कुष्ठेन परीतमूर्तिर्यः सोमराजीं नियमेन खादेत् ।
संवत्सरं कृष्णतिलद्वितीयां स सोमराजीं वपुषाऽतिशेते ॥—सं० चि०४९।८

तुल्ययोगिता यथा—

वाचः शिशूनामव्यक्ता योषितां मदनातुराः ।
दाहं निर्मत्संयन्त्याशु सज्जनानां च सूनृताः ॥—सं० चि० २।८७

अतिशयोक्ति यथा—

रहसि दयितामंके कृत्वा भुजान्तरपीडनात्
पुलकिततनुं जातस्वेदां सकम्पपयोधराम् ॥
यदि सरभसं शीधोर्धारं न पाययेत कृती ।
किमनुभवति क्लेशप्रायं तदा गृहतंत्रताम् ॥—सं० चि० ९।४८

अर्थापत्ति यथा—

इति शमनी धन्येयं विषगरभूतोपसर्गपाप्मघ्नी ।
गेहे स्थितापि रेखा चान्द्रमसी किमुत कोष्ठस्था ॥—सं० उ० ४९।९५

इस प्रकार वाग्भट न केवल प्राणाचार्य हैं प्रत्युत कविताकामिनी के मनोहर कण्ठहार भी हैं।

वाग्भट की समास-शैली के विषय में जिमर ने कहा है कि यह विशाल वाङ्मय को व्यावहारिक एवं संक्षिप्त रूप देने के लिए आवश्यक था जिससे वह सुखस्मरणीय हो सके ।[1]

भौगोलिक स्थिति

पर्वत—अष्टांगसंग्रह में हिमवान्, मेरु, सह्य, विन्ध्य, पारियात्र, मलय और महेन्द्र पर्वत का उल्लेख मिलता है ।[2] इनमें हिमवान और मेरु उत्तर में; विन्ध्य और पारियात्र मध्य में; सह्य और मलय दक्षिण में तथा महेन्द्र पूर्व में स्थित है। ये पवत देश की सीमा बनाते हैं तथा देश को विभिन्न प्रदेशों में विभक्त करते हैं।

हिमवान्—यह सामान्यतः हिमालय के नाम से प्रसिद्ध है। यह कश्मीर से असम तक फैला पर्वत है। हिंगुल पर्वत इसीका एक भाग है जो सिंध और बिलो-

1. Zimmer : Hindu Medicine, Page 58-59.

२. सं० सू० ६।१६-२०: 'मेरुर्महेन्द्रो हिमवान' उ० ५।२०

चिस्तान के बीच में कराची से ९० मील उत्तर की ओर था। यह दिव्य ओषधियों का स्थान बतलाया है। नागपुष्प यहीं होता है। राजा अशोक के लिए नागलता की दातून हिमालय से लाई गई थी।[१] हिमालय में उत्पन्न होने वाले द्रव्यों के लिए 'हैमवत' विशेषण प्रयुक्त हुआ है। रसोन के कन्द हिमवत् और शकदेश में उत्पन्न उत्तम और ग्राह्य बतलाये गये हैं।[२] गन्धमादन भी इसी का एक भाग है।[३] यहाँ अनेक सुगन्धित वनस्पतियाँ उगती थीं। यह वस्तुतः कैलाश-शृङ्खला का एक भाग है जिसके भीतर से होकर मन्दाकिनी और जाह्नवी बहती है। महाभारत और वराहपुराण इसी पर्वत पर बदरिकाश्रम की स्थिति मानते हैं। हिमवान् से उत्पन्न नदियों का जल लघु बतलाया गया है।[४]

मेरु—महाभारत के अनुसार मेरु या सुमेरु गढ़वाल का रुद्रहिमालय है जहाँ गंगा का स्रोत है। यह स्थान बदरिकाश्रम के समीप ही है। गढ़वाल में केदारनाथ पर्वत को आज भी सुमेरु कहते हैं। कालिदास के अनुसार इसकी स्थिति कैलास तथा गन्धमादन के समीप है। मेरु, मन्दर, कैलास और गन्धमादन ये सब गढ़वाल में रुद्रहिमालय के समीप या उसकी शृङ्खला में स्थित हैं। जैन परम्परा के अनुसार यह जम्बूद्वीप के मध्य में तथा पालि परम्परा के अनुसार उसके उत्तर में स्थित है।[५]

विन्ध्य—मनुस्मृति के अनुसार विन्ध्यपर्वत मध्यदेश की दक्षिणी सीमा है और मध्यदेश तथा दक्षिणापथ के बीच की विभाजक रेखा है। यहीं से उत्तरापथ और दक्षिणापथ के राजमार्ग उत्तर और दक्षिण को चलते थे। वस्तुतः पारियात्र का केवल वह पूर्वी विस्तार जहाँ से बेतवा की सहायक नदी धसान निकलती है विन्ध्यपर्वत है किन्तु आज विन्ध्यशृङ्खला में ऋक्ष (दक्षिणी भाग), पारियात्र (पश्चिमी भाग) और विन्ध्य (पूर्वी भाग) तीनों सम्मिलित हैं। विन्ध्य सात कुलपर्वतों में से एक है। विन्ध्यपद को अब सतपुरा कहते हैं जिसमें ताप्ती आदि नदियों का उद्गम है। यह नर्मदा और ताप्ती के बीच में है इसमें कई प्रकार क खानें हैं। इससे अनेक नदियाँ निकलती हैं जिनका जल कुष्ठ, पाण्डु एवं शिरोरोग को उत्पन्न करनेवाला कहा गया है।[६] इसके आस-पास एक घनघोर जंगल था जो 'विन्ध्याटवी'

---

१. महावंश ५।२५; २. 'हिमवच्छकदेशजान्' सं० उ० ४९।१०३;

३. सं० उ० ४।१२; N. L. Dey : geographical dictionary of india, Page 60

४. सं० सू० ६।१८

५. भरतसिंह उपाध्याय-बुद्धकालीन भारत का भूगोल; पृ० ५४;

६. सं० सू० ६।१९;

के नाम से प्रसिद्ध था। हर्षचरित में विन्ध्याटवी का वर्णन बाणभट्ट ने किया है।[१] इसमें अनेक ओषधियों का निवास बतलाया गया है।

पारियात्र—बोधायन धर्मसूत्र में आर्यावर्त की दक्षिणी सीमा पारियात्र द्वारा निर्धारित की गई है। कहीं-कहीं इसके लिए'पारिपात्र' शब्द भी आता है। यह विन्ध्य पर्वत-शृङ्खला का कोई भाग है,संभवतः अरावली पर्वत है। वस्तुतः पारिपात्र चम्बल और बेतवा के उद्गम से पश्चिम की ओर दौड़ने वाली विन्ध्यशृङ्खला का भाग है। अरावली और राजपूताना की दूसरी पहाड़ियाँ भी इसमें सम्मिलित हैं। श्रीजयचन्द्र विद्यालंकार के अनुसार पारियात्र विन्ध्यशृंखला का वह भाग है जहाँ से पार्वती और बनास से लेकर बेतवा तक की नदियाँ निकलती हैं। पारियात्र से उत्पन्न होनेवाली नदियाँ या स्रोत दोषघ्न और बलपौरुषकर हैं।[२]

सह्य—यह विन्ध्यशृंखला के दक्षिण में स्थित आज भी सह्याद्रि के नाम से विख्यात है। यह सात कुलपर्वतों में से एक है। वस्तुतः यह मलय के उत्तर नीलगिरि तक के पश्चिमी घाटों का प्रसार है। सह्य से उत्पन्न नदियों का जल कुष्ठ, पाण्डु और शिरोरोग को उत्पन्न करनेवाला होता है।[३]

मलय—यह सह्याद्रि और कावेरी के दक्षिण-पश्चिमी घाट का दक्षिणी भाग है। इसे त्रावनकोर की पहाड़ियां भी कहते हैं। मालाबार की पहाड़ियाँ भी इसके ही भाग हैं। कावेरी मलय पर्वत की प्रदक्षिणा करती हुई बहती है। मलय भारत के कुलपर्वतों में एक है। मलय और दर्दुर (नीलगिरि) दक्षिणभूमि के स्तन कहे गये हैं। इन दोनों की शृङ्खला में ही ताम्रपर्णी, कृतमाला, पुष्पजा और उत्पला नदियों का निकास है। यह भूभाग चन्दन, पुंनाग, खर्जूर, तमाल, एला, पूग, ताम्बूल और मरिच की लताओं से वेष्टित है।[४] मलयपादप स्मरणमात्र से ही दाह का शमन करते हैं। मलय से उत्पन्न नदियों का जल लघु होता है।[५]

महेन्द्र—उड़ीसा से मदुरा जिले तक के पहाड़ी विस्तार का नाम महेन्द्र पर्वत है। इसी में पूर्वीघाट भी शामिल थे। रघुवंश के अनुसार यह कलिंग में स्थित है। यह वस्तुतः पहाड़ी शृंखला का वह भाग है जो गंजाम को महानदी की घाटी से पृथक् करता है। महेन्द्र सात कुल पर्वतों में से एक है।[६]

---

१. ह० च० उच्छ्वास ७, पृ० ४०६-४१२ २. सं० सू० ६।२०
३. सं० सू० ६।१९–२०;
४. भगवतशरण उपाध्याय : कालिदास का भारत, भाग १, पृ० ३४–३५; रघुवंश—६।४६,६४; ५. सं० सू० ६।१८;

सागर

'सागराः' शब्द से अनेक समुद्रों का संकेत मिलता है।[१] गुप्त एवं उत्तर गुप्तकालीन वाङ्मय में चार समुद्रों का बहुधा उल्लेख हुआ है।[२] अष्टांगसंग्रह में महोदधि का नाम आया है। बंगाल की खाड़ी के लिये 'महोदधि' तथा अरब समुद्र के लिये 'रत्नाकर' शब्द का प्रयोग प्राचीनकाल में होता था। वाग्भट ने इसके लिये 'पश्चिमोदधि' और 'महार्णव' शब्दों का प्रयोग किया है। पश्चिमोदधि में गिरने वाली नदियों का जल पथ्य कहा गया है।[३] महार्णव दुस्तर और अपार बतलाया गया है।[४] सागर का जल त्रिदोषकर कहा गया है।[५]

नदियाँ

बालकों की ग्रहशान्ति के लिये स्नपन-प्रकरण में अभिषेक के जो मंत्र आये हैं उनमें गंगा आदि महानदियों का उल्लेख है।[६] इन महानदियों से लेखक का क्या अभिप्राय है यह स्पष्ट नहीं होता तथापि इसी प्रसंग में सरित्संगमों और तीर्थों का उल्लेख है जिससे यह प्रतीत होता है कि गंगा के अतिरिक्त यमुना आदि अन्य नदियों का भी इससे अभिप्राय है। बौद्ध त्रिपिटक के अनुसार गंगा, यमुना, अचिरवती, सरयू, मही ये पाँच महानदियाँ हैं। संभव है, लेखक का अभिप्राय इन्हीं महानदियों से हो।

१. **गंगा**—हिमालय में गंगोत्री से निकलकर ब्रह्मपुत्र के साथ डेल्टा बनाती हुई पूर्वसागर में गिरती है। यह मगध और वज्जि राष्ट्रों की विभाजक सीमा थी। इसके तट पर पाटलिपुत्र के पास गंगा और शोण तथा प्रयाग में गंगा और यमुना का संगम है। आकाशगंगा का भी उल्लेख है।

२. **यमुना**—यह बन्दरपुच्छ पर्वत के एक भाग कालिन्दीगिरि से निकलती है अतः इसे कालिन्दी भी कहते हैं। यह प्रयाग में गंगा से मिलती है।

३. **अचिरवती**—यह रापती भी कही जाती है। इसके तट पर कोशल की राजधानी श्रावस्ती थी।

४ **सरयू**—बौद्ध ग्रन्थों में इसे 'सरभू' कहा गया है। इसके तट पर साकेत बसा था।

---

१. 'आकाशगंगा गंगाद्या महानद्यो महोदधिः।
नदीनां संगमास्तीर्थाः निर्झराः सागरास्तथा॥' सं० उ० ५।२०।

२. पयोधरीभूतचतुःसमुद्रां जुगोप गोरूपधरामिवोर्वीम्। रघु० २।३
'चतुरुदधिमालामेखलायाः भुवो भर्ता'—का० पू० पृ० १०

३. सं० सू० ६।१६ ४. सं० उ० ४९।२५६

५. सं० सू० ६।२० ६. सं० उ० ५।२०

५. मही—यह बड़ी या बूढ़ी गंडक भी कही जाती है।

इन पाँच नदियों के अतिरिक्त सिन्धु, सरस्वती, वीतंसा (झेलम), वेत्रवती और चन्द्रभागा हैं। ये दस नदियाँ हिमालय से निकलने वाली ५०० नदियों में प्रमुख हैं।

सिन्धु नदी में हाथियों का हथिनियों के साथ जलकेलि का सुन्दर चित्रण लेखक ने किया है।[१] सिन्धुवासी लेखक के लिये यह स्वाभाविक ही है। एक सिन्धु नदी काली सिन्धु के नाम से मालवा में भी है जो महाभारत में दक्षिण सिन्धु कही गई है।[२]

इसके अतिरिक्त, नदियों का उद्गम, निर्गम तथा क्षेत्र के अनुसार विभिन्न वर्गों में उल्लेख किया गया है[३] यथा—

(क) उद्गमानुसार—

१, हिमालय से उद्भूत होने वाली नदियाँ—
२. मलय पर्वत ,, ,, ,,
३. पारियात्र ,, ,, ,,
४. सह्य ,, ,, ,,
५. विन्ध्य ,, ,, ,,

(ख) निर्गमानुसार—

१. पश्चिमोदधि में जाने वाली नदियाँ—ये शीघ्रवह निर्मलोदक हैं।

(ग) क्षेत्रानुसार—

१. प्राच्यदेशीय नदियाँ
२. अवन्तिदेशीय नदियाँ
३. अपरान्तोत्थ नदियाँ

नदी-संगम

इसी प्रसंग में नदी-संगमों का उल्लेख है।[४] इनमें निम्नांकित प्रमुख थे :—

१. गंगा-यमुना का संगम-प्रयाग

---

१. 'करेणुकाभिः परिवारितेन विक्षोभणं वारणयूथपेन।
आस्फालनं शीकरवर्षणं च सिंधोः स्मरन् दाहतृषोरगम्यः॥' सं० चि० ९।२०
३. सं० सू० ६।१६–२०.
२. 'दक्षिणं सिन्धुमाश्रित्य ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः।
अग्निष्टोममवाप्नोति विमानं चाधिरोहति' ॥—म० भा० व० ८२।५१.,
४. सं० उ० ५।२०,२१।

२. गंगा-शोण का संगम—पाटलिपुत्र
३. गंगा-सरयू का संगम—नृसिंहक्षेत्र (हरदी छपरा)
४. गंगा-गंडक का संगम—हरिहरक्षेत्र (सोनपुर)

तीर्थ

तीर्थों में पुष्करक्षेत्र, पुष्करारण्य, नैमिष, गया, प्रभास, प्रवरतीर्थ तथा पिण्डारक तीर्थों का उल्लेख है।[1]

१. पुष्कर—यह पुष्करसर के चारों ओर का प्रदेश है जो अजमेर से प्रायः ६ मील पर है।

२. नैमिष—लखनऊ से पैंतालीस मील उत्तरपश्चिम और सीतापुर से बीस मील पर नीमसार स्टेशन से थोड़ी दूर नीमसार नामक एक स्थान है। यही नैमिष है।

३. गया—यह फल्गु नदी के तट पर बसा विहार का एक प्राचीन नगर है। आज भी पितृपक्ष में यहाँ भारत तथा नेपाल के लोग अधिक संख्या में एकत्रित होते हैं।

४. प्रभास—या शची तीर्थ वह स्थान है जहाँ शकुन्तला की ग्रह-शान्ति के लिए कण्व ऋषि गये थे। यह पश्चिम समुद्रतट पर सौराष्ट्र में है।[2] इसे सोमतीर्थ भी कहते हैं। सोमनाथ नामक ज्योतिर्लिंग यहीं है।

५. प्रवर तीर्थ—यह संभवतः तीर्थराज प्रयाग के लिए प्रयुक्त हुआ है।

६. पिण्डारक तीर्थ—महाभारत में इस तीर्थ का उल्लेख आया है। यह सुराष्ट्रदेश में द्वारका के समीप एक तीर्थ है जिसमें स्नान करने से अधिकाधिक सुवर्ण की प्राप्ति होती है। यहाँ स्नान कर रातभर निवास करने से अग्निहोत्र यज्ञ का फल मिलता है। यह तीर्थ तपस्विजनों द्वारा सेवित तथा कल्याणस्वरूप है।[3]

निर्झर

निर्झर से जलप्रपातों का ग्रहण करना चाहिए। नदियों के प्रारम्भिक रूप

---

१. पुष्करं पुष्करारण्यं नैमिषं च तथा गया।
प्रभासं प्रवरं तीर्थं तथा पिण्डारकाह्वयम्॥
तीर्थान्येतानि सर्वाणि अभिषिञ्चन्तु स्वस्ति ते।—सं० उ० ५।२०,

३. 'ततो द्वारवतीं गच्छेन्नियतो नियताशनः।
पिण्डारके नरः स्नात्वा लभेद् बहु सुवर्णकम्॥—म० भा० व० ८२।६५.
—(देखिये वनपर्व ८८।२१; अनु० पर्व–२५।५७)

२. 'प्रभासं चोदधौ तीर्थं त्रिदशानां युधिष्ठिर।—म० भा० व० ८८।२०;

जहाँ वह झरने के रूप में ऊंचे स्थान से गिरते हैं प्रपात या निर्झर कहलाते हैं। महाकवि कालिदास ने गंगाप्रपात और महाकोशीप्रपात का उल्लेख किया है।[१]

जनपद

पुराणों के भुवनकोश में भारतवर्ष के पाँच प्रदेश गिनाये गये हैं—मध्यदेश, उदीच्य, प्राच्य, दक्षिणापथ, अपरान्त। पालिसाहित्य में भी जम्बूद्वीप के ये ही पाँच विभाग किये गये हैं।[२] वाग्भट ने जिन जनपदों का उल्लेख किया है उनका वर्गीकरण निम्नांकित रूप से किया जा सकता है—

१. प्राच्य—इनमें वंग, सुह्म और किरात मुख्य जनपद आते हैं।

२. अपरान्त—सुराष्ट्र, तापी, मरु

३. उदीच्य—सिन्धु, बाह्लीक, कम्बोज, बाह्लव, चीन, शूलीक, यवन, शक, बोष्काण

४. दक्षिणापथ—अश्मक, मलय, कोंकण, शबर, कलिंग

५. मध्यदेश—अवन्ति, मगध, विदेह[३]

प्राच्यदेश—अङ्ग-मगध और काशी-कोशल मध्यदेश की पूर्वी सीमा के जनपद थे उसके बाद प्राच्यदेश प्रारम्भ होता था। इसमें वंग, सुह्म और किरात आते थे।

वंग-गंगा नदी के पूर्व और गंगा-ब्रह्मपुत्र की घाटी का प्रदेश वंग था।

सुह्म—यह बंगाल का वह भाग था जो गंगा के पश्चिम में पड़ता था और जिसमें ताम्रलिप्ति नामक प्रसिद्ध बन्दरगाह था। इसमें तमलुक, मिदनापुर और संभवतः हुगली और बर्दवान के जिले सम्मिलित थे। इसकी स्थिति वंग और कलिंग के बीच में थी।

---

१. रघु २।२६; कु० ६।३३;

२. भरतसिंह उपाध्याय : बुद्धकालीन भारत का भूगोल पृ० ७१;
Cunningham : Ancient Geography of India. page 17-14
Beal : Buddhist Records of the Western world, VoL. I, page 70;
Watters—on Yuan chwang's travcl in India, vol. I, page 140

३. भूमिसात्म्यं दधिक्षीरकरीरं मरुवासिषु।
क्षारः प्राच्येषु मत्स्यास्तु सैन्धवेष्वश्मकेषु तु॥
तैलाम्लं कन्दमूलादि मलये कोङ्कणे पुनः।
पेयामन्य उदीच्येषु गोधूमोऽवन्तिभूमिषु॥
बाह्लीकाः बाह्लवाश्चीनाः शूलीका यवनाः शकाः।
मांसगोधूममार्द्वीकशस्त्रवैश्वानरसेविताः॥ —सं० सू० ७।२२३-२३४

किरात—यह ब्रह्मपुत्र की तराई का प्रदेश है जिसे आजकल नागाप्रदेश कहते हैं। सम्भवत: समस्त हिमालय-श्रृंखला की उपत्यका के लिए भी 'किरात' शब्द का प्रयोग हुआ है। 'किराततिक्त (चिरायता) किरातदेश में होने वाली एक प्रमुख ओषधि है।

अपरान्त—यह पश्चिम (अपर) की समुद्रतटीय सीमा पर (अन्त) था। इसमें बम्बई या महाराष्ट्र से काठियावाड़ गुजरात का प्रदेश सम्मिलित था। कालिदास का अपरान्त समस्त पश्चिमी समुद्रतटीय देश था। यह महिषकमण्डल और अवन्ति-दक्षिणापथ के पश्चिम, दक्षिणापथ के उत्तर तथा उत्तरापथ के दक्षिण में स्थित था। इसमें भरुकच्छ और शूपरिक प्रसिद्ध बन्दरगाह थे जिनके द्वारा पश्चिमी देशों से व्यापार होता था।

सुराष्ट्र—यह आधुनिक काठियावाड़ था इसमें एक प्रसिद्ध बन्दरगाह भरुकच्छ था। यह अपरान्त प्रदेश का वो एक भाग था।

मरु—यह राजस्थान के लिए प्रयुक्त हुआ है।

तापी—यह ताप्ती नदी का प्रदेश है जिसमें गुजरात का सूरत जिला आता है[1]। सुवर्णमाक्षिक को तापीज कहा गया है।

उदीच्य—उदीच्य देशों में भारत के उत्तरी एवं पश्चिमी भागों के प्रदेश आते हैं।

सिन्धु—यह प्रदेश सिन्धु नदी[2] के पश्चिम तथा सौवीर देश (सिन्धु और झेलम के बीच या सिन्धु नदी के पूर्व का मुलतान तक फैला प्रदेश) के नीचे अवस्थित था। यह व्यापार की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण जनपद था। यहाँ के घोड़े और नमक प्रसिद्ध थे। कालिदास के अनुसार इस देश में गन्धर्व (गान्धार) निवास करते थे जिनको भरत ने पराजित किया और इस देश को अपने दोनों पुत्रों तक्ष और पुष्कल में बाँट दिया। उन्हींके नाम पर तक्षशिला और पुष्कलावती दो राजधानियों की स्थापना हुई। बाद में यवनों और फिर शकों का इस पर आधिपत्य हुआ। वाग्भट का जन्म इसी प्रदेश में हुआ था[3]।

---

१. the Tapi, otherwise called Tapti. is the celebreted river That flows into Arabian Sea

—D. C. Sircar : Studies in the geography of Ancient and Medieval India, page 50

'तापीकिरातचीनेषु यवनेषु च निर्मितः—सं० उ० ४९।१९८।

२. सिन्धोः स्मरन् दाहतृषोरकम्यः—सं० चि० ९ २०।

१. 'तस्याप्यहं सिन्धुषु लब्धजन्मा'—सं० उ० ५०।१३२

बाह्लीक—मूलतः बैक्ट्रिया की राजधानी बलख के आस पास का प्रदेश बाह्लीक कहलाता था। कालान्तर में यहाँ के निवासी भारत में चिनाब और सतलज नदियों के बीच मैदान में बस गये थे। यहाँ के महीन वस्त्र प्रसिद्ध थे। बौद्धकाल के प्रसिद्ध 'बाहिय दारुचीरिय' यहीं के निवासी थे। चरकसंहिता में बाह्लीक भिषक् कांकायन का उल्लेख आता है। हिंगु इस प्रदेश में प्रचुरता से होता था और बाहर भेजा जाता था अतएव इसका एक पर्याय 'बाह्लीक' है।

कम्बोज—कश्मीर के उत्तर-पूर्व में अवस्थित था और इसमें बदख्शां के कुछ भाग और यारकन्द की तराई घाल्चाभाषाभाषी प्रदेश सम्मिलित थे। डा॰ राधाकुमुद मुखर्जी ने काबुल नदी के तटवर्ती प्रदेश को माना है। डा॰ भरतसिंह उपाध्याय इसे बिलोचिस्तान से लगा ईरान का प्रदेश मानते हैं।[1] यहाँ के घोड़े प्रसिद्ध थे। यहाँ मरकत और वैदूर्य मणियों की खानें हैं। गुञ्जा का एक पर्याय 'काम्बोजिका' आया है।

यवन—यवन देश एशिया माइनर के अन्तर्गत आयोनिया का भाग है। यहाँ के निवासी ग्रीक थे अतः कालान्तर में यह शब्द ग्रीकमात्र के लिए प्रयुक्त होने लगा। योन जनपद बुद्धकाल में भारत के उत्तर-पश्चिम में काबुल नदी के आसपास स्थित था। यवन, कम्बोज और गंधार अशोक के साम्राज्य में अपरान्त के क्षेत्र में सम्मिलित थे। यहाँ दो ही वर्ण थे आर्य और दास।

बाह्लव—यह पह्लवों का देश है जिसे पार्थिया कहते हैं। इसका राज्य भारत पर विशेषतः उसके पश्चिमोत्तर प्रदेश पर कई शताब्दियों तक रहा।

देश

शक—शकदेश[2] ईरान की पूर्वी सीमा पर स्थित था। दूसरी शती ई॰ पू॰ में जब शक लोग हूणों के दबाव से बाह्लीक में दक्षिण की ओर हटे, तब वे पूर्वी ईरान और अफगानिस्तान की सीमा पर आकर जमे। तभी से वह प्रदेश शकस्थान कहलाने लगा। फारसी में इसे सिजिस्तान तथा आधुनिक सीस्तान कहते हैं। इसके अतिरिक्त, जेक्सार्टस नदी के प्रदेश में रहने वाले लोग भी शक कहलाते थे। यूरोप में भी शक लोग थे जो रूस के मैदान में काले सागर के उत्तर तक बसे थे। शकजाति का फैलाव आठवीं शती ई॰ पू॰ के मध्य में प्रारंभ हुआ किन्तु इसका स्पष्ट रूप तब सामने आया जब हूणों के उपद्रव के कारण चीन ने चारों ओर दीवाल बनवा ली और उनके द्वारा यूची जाति के लोगों पर आक्रमण हुआ।

---

१. भरतसिंह उपाध्याय : बुद्धकालीन भारत का भूगोल पृ॰ ४५६;

२. 'हिमवच्छकदेशजाद्' ।-सं॰ उ॰ ९।२०।

(१६५ ई० पू०) । फिर इनके दबाव से शक जाति के लोग पश्चिम की ओर बढ़ने लगे और बाह्लीक तथा फिर पह्लव देश में आये किन्तु वहाँ भी निरन्तर संघर्ष होने के कारण वे भारत की ओर बढ़े तथा सिन्धु प्रदेश में आकर बस गये। तब से यह प्रदेश शाकद्वीप के नाम से पुकारा जाने लगा।[1] कुछ विद्वान शाकवृक्षों की बहुलता के कारण कम्बोज प्रदेश (मलाया, स्याम और इण्डोचीन तथा दक्षिणी चीन) को शाकद्वीप मानते हैं।[2]

शक लोग एरियाना (पश्चिमी तथा दक्षिणी अफगानिस्तान और बलूचिस्तान) से होकर एक राजमार्ग से आये जो आजकल बोलन दर्रे से संबद्ध है और जो सीस्तान और कन्दहार होते हुए सिन्धु तक आता था। इसी मार्ग से सिकन्दर की एक सेना का भाग लौटा था।

शाकद्वीप पर ई० पहली शती तक पह्लवों का शासन था। वस्तुतः पह्लवों और शकों में भेद करना अत्यन्त कठिन है। अशोक की मृत्यु (२१६ ई० पू०) के बाद मौर्य साम्राज्य का पतन होने पर पहले यवनों ने और फिर शकों और पह्लवों ने पंजाब और सिन्धु पर अधिकार किया। शकों ने अपने सत्रप देश के विभिन्न भागों में स्थापित किये विशेषतः मथुरा, सौराष्ट्र और मालवा उनके केन्द्र थे। इनका शासन ३९० ई० तक चलता रहा जिसके बाद चन्द्रगुप्त द्वितीय (विक्रमादित्य) ने उन्हें उखाड़ फेंका। इसके बाद संभवतः अपने मूलस्थान सिन्ध में वे जमे रहे और ईरानी शकस्थान से भी इनका संबन्ध बना रहा।

ग्रीक राजाओं की भांति शक राजा 'महाराजाधिराज' की उपाधि धारण करते थे और इनके सिक्कों पर वृषभ अंकित होता था। पहला शकराजा माउस (मग Moga) हुआ जिसने ७५ ई० पू० में यवनों से पुष्कलावती का राज्य छीना। इसके बाद एजिस प्रथम तथा एजिलिसेज हुये।[3]

---

१. "the Scythian (caka) settlements, which can only have been the result of invasions along this route, gave to the region of the indus delta the name 'Scythia. or indo-Scythia' by which it was known to the Greek geographers, and the name 'Caka-dwipa or 'the river country of the cakas as it appears in indian Literature.

Rapson: the cambridge history of india, vol. I Page 564

२. S. M. Ali : the geography of Puranas, page 39-40.

३. E. J. Rapson : The Cambridge history of india, volol (1922) Page 222-226, 540-585,

वोक्काण—काबुल घाटी का प्रदेश 'वोक्काण' कहलाता था। यहाँ की हींग अच्छी मानी गई है।[1]

शूलीक—चीन के आगे मध्यएशिया का यह एक भाग है जिसे आजकल कास्कर कहते हैं। यहाँ की भाषा का नाम शूली है।[2]

चीन—चीन से भारत का सम्बन्ध बहुत प्राचीन है। अर्जुन ऋषीकों की दिग्विजय के लिए चीन देश तक गये थे। डा० हेमचन्द्र राय चौधरी के अनुसार बौद्धकाल का पुब्ब विदेह महाद्वीप पूर्वी तुर्किस्तान या उत्तरी चीन था। फाहियान समुद्री मार्ग से चीन लौटा था। भारत से चीन जाने वाले यात्री प्रायः ताम्रलिप्ति से ही नाव में बैठते थे और इसी प्रकार चीन से भारत आने वाले यात्री यहाँ उतरते थे। मिलिन्दपन्ह में चीन के साथ-साथ कई अन्य देशों से भारत के व्यापारिक सम्बन्ध की बात आई है। चीन के साथ हमारी सामुद्रिक व्यापारिक परम्परा काफी प्राचीन है। 'चीनांशुक, का उल्लेख कालिदास ने भी किया है।

दक्षिणापथ—दक्षिणापथ भारतवर्ष के पाँच विभागों में से एक है।[3] इसकी उत्तरी सीमा गोदावरी नदी है। पहले यह शब्द उस राजमार्ग के लिए प्रयुक्त होता था जो उत्तर में श्रावस्ती (आधुनिक सहेत महेत) से दक्षिण में प्रतिष्ठान (आधुनिक पैठन) तक जाता था किन्तु बाद में यह प्रदेश के लिए प्रयुक्त होने लगा। दक्षिण भारत पर गुप्त सम्राटों का अधिपत्य होने पर वहाँ से सपर्म्क बढ़ गया था। कादम्बरी में राजा शूद्रक से मिलने के लिए तोते को लेकर चाण्डालकन्या दक्षिणापथ से आई थी। मृच्छकटिक में सेना के दक्षिणात्य जवानों तथा कादम्बरी से दक्षिण के राजसेवकों का पता चलता है।

अश्मक—यह प्रदेश गोदावरी के दक्षिण अन्धक (आन्ध्र) राज्य में था। जिसकी राजधानी पोतन (आधुनिक बोधन) थी। बुद्धपूर्वकाल में यह जनपद काशी राज्य में था। पाणिनि (४।२।१७३) मार्कण्डेयपुराण तथा बृहत्-संहिता में इसका निर्देश है।

मलय—यह प्रदेश मलयगिरि के आसपास का है। बौद्धकाल का एक मलय राष्ट्र वज्जि राष्ट्र के बगल में कोशलराज्य के उत्तरपूर्व में, हिमालय के दक्षिण

Vincent Smith : Tho Oxford History of india. book I. ch I, Page37–38.

१. श्रेष्ठं वोक्कणदेशजम् (हिंगु)–सं० सू० १२।६७

२. अत्रिदेव : आयुर्वेद का बृहद् इतिहास–पृ० १६२.

३. 'प्रतिवापश्चात्र हैमवता दक्षिणापथगा।'—सं० चि० २३।२८

या दक्षिण पूर्व में अवस्थित था। किन्तु अष्टांगसंग्रह में दक्षिणात्य प्रदेशों के साथ निर्देश होने से यह उपर्युक्त प्रदेश ही उपयुक्त प्रतीत होता है।[1]

कोंकण—यह सूनापरान्त जनपद का प्रदेश था जिसमें ठाना और सूरत जिले के कुछ भाग थे।

शबर—अष्टांगसंग्रह में 'शबरकन्द' का उल्लेख हुआ है।[2] अपदान में दक्षिण-भारत के आंध्र, तमिल और चोल के साथ इसका उल्लेख है। यह आन्ध्र प्रदेश के ऊपर और कलिंग के नीचे एक वन्य प्रदेश है। राजा हर्ष को विन्ध्याटवी यात्रा में एक शबर युवक से भेंट हुई थी।

कलिंग—गोदावरी से महानदी तक का प्रदेश कलिंग के अन्तर्गत था। इसके उत्तर में उत्कल और दक्षिण में आन्ध्र देश है। इस प्रकार आधुनिक उड़ीसा का उत्तरी भाग उत्कल और दक्षिणी भाग कलिंग कहलाता था। महेन्द्र प र्वत की स्थिति इसी प्रदेश में बतलाई गई है। कुटज के वृक्ष इस प्रदेश में विशेष होने के कारण उसे 'कलिंग' कहा गया है।

मध्यदेश—बौद्धकाल में भारत में १६ जनपद थे—अंग, मगध, काशी, कोशल, वज्जी, मल्ल, चेति, वस, कुरु, पंचाल, मच्छ, सूरसेन, अस्मिक, अवन्ती, गन्धार, कंबोज। इनमें अधिकांश मध्यदेश में अवस्थित थे।

अवन्ति—यह जनपद देश का प्रमुख केन्द्रस्थल राजनीतिक और व्यापारिक दोनों दृष्टियों से था। उत्तरापथ और दक्षिणापथ के बीच में यह स्थित था और पश्चिमी तट के बन्दरगाहों तथा अनेक राजमार्गों द्वारा देश के विभिन्न भागों से सम्बद्ध था। इसके दो भाग थे। एक उत्तरी और दूसरा दक्षिणी जिनके बीच से वेत्रवती (बेतवा) नदी बहती थी। उत्तरी भाग उत्तर अवन्ति तथा दक्षिणी भाग अवन्ति-दक्षिणापथ कहलाता था। उत्तरी भाग की राजधानी उज्जयिनी और दक्षिणी भाग की माहिष्मती थी। बुद्धनिर्वाण के १५० वर्ष बाद अवन्ति मगध-साम्राज्य में मिल गई। उस समय बौद्धधर्म का यह एक प्रधान केन्द्र था; अशोक वहाँ का उपराज था और महेन्द्र का जन्म वहीं हुआ था। बाद में शकों को परास्त कर चन्द्रगुप्त द्वितीय ने उज्जयिनी को मगध की दूसरी राजधानी बनाई। कालि-दास, वराहमिहिर आदि बड़े-बड़े विद्वानों का इस प्रदेश में सम्बन्ध रहा है। वाग्भट ने अवन्तिवासियों का प्रधान भोजन गेहूँ बतलाया है।[3]

---

१. 'स्मर्यमाणा अपि घ्नन्ति दाहं मलयपादपाः'—सं० चि० ९।१८

२. सं० उ० २२।८४.

३. गोधूमोऽवन्तिभूमिषु'—सं० सू० ७।३३.

मगध—संकीर्ण अर्थ में इस प्रदेश के अन्तर्गत आधुनिक पटना और गया जिला के भाग आते हैं किन्तु अंगदेश के मिल जाने से इसकी वास्तविक सीमा विस्तृत हो गई थी। इसके उत्तर में गंगा, पश्चिम में सोन, पूर्व में चम्पा नदी और दक्षिण में विन्ध्याचल का बड़ा भाग है। मगधदेश में अधिकांश होने के कारण पिप्पली का एक पर्याय 'मागधी' है।

विदेह—यह जनपद आधुनिक उत्तरी बिहार था। इसके उत्तर में हिमालय, दक्षिण में गंगा, पश्चिम में गण्डक और पूर्व में कोशी थी। इसकी राजधानी मिथिला थी। कुम्भकारजातक में विदेहराज निमि, गान्धारराज नग्नजित् और पांचालराज दुर्मुख समकालीन बतलाये गये हैं। पिप्पली का एक पर्याय 'वैदेही' भी है।

उपर्युक्त भौगोलिक अध्ययन से निम्नांकित तथ्य सामने आते हैं—

१. देश का संपर्क दक्षिणापथ से पर्याप्त स्थापित हो चुका था।

२. गंगा आदि नदियों तथा संगमों और तीर्थस्थानों का महत्व बढ़ गया था।

३. पश्चिम समुद्र (रत्नाकर) तथा पूर्वसमुद्र (महोदधि) का महत्त्व संभवतः व्यापारिक दृष्टि से विशेष था।

४. वैदेशिक भूभागों से पर्याप्त संपर्क स्थापित हो गया था।

यह स्थिति गुप्तकालीन है। समुद्रगुप्त की दिग्विजय के बाद पूरा दक्षिणापथ साम्राज्य के अन्तर्गत आ चुका था। ब्राह्मणधर्म के अभ्युत्थान से गंगा आदि नदियों, संगमों तथा तीर्थों का विशेष महत्व बढ़ गया था। आगे चल कर यह महत्व और प्रतिष्ठित हो गया। हर्ष प्रति पाँचवें वर्ष में प्रयाग में एक धार्मिक समारोह करता था। पश्चिम समुद्र से व्यापार भी बढ़ गया था और समुद्री यातायात के कारण समुद्र का महत्व बढ़ गया था। यातायात के विभिन्न साधनों के कारण आसपास के वैदेशिक भूभागों तथा सुदूर देशों से संपर्क स्थापित हो गया था। सम्राटों की विजिगीषा तथा धर्म-प्रचार के कारण भी सुदूर देशों तक संपर्क के साधन खुले।

भौगोलिक परिस्थितियों के अनुसार देश को तीन भागों में विभाजित किया गया है :—जांगल, आनूप और साधारण। साधारण भी पुनः जांगल साधारण और आनूप साधारण में विभक्त है।[1] आरोग्य की दृष्टि से आनूप देश अहिततम बतलाया गया है।[2]

---

१. सं० सू० १८।२९-३१

२. आनूपभूमिरहितदेशानाम्'—सं० सू० १३।३

अनेक औषध-द्रव्यों का नामकरण देश के आधार पर हुआ है यथा बाल्हीक[1] (हिंगु) मगधा[2] (पिप्पली) वैदेही[3] (पिप्पली) [4]शबरकन्दक (कन्दविशेष) सौराष्ट्रिका[5] (फिटकिरी) काम्बोजिका[6] (गुंजा) अवन्तिसोम[7] (कांजी) ।

गर्भवती स्त्री के लिए ऐसा विधान है कि वह जिस प्रकार का पुत्र चाहती हो उस रूप, वर्ण और चरित्र वाले जनपद का ध्यान करे और उसी प्रकार का आहार, विहार, उपचार और वेशभूषा रक्खे ।[8] प्रकृति के सम्बन्ध में भी देश का विचार महत्त्वपूर्ण है । दूत के देश का भी निर्देश है ।

व्याधिबहुल, वैद्यरहित, राजरहित, अधर्मिजनबहुल, मरकयुक्त पार्वत्य देश में निवास निषिद्ध बतलाया गया है । इसके विपरीत, जहाँ जल का प्राचुर्य हो; औषध, समिध् , धान्य, इन्धन आदि की बहुलता हो, अन्न की बहुलता, जीविका का साधन हो वहाँ रहना चाहिए ।

नगरों का भी संकेत मिलता है । नगर के चारों ओर बाग-बगीचे हों और विद्वानों का बाहुल्य हो ।[9] स्थान-स्थान पर कूप, प्रपा, मन्दिर, आराम तथा सेतुबन्ध की स्थापना धार्मिक कृत्य माना जाता था अतः देश में इनकी बहुलता थी ।[10] नगरपाल होता था जो नगर की रक्षा करता था ।[11] नगर की सीमा पर शूर-वीर सैनिक शस्त्रास्त्रों से सज्जित होकर रक्षा करते थे, जिससे शत्रुओं के आक्रमण का भय नहीं रहता था ।[12]

---

१. 'हिंगु बाह्लिकम्'—सं० उ० ४०।११०

२. 'त्वङ्नागपुष्पमगधा'—सं० चि० ९।३४

३. 'लशुनोषणवैदेही'—सं० उ० ४६।५१; वैदेहिकारामठकं'—सं० उ० ४७।६

४. 'शबरकन्दकं तुल्यम्'—सं० उ० २२।८४

५. सौराष्ट्रिका पद्मकधातकी—सं० उ० २२।२४; ३०।५०.

६. 'श्वतेकाम्बोजिकांकुरान्—सं० उ० ३९।५

७. अवन्तिसोमे तक्रे वा–सं० सू० ३५।५; 'मद्येनावन्तिसोमेन वा–सं० उ०३९।३३

८. 'यादृशं च पुत्रमाशासीत तद्रूपवर्णचरितान् जनपदाननुचिन्तयेति स्त्री वाच्या' । —सं० शा० १।५३

९. 'सुभिक्षक्षेत्ररम्यान्ते पण्डितैर्मण्डिते पुरे'—सं० सू० ३।११५

१०. 'स्मृतिशास्त्रेणैव सभावसथकूपप्रपारामसेतुयंत्रप्रवर्त्तकेन'—का० पृ० १५७

११. 'नगरी नगरस्येव—सं० सू० ९।१३३

१२. 'शूरैरायुधिभिर्गुप्तमधृष्यं नगरं परैः'—सं० उ० १७६

काल

अष्टांगसंग्रह में काल और कालमान का वर्णन सम्यक् रूप से किया गया है। सर्वप्रथम काल के प्रभाव का वर्णन करते हुये कहा है कि यह अनादिनिधन, सूर्य आदि ग्रहों की गति का कारण; आकाशादि महाभूतों के विभिन्न परिणामों का हेतु, प्राणियों के जन्म-मरण का कारण तथा ऋतुजन्य रस, वीर्य, 'दोष, देहबल के व्यापत् और संपत् का हेतु है। इसके १२ विभाग किये गये हैं—मात्रा, काष्ठा, कला, नाडिका, मुहूर्त, याम, अहोरात्र, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, वर्ष।[१] कालमान की इकाई मात्रा है। यह वह मात्रा है जो अक्षिनिमेष में लगता है। १५ मात्रा की एक काष्ठा, ३० काष्ठा की एक कला, २०$\frac{३}{१०}$ कला की १ नाडिका; २ नाडिका का १ मुहूर्त; ३$\frac{३}{४}$ मुहूर्त का १ याम; ४ याम का १ दिन और ४ याम की १ रात; १५ अहोरात्र का १ पक्ष; २ पक्ष का १ मास (जो शुक्ल पक्ष में समाप्त होता है); मार्गशीर्ष से प्रारम्भ होकर २-२ मास दिला कर क्रमशः हेमन्त, शिशिर, वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा और शरद् ये छः ऋतुयें होती हैं। इनमें शिशिर, वसन्त, ग्रीष्म उत्तरायण या आदान, तथा वर्षा, शरद, हेमन्त दक्षिणायन या विसर्ग होता है। ये दोनों अयन मिल कर १ वर्ष होता है। दो ऋतुओं के बीच के दो सप्ताह (पहली ऋतु का अन्तिम सप्ताह तथा दूसरी ऋतु का प्रथम सप्ताह) ऋतुसन्धि कहलाता है।[२]

ऋतुओं की व्यवस्था मास, राशि और स्वरूप के आधार पर हुई है।[३]

उपर्युक्त काल-मान में नाडिका' शब्द महत्वपूर्ण है। संभवतः यह जल या बालू की घड़ी का भी नाम था। बाणभट्ट आदि ने भी इसका प्रयोग किया है।[४] नाडिका का पर्याय घटी या घटिका भी है जो कालबोधक यन्त्र के लिए भी प्रयुक्त होता

---

१. 'स मात्राकाष्ठाकलानाडिकामुहुर्त्तयामाहोरात्रपक्षमासर्त्वयनवर्षभेदेन द्वादशधा विभज्यते।'—सं० सू० ४।४

२. 'ऋत्वोरन्त्यादिसप्ताहावृतुसन्धिरिति स्मृतः'—सं० सू० ४।६१

३. मासराशिस्वरूपाख्यमृतोर्यल्लक्षणत्रयम्। यथोत्तरं भजेच्चर्यां तत्र तस्य बलाबिति ॥'—सं० सू० ४।६८.

४. 'नाडिकाच्छेदप्रहतपटुपटहनादानुसारी मध्याह्नशंखध्वनिरुदतिष्ठत्।' का० पू० ४०

'क्षणमपि क्षममाणा गलन्त्यायुष्कलाकलनकुशलाः निलये निलये कालनाडिकाः —ह० च० ४५६;

'पानस्त्रीद्यूतगोष्ठीषु राजानमभितश्चराः। बोधयेयुः प्रमाद्यन्तमुपायैर्नाडिकादिभिः—का० नी० ५।५१

था। आगे चलकर इसी का अपभ्रंश रूप 'घड़ी' हो गया। छाया के द्वारा भी इसका माप किया जाता था।[१]

भास्कराचार्य ने कालमान के लिये ९ यन्त्रों का वर्णन किया है।[२] घटिकायन्त्र में जल का प्रयोग करने के कारण उसी आधार पर काल का भी पल, प्रस्थ आदि मान निर्धारित किया गया है।[३]

राजनैतिक स्थिति

वाग्भट का युग साम्राज्यवाद का युग था। राजा की सत्ता सर्वोपरि मानी जाती थी। ग्रन्थकार ने राजा की स्तुति में अनेक श्लोक लिखे हैं। राजव्यवहार की बातें भी बतलाई गई हैं इससे राजदरबार का संकेत मिलता है। मन्त्री और गुरु की प्रतिष्ठा बहुत थी और राजा उन्हीं की सलाह से निर्णय लेता था।[४] दरबार में राजा के अनुकूल व्यक्ति रहते थे। राजदरबारी लोग चाटुकारिता में लगे रहने के कारण वेगावरोधशील होते थे जिससे सदा रोगी रहते थे। राजा भी सुकुमार प्रकृति के होने के कारण शीघ्र रोगाक्रान्त होते थे। राजा को शत्रुओं से बराबर भय और आंशका रहती थी। प्रायः शत्रु गण राजा को मारने के लिए विषों का प्रयोग करते थे। राजा औषधि लेने के पूर्व उसे परिचारकों को खिलाता था। राजा दिग्विजय यात्रा करते थे और दूसरे देशों पर अधिकार करते थे।[५] जनता की रुचि का बराबर ध्यान रखते थे और लोकप्रियता के लिये तत्पर रहते थे।[६] राजा के ऊपर मन्त्री और गुरु का अंकुश रहता था।[७] अनेक राजा अवगुणों से युक्त भी रहते थे। अतः गुणी राजा की सेवा करने का विधान है। राजसेवा जीविका का एक साधन था।[८] राजा के तथा लोक के विरोधियों की संगति का

---

१. Shama Shastry : Kautilya's Arthasastra, page 117-121

देखें—कादम्बरी : एक सांस्कृतिक अध्ययन पृ० २८

२. देखिये—शं० बा० दीक्षित: भारतीय ज्योतिष पृ० ४५७

३. वही पृ० ११०-११२

४. भेषजं नृपतेर्ह्यं...मन्त्रिगुरुसंमतम्'—सं० सू० २३।३४

५. राज्ञां महामात्राणां च महीं विजिगीषमाणानाम्,—सं० सू० ८।१०१

६. 'नृपोऽनेनानुलिप्ताङ्गो भवेत् सर्वजनप्रियः'—सं० उ० ४७।४०

७. 'नहि भद्रोऽपि गजपतिः निरंकुशः श्लाघनीयो जनस्य।—सं० सू० ८।५

८. 'कृषिं वणिज्यां गोरक्षामुपायैर्गुणिनं नृपम्। लोकद्वयाविरुद्धां च धनार्थी संश्रयेत् क्रियाम्॥—सं० सू० ३।४०

निषेध किया गया है[1]। वैद्यवृत्ति पर राजा का नियन्त्रण था। राजाहं भिषक को एक अपेक्षित योग्यता रखनी पड़ती थी। विशेषतः शल्यकर्म और विषों के उपयोग में राजा की आज्ञा आवश्यक होती थी।[2] राजा के लिये उसकी विशिष्ट परिस्थितियों का ध्यान रखते हुए औषध-विधान भी विशिष्ट है। राजा की अनेक स्त्रियाँ होती थीं।[3] राजरहित देश की निन्दा की गई है और वहाँ निवास निषिद्ध किया गया है।[4]

राजा सर्वतेज का निधान बतलाया गया है और पूर्ण निष्ठा और भक्ति से उसकी सेवा करने का उपदेश किया गया है।[5]

राज-व्यवहार के सम्बन्ध में उपदेश करते हुए कहा गया है कि राजा के समीप बैठकर क्रोध, हास, विवाद, थूकना या अन्य अस्वभाविक या अतिशयित चेष्टायें नहीं करनी चाहिए।[6] जहाँ पर राजा स्वयं स्थित हो वहाँ सूचना देकर जाना चाहिए। राजा के सम्मान-प्राप्त होने पर भी अनुचित सवारी, स्थान और आसन पर न बैठे। राजा के सामने उचित आसन पर बैठे। राजा की बात में न टोके और न उनका विरोध करे। राजा के लिये यथाकाल, अपने लिए प्रिय और हितकर वचन के साथ तथा दूसरों के लिए देशकाल को देखकर धर्म और अर्थ से युक्त वचन बोले।[7] बिना पूछे राजा को शिक्षा न दे, यह बहुत बड़ा दुःसाहस है। राजा के प्रति अहित आचरण भी न करे क्योंकि यह मूलोच्छेदकर होता है। अनुकूल (प्रिय) तथा हित वचन कहे तथा उदार वाक्यों से सान्त्वना देते हुए उसे अहित

---

१. न लोकभूपविद्विष्टैः संगच्छेत—सं० सू० ३।८२

२. तस्मादीश्वरमापृच्छ्य तद्विद्यसहित उपक्रमेत्—सं० शा० ४।३७
इति राजानमापृच्छ्य शस्त्रं साध्ववचारयेत्।'—सं० चि० १३।२५

३. बहुपरिग्रहाः नरपतयः सन्ति—सं० सू० ८।७

४. 'नाप्यनायकं (देशं वसेत्)—सं० सू० ३।११३; 'अराजका यथा देशाः,—सं० उ० ५०।११४

५. सर्वतेजोनिधानं हि नृप इत्युच्यते भुवि। अदूषयन् मनस्तस्माद् भक्तिमांस्तमुपाचरेत्॥'—सं० सू० ३।१२५;
'स्यात्तदुच्छेद उच्छेदः प्रजानां सर्वकर्मणाम्॥
आज्ञाधैर्यक्षमात्यागा मानुषत्वेऽप्यमानुषाः।
यद्राज्ञः कर्मभिस्तस्मादाराध्योऽसावतीन्द्रियैः॥–' सं० सू० ८।१३५-१३६

६. सं० सू० ३।१२६।

७. अहीनकालं राजार्थं स्वार्थं प्रियहितैः सह। देशे काले परार्थं च वदेद् धर्मार्थसंहितम्॥' सं० सू० ८।१३८

कर्म से हटावे क्योंकि उसकी उपेक्षा से दोष होता है। राजा के प्रत्युत्तर पर चुप हो जाय तथा द्वेषजनक कोई बात न बोले। राजा के चित्त का परिज्ञान होना अत्यावश्यक है। विद्वान होने पर भी यदि इसका परिज्ञान नहीं है तो अतिप्रिय होने पर भी द्वेष्य हो जाता है। इसके विपरीत, मूर्ख होने पर भी यदि चित्तवृत्ति का ज्ञाता है तो द्वेष्य भी अतिप्रिय बन जाता है।[१] अत्यन्त मामूली काम भी राजा को सूचित कर करे। कोशस्थान (खजाना) तथा अवरोध (अन्तःपुर) में न जाय और यदि जाय भी तो बहुत देर तक न ठहरे। स्वल्प लाभ होने पर भी अनुद्धत होकर सन्तोष का प्रदर्शन करे। दूसरे के साथ परस्पर वार्तालाप, निन्दा, विवाद का परित्याग करे। राजा के सदृश वस्त्रादि तथा राजलीला का भी त्याग करे। राजा द्वारा दी हुई वस्तु का ही धारण करे। हसने के अवसर में राजा के अनुकरण पर ही मुसकाये। यदि दूसरे के सम्बन्ध में रहस्यवार्त्ता हो रही हो तो मौन धारण करे और यदि अपने विषय में हो तो बाधिर्य, धैर्य, माधुर्य एवं सौष्ठव का प्रदर्शन करे।[२] बहुत परिश्रम से अपने को बहुत ऊँचा उठाने का प्रयत्न करे क्योंकि उससे पतन कष्टकर होता है।[३] राजा की निकट सेवा शस्त्र, सर्प तथा आग से खेलना है और बड़े कौशल से इसका निर्वाह होता है।[४] राजा का दुर्लभ ऐश्वर्य तथा संमान प्राप्त कर प्रमादरहित होकर ऐसा प्रयत्न करे जिससे उसका चिरकाल तक भोग कर सके।

राजव्यवहार का यह वर्णन कामन्दकीयनीति शुक्रनीति आदि नीतिग्रन्थों के वर्णन से बिलकुल मिलता जुलता है। कहीं-कहीं तो दोनों में एक ही वचन मिलते हैं। नम्नांकित वचनों की तुलना करें—

(१) उच्चैः प्रहसनं कासं ष्ठीवनं कुत्सनं तथा। जृम्भणं गात्रभंगं च पर्वास्फोटं च वर्जयेत् ॥

का० नी० ५।२३, शु० नी० २।२१९

---

१. विपश्चिदप्यचित्तज्ञो बालिशोऽपि तु भाववित्।
अतिप्रियोऽपि द्वेष्योऽपि यात्याशु विपरीतताम् ॥' —सं० सू० ८।१४१

२. उच्यमानेऽवलम्बेत परमर्मणि मूकताम्।
स्वकर्मणि तु बाधिर्यधैर्यमाधुर्यसौष्ठवम् ॥ सं० सू० ८।१४६

३. अत्यायासेन नात्मानं कुर्यादतिसमुच्छ्रितम्।
पातो यथा हि दुःखाय नोच्छ्रायः सुखकृत्तथा ॥' —सं० सू० ८।१४७

४. आसन्नसेवा नृपतेः क्रीडा शस्त्राहिपावकैः। कौशलेनातिमहता विनीतैः सा निरुह्यते। —सं० सू० ८।१४८

'पर्यस्तिकोपाश्रयकोपहासविवादनिष्ठीवनजृम्भणानि ।
सर्वाः प्रकृत्यभ्यधिकाश्च चेष्टास्तत्सन्निधाने परिवर्जयेत्तु।। सं०सू० १।१२६

(२) 'परार्थं देशकालज्ञो देशे काले च साधयेत् ।
स्वार्थं च स्वार्थकुशलः कुशलेनानुकारिणा । —का० नी० ५।३०
नृपेभ्यो ह्यधिकोऽसीति सर्वेभ्यो न विशेषयेत् ।
परार्थं देशकालज्ञो देशे काले च साधयेत् । —शु० नी० २।२२५

"अहीनकालं राजार्थं स्वार्थं प्रियहितैः सह । देशे काले परार्थं च वदेद्धर्मार्थसंहितम् ॥
—सं० सू० ८।११८

(३) 'प्रियं तथ्यं च पथ्यं च वदेद् धर्मार्थकं वचः—' शु० नी० २।२२२
'प्रियं तथ्यं च पथ्यं च वदेद् धर्मार्थमेव च ।'—का० नी० ५।२९
'धर्म्यमध्यं प्रियं तथ्यं मितं पथ्यं वदेद् वचः—सं० सू० ३।८८

इसी प्रकार के और भी उदाहरण हैं जिससे पता चलता है कि वाग्भट ने नीतिसंबन्धी वर्णनों के लिए नीतिग्रन्थों का आधार लिया है विशेष कर कामन्दकीय नीति का ।

हीन और अनार्य की सेवा का निषेध किया गया है ।[१]

वाग्भट ने जो 'ईश्वर' और भूभुज' शब्दों का प्रयोग किया है[२] वह सम्भवतः राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में ही किया है । 'भूभुज' सम्भवत राजा के लिए प्रयुक्त हुआ है और 'ईश्वर' शब्द उनके लिए व्यवहृत होता है जिन्हें 'सामन्त' कहा गया है ।

सैन्य स्थिति

साम्राज्य के विस्तार के क्रम में युद्ध अवश्यम्भावी था अतः निरन्तर युद्ध होता रहता था जिसमें हजारों आदमी मृत्यु के मुख में जाते थे[३]। युद्धक्षेत्र में शिविर स्थापित किये जाते थे जिसमें एक स्थान वैद्य का भी होता था । इस स्थान के ऊपर एक ध्वजचिह्न होता था जिससे दूर ही से पता चल जाय[४] । युद्ध में हाथी और घोड़े तथा रथ का उपयोग किया जाता था और अनेक आयुध प्रयुक्त होते थे[५] । प्रायः सेनापति के गिरने पर सेना भाग खड़ी होती थी[६] ।

---

१. सं० सू० ३।११०
२. ईश्वराणां वसुमतां विशेषण तु भूभुजाम्'—सं० सू० ८।३
३. प्रत्यहं नृसहस्रस्य युद्धेऽन्योन्यमभिघ्नतः ।—सं० सू० ९।१२४
४. अथाभ्यमित्रं व्रजतो जिगीषोर्भिषः सुसज्जौषधशस्त्रयंत्रः ।
तुंगध्वजाख्यातनिवासभूमिर्युद्धागतं योधजनं चिकित्सेत् ॥—सं० सू० ८।६६
५. सं० सू० ९।१२५ ६. सं० सू० २१।१८

युद्धक्षेत्र में अस्त्रों के अतिरिक्त विष का प्रयोग भी बहुत होता था[१]। विषकन्या का प्रयोग भी प्रचलित था[२]।

सैन्य स्थिति की रक्षा के लिये प्राकार और दुर्ग बनाये जाते थे[३]। इनका भेदन करने के उद्देश्य से उस समय सेना में हाथियों की प्रधानता थी[४]।

सेना के जवान युद्धक्षेत्र में जाने से पूर्व उत्साहवर्धन के लिए मद्य का सेवन करते थे[५]।

आर्थिक स्थिति

समाज में धनी और निर्धन दोनों थे। धनवान स्वभावतः समर्थ और शक्तिशाली थे और समाज में उनकी प्रतिष्ठा थी। उनका जीवन विलासवैभव में व्यतीत होता था और वह सुरदुर्लभ ऐश्वर्य का उपभोग करते थे[६]। इसके अतिरिक्त, मध्यमवर्ग के लोग भी यथासंभव ऐश्वर्य का उपभोग करते थे। इस श्रेणी के लोगों को भविष्यद्वसु कहा गया है।[७] धनवानों के लिए औषध एवं चिकित्सा की विशिष्ट व्यवस्था की जाती थी और अधनों के लिये भिन्न व्यवस्था होती थी[८]। कुल मिलाकर देश की आर्थिक स्थित अच्छी थी और लोग सुखी थे।

कृषि-व्यवस्था

कृषि की स्थिति अच्छी थी और अन्न की पैदावार खूब होती थी। जल का प्रचुर प्रबन्ध था और सिंचाई की व्यवस्था उत्तम थी। पानी को रोकने के लिए बाँध बाँधे जाते थे[९]। कभी कभी यह बांध टूट भी जाता था। सेतुबन्ध शुभ और सेतुभंग अशुभ माना जाता था[१०]। सेतुबन्ध एक धार्मिक कृत्य माना जाता था। मौर्यकालीन इतिहास से इसकी स्पष्ट सूचना मिलती है। गिरनार शिलालेख (१५० ई०) से पता चलता है कि सौराष्ट्र प्रदेश में ऊर्जवत् पर्वत पर सुवर्णसिकता,

१. भिषग्भेदेन वा शत्रुं रसदानेन साधयेत्। का० नी० ९।७०
२. सं० सू० ८७–८९ ७. मिथ्या प्राकारदुर्गाणि। सं० सू० ९।१२१
३. प्राकारहर्म्याद्रिविदारणे च ध्रुवं जयो नागवतां बलानाम्। का० नी० १५।१२
(देखिये 'हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन' पृ० ३९–४०)
४. तृणवत् पुरुषा युद्धे यामास्वाद्य जहत्यसून्-सं० चि० ९।३९
५ ऐश्वर्यस्योपभोगोऽयं स्पृहणीयः सुरैरपि।—सं० चि० ९।५१
६. विधिर्वसुमतामेष भविष्यद्वसवस्तु ये।—सं० चि० ९।५४
७. अधनस्तु छत्रपादत्रविरहितः गच्छेत्॥—सं० चि० १४।२०
८. अम्बुवत् सेतुबन्धेन बन्धेन स्तभ्यते विषम्।—सं० उ० ४२।५
९. सेतुभंगे छर्दिमेहातिसारादिष्वशुभः सेतुबन्धे तु शुभः।—सं० शा० १२।४

पलाशिनी आदि नदियों को बांधकर सुदर्शन नामक झील बनाया गया था जिससे व्यापक रूप में सिंचाई होती थी। इसे चन्द्रगुप्त मौर्य के काल में वैश्य राष्ट्रीय पुष्यगुप्त ने बनवाया था और बाद में अशोक के राज्यपाल यवनराज तुशष्प ने इसकी मरम्मत करवाई थी। रुद्रदामन (१५० ई०) के काल में यह बांध टूट गई थी और पाह्लव राज्यपाल सुविशाख के निरीक्षण में उसकी मरम्मत कराई गई थी[१]। अनेक व्यक्ति सेतुबन्ध के कार्य में विशेषज्ञता प्राप्त करते थे उन्हें सेतुकर कहा जाता था[२]।

खेती की पैदावार में चावल, जौ, गेहूं, दाल और क्षुद्रधान्य थे। इसके अतिरिक्त मसाले, सब्जी और फल भी उगाये जाते हैं।

कृषि अर्थोपार्जन का सर्वप्रमुख साधन था। उसके बाद पशुपालन तथा राजसेवा का स्थान था। गोसेवा का विशेष महत्व था[३]।

इसके अतिरिक्त, रजक, ताम्बूली, सारथि, रथकार,[४] वर्धकि, कुम्भकार आदि के व्यवसाय प्रमुख थे। अध्यापन और वैद्यवृत्ति भी व्यवसाय के अन्तगत आ गई थी।

वैद्यक-व्यवसाय

चिकित्सा के चार पादों में वैद्य प्रधान है। समाज में वैद्य का महत्व एवं सम्मान था। राजनैतिक एव आर्थिक कारणों से वैद्यक व्यवसाय में आ गया था और जीविका का एक साधन बन गया था। राजसेवा में भी वैद्यों का महत्वपूर्ण स्थान था। राजा अपने लिए एक योग्य वैद्य को नियुक्त करता था जो उसके आहार-विहार पर नियंत्रण रखता था।[५] युद्ध-शिविर में भी वैद्य रहता था और वहां आवश्यक सेवा की व्यवस्था करता था[६]। चिकित्सा केवल धर्म का साधन न होकर मैत्री, यश और अर्थ का साधन भी थी।[७] योग्य वैद्य का लोग आदर करते थे और घर में

---

१. Sudhakar Chattopadhyaya: Sakas in India, page 52-57
R. K. Mookerjee: Ancient India, Ch. VIII, page 180

२. बृ० सं० १५।१८ ३. कृषिं वणिज्यां गोरक्षामुपायैर्गुणिनं नृपम्। लोकद्वयाविरुद्धां च धनार्थी संश्रयेत् क्रियाम् ॥—सं० सू० ३।४०

४. तप्तायां रथकारचुल्ल्यां शाययेत् ॥—सं० चि० २३।१७

५. तस्माद्राजा कुलीनं .... प्राणाचार्यं परिगृह्णीत—सं० सू० ८।४

६. सं० सू० ८।६६

७. क्वचिद्धर्मः क्वचिन्मित्रं क्वचिदर्थः क्वचिद्यशः। कर्माभ्यासः क्वचिच्चेति चिकित्सा नास्ति निष्फला ।—सं० उ० ५०।१२४

आने पर उनका सत्कार, स्तुति तथा धन से तुष्टि करते थे[१]। योग्य वैद्य को कितना भी धन दिया जाय वह थोड़ा है ऐसी धारणा प्रचलित थी।

वैद्यक-व्यवसाय के लिए राजाज्ञा आवश्यक थी। विशेषतः शस्त्रकर्म और अगदतंत्र एवं विषों के उपयोग में राजा की विशेष अनुमति ली जाती थी।[२] आयुर्वेद के विभिन्न अङ्गों के संप्रदायगत तद्विद्य वैद्य होते थे।[३] वैद्यों के लिए सद्वृत्त-विधान भी था।[४]

फिर भी समाज में कुवैद्य थे जो लोगों को धोखा देकर अर्थोपार्जन करते थे। इनकी निन्दा होती थी और यथासंभव इनसे लोग सतर्क रहते थे।[६]

राजवैद्य को अष्टांग आयुर्वेद में निपुण होना आवश्यक था।[७] राजा प्रभाकर वर्धन का वैद्य रसायन भी अष्टांग आयुर्वेद में पारंगत था।

वाणिज्य-व्यापार

वाग्भट ने कृषि के बाद वाणिज्य को ही स्थान दिया है जब कि चरकसंहिता में कृषि के बाद पशुपालन और तब वाणिज्य का उल्लेख हुआ है।[८] इससे स्पष्ट है कि वाग्भट के काल में वाणिज्य विकसित हो चुका था और अर्थोपार्जन का एक प्रमुख साधन बन चुका था। उस समय तक विदेशों से पर्याप्त संपर्क स्थापित हो गया था और व्यापार-वाणिज्य उन्नति पर था। स्थल-मार्ग के अतिरिक्त, जलमार्ग

---

१. सं शा० १२।१४

"These eight parts formerly existed in eight books...practise according to this book and any Physician who is well versed in it never fails to live by the official fees. Therefore Indians greatly honour Physicians"–Itsing–A record of Buddhist Practices in India. ch XXVII, page–128.

२. यस्मिन् यस्य प्राणयात्रा निबद्धा तस्मै यच्छन् को धनानां धनायेत्। सं० उ० ५०-१३०

३. सं० चि० १३-२५ ४. सं० शा० ४।३७

५. सं० सू० २।१५-१८ ६. सं० सू० २।२१

७. तस्माद्राजा कुलीनं स्निग्धमाप्तमास्तिकांपरिग्रहं दक्षं दक्षिणं निभृतं शुचिमनुद्धतमनलसमव्यसनिनमनहंकृतमकोपनमसाहसिकं वाक्यार्थावबोधकुशलं निष्णातमष्टांगे यथाम्नायमायुर्वेदे सुविहितयोगक्षेमं सन्निहितागदादियोगं, सात्म्यज्ञं च प्राणाचार्यं परिगृह्णीत।—सं० सू० ८।४

८. कृषिपाशुपाल्यवाणिज्यराजोपसेवादीनि।—च० सू० ११।५

से भी व्यापार होता था। खनिज, रत्न, अन्न, धातु, वस्त्र तथा पशु-पक्षी के व्यापार होते थे। स्थलमार्ग के व्यापार का एक बड़ा केन्द्र बाह्लीक था जहां चारों ओर से व्यापारिक माल आते थे और उनका विनिमय होता था। ऐसे अनेक केन्द्र देश में स्थापित थे जिनमें उज्जयिनी, पाटलिपुत्र, श्रावस्ती, तक्षशिला आदि प्रमुख हैं।

वणिक् सदातुर बतलाये गये हैं क्योंकि कार्यव्यस्तता के कारण वह बहुधा आहार-विहार के नियमों का उल्लंघन करते हैं और वेगावरोध भी होता है।[१]

अष्टांगसंग्रह में वसुमान् और भविष्यद्वसु शब्दों का जो प्रयोग हुआ है वह सम्भवतः वाणिज्य के प्रसंग में ही हुआ है[२]। वसुमान् वे वाणिक् होंगे जो पर्याप्त धन उपार्जित कर चुके होंगे और भविष्यद्वसु वे होंगे जिन्होंने वाणिज्य में कुछ पूंजी लगाकर कार्य प्रारम्भ किया हो। वाणिज्य एक संमानित व्यवसाय था और समाज में वणिकों का आदर था। मृच्छकटिक में उज्जयिनी के धनी वणिकों का उल्लेख आया है और उसका नायक चारुदत्त तो शील और चरित्र का आदर्श ही है।

सामाजिक स्थिति

समाज में वर्णाश्रमधर्म का प्रभाव था[३]। ब्राह्मणों का आदर और पूजन होता था। शूद्र का स्थान निम्नकोटि में था और उन्हें तिरस्कृत समझा जाता था। देवता, गुरु, गौ, गंगा, संगम और तीर्थों का महत्व था। पंचयज्ञ पर ध्यान दिया जाता था। गृहस्थाश्रम का महत्व समझा जाता था और यह सभी आश्रमों में श्रेष्ठ माना जाता था[४]। अतः इसके केन्द्रबिन्दु स्त्री का समाज में आदर था और वह गृहदेवता के रूप में मानी जाती थी[५]। शिष्टाचार में ब्राह्मणों और वृद्धस्त्रियों के कथन को प्रमाण माना जाता था[६]।

---

१. ह्रीभयलोभैश्च वेगाभिघातशीलाः प्रायशःस्त्रियो राजसमीपस्था वणिजश्च भवन्ति।—सं० चि० २७।३३

२. सं० चि० ९।५४

३. सर्पविष-प्रकरण में सर्पों के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ये चार वर्ण किये गये हैं।—सं० उ० ४१।२१-२४; वर्णानुसार विद्याध्ययन का भी विधान है। सं० उ० १।६१

४. दध्यक्षतान्नपानरुक्मरत्नार्चितविप्र—सं० सू० ३८।१५; भक्तिर्वैद्यद्विजातिषु-सं० शा० १२।३२; द्विजगुरुसुरपूजा—सं० चि० २१।८८

५. स्त्री हि मूलमपत्यानां स्त्री हि रक्षति रक्षिता।
सर्वाश्रमाणां प्रथमं गृहस्थत्वमनिन्दितम्॥—सं० शा० २।६४
गोत्रवृद्धिकरा ह्येता गृहिण्यो गृहदेवताः।
गृहं हि हीनमेताभिर्न श्रीमदपि शोभते॥—सं० उ० ५९।४

६. यच्चान्यदपि ब्राह्मणाः वृद्धस्त्रियो वा ब्रूयुस्तत्कुर्यात्॥
—सं० शा० १।६१; २।६१

विवाह का वय पुरुषों के लिए २१ और स्त्रियों के लिए १२ है यद्यपि गर्भाधान का समय तीन वर्ष बाद (पुरुष के लिए २५ और स्त्री लिए १६) बतलाया गया है।[1] सामान्यतः एकपत्नी-प्रथा थी किन्तु राजा और धनवान व्यक्ति अनेक पत्नियाँ रखते थे[2]। स्त्रियां पर विश्वास नहीं किया जाता था और उन्हें स्वतंत्रता भी नहीं थी, संभवतः इसका सामाजिक और राजनैतिक कारण था[3]। गोष्ठी में भी युवतियां सम्मिलित होती थी और वेश्या-प्रथा भी थी[4]। इन्हें पुरुषों के मनोरंजन के क्रम में प्रायः वेगाभिघात करना पड़ता था[5]।

लोगों का जीवन सुखी था। दो-तीन परिचारक परिवार में रहते थे[6]। गोष्ठी, महोत्सव और उद्यान की प्रथा थी जहां लोग मनोरञ्जन करते थे। आहारमंडप के समीपस्थ आपानभूमि में चषकों में सुरापान, कथकचारणसंघ के कार्यक्रम तथा विलासिनियों के नृत्यसंगीत होते थे। तालवृन्त तथा कमल के पत्तों से हवा की जाती थी[7]। वेणुवादन की प्रथा भी थी[8]। भोग-विलास में धनिकों का जीवन व्यतीत होता था[9]। मुक्ता-मणि और रत्नों से युक्त आभूषण पहनने की भी प्रथा थी[10]।

भूत-प्रेत का अंधविश्वास समाज में प्रचलित था। ऐसी बाधा का निवारण

---

१. अथ खलु पुमानेकविंशतिवर्षः कन्यां...द्वादशवर्षदेशीयां... उद्वहेत्
—सं० शा० ११३

अष्टांगहृदय में गर्भाधान के लिये पुरुष की आयु घट कर २० हो गई (हृ० शा० १।८) अरुणदत्त ने इस पर लिखा कि यह प्रायिक है इससे भी कम आयु में गर्भाधान हो सकता है :—

"प्रायिकं चैतत्, अर्वागपि साधुगर्भदर्शनात्"।

अलबरूनी ने भी इस पर टिप्पणी की है :—'The Hindus marry at a very early age' (Sachau : Alberuni's India, page 154-155)

२. बहुपरिग्रहा नरपतयः सन्ति।—सं० सू० ८।७
(तुलना करें—बहुवल्लभाः राजानः— शा०)

३. विश्रम्भस्वातंत्र्ये स्त्रीषु च त्यजेत्।—सं० सू० ३।११२

४. सं० चि० ९।४६ ५. वेगाभिघातशीलाः प्रायशः स्त्रियः—सं० सू० २७।३३

६. द्वित्राप्तपरिचारकः।—सं० सू० ३।१२१

७. गोष्ठीमहोत्सवोद्यानं न यस्याः शोभते विना—सं० चि० ९।१९, ४६–४७

८. सामवेणुगीतशब्दान् श्रावयेत्।—सं० क० ३।२३

९. उपभोगेन रहितो भोगवानिति निन्द्यते।
निर्मितोऽतिकदर्योऽयं विधिना निधिपालकः।—सं० चि० ९।५२

१०. सं० चि० ९।१९, उ० ५०।७७, ८४–८५,

अथर्ववेद तथा तन्त्र-मंत्र जानने वाले ब्राह्मण करते थे[1]। शकुन-अशकुन का विचार भी जोरों पर था। कोई कार्य प्रारंभ करने के पूर्व मंगल स्वस्तिवाचन होता था[2]। सभी प्राणियों पर दया की जाती थी[3]। ब्राह्मणों के द्वारा पौराणिक कथा-वार्ता होती थी[4]।

बच्चों की देखभाल के लिए एक परिचारक रहता था जिसे कुमारधार कहा गया है। उसके खेलने के लिके क्रीड़ाभूमि तथा खिलौने होते थे। वर्ण के अनुसार उनके विद्याध्ययन की व्यवस्था होती थी[5]।

वेषभूषा परिमार्जित एवं सुसंस्कृत थी। लोग वस्त्र में सूती (तान्तव, दुकूल, क्षौम) तथा रेशमी (अंशुक, चीन आदि)[6] पहनते थे। धौतवस्त्र का भी उल्लेख है जो आजकल की धोती की तरह होगा। द्विवचन से पता चलता है कि धोती के अतिरिक्त एक उत्तरीय भी रहता था। बराबर पहने के लिए, शयनकाल में, बाहर जाने के लिए तथा देवार्चन के निमित्त भिन्न-भिन्न वस्त्र पहने जाते थे[7]। इसके

१. तथा ब्राह्मणोऽथर्ववेदविद् दशाहं शान्तिकर्म कुर्याद्—सं० उ० १।१७

२. कृतमंगलस्वस्तिवाचनम्—सं० चि० १३।२६

३. सर्वसत्वेषु मैत्री—सं० चि० २१।८८

४. स्निग्धवृद्धद्विजातीनां कथाः शृण्वन् मनःप्रियाः।
आशावान् व्याधिमोक्षाय क्षिप्रं व्रणमपोहति।—सं० सू० ३८।३२

५. सं० उ० १।५७–६१

६. सं० चि० ९।४६, सं० उ० १।४, क० ८।१०

७. सोष्णीषे धौतवाससी। वासोऽन्यदन्यच्छयने निर्गमे देवतार्चने। सं०सू०३।७३-७४
ह्वेनसांग ने चार प्रकार के वस्त्र का निर्देश किया है:—

कौशेय (रेशमी), क्षौम (सूता), कम्बल (ऊनी) तथा रल्लक (महीन ऊनी) इनका स्पष्ट निर्देश अष्टांगहृदय में मिलता है। तत्कालीन बेषभूषा का वर्णन करते हुए ह्वेनसांग ने लिखा है:—'The inner clothing and outward attire of the people have no tailoring; as to colour fresh white is esteemed and mostly is of no account. The men wind a strip of cloth round the waist and upto the armpits and leave the shoulder bare. The women wear a long robe which covers both shoulders and falls down loose. The hair on the crown of the head is made into a coil, all the rest of the hair hanging down. some clip their mustaches or have their fantastic fashions. Garlands are worn on the head and necklaces on the body'

—Watters : yuan Chuang's travels in India, page. 148

अतिरिक्त, उष्णीष, उपानह, आतपत्र तथा दण्ड का धारण किया जाता था। माल्य एवं आभरण धारण करने की भी प्रथा थी[३]। सद्वृत्त में कहा गया है कि प्रसिद्ध केश, भाषा एवं वेष का धारण करना चाहिए[४]। कपड़े साफ धुले हुए तथा बिना सिलवट के पहने जाते थे। इससे पता चलता है कि कपड़े धोने के बाद उस पर लोहा किया जाता था। जीर्ण, विवर्ण, मलिन, छिन्न, आर्द्र तथा एक वस्त्र धारण करने वाला दूत अशुभ माना गया है[५]।

विद्वानों में संस्कृत भाषा प्रचलित थी[६] किन्तु लोक में प्राकृत बोली जाती थी जिसका निदर्शन तत्कालीन नाटकों में किया गया है। स्त्रियाँ भी प्राकृत भाषा का ही व्यवहार करती थीं। मृच्छकटिक में संस्कृतभाषिणी स्त्रियों पर व्यंग किया गया है[७]।

घरों में पशु-पक्षी पालने का शौक था। राजाओं के यहां तो ये मनोरञ्जन के अतिरिक्त विषपरीक्षण का भी कार्य करते थे[८]। किन्तु साधारण जन-समाज में भी इसका प्रचलन था। शुकसारिका-प्रलापन कामशास्त्र की सहायभूत चौंसठ कलाओं में एक था[९]। मध्याह्न में भोजनोत्तर इससे मनोरंजन करते थे[१०]।

दैनिक जीवन

व्यक्ति का जीवन ब्राह्ममुहूर्त में उठने से प्रारम्भ होता है। उसके बाद, शौच, आचमन,दन्तधावन, घृतावेक्षण, अंजन, नस्य, गण्डूष, धूमपान, गन्ध, माल्य और ताम्बूल का विधान है। तदनन्तर जीविकोपार्जन में निकल जाय। फिर भोजन की इच्छा होने पर अभ्यंग, व्यायाम, उद्वर्तन और स्नान करे, उसके बाद देवार्चन कर भोजन करे। भोजनोत्तर ताम्बूल आदि से मुखशुद्धि कर सुहृदों के साथ कथा-वार्ता करे। शाम को लघु भोजन कर शास्ता का स्मरण कर सोवे। शयनासन जानु

---

३. सं०सू०८।४३,४४,४६,४९

४. प्रसिद्धकेशवाग्वेषश्रमसान्त्वपरायणः—सं०सू०३।९२

५. शुचिधौतोपवानानि निर्वलीनि मृदूनि च।
शय्यास्तरणवासांसि रक्षोघ्नैर्धूपितानि च।—सं०उ०१।३३; सं० शा०१२।४

६. संस्कृतवादिनं......देवग्रहेण गृहीतं विद्यात्। सं०उ० ७।१७

७. मम तावद् द्वाभ्यामेव हास्यं जायते, स्त्रिया संस्कृतं पठन्त्या, मनुष्येण च काकलीं गायता—मृ०क० पृ० १४८

८. सं० सू० ८।२३

९. का० सू० ३।१५

१०. भोजनानन्तरं शुकसारिकाप्रलापनव्यापाराः—का०सू० ४।८

तुल्य मृदु,शुभ, स्वास्तीर्ण और युक्तोपधान हो। शिर पूर्व या दक्षिण की ओर हो, गुरुओं के प्रति पैर न हो। पूर्वापर निशाभाग में धर्म का चिन्तन करे[१]।

इसके अतिरिक्त, ऋतुओं के अनुसार दिनचर्या को व्यवस्थित करने का विधान है जिससे स्वास्थ्य बना रहे और रोगों का आक्रमण न हो। वाग्भट ने हेमन्त से प्रारम्भ कर क्रमशः शिशिर, वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, और शरद इन छः ऋतुओं की की चर्या बतलाई है[२]।

धर्मसूत्रों, स्मृतियों तथा पुराणों में आह्निक आचार के अन्तर्गत दिनचर्या का वर्णन किया है[3]। इनके अतिरिक्त, कौटिल्य अर्थशास्त्र, शुक्रनीति तथा दण्डी के दशकुमारचरित में राजाओं की दिनचर्या का उल्लेख है। वात्स्यायन कामसूत्र में नागरक की दिनचर्या बतलाई गई है। वाणभट्ट ने कादम्बरी में शूद्रक तथा चन्द्रापीड़ के वर्णन-क्रम में तत्कालीन दिनचर्या का निर्देश किया है। ह्वेनसांग ने भी अपने यात्रा विवरण में इसका उल्लेख किया है। अधिकांश आचार्यों ने दिन को आठ तथा रात को आठ कुल सोलह भागों में विभाजित किया है। इस प्रकार प्रहरार्ध (१$\frac{१}{२}$ घण्टे) की एक इकाई होती है। राजाओं के यहाँ एक-एक याम पर पहरेदारों की बदली होती रहती थी इन्हें यामिक कहा गया है।

कौटिल्य ने १९वें अध्याय में राजा के कर्त्तव्यों का विधान करते हुए दिनचर्या का उल्लेख किया है।[४] उसने दिन और रात को आठ नालिकाओं (१$\frac{१}{२}$ घंटों) में विभाजित किया है। दिन के तृतीय विभाग में स्नान और भोजन तथा अध्ययन का विधान है। इसी प्रकार रात्रि के प्रथम और द्वितीय विभागों में स्नान, भोजन और अध्ययन का विधान किया है। तृतीय विभागों में शयनकक्ष में जाने का विधान है तथा चतुर्थ और पंचम विभाग सोने के लिये निर्धारित हैं। षष्ठ विभाग में जग जाने तथा नित्यकर्म करने के बाद सप्तम विभाग में कुछ प्रशासनिक कार्य देखने का विधान है। रात्रि के अन्तिम (अष्टम) विभाग में राजा पुरोहित तथा गुरु का आशीर्वाद लेता है; राजवैद्य, सूदाधिपति तथा दैवज्ञ से विचार विमर्श करता है और फिर गौ का पूजन कर अपने दरबार में उपस्थित होता है।

वात्स्यायन ने नागरक की दिनचर्या का वर्णन[५] करते हुए कहा है कि प्रातः उठकर शौच, दन्तधावन से निवृत्त होकर अनुलेपन, माल्य आदि का धारण कर

---

१. सं० सू० अ० ३   २. सं० सू० अ० ४

३. काणेः धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, अ० १७, पृ० ३५५-३६९

४. Shama Sastry : Kautilya's Arthasastra, page 36-39.

५. का० सू० ४।५-१३

प्रसाधन करे और मुखशोधन एवं ताम्बूल लेकर अपने कार्य पर चला जाय। फिर स्नान और भोजन करे। भोजन के बाद मनोरंजन तथा कुछ दिवाशयन करे। भोजन दो बार पूर्वाह्न तथा अपराह्न में करे। दण्डी का वर्णन[1] कौटिल्य से प्रायः मिलता जुलता है। शुक्रनीति में अहोरात्र को तीस मुहूर्तों में विभाजित कर दिनचर्या का निर्धारण किया गया है। प्रातः स्नान तथा पूर्वाह्न में भोजन का विधान है। वाग्भट ने जो दिनचर्या का विधान किया है वह एक सामान्य नागरिक के लिए है। संभवतः राजा लोग भी वैसी ही दिनचर्या का पालन करते थे। बाणभट्ट ने कादम्बरी में शूद्रक और चन्द्रापीड़ की दिनचर्या का जो वर्णन किया है[2] वह वाग्भट के वर्णन से बहुत मिलता जुलता है। ह्वेनसांग ने अपने यात्रा-विवरण में लिखा है कि बौद्ध-समाज में दिन को तीन तथा रात्रि को तीन भागों (रात्रि का एक पर्याय त्रियामा भी है) में विभाजित करते थे किन्तु अन्य लोग प्रहर के अनुसार दिन और रात में आठ विभाग करते थे[3]।

दन्तधावन के प्रसंग में वाग्भट ने जो विधान और निषेध किया है वह विष्णुस्मृति के वर्णन से बिलकुल मिलता जुलता है। घृतावेक्षण भी धर्मशास्त्रोक्त मांगलिक विधान है[4]। अथर्वपरिशिष्ट में घृतकम्बल का विधान हैं। धूमपान का विशिष्ट विधान वाग्भट ने किया है, गन्ध और माल्य का धारण भी बतलाया है। गन्धद्रव्यों का विशेष प्रचार लोक में था। वराहमिहिर ने एक स्वतंत्र अध्याय गन्धयुक्ति में इसका विस्तृत उल्लेख किया है[5]। स्नान के संबंध में वाग्भट ने मध्याह्न में करने का विधान दिया है। बाणभट्ट का वर्णन भी इसी प्रकार का है[6]। स्मृतियों में प्रातः और मध्याह्न या प्रातः सायं स्नान करने का विधान हैं। कादम्बरी में जाबालि के आश्रम में हम इसी प्रकार की चर्या पाते हैं। वाग्भट ने एक स्थल पर शिरः स्नान तथा स्नपनोदक का एकत्र उल्लेख किया है[7]। प्रतीत होता है कि शिरः स्नान से संभवतः वही लिया गया है जो बृहत्संहिता के गंधयुक्ति-प्रकरण में निर्दिष्ट है। स्नान के पूर्व अभ्यंग और व्यायाम का विधान है। राजभवन में स्नानागार के साथ ही व्यायामभूमि बनी होती थी। कादम्बरी में इसका स्पष्ट वर्णन है।

---

१. द० कु० उ० ८।९-१२
२. का० पू० पृ० ४०-५१, ३०५-३०७
३. Watters : Yuan Chuang's traveis in India, page 143.
४. काणे: धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, अ० १७,पृ० ३७८
५. बृ० सं० अ० ७७
६. कादम्बरी एक सांस्कृतिक अध्ययन—पृ० २८
७. अनेन शिरःस्नपनोदककंकतकस्रगुष्णीषा व्याख्याताः। सं० सू० ८।४९

प्रसाधन में अनुलेपन, माल्य तथा आभूषण-धारण तथा मुखालेप का निर्देश है[१]। मुखालेप का विस्तृत वर्णन वाग्भट ने किया है। बालों में कंघी भी की जाती थी[२]। कंघी के लिए कंकतिका शब्द सूचित करता है कि यह लकड़ी की संभवतः विकंकत वृक्ष की बनाई जाती थी[3]।

मुखशुद्धि के प्रकरण में ताम्बूलीकिसलय का प्रयोग हुआ है। साथ में जातीफल (जायफल), लवंग, कर्पूर, कक्कोल (शीतलचीनी) तथा कटुक (लता-कस्तूरीबीज) का प्रयोग होता था। ताम्बूली पान की मुलायम पत्ती है। एक अन्य स्थल में पीली पत्ती का निर्देश हुआ है[४]। पान में पूग (सुपाड़ी) तथा शंख (चूना) का प्रयोग होता था[५]। शंख शब्द से प्रतीत होता है कि शंख के चूने का व्यवहार होता था।

अन्न-पान

धान्य

धान्य मुख्यतः तीन वर्गों में विभाजित किया गया है :—शूकधान्य, शिम्बीधान्य और क्षुद्र या तृणधान्य। शूकधान्य में शालि और व्रीहि के अनेक प्रकार आते हैं।[६] हेमन्त में पकने वाले धान को शालि कहते हैं और जो धान छींटने से ही होता है उसे व्रीहि कहते हैं। शालि सर्वोत्तम धान्य माना गया है उसमें भी रक्तशालि महाशालि और कलम क्रमशः श्रेष्ठ माने गये हैं। कलम का कालिदास और भारवि ने बड़ा सजीव चित्रण किया है[७]। मगध का शालि प्राचीन काल में अतीव

१. सं० सू० ८।४९ २. सं० सू० ८।४३,४४,

३. ५२Jeannine Auboyer : Daily life in Ancient India, page 192-193.

४. रुचिवैशद्यसौगन्ध्यमिच्छन् वक्त्रेण धारयेत्।
जातीलवंगकर्पूरकंकोलकटुकैः सह ॥
ताम्बूलीनां किसलयं हृद्यं पूगफलान्वितम्।—सं० सू० ३।३६-३७

५. शकांगनागण्डतलाभिपाण्डु ताम्बूलपत्रं परिवारशोभि। सं० उ० ५०।७९
पूगताम्बूलशंखेभ्यो वर्णगन्धरसोद्भवः।—सं० सू० ७।२१

६. शूकजेषु वरस्तत्र रक्तस्तृष्णात्रिदोषहा। महांस्तस्यानु कलमः तं चाप्यनु ततः परे। तस्मादल्पान्तरगुणाः क्रमशः शालयोऽवराः। सं० सू० ७।७-८

७. आपादपद्मप्रणताः कलमा इव ते रघुम्। फलैः संवर्धयामासुरुत्खातप्रतिरोपिताः॥ रघु० ४।३७। असावनास्थापरयावधीरितः सरोरुहिण्या शिरसा नमन्नपि। उपैति शुष्यन् कलमः सहाम्भसा मनोभुवा तप्त इवाभिपाण्डुताम् ॥—कि० ४।३४

प्रसिद्ध था। ऐसा विचार भी है कि महाशालि मगध से यूनानी लोगों के साथ यूनान तक गया[1]।

शूकधान्यों में यव और गोधूम भी आते हैं। यव वैदिक काल से आ रहा है। गोधूम बाद में आया। वाग्भट ने अवन्ति प्रदेश के लिए गोधूम सात्म्य बतलाया है[2]। यवक और वेणुयव का भी उल्लेख है।

शिम्बीधान्यों में मुद्ग, मंगल्य, वनमुद्ग, मकुष्ठक, मसूर, चवल, आढ़की, चणक, कुलत्थ, काकाण्डोला, आत्मगुप्ता, कुशाग्रशिम्बी का उल्लेख है। इनमें हरी मूंग सर्वोत्तम मानी गई है[3]।

गोरस

गाय, भैंस, बकरी, हथनी, स्त्री, भेंड़, ऊटनी, घोड़ी इन आठ प्राणियों के दूध का उल्लेख है। दुग्ध ओजस्य और धातुवर्धक बतलाया गया है। कच्चा दूध भारी और उबाला हल्का कहा गया है किन्तु स्त्री का दुग्ध कच्चा ही लाभकर है। सामान्यतः धारोष्ण दुग्ध अमृततुल्य होता है। बहुत ज्यादा उबाल कर गाढ़ा किया दूध भारी हो जाता है। प्राणी की चेष्टा और प्रकृति के अनुसार भी दुग्ध का गुण बदलता रहता है। इसीलिए शाम की अपेक्षा सुबह का दूध भारी होता है और भारी शरीर-प्रकृति वाले प्राणियों की अपेक्षा हलके शरीर वाले प्राणियों का दूध हलका होता है[4]।

दही पाचनसंस्थान के लिए अच्छी वस्तु है और विशेषतः उदररोग से पीड़ित व्यक्तियों के लिए लाभप्रद है। इसके सेवन के कुछ विधान बतलाये गये हैं फिर भी इसका नित्य सेवन हानिकर और अनेक रोगों का कारण बतलाया गया है।

दही को मथ कर तक्र बनाया जाता है। यह दीपन और पाचन है तथा अर्श, ग्रहणी, मूत्रकृच्छ्र आदि रोगों के लिए विशेष लाभकर है। ग्रीष्म ऋतु में तथा दुर्बल व्यक्तियों को इसके सेवन का निषेध किया गया है।

दही का पानी मस्तु कहा जाता है। यह स्रोतःशोधन, अनुलोमन, विष्टम्भ-नाशक और लघु है।

मक्खन (नवनीत) दही को मथकर तथा दूध से निकालते हैं। दही से ताजा निकाला हुआ मक्खन दीपन, स्वादु और शीत कहा गया है तथा दूध से निकाला हुआ मक्खन विशेषतः चक्षु के लिए लाभकर है।

---

१. Gode : studies in indian cultural history, vol. I, Page 265

२. पेया मन्थ उदीच्येषु गोधूमोऽवन्तिभूमिषु। सं० सू० ७।२३३

३. सूप्यानामुत्तमा मुद्गा लघीयांसोऽल्पमारुताः। हरितास्तेष्वपि वराः—सं० सू० ७।२६

४. सं० सू० ६।५२-६४

घृत सभी स्नेहों में उत्तम, वयःस्थापन, सहस्रवीर्य बतलाया गया है। विशेषतः मेधा, अग्नि, बल और चक्षु के लिए लाभकर है। अथर्वपरिशिष्ट में भी घृत की बड़ी प्रसंसा की गई है[1]।

घृत के ऊपर का मण्डभाग घृत के समान ही गुण वाला है किन्तु रूक्ष और तीक्ष्ण होता है।

दूध को किसी अम्ल पदार्थ के साथ उबालने से जब घन और द्रव भाग पृथक् हो जांय तो कूर्चिका और बिना उबाले अलग हो जांय तो क्षीरशाक कहते हैं। इसके घन भाग को किलाट (छेना) और द्रव भाग को मोरट (छेना का पानी) कहते हैं। नवप्रसूता पशु का शुद्धिपर्यन्त दुग्ध पीयूष कहलाता है। तक्र को किसी मोटे कपड़े में रख देने पर द्रवभाग नीचे चू जाता है और पिण्डीभूत घन भाग ऊपर रह जाता है। इसी घन भाग को तक्रपिण्डिका कहते हैं[2]।

गौ का दूध-घी श्रेष्ठ और भेंड़ का निन्दित कहा गया है।

मांस

मृग, विष्किर, प्रतुद, बिलेशय, प्रसह, महामृग, जलचारी और मत्स्य ये आठ प्रकार के मांस बतलाये गये हैं। इसमें प्रथम तीन जांगल, पिछले तीन आनूपज तथा बीच के दो साधारण देश के हैं। मोर का मांस कान, स्वर, आयु और नेत्र के लिए हितकर है[3]। मोर का मांस अशोक को बहुत प्रिय था। जीवहत्या बन्द करने पर भी उसके लिए दो मोर तथा एक हिरन का मांस प्रतिदिन तैयार किया जाता था[4]। वाग्भट ने उसे 'नातिपथ्यः' लिखा है। इससे प्रतीत होता है कि इसका लोक में प्रयोग कम हो गया था केवल रोगियों को दिया जाता था। नावनीतक में भी इसके अनेक योग हैं[5]। कुक्कुट भी उसके सदृश गुण वाला है विशेषतः अति वृष्य है। सूकर का मांस शुक्रवर्धन और बल्य है। मछली वातनाशक और कफपित्तवर्धक है। इसमें रोहित श्रेष्ठ है और चिलचिम निकृष्ट है। केकड़ा अतिवृष्य, बृंहण और गुरु है। बकरे का मांस मांसवर्धक और दोषरहित है। गाय, मेंढक, रीछ, काणकपोत इनका

---

१. आज्यं तेजः समुद्दिष्टं आज्यं पापहरं परम्।
आज्येन देवास्तृप्यन्ति आज्ये लोकाः प्रतिष्ठिताः॥ अ० प० ८।१।६

२. बल्याः किलाटकूर्चीका तक्रपिण्डकमोरटाः।
सक्षीरशाकपीयूषाः रोचना वह्निसादनाः॥—सं० सू० ६.७८

३. नातिपथ्यः शिखी पथ्यः श्रोत्रस्वरवयोदृशाम्।—सं० सू० ७।९३

४. अशोक के धर्मलेख पृ० २७

५. नावनीतक २।२।७०-७४

मांस निन्दित है। पक्षियों के अण्डे गुरु और वृष्य होते हैं[1]। हंस, मोर और मुर्गी तथा बकरे के अण्डे को घी में भूनकर खाने से कामशक्ति बढ़ती है[2]।

मांस के निम्नांकित भोज्य प्रकार मुख्य हैं :—

१. **मांसरस**—मांस को उबाल कर पिप्पली, शुण्ठी, मरिच आदि मसालों तथा घृत आदि के साथ जो रस तैयार किया जाता है वह कृत रस तथा सादा रस अकृत कहलाता है। मांसरस, हृद्य, वृष्य और बृंहण है तथा विशेषतः शोष, क्षय और वात-व्याधि में हितकर है[३]।

५. **दकलावणिक**—जो थोड़े मांस तथा स्वल्प मसालों से स्वच्छ द्रवप्राय रस बनाया जाता है वह दकलावणिक कहलाता है।[४] चरक में मांसरस के विशेषण में औदकलावणिक एक स्थान पर आया है।[५] दकलावणिक का प्रयोग भट्टारहरिचन्द्र ने भी किया है।[६] वाग्भट के काल में इसका विशेष प्रचार प्रतीत प्रतीत होता है।

३. **वेशवार**—मांस को उबाल-पीसकर गरम मसालों से संस्कृत कर यह बनाया जाता है। मुर्गे की आंत निकाल कर उसका भी वेशवार बनाने का विधान है।[७] वेशवार शब्द केवल मसालों के लिए भी प्रयुक्त हुआ है।[८] चने, उड़द आदि को उबाल पीसकर आटे में भरने के लिए जो पिट्ठी तैयार करते हैं वह भी वेशवार कही जाती है।[९]

---

४. गुरूण्यण्डानि—सं० सू० ७।१०९

५. हंसबर्हिणदक्षाण्डान् भृष्टांस्तप्तेन सर्पिषा।
सुरानुपानान् यः खादेत् स तृप्तः तर्पयेत्स्त्रियः॥—सं० उ० ५०।४७

१. 'पिशितेन रसः'—ज्ञेयाः कृताकृतास्ते तु स्नेहादियुतवर्जिताः।
—सं० सू० ७।५०-५१; ४५-४७

२. अल्पमांसादयः स्वच्छाः दकलावणिकाः स्मृताः। सं० सू० ७।५१

३. मांसरसेनौदकलावणिकेन नातिसारवता भोजयेत्।—च० सू० १५।१६

४. देखें मेरा लेख "भट्टारहरिचन्द्र और उनकी चरकव्याख्या"—सचित्र आयुर्वेद, अप्रिल-मई ६७.

६. कुक्कुटमुद्धृतान्त्रं च वेशवारीकृत्य—कल्पयेत्।—सं० उ० १४।२७

६. विविधवेशवारपरिपूरितानि—भक्ष्यभोज्यान्युपकल्पयेत्। सं० चि० २।७

७. स्विन्नपिष्टमुद्गादिकल्को वेसवारः—अपरे वेसवारं शुण्ठ्यादिकृतमाहुः।
—डल्हण (सु० सू० ४६।३९९)

गुलिका—मांस को वटिका की तरह पका कर घी में फिर मांसरस में पकाकर बनायी जाती थी[१]।

धान्यवर्ग में निम्नांकित भोज्य प्रकार प्रस्तुत किये जाते थे :—

१. मण्ड—चावल को जल में उबालने पर ऊपर का जो द्रव भाग होता है उसे मण्ड (मांड़) कहते हैं। सामान्यतः चौदह गुने जल में यह तैयार किया जाता है। यह दीपन, पाचन, स्वेदन और अनुलोमन है। धान के लावा का भी मण्ड बनाते हैं।[२]

१. पेया—चावल या अन्य धान्य को छगुने जल में उबाल-पका कर तैयार की जाती है। द्रवांश थोड़ा कम होने पर इसी को यवागू कहते हैं।[३] निस्तुष यव को कूट कर पानी या दूध में सिद्ध करने पर यावक कहलाता है। (सु० सू० ८।९४, उ० ४।९) डल्हण पेया और यवागू को एक ही मानते हैं :—पेया यवाग्वपरपर्याया केचित् पेयायवाग्वोर्भेदमाहुः—(सु० सू० ४६।३४४)

३. विलेपी—यह चार गुने जल में तैयार की जाती है। इसमें सिक्थ भाग अधिक होता है। यह दीपन, ग्राही और हृद्य है।[४]

४. ओदन—चावल को पाँच गुने जल में पकाकर जलांश को शोषित कर इसे तैयार किया जाता है। इसे भात कहते हैं। मण्ड, पेया, विलेपी, ओदन यथापूर्व लघु होते हैं। चावल को भून कर दूध, मांस आदि से एक विशिष्ट प्रकार का साधित ओदन बनाया जाता है। यह पुलाव की तरह है और सामान्य ओदन की अपेक्षा गुरु होता है। इस प्रकार का चावल जो मरिच आदि गरम मसालों के साथ बनाया जाता है वह लघु होता है।[५] मांस मिले ओदन को भूतोदन कहा है। (सं०

---

१. पिष्ट्वा वराहमांसानि दत्वा मरिचसैन्धवे।
कोलवद् गुलिकाः कृत्वा तप्ते सर्पिषि वर्तयेत्॥
वर्त्तनस्तम्भितास्ताश्च प्रक्षेप्याः कौक्कुटे रसे।
घृताढ्ये गन्धपिशुने दधिडाडिमसारिके॥
यथा न भिन्द्याद् गुलिकास्तथा तं साधयेद्रसम्।—सं० उ० ५०।४५

२. सं० सू० ७।४०

३. सं० सू० ७।४१; "सिक्थैर्विरहितो मण्डः पेया सिक्थसमन्विता।
विलेपी बहुसिक्था स्याद् यवागूर्विरलद्रवा॥—सु० सू० ४६।३४५

असिक्थो मण्डः, पेया यवाग्वपरपर्याया सिक्थसमन्विता विरलद्रवा, विलेपी घनसिक्था लेह्या पृथग्द्रवसहिता—डल्हण

अन्नं पंचगुणे साध्यं विलेपी च चतुर्गुणे।
मण्डश्चतुर्दशगुणे यवागूः षड्गुणेऽम्भसि॥ प० प्र० २।५९

४. सं० सू० ७।४२

५. सं० सू० ७।४३-४४

उ० ४।९) हलदी के साथ सिद्ध ओदन हरिद्रक या हरिद्रोदन कहलाता है (सं० उ० ४।९) ।

कृशर—प्राचीनकाल में तिल चावल मिलाकर कृशर (खिचड़ा) बनाया जाता था (तिलतण्डुलसंपक्वः कृशरः– व्याख्या खा० गृ० २।२।२७) बाद में इसमें दाल भी मिलाने लगे :—

कृशरः तिलमुद्गसिद्ध ओदनः ।—मिताक्षरा (या० स्मृ० १।१७३)

कृशरा तिलतण्डुलमासकृता यवागू :—डल्हण (सु० सू० ४६।३४६)

तण्डुलादालिसंमिश्रा लवणाद्रकहिंगुभिः ।।

संयुक्ताः सलिले सिद्धाः कृशरा कथिता बुधैः ।।—भा० प्र० कृतान्न०

अनेकविध अन्न को मिलाकर जो खाद्यविशेष बनता था वह मिश्रक कहा गया है । (सं० उ० ४।९)

६. **यूष**—धान्य विशेषतः शिम्बीधान्य को जल में उबाल पका कर यूष तैयार किया जाता है। मूग, उड़द, कुलथी आदि का यूष प्रमुख है। शाक का भी यूष बनता है।[1]

७. **खल**—इसी प्रकार फलों से जो यूष बनाया जाता है उसे खल या खड कहते हैं।[2] प्रवाहिका की चिकित्सा में अजित और अपराजित नामक खडकों का वर्णन है।[3]

८. **काम्बलिक**—मूली आदि से तिलकल्क और अनार आदि अम्ल पदार्थ डाल कर जो यूष बनाया जाता है वह काम्बलिक कहलाता है।[4]

यूष, खल, काम्बलिक मसालों और स्नेहपदार्थों से युक्त होने पर कृत तथा रहित होने पर अकृत कहलाते हैं।[5] यूष. मांसरस, दाल तथा शाक में उत्तरोत्तर गुरुत्व है। इसी प्रकार पतले रस की अपेक्षा गाढ़ा रस एवं अम्ल रस की अपेक्षा मधुर रस गुरु होता है[6] ।

९. **तिलपिण्याकविकृति**—तिल के जो पदार्थ बनाये जाते हैं वे गुरु, दोष-कर और नेत्र के लिए हानिकर है।

१०. **शुष्कशाक**—शाक को सुखाकर बनाया जाता है।

---

१. यूषो धान्यैः—सं० सू० ७।४८-५० २. खलः फलैः—वही

३. सं० चि० ११।८, उ० ४९।१४०, देखें डल्हण-व्याख्या—सु० सू० ४६।३७६

४. मूलैश्च तिलकल्काम्लप्रायः काम्बलिकः स्मृतः—वही (सं० सू०)

५. ज्ञेया कृताकृतास्ते तु स्नेहादियुतवर्जिताः—सं० सू० ७।५१

६. विद्याद् यूषे रसे सूपे शाके चैवोत्तरोत्तरम् ।

गौरवं तनुसान्द्राम्लस्वादुष्वेषु पृथक् तथा ।।—सं० सू० ७।५२

११. विरूढक—अंकुरित धान्य से बने पदार्थ को विरूढक कहते हैं।

१२. शाण्डाकीवटक—कांजी आदि से युक्त मूंग, उड़द आदि से बने बड़ों को कहते हैं। यह गुरु, ग्लानि उत्पन्न करने वाला, दोषल और नेत्र के लिए हानिकर है।[1]

१३. पर्पट—पापड़ लघु और रुचिवर्धक होते हैं। क्षारयुक्त पापड़ और लघु होता है।[2]

१४. लाजा—धान को भून कर जो फूला हुआ लावा बनाया जाता है वह लाजा कहलाता है। यह लघु, दीपन, शीत, पित्तशामक, कफघ्न, तथा तृष्णा और वमन को रोकने वाला है।[3]

१५. धाना—भाँड़ में भूने हुये धान्य को धाना कहते हैं। इसे लोकभाषा में चबैना कहते हैं। यह रूक्ष, विष्टंभी, गुरु एवं लेखन होता है।[4]

१६. पृथुक—धान को उबाल-भून कर तथा कूट कर चिपटे चौड़े दाने तैयार किये जाते हैं यह पृथुक या चूड़ा कहलाता है। यह गुरू, विष्टंभी, बल्य तथा कफनाशक होता है :[5]

१७. सक्तु—धाना को पीस कर सक्तु बनाया जाता है। पेय रूप में यह लघु और बल्य होता है किन्तु ठोसरूप में लेने पर कठिन और गुरू तथा पिण्डीरूप में मृदु और लघु होता है।[6]

सक्तु खाने के बीच बीच में जल नहीं पीना चाहिए। यह दो बार, रात्रि में, भोजन के बाद, दांतों से काटकर नहीं खाना चाहिए। केवल सक्तु भी खाना ठीक नहीं है उसमें घी-चीनी या नमक-मिर्च मिलाकर लेना चाहिए। अधिक मात्रा में न खाये।[7]

बेर आदि फलों को सुखाकर कूटकर उनका सत्तू भी बनाया जाता है। यह अम्ल, हृद्य, तृष्णाहर और श्रमहर है[8]।

---

१. तिलपिण्याकविकृतिः शुष्कशाकं विरूढकम्।
शाण्डाकीवटकं दृग्घनं दोषलं ग्लपनं गुरु ॥ सं० सू० ७।५३

२. पर्पटा लघवो रुच्या लघीयान् क्षारपर्पटः ॥ सं० सू० ७।५४

३. लाजाः व्रीहिप्रभवाः पुष्पवद्विकसिताः—सायण (तै० ब्रा० २।६।४); सं० सू० ७।५८

४. धाना विष्टम्भिनी रूक्षा तर्पणी लेखनी गुरुः ।।—सं० सू० ७।५९

५. सं० सू० ७।५९; आर्द्रशालिधान्यं मृदुभृष्टं मुशलाघातचिप्पटीभूतावयवं पृथुका इत्युच्यते। —डल्हण (सु० सू० ४६।४१५)

६. सं० सू० ७।६०-६१ ७. सं० सू० ७।६२

८. सं० सू० ७।६३

१८. पिरायाक :—तिल के सदृश स्नेहयुक्त अलसी आदि की खली से बने पदार्थ पिरायाक कहलाते हैं। यह रूक्ष, विष्टंभी और नेत्र के लिए हानिकर है।[१] तिल और सर्षप की खली से जो अम्ल खडक बनता है उसे श्रीकुक्कुट कहा गया है।[२]

१९ वेशवार—मांस के समान मूंग, चने आदि का भी वेशवार बनता है। इसका गुण द्रव्य के अनुसार होता है।[३]

२०. शष्कुली—चावल के पिसान या चने के बेसन में तिल मिलाकर तेल में पका कर शुष्कुली बनाते हैं।[४] इसे बिहार में अनरसा कहते हैं। भावप्रकाश ने इसका जो वर्णन किया है उससे पूड़ी या कचौड़ी का बोध होता है।[५]

पूपलिका—मैंदे में गुड़ मिलाकर गुड़िकायें बना घी में पकाते हैं तथा केशर एवं अन्य सुगन्धित द्रव्यों से अधिवासित कर देते हैं। इसे पूपलिका कहते हैं।[६]

वाजीकरण—प्रकरण में शुष्कली तथा पूपलिका के अनेक योग आये हैं।

२२. मोदक—मैंदे या बेसन को घी में भूनकर चीनी की चाशनी में मिलाकर तथा कुछ गंधद्रव्य देकर गोलाकार बना लेते हैं। इसे मोदक या लड्डू कहते हैं।[७]

अपूप—यह चावल, यव या गेहूँ के आटे को गुड या शर्करा मिला कर बनाया जाता है कुकूलक (उपलों की आग), खर्पर (खपड़ी), भ्राष्ट्र (भांड़), कन्दु

---

१. पिरायाको ग्लपनो रूक्षो विष्टम्भी दृष्टिदूषणः। सं० सू० ७।६४

२. श्रीकुक्कुटोऽम्लो खलकस्तिलसर्षपकिट्टजः। हृ० चि० १२।१७

३. वेशवारो गुरुः स्निग्धो बलोपचयवर्धनः —सं० सू० ७।६५

४. शालिपिष्टैः सतिलैः तैलपक्वाः क्रियन्ते—चक्र० (च० सू० २७।२६५)
चणकादिपिष्टकृताः सतिलाः तैलभृष्टाः शष्कुलीः॥ डल्हण (सु० सू० ४६। ४९०)

५. समितायाः घृताक्तायाः लोप्त्रीं कृत्वा च वेल्लयेत्।
अल्पे तां भर्जयेत् सिद्धा शष्कुली फेनिकागुणा॥ भा० प्र० कृतान्न० १२५
शष्कुली स्नेहपक्वो गोधूमविकारः —मिताक्षरा (या० स्मृ० १।१७३)

६. विमर्द्य समिताचूर्णं मृदुपाकं गुडान्वितम्। घृतावगाहे गुडिकां वृत्तां पक्वां सकेशराम्॥ सौगंधिकाधिवासांश्च कुर्यात् पूपलिकां बुधः॥—नलपाक चक्रपाणि द्वारा उद्धृत (च० सू० २७।२६७)।

७. घृताढ्यया समितया कृत्वा सूत्राणि तानि तु।
निपुणो भार्जयेदाज्ये खण्डपाकेन योजयेत्॥
युक्तेन मोदकान् कुर्यात्।—भा० प्र० कृतान्न १२६ "मोदकाः लड्डुकाः"
—डल्हण (सु० सू० ४६।३९५)

(तन्दूर) और अंगार (कोयले की आग) पर पकाया अपूप उत्तरोत्तर लघु होता है[१]। वेदों में भी इसका उल्लेख है। संभवतः यह प्राचीनतम मधुर भोज्य पदार्थ है[२]।

२४. **घारिका**—यह उड़द के आटे से बड़े की तरह तेल में पका कर बनाई जाती है। बड़े (वटक) और इसमें अन्तर इतना ही है कि इसमें ५-७ छिद्र बना दिये जाते हैं और बड़े में छिद्र नहीं होते[३]। यह अपूप की अपेक्षा गुरु होती है[४]।

२५. **इण्डरिका**—उड़द के आटे को रख कर जब खट्टा हो जाय तब बड़े की तरह गोलाकार बना लेते थे और घी में पकाते थे और कुछ मसाले भी मिला देते थे। इसे इण्डरिका या इडरिका कहते हैं[५]। घारिका तथा इण्डरिका दोनों दक्षिण भारत के खाद्य प्रकार प्रतीत होते हैं।

२६. **पूर्णकोशः**—यह संभवतः प्राचीनों का मधुक्रोड या मधुशीर्ष है[६]। यह गेहूँ के आटे में घी या मधु भर कर घी में पकाया जाता था।

२७. **उत्कारिका**—यह आटे, दूध और घी से हलुआ की तरह तैयार किया जाता है[७]।

२८. **पायस**—चावल में थोड़ा घी मिलाकर दूध में चीनी देकर पकाते हैं। इसे पायस, क्षीरिका, परमान्न (खीर) कहते हैं[८]।

२९. **पिष्टक**—या पिट्ठा चावल के आटे से बनाया जाता है। 'सिद्ध' (सं० सू० ४।९) शब्द से सिद्ध पिष्ट तथा सिद्ध मांस दोनों का बोध होता है।

---

१. कुकूलखर्परभ्राष्ट्रकन्द्वङ्गारविपाचितान्। एकयोनींल्लघून्विद्यादपूपानुत्तरोत्तरम्। सं० सू० ७।६६। और देखें:—सं० सू० ४।९। मिताक्षराकार बिना स्नेह के पकाये गोधूम विकार को अपूप कहते हैं। 'अपूपोऽस्नेहपक्वो गोधूमविकारः' ।—मिताक्षरा (या० स्मृ० १।१७३)

२. 'It is the earliest sweet preparation.' omprakash : food and drinks in ancient india, page 19

३. मानसोल्लास—भाग २, १४०१-१४०३; सं० उ० ४।९१०४; घारिका माषादिभिर्दधिमिश्रैः कृता सच्छिद्रा वटकाः (इन्दु)

४. घारिकेण्डारिकाद्याश्च गुरवश्च यथोत्तरम्। सं० सू० ७।६७

५. मानसोल्लास—भाग २, १३९९-१४०१, सं० उ० ४९।१०४, १०९

६. समितावेष्टिताः पाकघनीभूताः मधुघृतोदराः मधुमस्तकाः त एव मधुशीर्षकाः —डल्हण (सु० सू० ४६।३९५)

७. सघृतशर्करोत्कारिका—सं० उ० १४।३४

८. भा० प्र० कृतान्न० १५-१६, 'दुग्धे तण्डुलसिद्ध.'— डल्हण (सु० सू०) ४६।३४५,

३०. **ओकुलः**—हरित धान्य की बालियों को भूनने पर ओकुल कहते हैं[१]।

३१. **अभ्योषः**—हरित यव की बालियों को भूनकर दाने अलग कर लेते हैं और गुड़ मिलाकर खाते हैं। यह अभ्योष है[२]।

३२. **कुल्माष**[3]—मूलतः यह माष का एक प्रकार था। बाद में किसी क्षुद्र धान्य को पानी में गुड़ और तेल मिलाकर उबाल कर यह तैयार किया जाता था। यह उसी प्रकार का एक खाद्य था जैसे आजकल चने को उबाल कर मसाला देकर घुघुरी बनाते हैं। चक्रपाणि (१०६० ई०) का कथन है कि यव के आँटे को गरम पानी में उबाल कर अपूप के समान जो प्रकार बनाते हैं वह कुल्माष है। डल्हण इसे सिंघाड़े आदि के रूप में कहता है[४]।

३३. **पलल**—यह तिल के कल्क में गुड़ या शर्करा मिलाकर बनाया जाता है। संभवतः तिलकुट के समान एक प्रकार विशेष है[५]।

३४ **पूप**—संभवतः यह मलपूए हैं। अपूप और पूप का एक साथ प्रयोग होने से स्पष्ट है कि ये दोनों भिन्न प्रकार के हैं। पूप दूध और इक्षुरस में बनाया जाता था[६]।

३५ **स्वस्तिकः**[७]—यह यव आदि के आँटे से प्रस्तुत मिष्टान्न है। यह नीचे की ओर चौड़ा ऊपर की ओर पतला तथा बीच में चिन्हांकित होता है[८]।

३६. **घृतपूरः**[९]—आंटे में दूध, चीनी, नारियल आदि मिलाकर घी में पकाते हैं। यह घृतपूर कहलाता है[१०]।

१-२. सं० सू० १०।६६; सं० सू० ९।६४, उ० ४।९।

३ सं० उ० ३।९

४. यवपिष्टमुष्णोदकसिक्तमीषत्स्विन्नमपूपीकृतं कुल्माषमाहुः। चक्र० (च० सू० २७।२६०, यवपिष्टमुष्णोदके सिक्तमीषत्स्विन्नमृदितं शृंगाटादिप्रकारं कल्माषमाहुः। —डल्हण (सु० सू० ४६।४०९)

५. सं० उ० ४।९; पललं तिलपिष्टं गुडाद्युपेतम्'—डल्हण (सु० सू० ४६।४९०)

६. सं० उ० ४।९, पूपाः पूआ इति लोके—डल्हण (सु० सू० ४६।३९५)
क्षीरेक्षुरसपूपकाः—(च० सू० २७।२६९)

७. सं० सू० ८।९४, उ० ४।९

८. स्वस्तिको यवादिचूर्णैः कृतोऽधोभागे विस्तीर्ण ऊर्ध्वभागे तीक्ष्णो मध्ये वलिमयमुद्रांकितो भक्ष्यविशेषः—डल्हण (सु० सू० ६०।३३)

९. सं० उ० ४९।१४९

१०. मर्दिताः समिताः क्षीरनालिकेरसितादिभिः। अवगाह्य घृते पक्वो घृतपूरोऽयमुत्तमः॥—डल्हण (सु० सू० ४६।३९३)

३७. गुड़पूर—वाग्भट ने गुड़पूर नामक एक भोज्य प्रकार का उल्लेख किया है[1]। संभवतः यह आंटे में गुड़ भरकर बनाया जाता था। सुश्रुत ने इसे गौडिक कहा है[2]।

३८. संयाव[3]—इन्दु ने इसका अर्थ यवौदन किया है। सुश्रुत ने इसका एक मधुर प्रकार के रूप में वर्णन किया है। गेहूं के आंटे या मैदे में दूध मिलाकर घी में पकावे और चीनी दे। साथ में इलायची, मरिच तथा अदरख मिलावे[4]।

३९. मण्डकः—[5] गेंहू के महीन आटे में घी और थोड़ा नमक मिलाकर गोला बनाते हैं और फिर हाथ के सहारे फैलाकर तप्त खर्पर के ऊपर रख कर पका लेते हैं। इस प्रकार यह श्वेत कपड़े के समान तैयार मण्डक कहलाता है[6]। वाग्भट के वर्णन से मालूम होता है कि यह इडली और प्याज के साथ मिला कर खाया जाता था।

---

१. सं० उ० ४।९

२. समितावेष्टिता गुड़प्रधानोदरा गौडिका इत्युच्यन्ते।—डल्हण (सु० सू० ४६।३९३)

३. सं० उ० ४।९
'संयावः क्षीरगुडघृतादिकृत उत्कारिकाख्यः पाकविशेषः—मिताक्षारा (या० स्मृ० १।१७३)

४. समितां घृतदुग्धेन मोदयित्वा सुशोभनम्।
पचेद् घृतोत्तरे खण्डे क्षिपेद् भाण्डे नवे ततः॥
संयावोऽसौ युतश्चूर्णे खण्डैलामरिचार्द्रकैः।—डल्हण (सु० सू० ४६।३९५)

५. दीप्ताग्निर्मण्डकान् खादेत् सर्पिर्मण्डोपसेचनान्।
अखण्डमण्डलेन्द्वाभानिण्डरीखण्डमण्डितान्।—सं० उ० ४९।१०९
मृदुधवलसुवृत्तमण्डकैरात्तमूर्तिम्।—सं० उ० ४९।१४०

६. वारिणा कोमलां कृत्वा समितां साधु मर्दयेत्।
हस्तचालनया तस्या लोप्त्रीं सम्यक् प्रसारयेत्॥
अधोमुखघटस्यैतत् विस्तृतं प्रक्षिपेद् बहिः।
मृदुना वह्निना साध्या सिद्धो मण्डक उच्यते॥—भा० प्र० कृतान्न २२-२३
क्वचिन् मृदुसूक्ष्माः क्वचिदत्यन्ताग्निसंयोगेन शोणबिन्दवो मण्डका अपूपा एव।
नारायणीटीका (नैषध १६।१०७)

अथर्वपरिशिष्ट (१२) में आदित्यमण्डक का प्रकरण है। इसमें सूर्य का प्रतिनिधिरूप मण्डल बना कर गुड़ और घी के साथ पुरोहित को देते हैं।

"यवगोधूमानामन्यतमचूर्णेन मण्डलाकृति संसृप्य निवेदयेत्।
—अ० प० १२।१।३-६

४०. लोपिका[1]—यह एक खाद्यविशेष है।

४१ वल्ल—शिम्बीधान्यों तथा यव आदि शूकधान्यों से कल्पित भक्ष्य प्रकार 'वल्ल' कहलाते हैं[2]।

आदि शब्द से प्रतीत होता है कि इसके अतिरिक्त भी प्रकार विशेष थे। विशेषतः यव, मुद्ग, माष तथा गोधूम के भक्ष्य बनाये जाते थे[3]।

मधु और शर्करा

मधु चार प्रकार का बतलाया गया है—भ्रामर, पौत्तिक, क्षौद्र और माक्षिक। इनमें यथोत्तर श्रेष्ठ हैं और पुराना मधु उत्तम माना गया है। अन्तिम दो प्रकारों—क्षौद्र और माक्षिक—का प्रयोग करने की सलाह दी गई है।

भ्रामर मधु भौंरों से घने जंगलों में बनता है। यह श्वेत वर्ण का होता है और पार्वत्य प्रदेशों में पाया जाता है। पौत्तिक मधु बड़ी मधुमक्खियों के द्वारा तैयार होता है। इसका रंग पीला होता है। घर की पालतू मधुमक्खियों से जो मधु बनता है वह क्षौद्र कहलाता है। इसका रंग लाल होता है। छोटी मक्खियों से तैयार होने वाला काले रंग का कडुआ मधु माक्षिक कहलाता है[4]।

गन्ने के रस से विभिन्न प्रकार की शर्करा बनाई जाती है। गन्ने का रस दांत से चूसते भी है और यंत्र से भी उसका रस निकाला जाता है। गन्ने की अनेक जातियों में पौण्ड्रक, अनुवांशिक, शतपर्वक, कान्तार और नैपाल का उल्लेख है।

गन्ने के रस से गुड़ बनाते हैं और फिर उससे फाणित (राब) अलग कर साफ करके मत्स्यण्डिका, खण्ड और सिता तैयार की जाती है। नया गुड़ कफकारक और अग्निमांद्य-जनन तथा पुराना गुड़ हृद्य और पथ्य बतलाया गया है। औषध में पुराना गुड़ लेने का विधान है। मत्स्यण्डिका, खण्ड और सिता क्रमशः गुणयुक्त बतलाये गये हैं और वृष्य, बृंहण तथा रक्तपित्तशामक हैं। इक्षुविकारों में शर्करा सर्वोत्तम तथा फाणित निकृष्ट बतलाया गया है।

यवासा, काश, शर और दर्भ की पत्तियों से भी एक प्रकार की शर्करा निकलती है। यह मत्स्यण्डिका के गुण के समान, त्रिदोषघ्न, दाह, तृष्णा, छर्दि, मूर्च्छा और रक्तपित्त का शमन करने वाली है। मिश्री से बनी मिठाई को खाण्डव कहा गया है[5]।

---

१. सं० उ० ४।९; लोपिकाः सपूराः पिष्टस्विन्नाः (इन्दु)

२. बहुशः शोभितं शुभ्रैः शशांकशकलोपमैः। घारिकेण्डरिकावल्लैः क्षीरोदावयवैरिव।—सं० उ० ४९।१०४

३. यवमुद्गमाषगोधूमबहुविधविकारकल्पितभक्ष्यान् भान्—वही

४. सं० सू० ६।९८ (देखिये अत्रिदेवः अष्टागसंग्रहव्याख्या)

५. सं० सू० ६।८१-९०

तैल तथा अन्य स्नेह द्रव्य

स्नेह द्रव्यों के चार प्रकार हैं—घृत, तेल, वसा और मज्जा। घृत का वर्णन गोरस-वर्ग में किया जा चुका है। तैल कृश व्यक्तियों का बृंहण और स्थूल व्यक्तियों का कर्शन करता है। प्रथम कार्य के लिए यह अभ्यंग में तथा द्वितीय कार्य के लिए भोजन में प्रयुक्त होता है। तैलों में तिल, सर्षप, अलसी और कुसुम्भ का तैल आहार में प्रयुक्त होता है। इनमें तिल तैल सर्वोत्तम और कुसुम्भ तैल निकृष्ट माना गया है[१]।

वसा और मज्जा बल्य, पित्तकफवर्धक और मांस के समान गुण वाले होते हैं। मेद भी इसी गुणवाला होता है। मत्स्य, महामृग, जलचर और विष्किर प्राणियों में उलूक, शूकर, पाकरस, तथा कुक्कुट की वसा सर्वश्रेष्ठ और कुम्भीर, महिष, काकमद्गु एवं कारंड की वसा निन्दित है। शाखाद प्राणियों में बकरे की मेद श्रेष्ठ हैं और हाथी की मेद निकृष्ट हैं।

तैलयोनि पदार्थों में तिल, अलसी और सर्षप के अन्य प्रयोग भी होते हैं। तिल पौष्टिक, मेध्य और दीपन हैं और शीत ऋतु में इसका प्रयोग विशेष होता है। इसकी तीन जातियों का उल्लेख हैः—कृष्ण, शक्ल और अरुण जिनमें कृष्ण सर्वोत्तम और अरुण निकृष्ट माना गया है[२]। अनेक भक्ष्य पदार्थ इससे बनते हैं। अलसी स्निग्ध, उष्ण और गुरु है तथा इसके भी भक्ष्यपदार्थ इससे बनते हैं। अलसी स्निग्ध, उष्ण और गुरु है तथा इसके भी भक्ष्य पदार्थ शीतकाल में प्रयुक्त होते हैं[३]। सर्षप का प्रयोग मसालों में होता हैं[४]।

लवण, मसाले और चाट

सैन्धव, सौवर्चल, बिड, सामुद्र, औद्भिद्, कृष्ण तथा रोमक ये लवण अष्टांगसंग्रह में निर्दिष्ट हैं। कृष्ण लवण सौवर्चल का ही एक भेद है। अन्तर केवल इतना है कि सौवर्चल में गन्ध होती है और कृष्ण में नहीं[५]। इसी प्रकार रोमक लवण औद्भिद का एक प्रकार है। लवण में सैन्धव का प्रयोग करना चाहिए।

मसालों में प्रयुक्त होने वाले द्रव्यों को हरितक वर्ग में रक्खा है। इनके लिए 'सालन' शब्द का भी प्रयोग हुआ है (सं० चि० ९।२८)। इनमें राई, धनियां, तुम्बुरु, छरीला, अजवायन, अदरख, जीरा, लशुन और प्याज मुख्य हैं। लशुन में अनेक गुण बतलाये गये हैं।[६] पलाण्डु गुण में उससे न्यून और कफकारक है। तुलसी, धनिया और अजवायन की पत्तियों की चटनी बनती है।

---

१. तिलतैलं वरं तेषु कौसुम्भमवरं परम्।—सं०सू०६।१११

२. कृष्णः प्रशस्तस्तमनु शुक्लस्तमनु चारुणः। सं०सू० ७।३६

३. वही ४. सं० सू० १२।६५

५. सं० सू० १२।३१-३६

६. सं० सू० ७।१६२-१६५ (तुलना करें—नावनीतक, लशुनकल्प)

अम्ल पेय पदार्थों में कट्टर (कांजी) का प्रयोग मिलता है। यह विशेषतः सिन्धु-सौवीर, अवन्ति तथा कांची प्रदेशों में प्रचलित था जो इसके सौवीराम्ल, अवन्तिसोम तथा कांजी इन पर्यायों से ध्वनित होता है।[1] शुक्त का विधान है जो गुड, इक्षु, मद्य और मार्द्वीक (अंगूर का रस) से प्रस्तुत किया जाता है। यह उत्तरोत्तर लघु माना गया है। विविध कन्द, मूल एवं फलों से भी शुक्त बनता था। मूली सरसों, शाक आदि को उबाल कर काला जीरा, राई तथा अन्य अम्ल पदार्थ मिलाकर रख देने से जो पदार्थ बनता है उसे शाण्डाकी कहते हैं। यह रोचन और लघु है। इसी प्रकार विविध धान्यों को रखने से धान्याम्ल बनता है। बिना छिलके के यव से बने अम्ल को सौवीरकाम्ल और छिलके सहित यव से बने अम्ल को तुषोदकाम्ल कहते हैं[2]।

इसके अतिरिक्त, राग, षाडव और सट्टक का उल्लेख मिलता है। इमली आदि खट्टे फलों के रस में मीठा मिलाकर जो पानक के सदृश पदार्थ बनाया जाता है वह राग कहलाता है।[3] यही जब गाढ़ा कर दिया जाता है तो षाडव कहलाता है।[4] कच्चे आम को मसालों और गुड़ के साथ पका कर तैयार किया जाता है। इसे कुछ लोग "रागषाडव" कहते हैं।[5] दही में मीठा, मसाले और अनारदाना मिलाकर सट्टक बनाया जाता है।[6] वाग्भट ने चन्द्रकान्त नामक एक प्रकार का वर्णन किया है जो बेर, अनारदाना तथा मुनक्का से बनाया जाता है।[7]

---

१. आरनालकसौवीरकुल्माषाभिषुतानि च ।
अवन्तिसोमधान्याम्लकुञ्जलानि च कांजिके ।। अ० को० २।९।३९

२. सं० सू० ६।१३६-४०

३. हृद्या वृष्या रुचिकराः गुरवो रागषाडवाः —सं० सू० ६।५४, उ० ४९।१४०
सितारुचकसिन्धूत्थैः सवृक्षाम्लपरुषकैः ।
जम्बूफलरसैर्युक्तो रागो राजिकया कृतः ।। —डल्हण (सु० सू० ४६।३८३)

४. सं० उ० ४९।१४०, षाडवा पुनर्मधुराम्ललवणसंयोगजा नानाविधाः ।
—डल्हण (सु० सू० ४६।३८३).

५. क्वथितं तु गुडोपेतं सहकारफलं नवम् ।
तैलनागरसंयुक्तं विज्ञेयो रागषाडवः ।। —चक्र० (च० सू० २७।२८१)

६. सं० उ० ४९।१४०; लवंगयोषखण्डैस्तु दधि निर्मथ्य गालितम् ।
दाडिमीबीजसंयुक्तं चंद्रचूर्णावचूर्णितम् ।।
सट्टकं सुप्रमोदाख्यं नलादिभिरुदाहृतम् । —डल्हण (सु० ४६।३९७).

७. कोलदाडिमनिर्यासपिष्टयाऽस्थिविहीनया ।
द्राक्षया स्वच्छधान्याम्बुप्लुतालोडितकल्कया ।।

चाट के लिए उपदंश शब्द का व्यवहार हुआ है। आहार को रुचिकर बनाने के लिए इसका प्रयोग होता है। हरितक वर्ग के द्रव्यों को आंटे में लपेट कर जो पकोड़ी बनाई जाती है उसे निमदक कहते हैं।[1]

फल एवं शाक

फलों में द्राक्षा, दाडिम, केला, खजर, कटहल, नारियल, फालसा, आम, आमड़ा, गंभारी, खिरनी, बैर, लसोड़ा, महुआ, आम, जामुन आदि का उल्लेख है। कपित्थ का पका फल राग, खाण्डव, अरिष्ट आदि कल्पनाओं के लिए प्रशस्त माना गया है।[2]

खट्टे फलों में बैर, बड़हल, आमड़ा, आलूबुखारा, नींबू, तूद, करौंदा, इमली प्रमुख हैं।

फलों में द्राक्षा सर्वोत्तम और लिकुच निकृष्ट माना गया है।[3]

सूखे फलों (मेवों) में बादाम, अभिषुक (पिश्ता), अक्षोड (अखरोट) मुकूलक (चिलगोजा), निकोचक (पिश्ता), उरुमाण (खुबानी), प्रियाल (चिरौंजी) का वर्णन है।[4]

कार्यः सौवर्चलव्योषपत्रैलादीप्यकान्वितः।
समाक्षिकः सकर्पूरः सलवंगः सकेसरः॥
चन्द्रकान्तो यथार्थाख्यः शोषहाग्निरुचिप्रदः॥—सं० चि० ७।१४-१६

१. 'प्रभूतशुण्ठीमरिचहरितार्द्रकपेशिकम्।
बीजपूररसाद्यम्लं भृष्टं नीरसवर्त्तितम्॥
करीरकरमर्दादिरोचिष्णु बहुसालनम्।
प्रव्यक्ताष्टांगलवणं विकल्पितनिमर्दकम्॥—सं० चि० ९।२८

'हरितकवर्गादिनानारसोऽच्छगोधूमावेष्टितो वटकाकृत्याछिन्नो निमर्दक उच्यते' इन्दु (सं० चि० ९।२८)

२. पक्वं रुच्यं कषायाम्लं स्वादु हिध्मावमिप्रणुत्।
दोषघ्नं खाण्डवारिष्टरागयुक्तिषु पूजितम्॥ —सं० सू० ७।१८५

२. द्राक्षा फलोत्तमा। —सं० सू० ७।१६८
फलानामवरं तत्र लिकुचं सर्वदोषकृत्। —सं० सू० ७।२०६

३. वातामाभिषुकाक्षोडमुकूलकनिकोचकम्।
उरुमाणं प्रियालं च बृहणं गुरु शीततम्॥ —सं० सू० ७।१७४

४. चक्षुष्या सर्वदोषघ्नी जीवन्ती मधुरा हिमा।
शाकानां प्रवरा— सं० सू० ७।१३१
सार्षपं शाकानामवरम्। स० सू० ७।१५१

शाक वर्ग में पटोल, कारवेल्लक, वार्ताक, कोशातक, बिम्बी, कोविदार, तण्डुलीयक, जीवन्ती, कूष्माण्ड, सूरण, सर्षप मुख्य हैं। जीवन्ती शाकों में सर्वश्रेष्ठ और सर्षप निकृष्ट माना गया है।[४] वल्लीफलों में कूष्माण्ड सर्वोत्तम हैं।[१]

मद्य

मद्य दीपन, रोचन, पौष्टिक तथा स्रोतोविशोधन हैं। यह कृश और स्थूल दोनों प्रकार के व्यक्तियों के लिए हितकर है। किन्तु युक्तिपूर्वक प्रयोग करने से ही यह लाभकर है अन्यथा विषवत् होता है। नया मद्य गुरु और दोषजनन तथा पुराना इसके विपरीत होता है।

वाग्भट ने मद्य के निम्नांकित प्रकारों का उल्लेख किया है :—

१. **सुरा**—यह यव, यवसक्तु तथा बहेड़े आदि से बनाई जाती है। सुरा के निचले भाग को जगल और उसके घने भाग को मेदक कहते हैं। निःसार भाग बक्कस कहलाता है।

२. **वारुणी**—यह ताल और खर्जूर के रसों के संधान से बनता है।

३. **मधूलक**—माधुर्ययुक्त नवीन मद्य को मधूलक कहते हैं। यह कफकारक होता है।

४. **अरिष्ट**—यह द्राक्षा आदि द्रव्यों से बनाया जाता है। यह सभी मद्यो में अधिक गुणवान माना जाता है।

५. **मार्द्वीक**—यह द्राक्षारस से बनाया जाता है तथा हृद्य, बल्य और सर होता है।

६. **खाजूर**—यह गुरु और वातल है।

७. **शार्कर**—यह केवल शर्करा से तैयार होता है। इससे स्वल्प मद होता है।

८. **गौड़**—यह अनुलोमन और तर्पण है।

९. **शीघ्र**—पक्व या अपक्व इक्षुरस से बनाया मद्य कफघ्न होता है। इनमें पक्व रस वाला उत्तम माना गया है।

१०. **आसव**—इसमें मध्वासव, सुरासव, मैरेय, धातक्यासव, द्राक्षासव, मृद्वीकासव तथा इक्षुरसासव का उल्लेख है।[२]

द्राक्षा, इक्षु, मधु, शालि, व्रीहि इन पांच पदार्थों से मद्य बनाया जाता

---

१. वल्लीफलानां प्रवरं कूष्माण्डं वातपित्तजित् ॥ सं० सू० ७।१३४
२. सं० सू० ६।११९-१३२

है। ये मद्याकर कहे गये हैं। इनके परस्पर संमिश्रण से मद्य में उल्वणता आती है।[1]

विरिक्त अवस्था में, खाली पेट, अतितीक्ष्ण, अतिमृदु तथा विकृत मद्य पीने का निषेध है।[2]

पेय पदार्थ

१. जल—पेय पदार्थोंमें सर्वप्रमुख जल है। आन्तरिक्ष जल सर्वोत्तम माना गया है उसके अभाव में तत्सदृश भौम जल लेने का विधान है। स्रोत के भेद से जल आठ प्रकार का माना गया है :—

(१) कौप (२) सारस (३) ताडाग (४) चौण्ड्य (५) प्रास्रवण (६) औद्भिद (७) वाप्य (८) नादेय। जंगल, तराई या पहाड़ की निकटता के अनुसार इनका गौरव या लाघव समझना चाहिए अर्थात् जंगल या पहाड़ के पास का जल लघु और तराई का गुरु होगा। शीघ्रवह नदियों और झरनों का जल भी लघु होता है। वर्षाकाल में नदियों का जल निकृष्ट माना जाता है। दूषित जल की आशंका होने पर उसे छानकर, उबाल कर, या स्वच्छ कर प्रयोग करना चाहिए। पाटला, करवीर आदि के फूलों से जल की दुर्गन्ध नष्ट की जाती है[3]।

जल का मात्रापूर्वक प्रयोग हितकर है, अतियोग और अयोग दोनों हानिकर हैं। उष्णजल दीपन, पाचन, आमहर, मेदोनाशक, तथा वातश्लेष्महर और शीतजल पित्तशामक, श्रमहर, और दाहशामक है। भोजन के आदि में पीने से जल अग्निमांद्य और कृशता, मध्य में पीने से धातुसाम्य और सुपाचन तथा अन्त में पीने से स्थूलता और कफ उत्पन्न करता है।

२. नारिकेलोदक—नारियल का पानी या डाभ समुद्रवर्ती प्रदेशों में सामान्यतः व्यवहृत होता है। यह मधुर, स्निग्ध, पितशामक, तथा मूत्रल है[4]।

---

१. द्राक्षेक्षुर्माक्षिकं शालिरुत्तमा व्रीहिपंचमा।
मद्याकरा यदेभ्योऽन्यत्तत् मद्यप्रतिरूपकम् ॥
गुणैर्यथोल्वणैर्विद्यान्मद्यमाकरसंकरात् ॥ सं० सू० ६।१३३-१३४

२. सं० सू० ६।११८

३. धनवस्त्रपरिस्रावैः क्षुद्रजन्त्वभिरक्षणम्।
व्यापन्नस्यास्य तपनमग्न्यकयिसपिंडकैः ॥
पर्णीमूलबिसग्रन्थिमुक्ताकतकशैवलैः। वस्त्रगोमेदकाभ्यां वा कारयेन्तत्प्रसादनम्॥
पाटलाकरवीरादिकुसुमैर्गन्धनाशनम् ॥—सं० सू० ६।२७-२८

४. सं० सू० ६।५१

३. मन्थ—सत्तू को पानी में घोलकर चीनी मिलाकर मन्थ बनाया जाता है। यह तृष्णाशामक, बल्य और शीतल है तथा उष्णकाल में विशेषतः व्यवहृत होता है[1]।

४. रसाला—दही को हाथ से मलकर कपड़े में छानकर उसमें चीनी, केसर आदि मिलाकर रसाला बनाते हैं इसे श्रीखण्ड भी कहते हैं[2]।

५. पानक—संग्रहकार तथा हृदयकार ने पानक (शर्बत) का वर्णन किया है[3]।

पाककला और पात्र

अष्टांगसंग्रह में महानस, सूद और सूदाधिपति का अच्छा वर्णन मिलता है। महानस के सम्बन्ध में बतलाया गया है कि यह उन्नत स्थान में, प्रशस्त दिशा और स्थान में, बड़ा, अनेक खिड़कियों वाला, साफ-सुथरा तथा विश्वस्त जनों से युक्त होना चाहिये। इसमें कई कमरे हों और ऊपर चांदनी लगी हो तथा द्वार पर द्वारपाल हो। इसमें निर्मल, मजबूत घड़े आदि पात्र हों तथा शुद्ध जल और इन्धन

---

१. सक्तवः सर्पिषा युक्ताः शीतवारिपरिप्लुताः।
नात्यच्छा नातिसान्द्राश्च मन्थ इत्यभिधीयते। चक्र० (च० सू० ६।२८)

२. सचतुर्जातकाजाजि ससिताद्रकनागरम्।
रसाला स्याच्छिखरिणी संघृतं ससरं दधि॥—चक्र० (च० सू० २७।२८)

'आदौ माहिषमम्लमम्बुरहितं दध्याढकं शर्कराम्।
शुभ्रां प्रस्थयुगोन्मितां शुचिपटे किंचिच्च किंचित् क्षिपेत्॥
दुग्धेनार्धघटेन मृन्मयनवस्थाल्यां दृढं स्रावये-
देलावीजलवङ्गचन्द्रमरिचैर्योग्यैश्च तद् योजयेत्॥'
भीमेन प्रियभोजनेन रचिता नाम्ना रसाला स्वयं।
श्रीकृष्णेन पुरा पुनः पुनरियं प्रीत्या समास्वादिता॥
एषा येन वसन्तवर्जितदिने संसेव्यते नित्यश-
स्तस्य स्यादतिवीर्यवृद्धिरनिशं सर्वेन्द्रियाणां बलम्॥
—भा० प्र० कृतान्न० १४३-१४४

३. नवमृद्भाजनस्थानि हृद्यानि सुरभीणि च।
पानकानि समन्थानि सिताढ्यानि हिमानि च॥—सं० सू० ४।३४
श्रमक्षुत्तृट्क्लमहरं पानकं प्रीणनं गुरु—हृ० सू० ६।३५

की व्यवस्था हो[१]। सूद (पाचक) अपने कर्म में निपुण, सावधान, कुलीन, सफाई से रहने वाले और संयमी हों। इनका अधिपति (सूदाधिपति) ब्राह्मण, कुलीन, सुपरीक्षित, उदार, पवित्र और वैद्य का वशवर्त्ती हो[२]। भोजन पकाने के लिए कुकूलक, खर्पर, भ्राष्ट्र, कन्दु और अंगार का उल्लेख है। इसके द्वारा भोजन में उत्तरोत्तर लघुता आती है[3]।

भोजन-पात्रों में विविध धातुओं के पात्रों का विभिन्न भोज्य प्रकारों के लिए निर्देश है। यथा—

१. **राजत**—पेया, यूष, रस, व्यंजन

२. **सौवर्ण**—शुष्क, स्निग्ध और अतितप्त दुग्ध, पानीय, पानक

३. **कांस्य**—खल, कट्वर, काम्बलिक

४. **वज्रवैदूर्य**—राग, खाण्डव, सट्टक

५. **आयस**—घृत

६. **ताम्र**—सुशीत दुग्ध

७. **मिट्टी, स्फटिक**—पानीय, पानक

चौड़े, मनोरम स्थान (थाल) में ओदन (भात) परोसने का विधान है। उपर्युक्त पात्रों में न देने से वर्ण, गन्ध एवं रस विकृत होने से अहित हो सकता है[४]।

आहाराचार (अन्नपानविधान)

भोजन के संबन्ध में निम्नांकित बातों का विचार करना चाहिए[५]।

---

१. उच्चैः प्रशस्तदिग्देशं बहुवातायनं महत्।
महानसं सुसंमृष्टं विश्वास्यजनसेवितम्॥
सद्वाःस्थाधिष्ठितद्वारं कक्ष्यावत् सवितानकम्।
सुधौतदृढकुम्भादि परिशुद्धजलेन्धनम्॥—सं० सू० ८।६०-६१

२. स्वकर्मकुशलाः दक्षाः सूदास्तत्राप्रमादिनः कृत्तकेशनखाः राज्ञः कृत्यैरसंगताः॥
तेषामधिपतिर्विप्रः कुलजः सुपरीक्षितः। संविभक्तश्च भक्तश्च शुचिर्वैद्यवशानुगः॥
—सं० सू० ८।६२-६३

३. कुकूलखर्परभ्राष्ट्रकन्द्वंगारविपाचितान्।
एकयोनींल्लघून् विद्यादपूपानुत्तरोत्तरम्॥—सं० सू० ७।६६

४. सं० सू० १०।३५-३७

५. सं० सू० १०।५-६

१—स्वभाव—कुछ पदार्थ स्वभाव से ही गुरु और कुछ लघु आदि गुणों से युक्त होते हैं यथा रक्तशालि, षष्टिक, मुद्ग आदि लघु और दुग्ध, इक्षु, माष आदि गुरु होते हैं।

२—संयोग—दो या अधिक पदार्थों के मिलने से विशेषता उत्पन्न होती है जो अकेले उस द्रव्य में नहीं होती यथा मधु और घृत अलग-अलग हितकर होने पर भी संयुक्त होने के बाद अहितकर हो जाते हैं। इसी प्रकार बहुत से द्रव्य एक दूसरे के विरुद्ध होते हैं जिनका भोजन निषिद्ध बतलाया गया है यथा दूध और नमक।

३—संस्कार—द्रव्य के संस्कार, पाकविधि आदि से उसमें जो परिवर्तन होते हैं उसे संस्कार कहते हैं। यथा चावल गुरु होता है किन्तु भात बनने पर लघु हो जाता है।

४—मात्रा—आहार की समस्त मात्रा (सर्वग्रह) तथा प्रतिद्रव्य की आपेक्षिक मात्रा (परिग्रह) का भी विचार आवश्यक है।

५—काल—ऋतु और जीर्णाजीर्ण के अनुसार भोजन की व्यवस्था करनी चाहिए। एक भोजन के जीर्ण होने पर ही दूसरा भोजन करना चाहिए। अतीतकाल भी नहीं होना चाहिए।

ऋतु के अनुसार भोजन का विधान ऋतुचर्या—प्रकरण में बतलाया गया है।

६—देश—इससे भोज्य द्रव्य तथा उपभोक्ता का उत्पत्ति-स्थान अभिप्रेत है। इनका विचार करना चाहिए। उपभोक्ता स्वयं अपनी प्रकृति की भी परीक्षा करे और उसके अनुकूल आहार ले।

७—उपयोग-व्यवस्था—आहारसंबन्धी आचार इसके अन्तर्गत आते हैं। स्नान करने के बाद स्वच्छ वस्त्र पहनकर, होम, जप करके, देवता, पितृ, अग्नि, गुरु, अतिथि, अभ्यागत, आश्रित प्राणियों तथा पशुपक्षियों को अन्न देकर, हाथ-पैर, मुंह धोकर, इष्टमित्रों के साथ, पूर्वाभिमुख होकर स्वच्छ एवं हितकर भोजन करे। बासी भोजन न करे मांस, उपदंश और भक्ष्य को छोड़कर। निःशेष भोजन भी न करे किन्तु दधि, मधु, घृत, जल, सक्तु, शुक्त और पायस जूठा न छोड़े[1]। इसके अतिरिक्त, अविलम्बित, अनतिद्रुत, बिना बातचीत करते हुए, बिना हंसते हुए, तल्लीन होकर, लघु, स्निग्ध और उष्ण भोजन करने का विधान है[2]।

---

१. न पर्युषितमन्यत्र मासोपदंशभक्ष्येभ्यः।
नाशेषमन्यत्र दधिमधुघृतसलिलसक्तुशुक्तपायसेभ्यः॥
—सं० सू० १०।१७-१८

२. सं० सू० १९-२६

भोजन के विविध प्रकारों को विशिष्ट पात्रों में रक्खे। दक्षिण पार्श्व में भक्ष्य, वाम पार्श्व में पेय, लेह्य और मुखशोधक द्रव्य तथा मध्य में भोज्य पदार्थ रक्खे ।[1]

अग्नि के अनुसार सर्वप्रथम द्रव या शुष्क भोजन करे। गुरु, मधुर और स्निग्ध भी पहले ही खाये, मध्य में अम्ल-लवण और अन्त में रूक्ष, द्रव तथा अन्य रस वाले पदार्थ खाये ।[2]

भोजन के बाद अनुपान में जल सर्वोत्तम बतलाया गया है ।[3] दही, मधु गोधूम, मद्य और विदाही द्रव्यों में तथा शरद् और ग्रीष्म में शीतल जल का अनुपान विहित है। इसी प्रकार पिट्ठी आदि से बने दुर्जर पदार्थों तथा हेमन्त ऋतु में उष्ण जल का अनुपान लेना चाहिए। शालि और षष्टिक के भोजन के बाद विशेषतः श्रान्त, क्लान्त और दुर्बल व्यक्तियों को दुग्ध का अनुपान लेना चाहिये। क्षीण व्यक्तियों को मांसरस का अनुपान विहित है। दोषानुसार वात, पित्त और कफ की अधिकता में क्रमशः अम्ल, शर्करोदक और मधुयुक्त त्रिफलोदक का अनुपान प्रशस्त है। इसके अतिरिक्त निम्नांकित अनुपान का विधान है ।[4]

दही, कूर्चिका किलाट में	मस्तु
शाक या अवर अन्न में	धान्याम्ल, मस्तु या तक्र
मांस में	मद्य
ग्राम्य मांस में	मध्वासव
जांगल मांस में	तीक्ष्ण त्रिफलासव
विष्किर मांस में	न्यग्रोधादिफलासव
बिलेशय और शल्यहत मांस में	अर्क, शेलु, शिरीष तथा कपित्थ का आसव
प्रसह मांस में	अम्लफलासव
महामृग और औदक मांसों में	काश, इक्षु, पद्मबीज, शृंगाटक, कशेरुक, मृद्वीका, खदिरासव या मधुयुक्त शीतल जल, या उदश्वित्

१. दक्षिणपार्श्वे भक्ष्यं स्थापयेत्। सव्ये पेयं मुखोद्धर्षणपिण्डी च।
—सं० सू० १०।३८

२. यथाग्निसात्म्यं तु प्राक् द्रवमुपशुष्कं वाऽश्नीयात्।
प्रागेव तु गुरुस्वादुस्निग्धं च।
मध्येऽम्ललवणम्। अन्ते सरूक्षं द्रवमितरसयुक्तं च ॥—सं० सू० १०।४०

३. अनुपानं तु सलिलमेव श्रेष्ठम्। —सं० सू० १०।४२

४. सं० सू० १०।४६-५४

प्रतुद मांस में तथा श्रान्त और कृश में	सुरा
स्थूल व्यक्तियों में	मधूदक
मद्यमांससात्म्य तथा मन्दाग्नि में	मद्य

गायकों और वक्ताओं को अनुपान निषिद्ध है[१]।

भोजनोत्तर हाथ साफ कर तथा दन्तशोधन से दांत साफ कर, आर्द्र अंगुल्यग्र से नेत्र का स्पर्श करे। उसके बाद ताम्बूलादि मुखशोधन द्रव्य का सेवन कर तथा धूमपान कर सौ डग चल कर वामपार्श्व से लेटे। द्रवप्रधान भोजन हो तो ज्यादा देर तक न लेटे।[२]

भोजन के बाद सवारी, व्यायाम, कूदना, बोझ उठाना, अग्नि और धूप का सेवन वर्जित है।[3] इष्टमित्रों के साथ कथा-वार्त्ता में मध्याह्न व्यतीत करे। ग्रीष्म ऋतु में दिन में सोवे भी। रात में भोजन के बाद भगवान का स्मरण कर सो जाय।

ओकुल, अभ्योष, पृथुक तथा पिट्ठा भोजन के बाद कभी नहीं लेना चाहिए। शाक, अवरान्न. कटु, अम्ल, कषाय-लवण प्रधान आहार, एकरस असात्म्य भोजन, गुरु, शुष्क, अति अभिष्यन्दी, विष्टम्भी विदाही, शीत, रूक्ष, किलाट, दधि, कूचिका, मत्स्य, सूखी या कच्ची मूली, क्षार, पिष्ट, अंकुरित धान्य इनका निरन्तर सेवन न करे।[४] इसके विपरीत, शालि, गोधूम, यव, षष्टिक, जांगलमांस, सुनिषण्णक, जीवन्ती, बालमूलक, वास्तुक, हरीतकी, आमलकी, द्राक्षा, पटोल, मुद्ग, शर्करा, घृत, दिव्य जल, क्षीर, मधु, दाडिम और सैन्धव लवण का निरन्तर सेवन करे।[५] रात्रि में नेत्र-बल के लिए त्रिफला का सेवन भी मधु और घृत के साथ करे[६]।

---

१. वर्ज्यं तु·········गीतभाष्यप्रसक्तैश्च—सं० सू० १०।५५

२. ततः पाणिगतमन्नमन्येनापनीय दन्तान्तरस्थं च शनैः शोधनेन विशोध्य विधाय लेपगन्धस्नेहापनोदमाचान्तोऽगुल्यग्रगलिताम्बुपरिषिक्तनेत्रस्ताम्बूलादिकृतवदनवैशद्यो धूमपानादिहृतोर्ध्वकफवेगः पदशतमात्रं गत्वा वामपार्श्वेन संविशेत्। द्रवोत्तर-भोजनस्तु शय्यां नातिसेवेत।—सं० सू० १०।५९

३. यानप्लवनवाहनाग्न्यातपांश्च भुक्तवान् वर्जयेत्।—सं० सू० १०।६०

४. सं० सू० १०।६६-६९

५. शीलयेच्छालिगोधूमयवषष्टिकजांगलम्।
सुनिषण्णकजीवन्तीबालमूलकवास्तुकम्॥
पथ्यामलकमृद्वीकापटोलीमुद्गशर्कराः।
घृतदिव्योदकक्षीरक्षौद्रदाडिमसैन्धवम्॥—सं० सू० १०।७०-७१

६. त्रिफलां मधुसर्पिर्भ्यां निशि नेत्रबलाय च॥—सं० सू० १०।७२

कुक्षि के दो भाग अन्न से, एक द्रवाहार से भरे और एक अंश खाली रक्खे। यह नियम दुर्बल, रोगी, सुकुमार तथा राजाओं के लिए है, सामान्यजन के लिए नहीं।[१]

मुमूर्षु, मृत, दुःखजीवी, स्त्रीवश्य, क्लीब, दुर्जन, क्रूर, पतित, गण[२], शत्रु, गणिका, सत्र, धूर्त, पाणिक इनका अन्न ग्रहण नहीं करना चाहिए। गोद में रखकर भक्ष्य पदार्थ न खाये और अंजलि से जल न पीवे।

रात्रि में तिल के पदार्थ न खाये।[३] दही भी रात में खाना निषिद्ध है। इसके अतिरिक्त, उष्ण, वसन्त-शरद् और ग्रीष्म में, बिना मुद्‌गसूप के, बिना मधु के, बिना घी और चीनी मिलाये, बिना आंवला मिलाये, मन्दक दही न खाये और यों भी दही रोज नहीं खाना चाहिए[४]।

राजा बिना प्रोक्षित किये, अज्ञात, अपरीक्षित तथा सूद आदि के द्वारा अनास्वादित भोजन न करे।[५] एक घड़ी तक परीक्षा कर जब पात्र और भोजन शुद्ध एवं निर्विष प्रमाणित हो तब भोजन करे।[६]

विरुद्ध भोजन करने का निषेध है यथा :—

१. ग्राम्य, आनूप, औदक मांस	मधु, गुण, तिल, दूध, उड़द, मूली, मृणाल तथा अंकुरित धान्य
२. मछली विशेषतः चिलचिम	दूध

---

१. अन्नेन कुक्षेर्द्वावंशौ पानेनैकं प्रपूरयेत्।
आश्रयं पवनादीनां चतुर्थमवशेषयेत्।
मन्दानलबलारोग्यनृपेश्वरसुखात्मसु।
योज्यः क्रमोऽयं सततं नावश्यमितरेषु च॥ सं० सू० १०।७५-७६

२. 'गण' शब्द बौद्ध संघ के लिए भी प्रयुक्त हुआ है। देखें—गणिनां महागणिनं गणाचार्यमामन्त्रयामास'—सद्धर्मपुण्डरीकसूत्र, परिवर्त २०, पृ २५९.

३. सं० सू० ३।७८-८०

४. नैवाद्यान्निशि नैवोष्णं वसन्तोष्णशरत्सु न।
नामुद्‌गसूपं नाक्षौद्रं तन्नाघृतसितोपलम्॥
नचानामलकं नापि मन्दं नो नित्यम्॥ —सं० सू० ८।९०

५. नाप्रोक्षितं नाविदितं भिषजा नानवेक्षितम्।
नाप्राशितं च सूदाद्यैः किंचिदाहारयेन्नृपम्॥ सं० सू० ८।९०

६. प्रतीक्ष्यैवैकनाडिकाम्। ततो विज्ञाय शुद्धिं च भाजनस्योदकस्य च।
आहारमुपयुंजीत यथावद् वसुधाधिपः॥ —सं० सू० ८।५६-५७

३. दूध के साथ	अम्ल, कंगु, वरक, मकुष्ठ, कुलत्थ, माष, निष्पाव
दूध के बाद	फल
४. मूली आदि हरितक द्रव्य	दूध
५. सर्षपतैलभृष्ट कपोत	दूध-मधु
६. मछली और वराह के मांस	सर्षपतैलभृष्ट
७. बैर	वराहमांस
८. कुक्कुट और हरिण	दही
९. सौवीरक	तिल शष्कुली
१०. दूध	लवण
११. मूली	उड़द की दाल
१२. मूली का शाक	मक्खन
१३. लकुच फल	दही, माषसूप, गुड़, मधु या घृत से
१४. कदलीफल	दही. मठ्ठा, या तालफल से
१५. काकमाची	पिप्पली, मरिच, मधु या गुड़
१६. पायस	मन्थानुपान
१७. मधु-घृत	दिव्योदक अनुपान

इनके अतिरिक्त, कांस्यपात्र में दस दिन तक रक्खा हुआ घी भी नहीं ले।[२] मद्य दही, मधु में सभी उष्णद्रव्य-विरोधी हैं। सुरा, कृशरा और पायस एकत्र विरुद्ध हैं। मधु, घृत, वसा तेल और उदक समपरिमाण में पिलाने से विरोधी होते हैं। इसी प्रकार, गरम-ठंढा, नया-पुराना, कच्चा-पका एक साथ न खाये।[3] गरमी से पीड़ित होकर तुरत दूध पीना हानिकर है। व्यायाम के बाद तुरत भोजन भी निषिद्ध है।[४]

यौन जीवन

धनिकों में बहुपत्नीत्व की प्रथा थी। वेश्या-प्रथा भी थी। विटों का कार्य भी तेजी पर था। लोगों का जीवन भोग-विलासमय था अतः कामशास्त्र में रुचि स्वाभा-

---

१. सं० सू० ९।३-९

२. कांस्यभाजने दशरात्रोषितं सर्पिः॥ —सं० सू० ९।११

३. शीतोष्णं नवपुराणमामपक्वं च नैकध्यमद्यात्। —सं० सू० ९।२१

४. शरीरेणायस्तस्य सहसाऽभ्यवहारश्छर्दिषे गुल्माय वा। वाचा त्वायस्तस्य स्वरसादाय। सं० सू० ९।२३

विक थी। वात्स्यायनकृत कामसूत्र इसी प्रवृत्ति का पूरक है। इसी कारण वाजीकरण योगों का विकास हुआ[1]।

आभ्यन्तर योगों के साथ साथ पादलेप के योग भी प्रयुक्त होने लगे[2]। लिंगवृद्धि के लिए शिश्न पर भी शूक आदि लेप व्यवहृत होने लगे। इससे अनेक यौन रोग उत्पन्न हुये जिनमें शूकदोष और उपदंश प्रमुख हैं। नपुंसकता के भी अनेक प्रकार सामने आये। मैथुन के अनेक अप्राकृतिक प्रकारों का भी आविर्भाव हुआ[3]। इन कारणों से यौन रोगों की बहुलता होने लगी अतः वाग्भट ने यौन रोगों का एक स्वतंत्र प्रकरण गुह्यरोग-प्रतिषेध नाम से दिया।

कामसूत्रोक्त आसनों, हाव-भावों तथा प्रायोगिक-अधिकरणोक्त चौंसठ कलाओं का उल्लेख वाग्भट ने किया है।[4] स्त्री-समागम का विधान बतलाते हुये वाग्भट ने लिखा है कि रजस्वला, गर्भिणी, सूतिका, गणिका, दुष्टयोनि, अन्ययोनि, परस्त्री तथा वृद्धा के साथ तथा पर्व दिनों में संभोग न करे विशेषतः अतिव्यवायित, गर्भिणी, नवप्रसूता, ऋतुमती और संवृतयोनि के साथ विपरीत रति न करे। मूर्धा आदि के आघात का भी परित्याग करे[5]। वात्स्यायन कामसूत्र में नखक्षत, दन्तक्षत, आसन, मूर्धादिघात तथा विपरीतरति (पुरुषायित) का वर्णन सांप्रयोगिक अधिकरण के क्रमशः ४,५, ६, ७ और ८ अध्यायों में दिया गया है। वाग्भट में यह सारा विषय मैथुनविधि, वाजीकरण तथा गुह्यरोग-विज्ञानीय प्रकरणों में आ जाता है।

---

१. देखिये आयुर्वेदीय संहिताओं के अतिरिक्त वात्स्यायन कामसूत्र का औपनिषदिक प्रकरण।

२. नावनीतक (Bower manuscript) तथा अष्टांगसंग्रह में दो योग पादलेप के हैं जिनमें एक दोनों में प्रायः समान है।

अध्यण्डा चटकाः सर्पिः स्वयंगुप्ताफलानि च।
पादलेपः प्रयोक्तव्यो वृषो यावन्न गां स्पृशेत् ॥ नावनीतक २।८।२३

अध्यण्डामार्षभीं चैव स्वयंगुप्ताफलानि च।
पादलेपं नरः कृत्वा निशि वेगैर्न हीयते ॥ सं० उ० ५०।३६

३. सं० उ०४८।२, बृ०सं०४६।५६; ८६।६६
'पशुषु मैथुनाचरणं पुंसि च-' वि० स्मृ०३८।४-५

४. सं० उ० ५०।८१-८५

५. सं० सू०९।६९-७१

धार्मिक स्थिति

बौद्धधर्म पुराना हो चुका था और समाज में घुल मिल रहा था किन्तु ब्राह्मण धर्मानुयायी राजवंशों के उदय के साथ ब्राह्मणधर्म पुनः उठ खड़ा होता था। शुंगवंश तथा गुप्तवंश इसके प्रधान स्तम्भ रहे हैं। फिर भी चिरकालीन साहचर्य के कारण दोनों धर्म एक दूसरे को प्रभावित कर रहे थे। ब्राह्मणधर्म के प्रभाव के कारण बौद्ध-धर्म के महायान संप्रदाय का जन्म कनिष्क के काल में हो चुका था। गुप्तकाल में योगदर्शन के प्रभाव से वसुबन्धु और असंग के द्वारा योगाचार का प्रवर्त्तन हुआ। प्राचीन अथर्ववेदीय परम्परा चल ही रही थी। इसमें शैव और शाक्त धारायें भी आकर मिल गई। इस प्रकार बौद्ध तन्त्र का प्रारंभ हुआ। छठी शताब्दी में इसका रूप पूर्ण व्यवस्थित हो चुका था जहां हम धार्मिक संक्रान्ति की पूरी छाया स्पष्ट रूप से देख सकते हैं। यों तो धार्मिक-सहिष्णुता भारतीय राजकुलों का धर्म प्रारंभ से ही रहा है किन्तु धार्मिक संप्रदायों का समन्वय छठी शताब्दी से ही देखा जाता है। हर्ष-वर्धन उसका एक उत्तम प्रतीक है। कहते हैं, वह प्रति पांच वर्ष पर प्रयाग में धार्मिक समारोह करता था जिसमें वह बारी-बारी से शिव, सूर्य और बुद्ध की पूजा करता था और अन्त में सर्वस्वदान करता था[१]। हर्षचरित में दिवाकरमित्र के आश्रम में तथा कादम्बरी में मंत्री शुकनास के प्रांगण में विभिन्न धर्मावलम्बियों का का जमघट इसका स्पष्ट प्रमाण है।

वाग्भट ने ब्राह्मणधर्मानुमोदित कर्मों का विधान विस्तृत एवं व्यापक रूप से किया है। सम्पूर्ण ग्रन्थ में आद्योपान्त पंचयज्ञ, हवन, गोब्राह्मणपूजन, वेदाध्ययन, याग, तीर्थयात्रा तथा धार्मिक संस्कारों एवं अनुष्ठानों की चर्चा हुई है[२]। पुनर्जन्म में विश्वास प्रकट किया गया है और नास्तिकों की निन्दा की गई है[३]। कौलिक-कापालिक क्रियाओं का भी उदय हो चुका था जो श्मशान में साधना करते थे किन्तु वाग्भट ने इनके प्रति अरुचि प्रदर्शित की है और श्मशान का परित्याग करने का उपदेश किया है[४]। अनेक स्थलों पर ब्राह्मणों की पूजा करना, उन्हें भोजन-

---

१. गौरीशंकर चटर्जी : हर्षवर्धन पृ० ३३८

२. सं० सू० ८।९४,१०।१६,

३. लोकद्वयाविरुद्धां च धनार्थी संश्रयेत् क्रियाम् ।—सं० सू० ३।४१,२२।४ धावत्येवं चाचरितं प्राग्जन्माभ्यासयोगतः । सं० शा० १।७१, न संगच्छेत नास्तिकैः–सं० सू० ३।८२. नास्तिको वर्ज्यानाम्–सं० सू० १३।३

४. शवाश्रयं त्यजेत् सं० सू० ३।११२,

कराना तथा संमानपूर्वक दान देना इनका उल्लेख है[1]। श्येनाजिरादि याग, दैर्घ्य श्रवस साम, मित्रवृन्द इष्टि आदि यज्ञों का निर्देश दृष्टान्त के रूप में आया है जिससे पता चलता है कि लोक में वैदिक विधान प्रचलित थे[2]। वैदिक कर्मकाण्ड की प्रधानता और समाज पर श्रौतसूत्र, धर्मसूत्र, तथा गृह्यसूत्रों का प्रभाव था। सामाजिक आचार स्मृतियों एवं पुराणों से नियन्त्रित था। वाग्भट ने मनु, याज्ञवल्य तथा विष्णु-स्मृति के अनेक तथ्यों का उल्लेख किया है। मनु द्वारा प्रतिपादित दस धर्मपथों की रक्षा का विधान किया गया है[3]। वेदवाक्य की प्रामाणिकता स्वतःसिद्ध थी। सांगोपांग वेदों का अध्ययन-अध्यापन होता था[4]। गायत्रीमन्त्र पवित्र और रक्षक माना जाता था[5]। देवताओं में ब्रह्मा, अश्विनीकुमार, इन्द्र, वरुण, यम, कुबेर के अतिरिक्त विष्णु, शिव, कार्तिकेय, सूर्य, गणेश तथा दुर्गा की पूजा का प्रचार था। सुदर्शनचक्रधारी विष्णु तथा कौस्तुभ, वत्सांक आदि का उल्लेख किया गया है[6]। गुप्त राजाओं के काल में भागवत धर्म की प्रधानता थी, वे परम भागवत कहलाते थे[7]। चरकसंहिता में ज्वरमोक्ष के लिए विष्णुसहस्रनाम के पाठ का विधान किया गया है[8]। काद-म्बरी में भी इसका उल्लेख आया है[9]। कुछ विद्वानों का मत है कि विष्णुसहस्रनाम

---

१. वृद्धवैद्यब्राह्मणांश्च शुक्लवाससो महतीभिर्दक्षिणाभिः पूजयित्वा—सं० सू० ८। ९४; दध्यक्षतान्नपानरुक्मरत्नार्चितविप्रं—सं० सू० ३८।१५,

२. सं० सू० ९।११४–११५

३. दश कर्मपथान् रक्षन् जयन्नाभ्यन्तरानरीन्।
हिंसास्तेयान् यथाकामं पैशुन्यं परुषानृतम्॥
संभिन्नालापं व्यापादमभिध्यां दृग्विपर्ययम्।
पापं कर्मेति दशधा कायवाङ्मानसैस्त्यजेत्॥—सं० सू० ३।११६-११७

४. सांगोपांगास्तथा वेदाः—सं० उ० ५।२०

५. गायत्र्यभिमंत्रितोदकेन चत्वरे धात्रीकुमारयोः स्नपनमाचरेत्।—सं० उ० ६।१०; हुत्वा सावित्र्या सर्पिषाक्तांस्तिलान् वा पूतः पापैर्मुच्यते व्याधिभिश्च। सं० शा० १२।३०

६. सं० उ० ५।६–७, मातरं देवान् वैद्यान् विप्रान् हरं हरिम् पूजयेत्।—सं० उ० ३।१५४, सं० उ० ४।८–१०,

७. भगवतशरण उपाध्यायः कालिदास का भारत, भाग २ पृ० १५७
History & Culture of Indian PeoPle, Vol. III. Page 419.

८. विष्णुं सहस्रमूर्धानं चराचरपतिं विभुम्। स्तुवन्नामसहस्रेण ज्वरान् सर्वानपोहति। च० चि० ३।३१२

९. अविच्छिन्नपठ्यमाननारायणनामसहस्रम्।—का० पू० पृ० २२१

गुप्तकाल की रचना है[१]। शिव की पूजा का विधान भी किया गया है। इन्हें रुद्र, भूतपति, स्थाणु आदि नामों से स्मरण किया गया है[२]। शिवपूजा के प्रमाण अति प्राचीनकाल से मिलते हैं। सिन्धुघाटी सभ्यता में पशु-पति पूजा के चिह्न मिले हैं[३]। भेलसंहिता में ज्वरनिराकरण के लिए रुद्र की पूजा का विधान है[४]। उत्तर गुप्तकालीन वर्धन राजकुल का संस्थापक पुष्यभूति परम माहेश्वर कहा गया है[५]। मधुवन के ताम्रलेख में हर्ष को भी परममाहेश्वर लिखा गया है[६]। कादम्बरी में महाश्वेता के द्वारा शिवपूजा का विस्तृत उपचार दिखलाया गया है[७]। मृत्युञ्जय का भी उल्लेख मिलता है[८]। कार्तिकेय की पूजा का भी प्रचार था। पतंजलि ने इसका उल्लेख किया है[९]। कार्तिकेय गुप्त राजाओं के कुल देवता थे। गुप्त राजाओं के नाम कुमार गुप्त, स्कन्दगुप्त आदि इसी के सूचक हैं। महाकवि कालिदास की रचना कुमारसंभव का भी आधार सम्भवतः यही पृष्ठभूमि है[१०]। कार्त्तिकेय सेनानी है अतः दिग्विजयी एवं विजिगीषु राजाओं के लिए इनकी अराधना स्वाभाविक है। न केवल उत्तरभारत

---

१. कादम्बरी : एक सांस्कृतिक अध्ययन पृ० ८१

२. भूतेशं पूजयेत् स्थाणुं प्रमथाख्यांश्च तद्गणान्।
जपन् सिद्धांश्च तन्मन्त्रान् ग्रहान् सर्वानपोहति।—सं० उ० ८।३५

३. R. K. Mukherji : Ancient India, Page 42.

४. महेश्वरक्रोधभवो ज्वरः प्रोक्तो महर्षिभिः।
तस्माज्ज्वरविमोक्षार्थं पूजयेद् वृषभध्वजम्॥–भे० चि० १।४७
रुद्रभक्तेन शुचिना वैद्येनाथ तपस्विना।
प्रयतेन प्रयोक्तव्यं शीतज्वरचिकित्सितम्॥—भे० चि० १।५२

५. तथा च परममाहेश्वरः स भूपालो लोकतः शुश्राव। ह० च० पृ० १७१

६, तत्पादानुध्यातः परममाहेश्वरः महाराजाधिराजश्रीहर्षः—हर्षवर्धन (चटर्जी) पृ० ४३९

७. का० पू० पृ० ३८९–४००

८. का० उ० पृ० २१३

९. अपण्ये इत्युच्यते तत्रेदं न सिध्यति–शिवः स्कन्दः विशाख इति। किं कारणम् मौर्यैर्हिरण्यार्थिभिरर्च्याः प्रकल्पिताः॥ पा० भा० ५।३।९९

१०. "He was worshipped by some Indian Kings and tribes such as Kumargupta I of the Gupta Dynasty and the Yaudheyas, who had special reason to court his favour." J. N. Banerjee : The development of Hindu IconograPhy, 140.

में प्रत्युत दक्षिण भारत में भी इनकी पूजा व्यापक रूप में होती थी[1]। कार्तिकेय की लोकप्रियता के कारण इनके वाहन मयूर को भी समाज में उच्च स्थान मिला। कुमार होने से वह बालकों के भी रक्षक माने गये हैं अतः आयुर्वेद के कौमारभृत्य प्रकरण में उनका बड़ा महत्व है। बालग्रहों में स्कन्द की पूजा का वर्णन मिलता है। ऐसा लगता है कि आयुर्वेद के इस अंग (कौमारभृत्य) के नामकरण का भी संभवतः यही आधार रहा हो। कार्तिकेय की दो, चार और बारह हाथ की मूर्तियां मिली हैं[२]। वाग्भट ने 'ईश्वर द्वादशभुजं' के द्वारा बारह हाथ की मूर्ति का उल्लेख किया है[3]। इस पर विद्वानों में मतवैभिन्य है। कुछ लोग इससे कार्त्तिकेय तथा कुछ लोग अवलोकितेश्वर लेते है। महाभारत में भी द्वादशभुज कार्त्तिकेय का उल्लेख है[४]।

सूर्यपूजा भी देश में व्यापकरूप से थी। सम्भवतः इसका प्रचार शकों के आगमन के वाद तेजी से हुआ। मुलतान में सम्भवतः पहला सूर्यमन्दिर स्थापित हुआ[५]। कनिष्ककालीन गांधार शैली की मूर्तियों में सूर्य यूनानी वेशभूषा में दिखलाये गये हैं[६]। धीरे-धीरे सम्पूर्ण देश में सूर्यमन्दिर स्थापित हुये। याज्ञवल्क्य स्मृति में भी इसका विधान बहुशः उपलब्ध होता है[७]। कश्मीर, कोणार्क और मन्दसोर के

---

1. Ibid, Page 142.

२. Ibid, page 364-365.

३. ईश्वरं द्वादशभुजं नाथमार्यावलोकितम्।
सर्वव्याधिचिकित्सां च जपन् सर्वग्रहान् जयेत्॥—सं० उ० ८।३३

४. षट्शिरा द्विगुणश्रोत्रो द्वादशाक्षिभुजक्रमः।
एकग्रीवैकजठरः कुमारः समपद्यत॥—म० भा० वन० २५।१७

५. सूर्योपासना का धार्मिक रूप पीछे से उपासना के विदेशी ढंग में भारत में लाया गया। भविष्यपुराण (७।१३९) की सुरक्षित पारम्परिक वार्ता, जाम्बवती से उत्पन्न कृष्ण के पुत्र साम्ब ने सिन्धुप्रदेश में चन्द्रभागा नदी के किनारे सर्वप्रथम सूर्यमन्दिर बनवाया था और सूर्यदेव की पूजा के लिए शाकद्वीपीय ब्राह्मणों (मग पुजारियों) को बुलाया था, उक्त विचारों की पुष्टि करती है। "कुशाण और शक साधारणतः सूर्य के बड़े उपासक थे।

—कालिदास का भारत, भाग २, पृ० १४६–१४७

६. J. N. Banerjee : The development of Hindu Iconography, pages 139-140; 430-432; मथुरा संग्रहालयप्रदर्शन नं० D४६

७. स्नानमब्दैवतैर्मन्त्रैर्मार्जनं प्राणसंयमः।
सूर्यस्य चाप्युपस्थानं गायत्र्याः प्रत्यहं जपः॥—या० स्मृ० १।२२

मन्दिर अति प्रसिद्ध हैं। बोधगया के प्राचीरस्तम्भों पर सूर्य चार घोड़ों के रथ पर दिखलाये गये हैं। मृच्छकटिक में सूर्यपूजा के प्रमाण मिलते हैं[१]। महाराज प्रभाकर वर्धन आदित्यभक्त कहा गया है[२]। महाराज हर्षवर्धन भी शिव और सूर्य का भक्त था। वाग्भट में कुष्ठ चिकित्सा के लिए सूर्याराधन का विधान किया है[3]। सम्भवतः उस समय यह विधान लोक-प्रचलित था। आज भी कुष्ठ के रोगी रविवार को व्रतपूर्वक सूर्यपूजा करते हैं सूर्य के मन्दिरों में आज भी सूर्यषष्ठी (कार्तिक शुक्ल षष्ठी) का मेला लगता है जहां हजारों-लाखों व्यक्ति नियमपूर्वक व्रत रह कर सूर्य की पूजा करते हैं। मगध में इसका विशेष प्रचार है। मागध ब्राह्मण सूर्यपूजा के अधिकारी कहे गये हैं। वराहमिहिर ने सूर्यमन्दिरों में पूजा के लिए मागध ब्राह्मणों की नियुक्ति का विधान किया है[४]।

हुत्वाग्नीन् सूर्यदैवत्यान् जपेन्मन्त्रान् समाहितः।—वही १।९९
आदित्यस्य सदा पूजां तिलकं स्वामिनस्तथा।
महागणपतेश्चैव कुर्वन् सिद्धिमवाप्नुयात् ॥—वही १।२९४

१. नित्यादित्यदर्शनोदकसेचनेन दूषितेयं भूमिः—मृ० क० पृ० १५९,६।२७

२. निसर्गत एव स नृपतिरादित्यभक्तो बभूव...
जंजपूको मन्त्रमादित्यहृदयम्। ह० च० पृ० २०८

३. व्रतदमयमसेवात्यागशीलाभियोगो द्विजगुरुसुरपूजा सर्वसत्वेषु मैत्री।
जिन-जिनसुतताराभास्कराराधनानि प्रकटितमलपापं कुष्ठमुन्मूलयन्ति।
—सं० चि० २१।८८

४. बृ० सं० ५८।४६-४८,६०।१९,

"सम्राट ने तारक नामक ज्योतिषी को बुलाकर ग्रह दिखलाये। बाण के अनुसार यह गणक भोजक अर्थात् मग जाति का था। (भोजकः रविमर्चयित्वा पूजका हि भूयसा गणका भवन्ति ये मगा इति प्रसिद्धाः—शंकर)। कुषाणकाल के आरंभ में सूर्य-पूजा का देश में अत्यधिक प्रचार हुआ। इसमें ईरानी शकों का प्रभाव मुख्य कारण था। सूर्य की मूर्ति, उसका उदीच्य वेष और पूजाविधि इन सब पर ईरानी प्रभाव पड़ा। विष्णुधर्मोत्तर पुराण और वराहमिहिर की बृहत् संहिता में ईरानी प्रभाव का स्पष्ट उल्लेख आया है। इस युग के ज्योतिष शास्त्र पर भी पारसीक यवन रौमक-सिद्धान्तों का काफी प्रभाव हुआ। शाकद्वीपी मग ब्राह्मण सूर्यमन्दिरों की प्रतिष्ठा कराते थे और वे ही संभवतः ज्योतिष का भी काम करते थे।

—हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन-पृ० ६४-६५
(और देखें—गौरीशंकर चटर्जी: हर्षवर्धन पृ० ३३७-३३८)

वाग्भट ने विनायक की पूजा का भी विधान किया है[1]। याज्ञवल्क्य-स्मृति में गणेश—पूजा का वर्णन है[2]। यह मांगलिक देवता माने जाते थे और सभी कार्यों के प्रारंभ में विघ्नविनाश एवं कार्यसिद्धि के लिए उनका स्मरण-पूजन किया जाता

"From the early centuries of the Christian era the sun cult appears to have developed in Northern India along a certain wellmarked line. That its north Indian form was much reorientatated by the east Iranian mode of sun-worship is fully proved by many literary and archaeological data. The story cf Samba's leprosy and his cure from this fell disease by his worship of the Sun-god according to the approved east-Iranian (Sakadvipi) manner is elaborately narrated in many Puranas such as bhavisya, Varaha, Samba, etc. Reference is also made in many of these texts to his having caused to be built a big temple of the god at Mulasthanapura (modern Multan in the west Punjab) on the banks of the Candrabhaga. There was actually a big sun temple at Multan, a graphic description of which and the image enshrined there is given by foreign travellers like Hiuen Tsang anb Arab geographers like Al Edrisi, Abu Ishak al Ishtakhri and others, Some of the Puranas also refer to the installation of sun image known by the name of Sambaditya by Samba at Mathura. the close association of the east Iranian form of sunworship with the re-orientated cult of the god in Northern India is further emphasised in the Brahatsamhita. it is expressly laid down there (Ch.59, V. 19) that it was the Magas (the indianised form of the Magi, the sunworshipping priests of Iran) who were entitled to instal ceremonially the images of Surya in temples. Alberuni knew this fact for he has recorded that the ancient Persian priests came to India and became known as Magas".

—J. N. Banerji : The development of Hindu, Iconography, pages 430–431.

१. सवष्वनुचरं चादौ मृन्मयं च विनायकम् ।—सं०उ० ५।६

२. विनायकः कर्मविघ्नसिद्ध्यर्थं विनियोजितः ।
गणानामाधिपत्ये च रुद्रेण ब्रह्मणा तथा ॥—या० स्मृ० १।११।२७१

था। पांच प्रमुख देवताओं में शिव' विष्णु, सूर्य, और शक्ति के बाद पांचवें गणपति हैं।

शक्ति-पूजा के संकेत भी प्राचीन काल से उपलब्ध होते हैं। याज्ञवल्क्य-स्मृति में विनायक की माता अम्बिका का उल्लेख है[1]। अष्टांगसंग्रह में सप्तमातृकाओं की पूजा का विधान है[2]। बाणभट्ट की रचनाओं में हम स्थान-स्थान पर चण्डिका मंदिर और देवी की पूजा देखते हैं। दुर्गापाठ का भी निर्देश है[3]।

साथ ही ग्रन्थकार ने ग्रंथ के प्रारंभ में भगवान् बुद्ध का मंगलाचरण में स्मरण किया है[4] और इस प्रकार बौद्ध धर्म के प्रति अपनी श्रद्धा प्रदर्शित की है। ग्रंथ में भी यत्र-तत्र विभिन्न बौद्ध देवी-देवताओं का निर्देश मिलता है। इनमें मुख्य हैं अवलोकितेश्वर, आर्यतारा, पर्णशबरी और अपराजिता[5]। अमितायुःसूत्र या सुखावती-व्यूह, जो लगभग १०० ई० की रचना मानी जाती है, में सर्वप्रथम अवलोकितेश्वर का उल्लेख मिलता है[6]। धीरे धीरे नाम-रूप के अन्तर से इनके सौ से ऊपर भेद हो गये जो विशेषतः नेपाल और तिब्बत में मिलते हैं। फाहियान, ह्वेनसांग तथा इत्सिंग ने अपने यात्रा-विवरणों में इनका उल्लेख किया है। वराहमिहिर तथा बाणभट्ट की रचनाओं में भी इनका निर्देश मिलता है। अवलोकितेश्वर ध्यानी बुद्ध अमिताभ तथा उनकी शक्ति पाण्डरा से उद्भूत हुये हैं। अमिताभ और पाण्डरा वर्त्तमान कल्प (भद्रकल्प) के प्रधान ध्यानी बुद्ध और बुद्धशक्ति हैं और अवलोकितेश्वर भी मर्त्य बुद्ध, शाक्यसिंह के निर्वाण तथा भावी बुद्ध मैत्रेय के प्रादुर्भाव के बीच की अवधि में रहने वाले बोधिसत्व हैं।[7] अवलोकितेश्वर का लोकप्रिय रूप सिंहनाद है जो सभी रोगों के निवारक माने जाते हैं[8]। आयुर्वेदीय चिकित्सा का प्रसिद्ध योग

---

१. विनायकस्य जननीमुपतिष्ठेत्ततोऽम्बिकाम्। या० स्मृ० १।११।२९०

२. नमः सप्तानां मातृणाम्।—सं० उ० ४।१०

३. का० पू० पृ० ६३६-६४८

४. बुद्धाय तस्मै नमः—सं० सू० १।१

५. आर्यावलोकितं पर्णशबरीमपराजिताम्।
प्रणमेदार्यतारां च सर्वज्वरनिवृत्तये ॥—सं० चि० २।१५५

६. B. T. Bhattacharya : the Indian Buddhist Iconography, Introduction XXXV.

७. Ibid : Ch. III, page 35-33.

८. द्विभुजैकमुखं शुक्लं त्रिनेत्रं सिंहवाहनम्। सिंहनादमहं वन्दे सर्वव्याधिहरं गुरुम् ॥—सा० मा० भाग १, पृ० ४७

सिंहनादगुग्गुलु सम्भवतः इसी आधार पर प्रचलित हुआ है। घोर एवं रौद्र रूप वाले अवलोकितेश्वर मायाजालक्रमलोकेश्वर हैं जिनकी बारह भुजायें होती हैं और जो कृष्णवर्ण, पंचमुख एवं त्रिनेत्र तथा मुण्डमालालंकृत शरीर हैं[१]। स्पष्टतः यह शिव के रौद्र रूप का रूपान्तर है। मुख्य रूप से अवलोकितेश्वर की प्रतिष्ठापना अशोक के काल में बौद्ध महासंघिकों द्वारा उनके महावस्तु अवदान में हुई थी। अवलोकितेश्वर की मूर्तियाँ गुप्तकाल से मिलना प्रारम्भ हो जाती है[२]।

बौद्धतन्त्र में सभी देवियाँ तारा के नाम से अभिहित हैं[3]। पुनः इसके अनेक भेद किये गये हैं। सात सामान्य और एक विशिष्ट प्रकार होते हैं। आगम तंत्र में इसके आठ भेद किये गये हैं—

तारा चोग्रा महोग्रा च वज्रा नीला सरस्वती।
कामेश्वरी भद्रकाली इत्यष्टौ तारिणी स्मृता[४]॥

ध्यानी बुद्ध अमोघसिद्धि की देवी बुद्धशक्ति आर्यतारा या वश्यतारा कहलाती है[५]। यह हरिततारा का एक भेद है। वशीकरण और आकर्षण के लिए इसका साधन किया जाता है। पर्णशबरी भी हरित तारा में ही है। इसके तीन मुख तथा छः हाथ होते हैं। इसका वाहन रोग (मानवरूप) होते हैं। उसके दाहिने-बायें ज्वर और शीतला विपरीत दिशा में भागती हुई दिखलाई पड़ती हैं। पैर के नीचे रोग

---

१. भगवन्तं आर्यावलोकितेश्वरं कृष्णवर्णं प्रत्यालीढस्थं सूर्यमण्डलस्थितपंचमुखं त्रिनेत्रं द्वादशभुजं······मुण्डमालालंकृतशरीरं नग्नं सर्वांगसुन्दरं······ झटिति प्रत्याकलय्य···जपेत्।—सा० मा० भाग १, पृ० ८३-८७,

२. B. T. Bhattacharya: The Indian Buddhist Iconography ch. III, page 52.

३. "Tara is the common name applied to a large number of feminine divinities in the buddhist Pantheon. In the Sadhanmala Janguli Parnashabari, Mahachinatara, Ekajata and many others are called Taras,,.

Ibid: Ch. VIII, page 106

४. ताराभक्तिसुधार्णव (Tantrik texts Volxxl, arther Avelon तरंग ११ पृ० ४३७)

५. B. T. Bhattacharya: The Indian Budd hist iconography, ch. I. Page 9; ch. VIII, Page-107; ch. IX, Page 136.

अ र मरक (मानव-रूप) पड़े होते हैं। महामारी से बचने के लिए इसका साधन किया जाता है[१]। अपराजिता पीत तारा होती है। यह गणेश के ऊपर पैर देकर खड़ी है[२]। विद्वानों का मत है कि हिन्दू देवताओं के प्रति बौद्धों की तिरस्कार-भावना का यह प्रतीक है। जांगुलि भी एक बौद्ध देवी हैं जो सर्पविष का निवारण और प्रतिषेध करती है[3]। कहते हैं कि स्वयं भगवान बुद्ध ने इसके मंत्र आनन्द को दिये थे। बौद्धतंत्र की महाचीन तारा, जांगुलि तथा वज्रयोगिनी हिन्दू साधना में तारा, मनसा तथा छिन्नमस्ता के नाम से परिगृहीत हुई हैं[४]। सिततारा श्वेतकर्ण, त्रिनेत्र, चतुर्भुज है, उन के दक्षिणपार्श्व में मारीची और वामपार्श्व में महामायूरी है। इसका साधन मृत्युव्याधिविनाशन कहा गया है[५]। वाग्भट ने कुष्ठरोग में तारा के आराधन का विधान किया है। जिन और जिनसुत का भी वाग्भट ने उल्लेख किया है जिनका निर्देश साधनमाला में भी मिलता है[६]। रत्नसंभव नामक ध्यानी बुद्ध का बहुत बाद में आविर्भाव हुआ। उनका नाम जम्भल या उच्छुष्म जम्भल भी है। इनके आठ अनुचर यक्षों में एक मणिभद्र है तथा आठ यक्षिणियों में एक आर्या है[७]। वाग्भट में मणिभद्र के नाम पर कुष्ठ चिकित्सा में एक योग है[८]। आर्या का

---

१. Ibid: Ch. vI, Page 83; Ch. VIIl, page 109-110;

२. lbid: Ch. xII, page 153.

३. ibid: Ch. Vi, page 78.

४. Ibid , foreword, i.

५. साधनं सिततारायाः मृत्युव्याधिविनाशनम् ।
उद्धृत्य यच्छुभं तेन जगत् तारा स्वयं भवेत् ॥
तारां भगवतीं शुक्लां त्रिनेत्रां चतुर्भुजां……सा० मा० भाग १, पृ० २१४–२१५

६. जिनजिनसुतताराभास्कराराधनानि प्रकटितमलपापं कुष्ठमुन्मूलयन्ति
—सं० चि० २१।८८

(यह ज्ञातव्य है कि अष्टांगहृदयकार ने जिनजिनसुत के स्थान पर 'शिवशिवसुत' दिया है)

लोकधातुष्वनन्तेषु यावन्तः ससुताः जिनाः । कायेन मनसा वाचा तान् सर्वान् प्रणमाम्यहम् ॥—सा० मा० भाग १, पृ० २

७. B. T. Bhattacharya: The indian Buddhist iconography, Ch. iX, page 113-114.

८. सिद्धं योगं प्राह यक्षो मुमुक्षोर्भिक्षोः प्राणान् माणिभद्रः विलेमम्
—सं० चि०२१।२८

भी उल्लेख वाग्भट ने किया है[१]। नावनीतक में भी ऐसे उल्लेख मिलते हैं। आगे चलकर दण्डी के दशकुमारचरित में भी इसका उल्लेख है।

इनके अतिरिक्त वाग्भट में आर्यारत्न, केतुरत्न धारिणियों तथा मायूरी, महामायूरी और अपराजिता विद्याओं का उल्लेख मिलता है[२]। धारिणी आपाततः अर्थहीन वर्णों का समूह है जिनके जप से सिद्धि प्राप्त होती है। इसीका संक्षिप्त रूप आगे चलकर मंत्र और बीजमंत्र हो गया[३]। यह मंत्रयान के अन्तर्गत आती हैं जिसमें मन्त्रों, मुद्राओं, मण्डलों और देवों को प्रधानता दी जाती थी। इसका सर्वप्रथम ग्रंथ विद्याधरपिटक है जिसका निर्देश ह्वेनसांग ने किया है[४]। इसका चीनी अनुवाद ईस्वी शती के प्रारंभ में हुआ था। आगे चलकर वज्रयान में जब देवताओं की संख्या बढ़ गयी तो प्रत्येक देवता के लिये यंत्र, मंडल, मंत्र और बीजमंत्र निर्धारित कर दिये गये। बुद्ध, पितामह, रुद्र, कुमार आदि देवताओं के लिए वाग्भट ने मंत्रों का प्रयोग किया है[५]।

---

१. कुमारस्य च सह मात्रा कण्ठे उच्छीर्षके च तद्वदार्यापर्णशबरीमार्यापराजितां च गोरोचनाभिलिखिताम्। सं० उ० १।३८

और देखें—कादम्बरी एक सांस्कृतिक अध्ययन पृ० ८०–८१ (टिप्पणी)

२. मायूरीं महामायूरीमार्यारत्नकेतुधारिणीं चोभयकालं वाचयेत्। सं० उ०१।१७
भूर्जे रोचनया विद्यां लिखितामपराजिताम्।—सं० उ० ४।७
विद्यां पठन्नुपहरेत् बलिम्।—सं० उ० ४।१०
ततश्चानु पठेदेनां कुलविद्यां समाहितः।—सं० उ० ४।१२
महाविद्यां च मायूरीं शुचिस्तं श्रावयेत् सदा।—सं० उ० ८।३४

३. B. T. Bhattacharya, The indian Buddhist iconography, Foreword, XVii; सा० मा० vol. ii, introduction, LXvii—

४. Beal: Si-yu-Ki,, ii, 162.

५. 'नमश्चक्षुःपरिशोधनराजाय तथागतायर्हते सम्यक् संबुद्धाय'
ॐ चक्षुः प्रज्ञाचक्षुर्ज्ञानचक्षुर्विज्ञानचक्षुर्विशोधय स्वाहा–सं० सू०८।१००
नमो भगवते भैषज्यगुरवे वैदूर्यप्रभराजाय तथागतायार्हते सम्यक् संबुद्धाय—
ॐ भषज्ये भैषज्ये महाभैषज्ये भैषज्यसमुद्गते स्वाहा। सं०सू०२७।१४
हिलिहिलिनिमापटलिनि स्वाहा–सं० उ० ५।१०, ४।१४
नमो भगवते पितामहाय। ॐ-मंॐमं-लिम-लिम-लि-भुक्-लिभुक्-लिपि-भवनेभ्यः स्वाहा।
नमो भगवते रुद्राय हिलिमिलि, मेल्लि, मेल्लि वेल्लि, वेल्लि, झिमलिझिमलि स्वाहा।'

पंचरक्षा-मण्डल के अन्तर्गत आने वाली पांच महापंचरक्षा देवतायें हैं:—महाप्रतिसरा, महासाहस्रप्रमर्दनी, महामंत्रानुसारिणी, महामायूरी तथा महासितवती। ये दीर्घायु प्रदान करती हैं और भूत-प्रेत, रोग तथा अकाल से रक्षा करती हैं। इसके प्रतीक क्रमशः बोधिवृक्ष, वटवृक्ष, शिरीष, अशोक और चम्पक हैं[१]।

पंचरक्षा-मण्डल

	महासितवती (चम्पक)	
महामंत्रानुसारिणी (शिरीष)	महा प्रतिसरा (बोधिवृक्ष)	महासाहस्रप्रमर्दनी (वटवृक्ष)
	महामायूरी (अशोक)	

"नमो भगवते कुमाराय मिलि पिलि, खिल्लि खिल्लि, खिणि, खिणि स्वाहा।'

"नमो भगवतीभ्यो महायोगीश्वरीभ्यः। निमि निमि मेनु मेनु तेरु तेरु स्वाहा।' सं० उ० ५।२०

ग्रहों के निवारण के लिये ऐसे ही मंत्र नावनीतक में भी आते हैं:—

"इडि विडि ……मुलु मुलु…… हुहु……स्वाहा—'नाव० ६

उपर्युक्त प्रकरण आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प में विस्तार से मिलते हैं। उसमें भैषज्य गुरु वैडूर्यप्रभराज तथागत आठ बुद्धों में से एक माने गये हैं (१।७)। धारिणियों, मण्डलों, मुद्राओं का भी विस्तृत उल्लेख है। मन्त्र-तन्त्र का भी प्रयोग किया गया है:—

'निग्रहानुग्रहं चैव मंत्र-तंत्र प्रकल्प्यते। वातश्लेष्मपित्तानां त्रिविधात्र त्रिधा क्रिया।।

तंत्रमंत्रैः सदा कुर्यान् मानुषाणां चिकित्सितम्।—१५।१६१–१६२.

अपराजिता के लिये 'ॐ हुलु हुलु चण्डालि मातंगि स्वाहा (३५।३९६) मंत्र दिया गया है। इसी प्रकार 'ॐ तुरु तुरु हुलु हुलु' यह मंत्र चतुः कुमारी के लिए है (४५। ५१७)। अधिकांश प्रकरण अष्टांगसंग्रह के प्रकरणों से मिलते जुलते हैं।

—देखें आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प (भाग १, २ और ३)

बौद्ध महायान के प्रमुख ग्रन्थ सद्धर्मपुण्डरीकसूत्र में भी ये विषय आये हैं। विशेषतः धारणीपरिवर्त्त, भैषज्यराजपूर्वयोगपरिवर्त्त तथा शुभव्यूहराजपूर्वयोगपरिवर्त्त प्रकरण अवलोकनीय है।

१. B. T. Bhattacharya: The indian Buddhist iconography, ch. ix, 133-135.

महामायूरी का उल्लेख नावनीतक (२०० ई०) में भी है[1]। हर्षचरित में राजा प्रभाकरवर्धन की बीमारी के समय महामायूरी का जप होता था[2]। वाग्भट में मण्डलों का भी उल्लेख आया है[3]।

तान्त्रिक साधना के द्वारा सिद्धि प्राप्त की जाती थी और जिन पुरुषों को सिद्धि प्राप्त हो जाती थी वे सिद्ध कहलाते थे। प्राचीन योग में अणिमादि आठ सिद्धियों का बहुशः उल्लेख मिलता है। बौद्धतंत्र में भी आठ सिद्धियाँ हैं किन्तु उनसे नितान्त भिन्न हैं। ये हैं:—

१. खड्ग	५. रस-रसायन
२. अंजन	६. खेचर
३. पादलेप	७. भूचर
४. अन्तर्धान	८. पाताल[4]

इनके अतिरिक्त, शान्ति, वशीकरण, स्तम्भन, विद्वेषण, उच्चाटन और मारण ये षट्कर्म भी हैं[5]।

वाग्भट ने बौद्धों द्वारा प्रतिपादित चार आर्यसत्यों तथा चतुर्विध मरण का उलेख किया है[6]। रात में सोने के पूर्व शास्ता का स्मरण करने का उपदेश है[7]। बोधिवृक्ष का भी उल्लेख है[8]। मठों के अस्तित्व की सूचना भी मिलती है। संभवतः

१. अनया महामायूर्या विद्याराजया 'स्वातिभिक्षोः रक्षां करोहि गुप्तं पवित्रं परिग्रह परिपालनं शान्ति स्वस्त्ययनं दण्डपरिहरं विषदूषणं विषनाशनं सीमाबन्धं धरणीबन्धं च करोहि—नाव० ६

"अनया आनन्द महामायूर्या विद्याराजया तथागतभाषितया यशमित्रस्य रक्षां करोमि। नाव०७

२. पठ्यमानमहामायूरीप्रवर्त्यमानगृहशान्तिनिवर्त्यमानभूतरक्षाबलिविधानम्।
—ह०च०पृ० २६५

३. अथापतितगोवर्चःप्रलिप्ते दर्भसंस्तृते। वृत्ते वा चतु:स्रे [illegible] ले।
नानाग्रहपरीवारं भिषग् भूतपतिं लिखेत्।—सं०उ०४।१०
नख्वमात्रप्रमाणं वा त्रिवर्णं मण्डलं लिखेत् —सं०उ०५।५

४. सा० मा० भाग २, introduction, LXXX—LXXXV

५. तथा मरणमुद्दिष्टं सौगतानां चतुर्विधम्—सं०सू०९।११६
अभ्यस्यतो मार्गमिवार्यसत्यं संजायते स्वार्थपरार्थसिद्धिः।—सं०उ०५०।९६

६. शास्तारमनुसंस्मृत्य स्वशय्यां चाथ संविशेत्।—सं०सू०३।१२०

७. सर्वमेव च शस्यन्ते बोधिश्लेष्मातकाक्षकाः—सं०उ०४४।३५

८. मठप्रवेशेन विनापि सिद्धिं व्रजन्ति गोष्ठेषु रसायनानि।—सं० उ०४९।२१६

यह बौद्ध मठों का द्योतक है यद्यपि आगे चल कर यह सामान्यतः गृह या कुटी के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा।

इस प्रकार अष्टांगसंग्रह में ब्राह्मणधर्म तथा बौद्धधर्म का अपूर्व समन्वय उपलब्ध होता है।

अथर्ववेदीय परम्परा का भी प्रभाव पूर्णतः परिलिक्षित होता है। अनेक स्थलों पर अथर्वविहित शान्तिकर्म करने का विधान है[१]। भूताभिषंग और अभिचार का रोगहेतु के रूप में उल्लेख है। भूतविद्या और ग्रहों के संबंध में विस्तृत विचार किया गया है। ऐसा भी उल्लेख है कि अभिचार से शक्तिक्षय होता है। कृत्या का भी निर्देश है। आथर्वण क्रियाओं से ज्वर की उत्पत्ति बतलाई गई है। ओषधियों का मणिधारण, बलि, धूपन, रक्षाकर्म, प्रायश्चित्त आदि का विधान चिकित्सा में किया गया है। उत्पातशान्ति का भी उल्लेख है। विषों में अगदधारण का भी विधान है। स्वस्थवृत्तोक्त वृतावेक्षण की विधि भी अथर्ववेदीय परम्परा की है[२]। दैवव्यपाश्रय चिकित्सा मुख्यतः अथर्ववेदीय है। राजपुरोहित के अथर्ववेदविद होने का उल्लेख नीतिशास्त्र में किया है[३]।

मंत्र-तंत्र का प्रभाव भी दृष्टिगोचर होता है। सर्पविषों में मंत्रों का प्रयोग होता था[४]। इन मंत्रों में बड़े-बड़े सांपों को खींच लाने की शक्ति होती थी। यह प्रभावजन्य बतलाया गया है। मंत्रों का प्रयोग प्रायः सभी स्थलों में कर्म की सफलता के लिए किया गया है। भूतविद्या के प्रकरण में तो मंत्रों का महत्व है ही। मन्त्र की साधना की जाती थी और मन्त्रवित् इन्हीं सिद्ध मंत्रों से क्रिया करते थे। ये सिद्ध पुरुष कहलाते थे और उनकी पूजा की जाती थी।

मंत्र के अतिरिक्त, अनेक विद्याओं और तन्त्र का भी प्रयोग हुआ है। ऐसा विधान है कि मंत्र के समान तंत्र का भी प्रयोग करना चाहिए। संभवतः शास्त्र के लिए तंत्र शब्द इसी परम्परा का द्योतक है[५]।

---

१. तथा ब्राह्मणोऽथर्ववेदविद् दशाहं शान्तिकर्म कुर्यात्।-सं०उ०१।१७

२. अ० प० ८

३. त्रय्यां च दण्डनीत्यां च कुशलोऽस्य पुरोहितः। अथर्वविहितं कर्म कुर्याच्छान्तिकपौष्टिकम्॥ का. नी. ४।३२

४. विषं तेजोमयं मंत्रैः सत्यब्रह्मतपोमयैः। यथा निवार्यते शीघ्र प्रयुक्तैर्न तथौषधैः॥ अवाप्तौ सिद्धमंत्राणां यतेतातश्चिकित्सकः।—सं० उ० ४०।१११

५. it is difficult to determine when and under what circumstances the word 'Tantra' came to de employed in the sense

अष्टांगसंग्रह का दृष्टिकोण व्यावहारिक है और वैद्य जनों के सुखावबोध के लिए यह लिखा गया है अतः दार्शनिक अंश संभवतः जानबूझ कर छोड़ दिये गये हैं।

आचार-विचार

वाग्भट का सद्वृत्त-प्रकरण स्मृति और नीतिशास्त्र द्वारा प्रतिपादित पद्धति पर आधारित है। दश कर्मपथों या धर्मपथों की रक्षा और दश पापकर्मों के त्याग का उल्लेख किया गया है। इनमें हिंसा, स्तेय, अगम्यागमन ये तीन कायिक; पैशुन्य, परुष अनृत और असंबद्धालाप ये चार वाचिक और व्यापाद, अभिध्या, दृग्विपर्यय ये तीन मानसिक हैं।[1] इसके अतिरिक्त धर्मशास्त्र में प्रतिपादित पंच महायज्ञों का सेवन बतलाया गया है। लोकविरुद्ध, राजद्विष्ट तथा नास्तिकों की संगति में नहीं रहना चाहिए। लड़ाई झगड़े से दूर रहे। शास्त्राभ्यास से कभी सन्तुष्ट न हो, सदैव उसमें लगा रहे। क्षमा, दया, दाक्षिण्य और विवेक से युक्त हो। जो कुछ मिले उसका समुचित वितरण कर स्वयं ले। अशरणशरण, आश्रितवत्सल, भयत्राता तथा गुरुजनों का सम्मान करने वाला हो। सम्मान में वित्त, बन्धु, वय, विद्या और वृत्त को क्रमशः महत्व देना चाहिए। मूर्ख, मर्यादाहीन, कुमार्गगामी पुरुषों पर दया करे। धर्म्य, अर्थ्य, प्रिय, तथ्य, मित और पथ्य वचन बोलें। अपनी अवज्ञा और स्तुति न करे और अपने से हीन जनों की भी अवज्ञा न करें। हेतु में ईर्ष्या करे, फल में नहीं। क्रुद्ध होकर किसी को दण्ड न दे केवल पुत्र, शिष्य तथा शासनयोग्य अन्य व्यक्ति को हितभावना से दण्ड दिया जा सकता है। केशविन्यास, भाषा और वेषभूषा सभ्यजनों के अनुसार रखना चाहिए। प्रत्येक कार्य में शौच और मर्यादा का सदा ध्यान रखना चाहिए। स्त्रियों के साथ व्यवहार में भी मर्यादा का पूरा ध्यान रक्खे। मद्य में आसक्ति नहीं रक्खे। महापुरुष, देवता, सिद्धजन और शास्त्रों की निन्दा न

---

in which it is used in this literature, nor is it possible to trace the origin of the Tantras or the people who first introduced them"

Sadhanmala, vol ii, introduction, xv.

The very fact that the term 'Tantra' in the Hinduism is used indescriminately for all sorts of literature, works representing tantric Principles, is another proof of the priority of the Buddhist tantras'

—2500 years of Buddhism, page 328 F. N.

१. सं० सू० ३।११६-११७

करे और यथायोग्य धर्म, अर्थ, काम की आराधना करे। दूसरों को कष्ट पहुंचा कर धन का उपार्जन न करे। रोगी, वृद्ध, स्त्री, भारवाही, यान और ब्राह्मण को राह दे देनी चाहिए[१]।

पिछले प्रकरण में बतलाया गया है कि किस प्रकार कामन्दकीय नीति तथा शुक्रनीति के वर्णनों से वाग्भट के वर्णनों की समानता है। यह आश्चर्य का विषय है कि अष्टांगहृदय तथा शुक्रनीति के संबद्ध प्रकरण अधिकांश स्थलों में ज्यों के त्यों हैं:—यथा—

सुखार्थाः सर्वभूतानां मताः सर्वाः प्रवृत्तयः।
सुखं च न विना धर्मात्तस्माद्धर्मपरो भवेत् ॥
भक्त्या कल्याणमित्राणि सेवेतेतरदूरगः।
हिंसास्तेयान् यथाकामं पैशुन्यं परुषानृते ॥
संभिन्नालापं व्यापादमभिध्यां दृग्विपर्ययम्।
पापं कर्मेति दशधा कायवाङ्मानसैस्त्यजेत् ॥
अवृत्तिव्याधिशोकार्त्ताननुवर्तेत शक्तितः।
आत्मवत् सततं पश्येदपि कीटपिपीलिकम् ॥
अर्चयेद् देवगोविप्रवृद्धवैद्यनृपातिथीन्।
विमुखान्नार्थिनः कुर्यान्नावमन्येत नाक्षिपेत् ॥
उपकारप्रधानः स्यादपकारपरेऽप्यरौ।
संपद्विपत्स्वेकमनाः हेतावीर्ष्येत् फले न तु ॥
काले हितं मितं ब्रूयादविसंवादि पेशलम्।
पूर्वाभिभाषी सुमुखः सुशीलः करुणामृदुः ॥
नैकः सुखी न सर्वत्र विश्रब्धो न च शंकितः।
न कंचिदात्मनः शत्रुं नात्मानं कस्यचिद्रिपुम् ॥
प्रकाशयेन्नापमानं न च निःस्नेहतां प्रभोः।
जनस्याशयमालक्ष्य यो यथा परितुष्यति ॥
तं तथैवानुवर्त्तेत पराराधनपंडितः।
न पीडयेदिन्द्रियाणि न चैतान्यतिलालयेत् ॥
त्रिवर्गशून्यं नारम्भं भजेत्तं चाविरोधयन्।
अनुयायात् प्रतिपदं सर्वधर्मेषु मध्यमाम् ॥
नीचरोमनखश्मश्रुर्निर्मलांघ्रिर्मलायनः।
स्नानशीलः सुसुरभिः सुवेषोऽनुल्वणोज्ज्वलः ॥

---

१. सं० सू० ३।८२-११२।

धारयेत् सततं रत्नसिद्धमंत्रमहौषधीः ।
सातपत्रपदत्राणो विचरेद् युगमात्रदृक् ॥
निशि चात्ययिके कार्ये दण्डी मौली सहायवान् ।
चैत्यपूजाध्वजाशस्तच्छायाभस्मतुषाशुचीन् ॥
नाक्रामेच्छर्करालोष्ठबलिस्नानभुवो न च ।
नदीं तरेन्न बाहुभ्यां नाग्निस्कन्धमभिव्रजेत् ॥
सन्दिग्धनावं वृक्षं च नारोहेद् दुष्टयानवत् ।
नासंवृतमुखः कुर्यात् क्षुतिहास्यविजृम्भणम् ॥
नासिकां न विकुष्णीयान्नाकस्माद् विलिखेद् भुवम् ।
नांगैश्चेष्टेत विगुणं नासीतोत्कटकश्चिरम् ॥
देहवाक्चेतसां चेष्टाः प्राक्श्रमाद् विनिवर्त्तयेत् ।
नोर्ध्वजानुश्चिरं तिष्ठेत् नक्तं सेवेते न द्रुमम् ।
तथा चत्वरचैत्यान्तश्चतुष्पथसुरालयान् ।
सूनाटवीशून्यगृहश्मशानानि दिवाऽपि न ॥
सर्वथेक्षेत नादित्यं न भारं शिरसा वहेत् ।
नेक्षेत प्रततं सूक्ष्मं दीप्तामेध्याप्रिय णि च ॥
मद्यविक्रयसंधानदानादानानि नाचरेत् ।
पुरोवातातपरजस्तुषारपरुषानिलान् ॥
अनृजुः क्षवथूद्गारकासस्वप्नान्नमैथुनम् ।
कूलच्छायां नृपद्विष्टं व्यालदंष्ट्रिविषाणिनः ॥
हीनानार्यातिनिपुणसेवां विग्रहमुत्तमैः ।
संध्यास्वभ्यवहारस्त्रीस्वप्नाध्ययनचिन्तनम् ॥
शत्रुसत्रगणाकीर्णगणिकापणिकाशनम् ।
गात्रवक्त्रनखैर्वाद्यं हस्तकेशावधूननम् ॥
तोयाग्निपूज्यमध्येन यानं धूमं शवाश्रयम् ।
मद्यातिसक्तिं विश्रम्भस्वातन्त्र्ये स्त्रीषु च त्यजेत् ॥
आचार्यः सर्वचेष्टासु लोक एव हि धीमतः ।
अनुकुर्यात्तमेवातो लौकिकेऽर्थे परीक्षकः ॥
आर्द्रसंतानता त्यागः कायवाक्चेतसां दमः ।
स्वार्थबुद्धिः परार्थेषु पर्याप्तमिति सद्व्रतम् ॥

—हृ० सू० २।२०-४६ ।

अष्टांगहृदय के इस अंश से शुक्रनीति के तृतीय अध्याय में श्लोक संख्या १ से ३२ तक प्रायः सभी श्लोक अक्षरशः मिलते हैं। याज्ञवल्क्यस्मृति के आचाराध्याय के श्लोक ११६ से १६६ की पूरी छाया अष्टांगसंग्रह के वर्णन में है। मनुस्मृति का भी कुछ विषय मिलता है। इससे भी अधिक छाप विष्णुस्मृति की है। आयुर्वेदीय संहिताओं में जो सद्वृत्त का प्रकरण है वह वस्तुतः स्मृतियों पर आधारित है। नीतिशास्त्र भी मूलतः स्मृतियों पर आश्रित है। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि अष्टांगसंग्रह में वाग्भट ने सद्वृत्त का प्रकरण मुख्यतः विष्णुस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति तथा कामन्दकीय नीति के आधार पर लिया। शुक्रनीति के काल के संबंध में विद्वानों में मतभेद है। कुछ लोग उसे गुप्तकालीन रचना मानते हैं और कुछ लोग नालिकास्त्र तथा अग्निचूर्ण (Gunpowder) आदि का उल्लेख होने से तथा अन्य प्रकरणों के आधार पर बहुत बाद का मानते हैं।[1] अष्टांगहृदय के वर्णन से उसकी समानता भी विचारणीय है। ऐसा अक्षरशः साम्य बतलाया है कि या तो अष्टांगहृदय ने शुक्रनीति से लिया या शुक्रनीति ने अष्टांगहृदय से लिया या दोनों ने किसी सामान्य स्रोत से लिया। यदि शुक्रनीति को उत्तर गुप्तकालीन रचना मान लें और उसे वाग्भट प्रथम के बाद रक्खे तो ऐसा कहा जा सकता है कि वाग्भट द्वितीय ने शुक्रनीति से यह सारा विषय लिया। बहुत बाद में शुक्रनीति को रखने पर यह मानना होगा कि अष्टांगहृदय के आधार पर वह विषय शुक्रनीति में लिया गया क्योंकि ऐसा कोई सामान्य स्रोत दृष्टिपथ में नहीं आता। जैसा कि अन्य प्रकरणों में भी दिखाया गया है वाग्भट प्रथम इन विषयों के लिए याज्ञवल्क्यस्मृति[2] और विष्णुस्मृति का अधिक आभारी है।

प्राचीन आख्यान

अनेक प्रसंगों में प्राचीन आख्यानों का निर्देश हुआ है। शस्त्रकर्म के बाद स्निग्ध वृद्ध ब्राह्मणों की मनोज्ञ उत्साहप्रद कथा सुनने का विधान हैं जिससे व्रण का रोपण शीघ्र होता है।[3] इससे पता चलता है कि कथा-वार्ता का क्रम काफी प्रचलित था और ब्राह्मणवर्ग समाज के हित के लिए समय-समय पर इसका आयोजन करता था।

ज्वरोत्पत्ति-आख्यान

कृतयुग में पुरुष जितेन्द्रिय और ओषधियाँ वीर्यवती होने के कारण वे दीर्घायु

---

१. इसका विचार ऐतिहासिक खण्ड में किया जायगा।

२. अष्टांगसंग्रह का स्नपनाध्याय (उ० ५ अ०) याज्ञवल्क्यस्मृति के आचाराध्याय (श्लोक २७७-२९०) पर आधारित है।

३. सं० सू० ३८।३२।

और नीरोग होते थे। किन्तु उसके बाद युगस्वभाव से औषधियों के वीर्य का ह्रास होने तथा असंयम के कारण ज्वर आदि की उत्पत्ति हुई।

शिव के शाप से प्राचेतसत्व को प्राप्त प्रजापति के यज्ञ में भाग न मिलने के कारण उसके विनाश के लिए पूर्वजन्म के अपमान से रुद्राणी के द्वारा प्रेरित एक-सहस्र दिव्य वर्ष तक रुका हुआ पशुपति का क्रोध व्रत के अन्त में साकार वीरभद्र नामक सेवक के रूप में प्रकट हुआ जो भस्म-शस्त्र, तीन सिर, नेत्र, बाहु, पैरवाला, पिंगलनेत्र, दंष्ट्री, शंकुकर्ण और कृष्णवर्ण उनके सिर से निकला। उसने देवी द्वारा निर्मित भद्रकाली के साथ तथा प्रत्येक रोमरूप से निकले अनेकाकृति भयानक अनुचरों से घिरा प्रचण्ड निनाद करता हुआ दानवों का वध तथा यज्ञ का विध्वंस कर दिया और प्राञ्जलि शिव के आगे उपस्थित हुआ कि अब क्या आदेश है? शंकर ने कहा—क्योंकि तुम देवताओं से अजेय हो और दैत्यसैन्य, दक्ष और दक्षयज्ञ के विध्वंसक हो अतः अब तुम इस जगत को संतप्त करने वाला ज्वर हो। तुम सब रोगों में प्रथम और श्रेष्ठ, जन्म-मरण के समय तमोरूप होने से महामोह और पूर्व-जन्म को विस्मृत कराने वाला तथा अपथ्य के कारण ऊष्ममय होने से सन्तापात्मा जन्म-मरण में नियत रूप से होने वाला हो। इस प्रकार शिव के द्वारा आदिष्ट होकर वह पृथ्वी पर अनेक नामों से वर्त्तमान हैं यथा हाथियों में पाकल, अश्वों में अभिताप, कुक्कुरों में अलर्क, जलजों में इन्द्रमद, ओषधियों में ज्योति, धान्यों में चूर्णक, जल में नीलिका, भूमि में ऊषर और मनुष्यों में ज्वर। अरोचक, अंगमर्द, शिरोव्यथा, भ्रम, क्लम, ग्लानि, तृष्णा, सन्ताप आदि इसके सहज लक्षण हैं।

इसके सन्ताप से रक्तपित्त हुआ। उसी यज्ञ में भागदौड़ करने से गुल्म, विद्रधि, वृद्धि, जठर आदि रोग हुए। हवि खाने से प्रमेह, कुष्ठ, अर्श, शोफ, अतिसार आदि तथा भय, त्रास, शोक, अशुचिसंस्पर्श से उन्माद, अपस्मार, ग्रह आदि, रोहिणी के साथ अत्यासक्ति और शेष कन्याओं की उपेक्षा के कारण प्रजापति के क्रोध से चन्द्रमा को राजयक्ष्मा और उसके साथ कास-श्वास आदि रोग उत्पन्न हुए। वह भी ज्वर के बिना नहीं होता। इस प्रकार सभी रोग ज्वरपूर्वक तथा ज्वर शब्द से अभिहित होते हैं।[१]

राजयक्ष्मा-उत्पत्ति

नक्षत्रपति चन्द्रमा को यह रोग हुआ था अतः इसे राजयक्ष्मा कहते हैं। यह आख्यान ज्वर के प्रसंग में संक्षेप में बतलाया गया है।[२] चरकसंहिता में यह विस्तार से दिया गया है।

---

१. सं० नि० १।५-६ २. सं० नि० ५।४

सुरा-उत्पत्ति

देवों और दानवों ने सर्वौषधि डालकर जब समुद्र का मन्थन किया तब लक्ष्मी, चन्द्रमा और अमृत के साथ सुरा समुद्र से आविर्भूत हुई।[१]

बालग्रह-उत्पत्ति

भगवान शंकर ने स्कन्द की रक्षा के लिए पांच पुरुष-शरीरधारी और सात स्त्री-शरीरधारी ग्रहों को निर्मित किया था। पुरुषविग्रहों में स्कन्द, विशाख, मेषास्य, श्वग्रह और पितृग्रह थे और स्त्रीविग्रहों में शकुनी, पूतना, शीतपूतना, अदृष्टिपूतना, मुखमण्डितिका, रेवती और शुष्करेवती थे। ये स्वेच्छा से विभिन्न रूप धारण करने वाले बराबर स्कन्द की रक्षा करते रहते थे। इन रक्षकों में स्कन्द का कुमारधार होने से स्कन्द अग्रणी था। जब स्कन्द (शिवपुत्र) युवा हो गया और देवसेना का सेनापति हुआ तब उन रक्षकों की वृत्ति का प्रश्न उठा। भगवान शंकर ने उन्हें कहा कि अब मैं दूसरा कार्य तुम्हें देता हूं। जिन घरों में अतिथियों, देवताओं और पितरों की पूजा न होती हो, बलि होम आदि जहां न हों, जहां के लोगों का आचार-विचार भ्रष्ट हो गया हो तथा जहां लोग फूटे पात्र में भोजन करते हों वहां जाकर तुम बालकों का आरोग्य, शान्ति और आयु का हरण करो। इस प्रकार नियुक्त होकर वह ऐसे बालकों को पीड़ित करने लगे।[२]

विषोत्पत्ति

अमृत के लिए देवों और दानवों ने जब समुद्रमन्थन किया तब साकार क्रोध के सदृश, कृष्णवर्ण, अग्निवर्ण नेत्र वाला एक प्राणी प्रकट हुआ जिसके केश खड़े और प्रदीप्त थे, दाढ़ी भयानक थीं और रूप भीषण था। उसे देखते ही देव-दानव विषण्ण (विषादयुक्त) हो गये अतः इसे 'विष' संज्ञा मिली। यह सद्यः समस्त प्राणियों को नष्ट करने की सोचने लगा अतः ब्रह्मा ने इसे औषधियों में स्थापित कर दिया जो उपयोग-भेद से अमृत का भी कार्य करती है। स्थावर मूर्त्तियों में रहने के कारण इसे स्थावर कहते हैं। जंगम विष का निर्माण विष्णु ने सर्प आदि के रूप में पृथ्वी का भार उतारने के लिए किया।[३]

लूता-उत्पत्ति

विश्वामित्र के प्रति रुष्ट महर्षि वशिष्ठ के ललाट से जो स्वेदविन्दुयें तृण पर

---

१. सं० नि० ९।३९ २. सं० उ० ३१२-६

३. सं० उ० ४०।२-५

गिरी वह लूता हुई। कुछ लोग कहते हैं कि खाण्डव वन में जलते हुए असुरों के शरीर से जो स्फुलिङ्ग निकले वही लूता हैं।[1]

अश्वि-चमत्कार

अश्विन् के अनेक चमत्कारपूर्ण कार्यों का वर्णन ऋग्वेद में आता है। इसमें से कुछ का उल्लेख यहाँ किया गया है। अश्विन् ने यज्ञ का कटा शिर जोड़ दिया, पूषन् के गिरे दांत लगा दिये, भग को नई आंखे दीं, चन्द्रमा राजयक्ष्मा से पीड़ित हो गये थे उन्हें अच्छा किया, इन्द्र के दारुण भुजस्तम्भ को सोम से अच्छा किया, भृगुपुत्र च्यवन कामी होने के कारण वृद्धावस्था में जर्जर हो गया था उसे फिर युवा बनाया। इस प्रकार के अनेक कार्य करने से वह वैद्यों में श्रेष्ठ माने गये और इन्द्र आदि महात्माओं के द्वारा पूजित हुये। इनके साथ इन्द्र प्रातः काल सोम का पान करते हैं, सौत्रामणी में इनके साथ मनोरंजन करते हैं। ब्राह्मणों के द्वारा इन्हें यज्ञ में भाग दिया गया और वेदों में उनकी स्तुति की गई। वैद्य होने के कारण इनकी पूजा देवगण भी करते हैं मर्त्यों की बात ही क्या है।[2]

संस्कार

दोष-निवारण तथा गुणाधान के लिए संस्कार किये जाते हैं। वाग्भट में निम्नांकित संस्कारों का उल्लेख हैं:—

१. विवाह
२. पुत्रीय विधान
३. गर्भाधान
४. पुंसवन
५. गर्भस्थापन
६. जातकर्म
७. स्तनपान
८. षष्ठीपूजा
९. नामकरण
१०. निष्क्रमण
११. धरणी-उपवेशन
१२. कर्णवेध
१३. उपनयन

विवाह—विवाह का वय पुरुष के लिए २१ वर्ष है तथा स्त्री के लिए लगभग १२ वर्ष हैं। कन्या असगोत्र, अतुल्यकुलजाता, असंचारिरोगकुलप्रसूता, रूपशीललक्षणसंपन्ना, अविकलांगी, अविनष्टदन्तोष्ठकर्णनासाक्षिकेशस्तनी, कोमलांगी, अरोगप्रकृति, अकपिला, अपिंगला, अहीनाधिकांगी, सुन्दर अनिषिद्ध नामवाली, निर्दोष तथा अनिन्द्य होनी चाहिए। विवाह भी अनिन्द्य विधि

१. सं० उ० ४४।२-३ २. सं० उ० ५०।११५

(वैदिक विधि) से होना चाहिए[1]। २५ वर्ष से कम पुरुष तथा १६ वर्ष से कम स्त्री के गर्भाधान का निषेध किया है।[2] अधिकांश गृह्यसूत्रों में एक क्रिया का वर्णन है जिसे चतुर्थी-कर्म कहते हैं। विवाह के चार दिनों के बाद पति-पत्नी का समागम होता है। इससे स्पष्ट है कि उन दिनों विवाहकाल भी वही था। आगे चलकर विवाह की आयु घटती गई।[3]

पुत्रीय विधान—गर्भाधान के पूर्व यह संस्कार किया जाता हैं। तीन वर्णों में मंत्र सहित तथा शूद्रा में मंत्रवर्जित होता है। इस अवसर पर स्त्री जिस प्रकार की सन्तान की कामना है उस रूप, वर्ण एवं चरित वाले जनपद का ध्यान करे तथा उसी प्रकार का आहार-विहार, आचार एवं वेषभूषा धारण करे।[4]

गर्भाधान—गर्भाधान २५ वर्ष की आयु का पुरुष और १६ वर्ष की स्त्री के बीच होना चाहिये। इस अवस्था में परिपक्व वीर्य होने के कारण सन्तान वीर्यवान होती है। इससे कम आयु में गर्भाधान होने पर गर्भ कुक्षि में ही नष्ट हो जाता है या अल्पायु, निर्बल और रोगी होता है। एक मास तक ब्रह्मचारी रहकर पुरुष घृत-दुग्धशालिप्रधान आहार करे और स्त्री तैलमाषप्रधान आहार करे और फिर सहवास करे सम तिथियों में पुत्र और विषम तिथियों में कन्या की कामना से।[5] प्राचीन गृह्यसूत्रों में इस संस्कार को चतुर्थी-कर्म कहा गया है।

---

१. अथ खलु पुमानेकविंशतिवर्षः कन्यामतुल्यगोत्रामतुल्याभिजनामसंचारिरोग-कुलप्रसूतां रूपशीललक्षणसम्पन्नामनूनामविनष्टदन्तोष्ठकर्णनखकेशस्तनीं मृदुमरोगप्रकृतिमकपिलामपिंगलामहीनाधिकांगीं द्वादशवर्षदेशीयाममरभुजगसरिदचलवृक्षपक्षिनक्षत्रान्त्यप्रेष्यभीषणकनामान्यन्दुद्वहन्तीमनघामनिन्द्यामनिन्द्यन विधिनोद्वहेत्। सं० शा० १।३

२. सं० शा० १।४-५।

३. लगभग ई० पू० ६०० से० ईसा की आरम्भिक शताब्दी तक युवती होने के कुछ मास इधर या उधर विवाह कर देना किसी गड़बड़ी का सूचक नहीं था। किन्तु २०० ई० के लगभग (यह वही काल है जब कि याज्ञवल्क्यस्मृति का प्रणयन हुआ था) युवती होने के पूर्व विवाह कर देना आवश्यक सा हो गया।—काणे: धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ० २७५

४. अथोपाध्यायः पुत्रीयं विधानमाचरेत्। शूद्रायास्तु मन्त्रवर्जितम्। यादृशं च पुत्रमाशासीत तद्रूपवर्णचरितान् जनपदाननुचिन्तयेति स्त्री वाच्या। तच्जनपदाहार-विहारोपचारपरिच्छदांश्चानुविदधीत। —सं० शा० १।५३

५. सं० शा० १।४५-५९

पुंसवन—गर्भाधान होने पर गर्भ के व्यक्त होने के पूर्व पुष्य नक्षत्र में पुंसवन करना चाहिए। कुछ आचार्य इसका समय बारह दिनों तक मानते हैं। उसमें कुछ लोग युग्म दिनों में करने का उपदेश करते हैं और कुछ लोग प्रतिदिन।[1] इसकी निम्नांकित विधियाँ हैं।

१—लक्ष्मणा, वटशुंग, सहदेवा, विश्वदेवा, इनमें से किसी एक ओषधि को दूध में पीस कर रुई से ३-४ बूंद स्वयं दाहिने नासापुट में डाले और यदि कन्या की कामना हो तो वांये नासापुट में दे। उसे बाहर नहीं निकाले।

२—पुष्य नक्षत्र में उखाड़ी श्वेत बृहती के मूल को पीस कर उसके रस का नस्य लें।

३—उत्पलपत्र, कुमुदपत्र, लक्ष्मणामूल, आठ वटशुंग इनका इसी प्रकार नस्य ले।

४—सफेद माला और वस्त्र धारण किये स्त्री पुष्य नक्षत्र में उखाड़ी लक्ष्मणा के मूल को पीस कर गूलर के समान मात्रा में दूध के साथ पीये। इससे पुत्र उत्पन्न होता है और गर्भ स्थिर होता है।

५—इसी प्रकार गौरदण्ड, अपामार्ग, जीवक, ऋषभक, शंखपुष्पी, मध्यदण्ड, सहचर, नग्नजीव, अग्निजिह्वा या आठ वटशुंग का नस्य लें।

६—चावल के पिष्ट को पकाते समय जो वाष्प निकले उसे सूंघे और देहली पर बैठकर उसके रस का नस्य लें।

७—इसके अतिरिक्त, ब्राह्मण या वृद्ध स्त्रियां जो कहें वह करें[2]।

गर्भस्थापन (गर्भानवलोभन)—गर्भ को स्थिर रखने के लिए निम्नांकित विधियों का उपयोग करे :—

१. प्रजास्थापन महौषधियों का शिर या दक्षिण हाथ में धारण करे।

२. इनसे सिद्ध दुग्ध या घृत का पान करे।

३. इन्हीं से प्रत्येक नक्षत्र में स्नान करे और इन्हें सदा पास रक्खे।

४. इन्हीं विधियों से जीवनीय गण की औषधियों का भी उपयोग करे।[3] शांखायन गृह्यसूत्र (१।२१) तथा आश्वलायन गृह्यसूत्र (१।१३।५-७) में इसका वर्णन मिलता है।

जातकर्म—नाभिछेदन, मुखशोधन, प्राशन एवं गर्भोदकवामन के अनन्तर जात कर्म प्राजापत्य (वैदिक) विधि से करे।[4]

---

१. सं० शा० १।६०
२. सं० शा० १।६१
३. सं० शा० १।६२
४. सं० उ० १।१०

स्तनपान—बच्चों को चौथे दिन स्तनपान कराना चाहिए। इसके पूर्व पहले दिन अनन्तामिश्रित मधुघृत; दूसरे और तीसरे दिन लक्ष्मणासिद्ध घृत दिन में तीन बार चटावे। चौथे दिन हथेली में घी रखकर दो बार चटावे। उसके बाद स्तनपान करावे।[1]

षष्ठीकर्म—छठे दिन विशेषरूप से रक्षाकर्म और बलिकर्म करके रात्रि में बन्धु-बान्धव जागे और उत्सव मनावे[2]। गुप्तकाल में इसका विशेष प्रचार था। काश्यप-संहिता तथा कादम्बरी में इसका उल्लेख मिलता है।

नामकरण—१०वें या १२ वें दिन गोत्राचार के अनुसार शुभ दिन में प्रसूता स्त्री स्नानोत्सव करे और पिता संतान का नामकरण करे। नामकरण १०० वें दिन या १ वर्ष पर भी कर सकते हैं।[3] उसी दिन बच्चे के शरीर में मैनशिल, हरताल, गोरोचन, अगुरु और चन्दन का लेप करना चाहिए।

नाम आदरजनक, पिता-पितामह-प्रपितामह के समान, पहला अक्षर घोष, वृद्धि-युक्त न हो; अन्त में ऊष्मावर्ण हों, शत्रु द्वारा प्रतिष्ठित न हो, नक्षत्रदेवतायुक्त, मंगल्य, अन्तःस्थवर्णयुक्त, निर्दोष और तद्धित-रहित हो। पुत्र का नाम विसर्गान्त, समवर्ण और कन्या का नाम विषमाक्षर, कोमल, स्पष्टार्थ, मनोरम, सुखोच्चारणीय, अन्त में दीर्घ-वर्ण हो तथा आशीर्वादाभिधान के सदृश हो।[4]

निष्क्रमण—चौथे मास में शिशु को सूतिकागार से बाहर निकाले और अच्छी प्रकार अलंकृत करके अग्नि, स्कन्द आदि देवताओं को नमस्कार करावे।[5] गोभिल (२।८।१-७); खादिर (२।३।१-५) बौधायन (११।२), मानव (१।१९।१-६) काठक (३७।२८) गृह्यसूत्रों में इसका वर्णन आया है।

भूम्युपवेशन—पाँचवें मास में शुभ दिन में दो हाथ भर लीपी हुई भूमि में चारों ओर बलि देकर शिशु को बैठावे[6]। इस समय यह मन्त्र पढ़े—

"धरण्यशेषभूतानां माता त्वमसि कामधुक्" (सं० उ० १।४२)

---

१. सं० उ० १।१२-१३

२. षष्ठीं निशां विशेषेण कृतरक्षाबलिक्रियाः।
जागृयुर्बान्धवास्तस्य दधतः परमां मुदम्।—सं० उ० १।२६

३. देखें—गोभिलगृह्यसूत्र (२।८।८)

४. सं० उ० १।२७-३०

५, चतुर्थे सूतिकागारादग्निस्कन्दपुरोगमान्। मासे निष्क्रामयेद्देवान्
नमस्कर्तुं स्वलंकृतान्॥ सं० उ० १।४१

६. पञ्चमे मासि पुण्येऽह्नि धरण्यामुपवेशयेत्। द्विकिष्कुमात्रं लिप्तायां बलिं दत्वा चतुर्दिशम्॥—सं० उ० १।४१

अन्नप्राशन—छठें मास में अन्नप्राशन करावे और जैसे जैसे अन्न लेने लगे वैसे वैसे दूध छुड़ाता जाय। देर में अन्न देने से बालक रोगी नहीं होता।[१] गोभिल एवं खादिर गृह्यसूत्रों ने इसका वर्णन नहीं किया है।

कर्णवेध—६, ७, या ८ मास में नीरोग बच्चे को धात्री की गोद में रख कर सान्त्वना देते हुए हेमन्त ऋतु में शुभदिन में कर्णवेध करे। पुत्र का दक्षिण कर्ण तथा कन्या का वाम कर्ण विद्ध करे।[२] यह संस्कार कालान्तर वाली स्मृतियों तथा पुराणों में ही उल्लिखित हुआ है। व्यास स्मृति (१।१९), बौधायन गृह्यशेषसूत्र (१।१२। १) तथा कात्यायन सूत्र ने इसकी चर्चा की है[3]।

उपनयन—बालक शक्तिमान हो जाय तब वर्ण के अनुसार विद्याध्ययन करे और उसे धर्म और विनय का उपदेश करे।[४] शिष्योपनयनीय' (सं० सू० २अ०) अध्याय में इसका वर्णन किया गया है।

शिक्षापद्धति

इसकी विशेषता यह थी कि यह विषय के पूर्ण ज्ञान (सैद्धान्तिक एवं क्रियात्मक) पर जोर देती है। इसके अनुसार शिष्य को तब तक पढ़ना चाहिए जब तक उसे शास्त्र के सैद्धान्तिक एवं क्रियात्मक पक्षों का पूर्ण ज्ञान न हो जाय।[५]

शिष्य के गुणों में गुरुभक्ति, मेधा,' शारीरिक स्वच्छता, कुलीनता, ब्रह्मचर्य, कष्टसहिष्णुता, धैर्य, सच्चरित्रता एवं स्थिरता को प्रमुखता दी गई है।[६] चरक संहिता तथा अन्य प्राचीन संहिताओं में आचार्य के गुणों का भी वणन है किन्तु वाग्भट ने उनका वर्णन नहीं किया।

---

१. षष्ठेऽन्नप्राशनं मासि क्रमात्तच्च प्रयोजयेत्। चिरान्निषेवमाणोऽन्नं बालो नातुर्यमश्नुते ॥ भजेद्यथा यथा चान्नं स्तन्यं त्याज्यं तथा तथा।—सं० उ० १।४३,

२. षट्सप्ताष्टममासेषु नीरुजस्य शुभेऽहनि। कर्णौ हिमागमे विध्येत्।
—सं० उ० १।४४

३. देखें:—काणे: धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ० १७८-१७९; २०१

४. सं० उ० १।६१
कादम्बरी का शुकनासोपेदश इसका उत्तम नमूना है। इसके अतिरिक्त, कामन्दकीय नीति तथा शुक्रनीति में भी धर्म और विनय पर बल दिया गया है।

५. सं० सू० २।८–९ शिष्योऽध्याप्यो गतो यावदन्तं तन्त्रार्थकर्मणाम्—सं० सू० २।५.

६ सं० सू० २।३-४

अध्ययन-काल में आचार्य की उपासना राजा के समान करने का उपदेश किया गया है।[1]

उपनयन के अनन्तर शिक्षा का प्रारम्भ होता था और ब्रह्मचर्यपूर्वक उसका क्रम चलता था। उपनिषदों में सामान्यत: शिक्षा की अवधि बारह वर्षों की बतलाई गई है।[2] बाणभट्ट ने कादम्बरी में चन्द्रापीड़ और वैशम्पायन के विद्याध्ययन की अवधि के संबंध में कहा है कि वे छ: वर्ष की आयु में विद्यालय में प्रविष्ट हुए और दस वर्षों तक विद्याध्ययन करने के बाद सोलह वर्ष की आयु में स्नातक हो गये।[3] इससे स्पष्ट है कि बाणभट्ट के काल में यह अवधि दस वर्षों की थी।

अध्ययन के विषयों के संबंध में छान्दोग्योपनिषद् में एक सूची दी गई है जिसमें निम्नांकित विषयों का उल्लेख है।—

१. चार वेद
२. इतिहास-पुराण
३. व्याकरण
४. पित्र्य (Rituals)
५. राशि (Mathematics)
६. दैव (Physics)
७. निधि (Chronology or mineralogy)
८. वाकोवाक्य (Logic)
९. एकायन (Polity)
१०. देवविद्या (Technology[4])
११. ब्रह्मविद्या (Theosophy)
१२. भूतविद्या (The Science of Spirits)
१३. क्षत्रविद्या (Archery or Military Science)
१४. नक्षत्रविद्या (Astronomy)
१५. सर्पविद्या (Toxicology with special reference to Snake-poisoning)
१६. देवजनविद्या[5] (Fine Arts)

---

१. "हितान्यवेष आचार्यं पर्युपासीत राजवत्"—सं० सू० २।७

२. छां० ४।१०।१

३. अयमत्र भवतो दशमो वत्सर: विद्यागृहमधिवसत:, प्रविष्टोऽसि षष्ठमनु—
भवन् वर्षम्, एवं संपिण्डितेनाधुना षोडशेन प्रवर्धसे।—का० पू० पृ० २३७।

४. Nirukta (according to Wilson) (see Mitra & Cowell : Twelve principal upanishads, Vol.III, Pages 218-220.

५. स होवाचर्ग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पंचमं वेदानां वेदं पित्र्यं राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यं एकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां-नक्षत्रविद्यां सर्पदेवजनविद्यामेतद् भगवोऽध्येमि।—छा० ७।१।२

आगे चलकर धर्मसूत्रों तथा स्मृतियों में चौदह विद्याओं के नाम हैं। याज्ञवल्क्य स्मृति में चार वेद, छः वेदांग, पुराण, न्याय, मीमांसा तथा धर्मशास्त्र इन चौदह विद्याओं का उल्लेख हुआ है।[१] आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प (३३।३४६) में निम्नांकित सोलह विद्याओं का उल्लेख है—

१. इङ्गित	२. शकुन
३. खन्य	४. धातुक्रिया
५. गणित	६. व्याकरण
७. शास्त्र	८. शस्त्र
९. अध्यात्मविद्या	१०. चिकित्सा।
११. हेतु	१२. नीति
१३. शब्दशास्त्र	१४. छन्दोभेद
१५. गान्धर्व	१६. गन्धयुक्ति

चिकित्साशात्र को सर्वसत्त्वहित और सुखकर कहा गया है—'चैकित्स्यं सर्वसत्त्वहितं सुखम्'। परवर्ती काल में इनमें, आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद तथा अर्थशास्त्र इन चार उपवेदों को जोड़ कर इनकी संख्या अठारह बना दी गई है[२] कामसूत्र में ६४ कलाओं का उल्लेख है।[३]

बाणभट्ट ने कादम्बरी में चन्द्रापीड़ के अध्ययनक्रम में विषयों की एक लम्बी सूची दी है जिसमें तत्कालीन पद्धति पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।[४] उसने 'सर्वा विद्याः

---

१. पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्रांगमिश्रिताः। वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ॥—या० स्मृ० १।३

२. वायुपुराण भाग १. ६१।७९; गरुडपुराण २२३।२१;
अमुष्य विद्या रसनाग्रनर्तकी त्रयीव नीतांगगुणेन विस्तरम्।
अगाहताष्टादशतां जिगीषया नवद्वयद्वीपपृथग्जयश्रियाम् ॥
—नैषधीयचरित १।५
तथा विद्या अपि चतुर्दश पूर्वोक्ता। आयुर्वेदो धनुर्वेदो गान्धर्वश्चार्थ-शास्त्रकम् इति चतुर्थः। एवमष्टादश (नारायणी टीका)

३. का० सू० १।३।१५।

४. तथा हि पदे, वाक्ये, प्रमाणे, धर्मशास्त्रे, राजनीतिषु, व्यायामविद्यासु, चापचक्रचर्मकृपाणशक्तितोमरपरशुगदाप्रभृतिषु सर्वेष्वायुधविशेषेषु, रथचर्यासु गजपृष्ठेषु, तुरंगमेषु, वीणावेणुमुरजकांस्यतालदर्दुरपुटप्रभृतिषु वाद्येषु, भरतादिप्रणीतेषु नृत्यशास्त्रेषु, नारदीयप्रभृतिषु गान्धर्ववेदविशेषेषु, हस्तिशिक्षायाम्, तुरगवयोज्ञाने, पुरुषलक्षणेषु, चित्रकर्मणि, यन्त्रच्छेद्ये, पुस्तकव्यापारे, लेख्यकर्मणि, सर्वासु द्यूतकलासु, गन्धशास्त्रेषु, शकुनिरुतज्ञाने, ग्रहगणिते, रत्नपरीक्षासु, दारुकर्मणि, दन्त

तथा 'सकलः कलाकलापः" के द्वारा विद्या (Science & philosophy) तथा कला (Arts) का विभाजन भी स्पष्ट कर दिया। शुक्रनीति में इन विद्याओं और कलाओं का अच्छा निरूपण किया गया है। जो इन सब विद्याओं और कलाओं में निपुण हो वही गुरु होने योग्य है।[1] यद्यपि ये विद्यायें और कलायें अनन्त हैं तथापि मुख्य विद्याओं की संख्या ३२ तथा कलाओं की संख्या ६४ बतलाई गई है। विद्याओं में ये हैं—

१. चार वेद

२. आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद, तन्त्र (चारों वेदों के क्रमशः उपवेद)

३. छः वेदांग

४. मीमांसा, तर्क, सांख्य, योग, वेदान्त, नास्तिकमत।

५. इतिहास, पुराण, स्मृतियाँ।

६. अर्थशास्त्र, कामशास्त्र, शिल्प, अलंकार काव्य, देशभाषा, अवसरोक्ति, यावन मत, देशादि धर्म।[2]

कलाओं का निरूपण उपवेदों के आधार पर तथा सामान्यतः किया गया है। गान्धर्ववेद तथा धनुर्वेद की क्रमशः सात, दस, और पांच कलायें बतलाई गई हैं। आयुर्वेद की कलाओं में निम्नांकित हैं—[3]

१. आसव-मद्यादि का निर्माण

२. गूढ़शल्याहरण, सिराव्यध, व्रणव्यध

३ पाककला

४. वृक्ष का रोपण तथा पालन

५. पाषाण, धातु आदि का विदारण तथा अस्त्रीकरण।

६. इक्षुविकारों का निर्माण

७. धातुओं और औषधियों का संयोग-करण

८. धातु-विज्ञान

९. धातुओं का पृथक्-करण

१०. क्षार-निर्माण।

व्यापारे, वास्तुविद्यासु, आयुर्वेदे, मन्त्रप्रयोगे, विषापहरणे, सुरंगोपभेदे, तरणे, लंघने, प्लुतिषु, आरोहणे, रतितंत्रेषु, इन्द्रजाले, कथासु, नाटकेषु, आख्यायिकासु, काव्येषु, महाभारतपुराणरामायणेतिहासेषु, सर्वलिपिषु, सर्वदेशभाषासु, सर्वसंज्ञासु, सर्वशिल्पेषु, छन्दःसु, अन्येष्वपि कलाविशेषेषु परं कौशलमवाप।—का० पू० २३२।

१. योऽधीतविद्यः सकलः स सर्वेषां गुरुर्भवेत्— शु० नी० ४।३।२३

२. शु० नी० ४।३।२७–३० ३. वही ४।३।७१–७५

इनमें एक कला 'कुमारधारण" (Nursing and Managemeut of babies) भी है[1] वाग्भट ने बच्चे की देखभाल के प्रसंग में कुमारधार का उल्लेख किया है।[2] राजशेखर ने कलाओं को 'उपविद्या' कहा है।[3]

वाग्भट ने सांगोपांग वेद, धर्मशास्त्र, काव्य, ज्योतिष आदि का उल्लेख किया है।[4] अध्ययनकालीन आचार, अनध्याय तथा काल का उपदेश विष्णुस्मृति के आधार पर किया गया है।[5]

आयुर्वेद

आयुर्वेद की शिक्षा उपलब्ध प्राचीन संहिताओं के आधार पर दी जाती थी। शिक्षा-क्रम ऐसा था कि आयुर्वेद का स्नातक आयुर्वेद के आठों अंगों में निपुण होता था तथा उसका उद्देश्य यह था कि वह युगानुरूप चिकित्सक बन सके। अष्टांगों में भी कायचिकित्सा की प्रधानता होती थी और अन्य अंग सहायभूत होते थे। महाराज प्रभाकरवर्धन का कुलक्रमागत वैद्य रसायन अष्टांग आयुर्वेद में पारंगत और पौनर्वसव था।[6] ऐसा प्रतीत होता है कि धान्वन्तर संप्रदाय के समान कायचिकित्सकों का सम्प्रदाय पुनर्वसु आत्रेय के नाम पर 'पौनर्वसव" कहलाता था। आयुर्वेद की शिक्षा केवल शास्त्रीय न होकर क्रियात्मक होती थी। शास्त्र और क्रिया दोनों के समुचित सामञ्जस्य पर ध्यान रक्खा जाता था। स्नातकों को वैद्यकीय आचार की भी शिक्षा दी जाती थी। ऐसा भी प्रतीत होता है कि वैद्यों के अतिरिक्त समान्य शिक्षण-क्रम में भी आयुर्वेद एक अनिवार्य विषय रहता था। राजकुमार चन्द्रापीड़ ने अन्य विषयों के साथ आयुर्वेद का भी अध्ययन किया था। नालन्दा विश्वविद्यालय में भी आयुर्वेद एक अनिवार्य विषय था।[7] आयुर्वेद अर्थोपार्जन का ही एक प्रमुख साधन नहीं था प्रत्युत

---

१. शिशोः संरक्षणे ज्ञानं धारणे क्रीडने कला—शु० नी० ४।३।९७, The Sacred books of the Hindus Vol XIII,page 160,

२. अभियुक्तः सदाचारो नातिस्थूलो न लोलुपः। कुमारधारः कर्तव्यस्तत्राद्यो बालचित्तवित्। सं० उ० १।५७

३. कलास्तु चतुः षष्टिरुपविद्याः'—का० मी०, अ० १०; पृ० १५६–१५७

४. सांगोपांगास्तथा वेदाः—सं० उ० ४।२०; ज्योतिषं धर्मशास्त्राणि काव्यं —सं० शा० १२।८

५. वि० स्मृ० २८–३०

६. तेषां तु भिषजां मध्ये पौनर्वसवो युवाऽष्टादशवर्षदेशीयस्तस्मिन्नेव राजकुले कुलक्रमागतो गतः परम्पारमष्टांगस्यायुर्वेदस्य प्रकृत्यैवातिपटीयस्या प्रज्ञया यथावद्-विज्ञाता व्याधिस्वरूपाणां रसायनो नाम वैद्यकुमारकः।—ह० च० पृ० २७६।

७. A guide to Nalanda—Page 42.

समाजसेवा का भी एक मुख्य उपकरण था।[१] अतः समाजसेवा के क्षेत्र में आने वालों के लिए भी आयुर्वेद का अध्ययन आवश्यक था। कनिष्क और अशोक के राज्यकाल में बौद्ध भिक्षुओं के द्वारा आयुर्वेद देश-देशान्तर में फैला।

ज्योतिष

वाग्भट में नक्षत्र, तिथि, करण और मुहूर्त का उल्लेख हुआ है।[२] ऐसा कहा गया है कि पक्ष की तिथि तथा नक्षत्र न बतलावें और अपने जन्म का लग्न और नक्षत्र भी न बतलावें।[3] नक्षत्रों का प्रभाव प्रत्यक्ष बतलाया गया है और विभिन्न नक्षत्रों में उत्पन्न व्याधि के फलाफल भी कहे गये हैं।[४] विकृत ग्रहों से वात आदि दोषों की विकृति का सम्बन्ध स्थापित किया गया है।[५] प्रश्न-परीक्षा से रोगी के जन्म एवं आमयप्रवृत्ति के नक्षत्र का पता लगाने का विधान किया गया है।[६] गर्हित स्थान में स्थित वक्र ग्रह अशुभ फल देते हैं तथा केतु, शनि और राहु से जन्म-नक्षत्र का अभिभव अशुभ फलदायक है। पुष्य नक्षत्र शुभ माना गया है। चन्द्र-सूर्य के ग्रहण का भी उल्लेख है।[७] चिकित्सा में प्रतिकूल ग्रहों के पूजन का भी विधान है।[८] आकाश-गंगा एवं अरुन्धती का भी निर्देश है।[९]

यात्रा और शकुन का भी विचार आया है। १०८ मंगल कहे गये हैं जिनमें ज्योतिष भी है।[१०] पुंनाम पक्षियों की वाम भाग में स्थिति शुभ मानी गई है।[११] कुछ

---

१. क्वचिद्धर्मः क्वचिन्मैत्री क्वचिदर्थः क्वचिद्यशः। कर्माभ्यासः क्वचिच्चेति चिकित्सा नास्ति निष्फला ॥—सं० उ० ५०।१२४

२. नक्षत्रतिथिकरणमुहूर्तोदये प्रशस्ते—सं० सू० २७।११

३. तिथिं पक्षस्य न ब्रूयान्नक्षत्राणि न निर्दिशेत्। नात्मनो जन्मलग्नर्क्षं—सं० सू० ३।१०७।

४. "आधानजन्मनिधनप्रत्वराख्यविपत्करे। नक्षत्रे व्याधिरुत्पन्नः क्लेशाय मरणाय वा ॥—सं० नि० १।२१

५. "वातादीनां तु विकृतिर्विकृताद् ग्रहचारतः"—सं० सू० ९।९५

६. प्रश्नेन जन्मामयप्रवृत्तिनक्षत्रद्विष्टेष्टसुखदुःखानि च।—सं० सू० २२।१७

७. आतुरस्य वक्रानुवक्रा ग्रहा गर्हितस्थानस्थाः केतुशनिराहुभिर्जन्मर्क्षाभिभवः चिकित्साप्रतिषेधाय"—सं० शा० १२।१४; यश्चन्द्रसूर्ययोरुपरागं पश्यति तस्य नेत्र-रोग उपजायते।'—सं० शा० १२।१८

८. अथर्वविहिता शान्तिः प्रतिकूलग्रहार्चनम्—सं० सू० ५।४१

९. सं० शा० १०।६   १०. सं० शा० १२।८

११. सं० शा० १२।९, तुलना करें : "वामश्चायं नदति मधुरं चातकस्ते सगन्धः—मेघ०-पू० १०

दिन भी जिनमें नक्षत्र आदि अनुकूल हों प्रशस्त या पुण्य माने गये हैं और कोई काम शुभ दिन में ही करने का विधान है।[1]

चतुर्थी, नवमी आदि रिक्ता तिथियों तथा षष्ठी, अमावस्या, पूर्णिमा आदि तिथियां का उल्लेख है किन्तु दिनों के नामों का उल्लेख नहीं है।

ज्वर के प्रकरण में विस्तार से बतलाया गया है कि किस नक्षत्र में उत्पन्न ज्वर कितने दिन रहता है।[2] मध्याह्न, संध्या, अर्धरात्रि, चतुर्थी, षष्ठी, नवमी तथा पर्वदिनों में, ग्रहण में, उत्पातदर्शन में तथा भरणी, कृत्तिका, आर्द्रा, आश्लेषा, मूल एवं पूर्वा में आया हुआ दूत अशुभ माना गया है।[3] सर्वार्थसिद्ध अञ्जन के प्रकरण में पुष्य, पुनर्वसु, हस्त, चित्रा, मृगशिर, श्रवण, रेवती, शतभिषक्, रोहिणी तथा उत्तरा में, शुक्लपक्ष तथा प्रशस्त वार एवं मुहूर्त में अञ्जन लेने का विधान है।[4] इसी प्रकार सर्पविष-प्रकरण में कहा गया है कि पंचमी, पूर्णिमा, अमावस्या, अष्टमी, नवमी तिथियों में; भरणी, कृत्तिका, विशाखा, मघा, आश्लेषा, पूर्वाषाढ़ और मूल नक्षत्रों में तथा नैर्ऋतारब्ध मुहूर्त्त में हुआ सर्पदंश असाध्य होता है।[5] अन्य प्रकरणों में भी ज्योतिष के विचार मिलते हैं। इससे स्पष्ट है कि तत्कालीन समाज पर ज्योतिष का पूरा प्रभाव था और प्रायः सभी बातों में उसका विचार किया जाता था। इससे यह अनुमान स्वाभाविक है कि इस शास्त्र के पठन-पाठन की व्यवस्था उन्नत थी।

आचार्य

ग्रन्थकार ने प्रस्तावना में ब्रह्मा, दक्ष, अश्विनी, इन्द्र, पुनर्वसु, धन्वन्तरि, भरद्वाज निमि, कश्यप, काश्यप, आलम्बायन आदि देवों तथा महर्षियों और अग्निवेश, भेल,

---

१. तत्रानुकूलेषु नक्षत्रादिषु पुण्याहशब्देन। सं० शा० ३।१६
'पुण्येऽह्नि' सं० उ० १।४१, प्रशस्तेऽह्नि—सं० उ० ४९।१२

२. सं० नि० १।२२-३२

३. तथा मध्याह्नोभयसन्ध्यार्धरात्रिचतुर्थीषष्ठीनवमीपर्वदिनेषु ग्रहोपरागोत्पातदर्शनभरणीकृत्तिकार्द्राश्लेषामघामूलपूर्वासु चाशुभः।—सं० शा० १२।५

४. अथ शुक्लपक्षे पुण्येऽह्नि पुष्यपुनर्वसुहस्तचित्रामृगशिरःश्रवणरेवतीशतभिषक्प्राजापत्योत्तराणामन्यतमेन नक्षत्रेण योगमुपगते भगवत्योषधिपतौ प्रशस्ते मुहूर्त्ते सिन्धुस्रोतः समुत्थं—अंजनमाहरेत्। सं० सू० ८।९२

५. श्मशानचितिचैत्यादौ पंचमीपक्षसन्धिषु।
अष्टमीनवमीसन्ध्यामध्यरात्रिदिनेषु च॥
याम्याग्नेयमघाश्लेषाविशाखापूर्वनैर्ऋते।
नैर्ऋताख्ये मुहूर्त्ते च दष्टं मर्मसु च त्यजेत्॥ —सं० उ० ४१।५४

हारीत, माण्डव्य, सुश्रुत, कराल आदि आचार्यों का स्मरण किया है।[१] इनके अतिरिक्त गौतम,[२] पराशर,[३] कपिल[४] खण्डकाप्य,[५] कृष्णात्रेय,[६] अत्रि,[७] अगस्त्य,[८] वशिष्ठ[९] नारद,[१०] तुम्बुरु,[११] नग्नजित्,[१२] पुष्कलावत,[१३] कौटिल्य,[१४] भोज,[१५] वैतरण,[१६] शंकर,[१७] अस्थिक,[१८] का भी उल्लेख किया है। देवताओं में, ब्रह्मा,[१९] शिव,[२०] उशना,[२१] महेश्वर,[२२] का भी निर्देश किया है। आचार्य चरक[२३] और सुश्रुत[२४] का भी उनके मतों के उल्लेख के साथ नाम आता है। धान्वन्तरीय संप्रदाय का उल्लेख अनेक स्थलों पर है।[२५] इसके अतिरिक्त, आदि, अपरे, अन्ये केचित् इन शब्दों से अन्य आचार्यों का निर्देश किया गया है।

आयुर्वेदावतरण-प्रसंग में, चरक ने भी ब्रह्मा, दक्ष प्रजापति, अश्विनौ, इन्द्र भरद्वाज तथा पुनर्वसु आत्रेय का क्रमशः उल्लेख किया है।[२६] आत्रेय के शिष्यों में अग्निवेश, भेल, जतुकर्ण, पराशर, हारीत और क्षारपाणि का निर्देश है।[२७] इसी प्रकार सुश्रुत में धन्वन्तरि तथा उसके शिष्यों-औपधेनव, औरभ्र, वैतरण, पौष्कलावत, कर-

---

१. "नरेषु पीड्यमानेषु पुरस्कृत्य पुनर्वसुम्। धन्वन्तरिभरद्वाजनिमिकाश्यपकश्यपाः। महर्षयो महात्मानस्तथालम्बायनादयः। शतक्रतुमुपाजग्मुः शरण्यममरेश्वरम्॥

"कृत्वाग्निवेशहारीतभेडमाण्डव्यसुश्रुतान्। करालादींश्च सच्छिष्यान् ग्राहयामासुरादृताः॥ सं० सू० १।७-९; १३

२. सं० सू० ८।१२५ — ३. सं० सू० १७।१९; २१।१७

४. सं० सू० २०।२१ — ५. सं० शा० ३।११

६. सं० शा० १०।३४ — ७. सं० शा० १२।८; उ० ५०।१३८;

८. सं चि० ५।८७; ८।३३; १२।८; — ९. सं० चि० ५।९६

१०. सं० उ० ५।२०; — ११. सं उ० ५।२०

१२. सं० उ० ४०।२८, — १३. सं० उ० ३०।११;

१४. सं० उ० ४०।५९; ६३;

१५-१६. भोजवैतरणोद्दिष्टं विषसुप्तप्रबोधनम्—सं० उ० ४२।३९

१७-१८. सूत्रकारान् समभ्यर्च्य शंकरास्थिककाश्यपान्—सं० उ० ४२।६९

१९-२२. सं० उ० ४०।६१, ६७, ६८, ७८

२३-२४. आचार्यचरकस्यातो वस्तिस्त्रिभ्यः परं मतः। सं० सू० २८।५२

चरकस्येति वचनं सुश्रुतेन तु पठ्यते—सं० शा० १०।३२; सू० २०।२३ धन्वन्तरिके साथ सुश्रुत की पूजा का विधान है—सं० सू० ८।९४

२५. सं० सू० ८।९४, २८।२५; शा० ३।११; ५।१००; १२।८; चि० ८।१६; १२। १८; उ० ५।१०, ४०।३१-२३।

२६. च० सू० १।४-५, — २७. च० सू० १।३१

वीर्य, गोपुररक्षित, सुश्रुत का उल्लेख है।[१] डल्हण ने भोज, निमि, कांकायन, गार्ग्य और गालव का भी समावेश किया है।[२] इस प्रकार वाग्भट ने पुनर्वसु-संप्रदाय तथा धन्वन्तरि-संप्रदाय दोनों के आचार्यों का उल्लेख किया है। निमि, कांकायन, गार्ग्य,-गालव, कराल शालाक्यतंत्र के आचार्य हैं। माण्डव्य रसायन-तंत्र के प्रणेता हैं।[३] चक्रपाणि तथा डल्हण दोनों ने कराल का उल्लेख किया है। शालाक्य में इनका एक विशिष्ट संप्रदाय था ऐसा प्रतीत होता है। आलम्बायन, भोज और वैतरण अगदतन्त्र के भी आचार्य हैं। विष-वेगों के संबंध में पुनर्वसु, नग्नजित्, विदेहपति, आलम्बायन तथा धन्वन्तरि के मतों का उल्लेख किया गया है।[४] राजर्षि नग्नजित् का उल्लेख भेलसंहिता तथा शतपथब्राह्मण में हुआ है। भगवान बुद्ध के पूर्ववर्ती आचार्यों में उनकी गणना की गई है। विदेहपति जनक हैं। सर्वार्थसिद्ध अञ्जन इन्हीं के द्वारा उपदिष्ट कहा गया हैं।[५] विष-प्रकरण में कौटिल्य तथा चाणक्य के कई योग आये हैं। इससे प्रतीत होता हैं कि कौटल्य का अर्थशास्त्र वाग्भट के काल मे एक प्रचलित ग्रन्थ था। शंकर, अस्थिक और काश्यप को सूत्रकार कहा गया है और विषप्रकरण में उनकी अर्चना करने को लिखा है। अनुमान होता हैं कि ये अगदतंत्र के आचार्य थे और उनकी संहिताएँ इस विषय पर प्रचलित थीं। कश्यप और काश्यप का साथ-साथ निर्देश चरक में भी हुआ है।[६] विष-प्रकरण में इनका नाम आता है तथा कौमारभृत्य के आचार्यो में भी इनकी गणना है। वृद्धकाश्यप का भी निर्देश है (सं० उ० १।४३)। आर्यमंजुश्रीमूलकल्प (५३।५८६) में राज-गृह-निवासी महाकाश्यप नामक एक ब्राह्मण श्रावक का उल्लेख है। नावनीतक में भी कौमारभृत्य-प्रकरण में अनेक योग काश्यप के नाम दिये हैं।[७] ये एक ही थे या भिन्न कहना कठिन है। उशना और बृहस्पति के अगद विष-प्रकरण में निर्दिष्ट हैं।[८] ये स्मृतिकार उशना और बृहस्पति से भिन्न हैं या अभिन्न यह भी विचारणीय विषय है। गौतम, वशिष्ठ, अगस्त्य और नारद का चरक ने भी उल्लेख किया है। ये प्राचीन महर्षि या देवर्षि हैं। गौतम के नाम पर एक विषहर चूर्ण है, सम्भवतः गौतम की कोई संहिता भी रही होगी।[९] वाग्भट ने तुम्बुरु का भी नाम दिया है।

---

१. सु० सू० १।६ २. वही-डल्हण टीका

३. गणनाथ सेन: प्रत्यक्षशारीर (भूमिका) पृ० ३७

४. सं० उ० ४०।२६-२३

५. "विदेहाधिपोपदिष्टेन सर्वार्थसिद्धेनांजनेन"—सं० सू० ८।९९

६. च० सू० १।८,१२ ७. नाव० १४।१०-३०

८. सं० उ० ४०।६८, सं० सू० ८।१०२

९. प्रत्यक्षशारीर (भूमिका) पृ० २७

यह एक देवगन्धर्व थे जो कश्यप और प्राधा के पुत्र थे। महाभारत में इनका उल्लेख अनेक स्थलों पर हुआ है।[1] वाग्भट ने शारीर-प्रकरण में खण्डकाप्य का उल्लेख किया है, चरक में भद्रकाप्य' आते हैं।[2] अत्रि और कृष्णात्रेय का भी निर्देश हुआ है। दोषादिविज्ञान के प्रकरण में वाग्भट ने आचार्य कपिल के मत का निर्देश किया है। महर्षि च्यवन और सुकन्या का स्मरण और पूजन करने का विधान किया गया है।[3] मणिभद्र यक्ष के नाम पर भी अनेक योगों का उल्लेख हुआ है।[4]

कलाकौशल

ललित कलाओं में संगीत, नृत्य और चित्रलेख का वर्णन आता है। गोष्ठी महोत्सव और उद्यानो में संगीत, नृत्य का आयोजन होता था। कथकचारण-संघों के द्वारा भी संगीत का आयोजन होता था।[5] चिकित्सा में भी संगीत का प्रयोग होता था। ज्वर में दाह के शमन के लिए वल्लकी के मधुर गीत का विधान किया है तथा बेहोशी दूर करने के लिए वंशी का स्वर बतलाया है।[6] चित्रकला का उपयोग

---

१. म० भा० आदि० ६५।५१, सभा० ७।१४, वन० १५९।२९

२. च० शा० ६।१८

३. सुषभव्यं सुकन्यां च स्कन्दं च्यवनमश्विनौ। षडेतान् यः स्मरेन्नित्यं तस्य चक्षुर्न हीयते।।—सं० उ० १७।६८, सू० ८।९४

४. सं० शा० १२।८, चि० १०।५५, २१।२८

५. ये नागरक के सामूहिक विनोद के साधन थे। देखे का० सू० १।४।१४

६. "गोष्ठीमहोत्सवोद्यानं न यस्याः शोभते विना"

"स्वास्तृतेऽथ शयने कमनीये मित्रभृत्यरमणीसमवेतः।
स्वं यशः कथकचारणसंघैरुद्धतं निशमयन्नातंलोकम्।।
"विलासिनीनां च विलासशोभि गीतं सनृत्तं कलतूर्यघोषैः।
कांचीकलापैश्चलकिंकिणीभिः क्रीडाविहंगैश्च कृतानुनादम्।

सं० चि० ९।३९,४६

वासुदेव शरण अग्रवाल ने चारणों का सर्वप्रथम उल्लेख कादम्बरी में बतलाया है। मेरी दृष्टि में, वाग्भट बाणभट्ट के पूर्ववर्ती हैं और यहां कथक और चारणसंघों का स्पष्ट रूप से निर्देश है। (देखें हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन पृष्ठ ५६)

६. वल्लकीमधुरं गीतं चन्द्रिका हर्म्यमस्तकम्।
हरन्ति दाहं हाराश्च हरिचन्दनशीतलाः।।—सं० चि० २।८५
"विसंज्ञं सामवेणुगीतशब्दान् श्रावयेत्। सं० क० २।२३

धार्मिक कृत्यों में देवी-देवताओं का चित्रांकन करने में तथा तान्त्रिक क्रियाओं एवं विद्याओं के लेख में होता था। सूतिकागार में ऐसे अनेक चित्र बनाये जाते थे।[१] बालग्रहों की चिकित्सा में मण्डल—लेख का विधान है।[२] सामान्यतः भोजपत्र पर अपराजिता विद्या लिख कर यन्त्र बनाये जाते थे।[३]

कौशल में मिट्टी के कलापूर्ण बर्तन बनाये जाते थे जिनमें जल या औषध रखी जाता थी। तैल की द्रोणी भी बनाई जाती थी।[४] इसके अतिरिक्त, भेषजपात्र ताम्र या लोहे के बनते थे।[५] बच्चों के खिलौने, नौका और रथ भी बनाये जाते थे। चिकित्सा में उपयोग में आने वाले उपकरण यथा धूमपान, बस्ति, यन्त्र-शस्त्र, अञ्जनिका आदि का निर्माण भी होता था। अंजनिका का निर्माण स्वर्ण, रजत आदि धातुओं तथा पत्थर आदि से होता था।[६] बच्चों के खिलौने के विषय में मृच्छकटिक में हम मिट्टी तथा सोने की गाडी देखते हैं। इसके पूर्व अभिज्ञान शकुन्तल में खिलौने का मयूर आया है। वाग्भट ने लिखा है कि बच्चों के खिलौने लाख के, शब्द करने वाले, चित्र-विचित्र, भय उत्पन्न न करने वाले, मनोहर, बड़, अतीक्ष्णाग्र, गो, घोड़े, आदि पशु-पक्षी के रूप में या मांगलिक फलों के रूप में होने चाहिए।[७] इससे स्पष्ट है कि खिलौने बनाने की कला अत्यन्त विकसित रूप में थी। भोजन के पात्रों में भी सुवर्ण, रजत, कांस्य, वज्र, वैदूर्य, लोह. ताम्र, स्फटिक आदि का प्रयोग हुआ है।[८] इन सबसे प्रतीत होता है कि धातुओं और रत्नों की कारीगरी उस समय विकसित अवस्था थी। महीन से महीन कपड़े भी बनाये जाते थे।

---

१. देखे का० पृ० २१८-२२१

२. "नानाग्रहपरीवारं भिषग्भूतपतिं लिखेत्"—सं० उ० ४।१०; ५।५-१०;

३. भूर्जे रोचनया विद्यां लिखितामपराजिताम्"—सं० उ० ४।७

"कुमारस्य च सह मात्रा कण्ठे उच्छीर्षके च तद्भदार्यापर्णशबरीमार्यापराजितां च गोराचनाभिलिखिताम्।—सं० उ० ११८

४. सं० चि० १७।४०; २३।२३;

५. "ताम्रायोमृन्मयान्यतमायां स्थाल्यां समावाप्य"—सं० क० ८।११

६. सुवर्णरजतताम्रशंखशैलद्विरदरदनगवलवैदूर्यस्फटिकमेषशृङ्गासनसारान्यतम॰ घटितायामंजनिकायां निधापयेत्—सं० सू० ८।९६।

"पात्रे तु कुर्यात् सौवर्णे मधुरम्, राजतेऽम्लम्, मेषशृंगमये लवणम्, कांस्ये तिक्तम्, वैदूर्यमयेऽश्ममये वा कटुकम्, ताम्रमये आयसे वा कषायम्, नलप्लक्षपद्मस्फटिकशंखान्यतमे शीतम्।—सं० सू० २३।१०

७. "जातुषं घोषवच्चित्रमत्रासं रमणं बृहत्। अतीक्ष्णाग्रं गवाश्वादिमांगल्यमथ वा फलम्॥ सं० उ० ११६०

८. सं० सू० १०।३५-३६

वास्तु

शास्त्रगर्हित गृह में एक दिन भी रहना निषिद्ध बतलाया गया है। वास्तुविद्या-कुशल आचार्य की सलाह से घर बनाये जाते थे।[1] वाग्भट ने अनेक भवनों का निर्देश किया है विशेषतः राजभवन,[2] महानस, भैषज्यागार, आपानभूमि ,गुप्ति, गजेन्द्र-स्कन्ध, वाजिस्थान, गोकुल, आतुरालय, सूतिकागार, कुमारागार, मठ का।

राजभवन में आहारमण्डप के समीप आपानभूमि[3] का निर्देश किया गया है। पास ही में स्नानागार तथा उससे सम्बद्ध व्यायामभूमि होती थी। महानस के तीन भाग होते थे। एक भाग में मुख्य भोजनालय होता था, दूसरे भाग में अन्न की परीक्षा के लिए परीक्षणालय तथा तत्संबंधी उपचार के लिए एक भैषज्यागार होता था। महानस के सम्बन्ध में कहा गया है कि वह उन्नत स्थान में, प्रशस्त दिशा और भूमि में, अनेक खिड़कियों वाला, बड़ा, साफ-सुथरा, विश्वासी जनों से युक्त, द्वारपाल से रक्षित, अनेक विभागों से पूर्ण, आवरणयुक्त, स्वच्छ एवं दृढ़ कुम्भ आदि उपकरणों से सज्जित तथा शुद्ध जल, इन्धन आदि की व्यवस्था से युक्त होना चाहिए।[4] अन्नगत विष की परीक्षा के लिए अनेक विधियां बतलाई गई हैं। उनके लिए एक परीक्षालय आवश्यक था। भैषज्यागार पूर्व या उत्तर दिशा में तथा सुरक्षित प्रदेश में होना चाहिए वहाँ औषधियां रखने के लिए फलक (Racks or brackets) होने चाहिए। औषध पात्र ढक्कनदार हों। घटी और मूषा भी होनी चाहिए।[5] महानस में अनेक सूद (Cooks) तथा एक सूदाधिपति (Head cook) होता था जो वैद्य के निर्देशानुसार कार्य करता था।[6] गुप्ति शब्द शस्त्रों के खजाना तथा कारागार के लिए प्रयुक्त हुआ है। यहां संभवतः शस्त्रों के खजाने के लिए है। बालरोग-प्रकरण में गुप्तिद्वार से मिट्टी लाने का विधान है।[7] धन के खजाने के लिए "कोशालय" शब्द व्यवहृत हुआ है

---

१. नैकाहमप्यधिवसेद् वास्तु तच्छास्त्रगर्हितम्"—सं० सू० ३।११३

२. सं० सू० ८।७, उ० ५।१२

३. "आपानभूमिमथ गन्धजलाभिषिक्तमाहारमण्डपसमीपगतां श्रयेत्"
—सं० चि० ९।४६

४. "उच्चैःप्रशस्तदिग्देशं बहुवातायनं महत्। महानसं सुसंमृष्टं विश्वास्यजनसेवितम्। सद्वाःस्थाधिष्ठितद्वारं कक्ष्यावत् सवितानकम्। सुधौतदृढकुम्भादि परिशुद्धजलेन्धनम्॥-' सं० सू० ८।६०-६१

५. सपिधानघटीमूषाफलकस्थापितौषधम्। प्रागुदीच्योर्दिशोर्गुप्तं भैषज्यागारमिष्यते॥—सं० सू० ८।५९

६. सं० सू० ८।६२-६३।

७. मृदः पवित्रा रक्षोघ्नीराहरेत सुरालयात्। हस्तिशालाश्वशालाभ्यां शृङ्गाटकचतुष्पथात्।

(उ० ५।१२)। इसी प्रकार हाथी रहने का स्थान (गजेन्द्रस्कन्ध या हस्तिशाला), घुड़शाल (अश्वशाला या वाजिस्थान) तथा गोशाला (गोकुल) का भी उल्लेख किया है।[1] ये सब संभवतः राजभवन में प्रारम्भिक पार्श्वभग में होते थे। वाणभट्ट जब हर्ष से मिलने गये थे तो राजभवन में प्रविष्ट होने पर उन्होंने राजा के हाथी दर्पशात को देखा था। राजभवन के उद्यान में वापी, दीर्घिका तथा नानाविध यन्त्रसलिलयुक्त धारागृह एवं भूमिगृह होते थे जहां ऋतु के अनुसार राजा मनोविनोद करता था।[2] युद्धभूमि में शिविरों की रचना की जाती थी।[3] राजभवन के चारो ओर प्राकार और दुर्ग रक्षार्थ बनाये जाते थे।[4] इन सबको मिलाकर देखने से राजभवन का सजीव चित्र उपस्थित हो जाता है।

संभवतः राजभवन के अन्तःपुर में सूतिकागार और क्रीड़ाभूमिसहित कुमारागार होते थे। वाग्भट ने कहा है कि सूतिकागार प्रशस्त भूमि में अस्थि, कंकड़, पत्थर हटा कर वास्तुविद्या की दृष्टि से प्रशस्त, सभी ऋतुओं में सुखद, सर्वोपकरणयुक्त, अग्निसहित, पूर्वमुख या उत्तरमुख होना चाहिए।[5] इसी प्रकार कुमारागार प्रशस्त वास्तु के लक्षणों से युक्त कमरों वाला, उपकरणसंपन्न, शुचि, प्रवात, निर्वात, वृद्ध स्त्री और वैद्य से सेवित, खटमल, चूहे और मच्छड़ से रहित और अन्धकाररहित होना चाहिए।[6] बच्चे के लिए क्रीड़ाभूमि (Playground) सम, कंकड़, पत्थर से रहित होना चाहिए तथा इसे विडंग, मरिच, पिप्पली या नीम के क्वाथ से सींचते रहना चाहिए।[7] वाणभट्ट ने कादम्बरी में सूतिकागार का बड़ा सजीव चित्रणकिया है।

वल्मीकाग्रान्नदीतीराद्वेश्याकोशनृपालयात्। गुप्तिद्वारात् समुद्राच्च समिद्धंचाग्निमाहरेत्। स० उ० ५।१२

१. सरित्संगमगोतीर्थगजेन्द्रस्कन्धगोकुले ।
चतुष्पथे च स्नपयेद् बालं सस्तन्यमातरम् ॥—सं० उ० ५।२
"वाजिस्थानगन्धिः : (व्रणः) रक्तात्"—सं० उ० २९।१०

२. सं० सू० ४।३७-३८; २१।४

३. तुंगध्वजाख्यातनिवासभूमियुद्धागतं योधजनं चिकित्सेत्—सं० सू० ८।६६

४. "मिथ्या प्राकारदुर्गाणि—सं० सू० ९।१२१

५. प्राक् चैवास्याः नवमान्मासादपहृतास्थिशर्करकपालं प्रशस्ते देशे वास्तुविद्याप्रशस्तं सर्वर्तुसुखमुपहृतसर्वोपकरणं सन्निहितज्वलनं प्राग्द्वारमुदग्द्वारं वा सूतिकागारं कारयेत्।—सं० शा० ३।१५

६. प्रस्तवास्तुशरणं सर्वोपकरणं शुचि। निर्वातं प्रवातं च वृद्धस्त्रीवैद्यसेवितम्। निर्मत्कुणाखुमशकमतमस्कं च शस्यते।—सं० उ० १।३२

७. क्रीडाभूमिः समा कार्या निःशस्त्रोपलशर्करा ।
वेल्लोषणकणाम्भोमिः सिक्ता निम्बोदकेन वा ॥—सं० उ० १।६०

वह इस प्रकार है:—"उस सूतिका-गृह के द्वार के दोनों बगल में मंगल के लिए दो मणिमय कलश रक्खे थे और बहुत सी पुतलियां कढ़ी हुई थीं। मणिमय कलश के ऊपर सघन रूप से अनेक प्रकार के नए-नए पल्लव रक्खे हुए थे। अधिक पुत्रवाली सुन्दरियां उस स्थान में आकर शोभा बढ़ा रही थीं। सुवर्णमय एक हल और मूसल समीप रक्खे हुए थे। दूब की कोंपल के साथ दूर-दूर गुथे हुए सफेद फूलों की मालाए उस द्वार को शोभायमान कर रही थीं। अखण्डित व्याघ्रचर्म एक ओर लटक रहे थे और द्वार के ऊपर एक फूल की माला लम्बा कर लटका दी गई थी, जिसके बीच बीच में छोटी-छोटी घण्टियां बंध रही थीं। इस प्रकार के द्वार से वह सूतिका-गृह अधिक शोभा पा रहा था। कौलिक आचार को जानने वाली पति-पुत्रवती सुन्दरियों के मध्य में कोई उस द्वार के दोनों बगल में गोबर के बहुत से चौक बनाकर उनके ऊपर कितने चित्तकौड़ियां चिपका रही थीं, उससे वे चौक ऊंच-नीच हो गए थे। नानाविध गेरू आदि के सुन्दर रंग से रंजित कर मनोहर कार्पासकुसुम के कणों द्वारा उन चौकों को चित्रित करती थी, और कुसुम-फूलों की केसररेणु के संयोग से उनको लाल-लाल करती थीं। उसी गोबर के चौक से ही और चित्रित स्वस्तिक (त्रिकोणाकार द्रव्य) निर्माण करती थीं। कोई, भगवती षष्ठी देवी की प्रतिमा निर्माण करके उसे हल्दी रस से रंग पीले कपड़े पहनाती थी। कोई, फैले हुए पंख से चौड़ी मोर की पीठ पर चढ़े हुए, चंचल रक्तवर्ण पताका-समन्वित एवं शक्ति अस्त्र को उठाकर रखने से भयंकर स्वरूपवाले कार्तिकेय की प्रतिमा का निर्माण करती थीं। कोई बीच का हिस्सा अलक्तक-रस से (लाख से) लाल करके चन्द्र और सूर्य की प्रतिमा का निर्माण करती थी। कोई-कोई, बहुतर मृत्तिका के गोलियों को सजाकर रखती थीं, वे गोलियां कुंकुम के जल से पीली की हुई थीं। ऊपर में अधिकतर सोने का जो गाड़ देने से ऊंच-नीच हो गए थे, एवं समीप-समीप सफेद सरसों चिपका देने से सुवर्णखचित-सी प्रतीत हो रही थीं। अन्य कोई चन्दन के जल से धोई गई दीवारों के ऊपर भाग में पंचविध रंग से चित्र काढ़कर, कितने कपड़ों के टुकड़े से वेष्टित (लपेट) कर पीतवर्ण अबीर के लेप से रंजित कर कितने शराब (कसोरा) कतार से सजाकर रक्खे हुए थे। कोई कोई अन्यान्य शोभासम्पादनरूप मंगलकार्य करती थीं। ऐसे ही—कौलिक आचार को जानने वाली पति-पुत्रवती स्त्रियां उस सूतिकागृहमध्य में रहती थीं। भांति-भांति के सुगन्धित फूलों के हार से अलं-कृत कर द्वार के पास एक बूढ़े बकरे को बांध रक्खा था। पलंग के सिरहाने के पास नानाविध शरत्पक्व अन्न के ऊपर सत्कुलोत्पन्न एक वृद्ध स्त्री बैठी हुई थी। सर्पकंचुक और मेषशृंग का चूर्ण, घृत के साथ निरन्तर (दिन-रात) जला करता था। बालक की रक्षा के लिए अग्नि में जलते हुए नीम के पत्तों में से धूम की गन्ध फैलती थी।

ब्राह्मण-गण मन्त्र पाठ करते-करते शान्ति के लिए जल छिड़कते थे। धात्रीगण कपड़ों पर तत्काल चित्रित देवियों के पूजा की आयोजन में व्यस्त थीं। अनेक वृद्ध स्त्रियां प्रसूति के मंगल के लिए गान आरम्भ कर सुन्दर दीख रहीं थी। कोई स्वस्त्ययन कर रहा था। कोई बालक की रक्षा के लिए देवताओं को उपहार दे रहा था। कोई सफेद फूलों की मालाएं बांध रहा था। कोई विष्णुसहस्रनाम का पाठ निरन्तर कर रहा था। निर्मल सुवर्णमय दण्ड के ऊपर रक्खे हुए निश्चल बहुतर मंगलप्रदीप, मानो हृदय में प्रसूति वौर बालक के सैकड़ों कल्याणों का ध्यान करते-करते उस सूतिकागृह को प्रकाशित करते थे। एवं रक्षार्थ नियुक्त पुरुषगण नंगी तलवार हाथ में लेकर उस सूतिका-गृह के चारों ओर घेर कर घूम रहे थे।[1]

राजभवन के निकट में ही वैद्य का निवास स्थान होता था[2]। वराहमिहिर ने वास्तुविद्या के प्रकरण में दैवज्ञ, पुरोहित और वैद्य के निवासस्थान का उल्लेख किया है[3]।

आतुरालय-भवन का निर्माण भी वास्तुविद्यानुसार अवश्य होता होगा जहां रोगियों की चिकित्सा होती थी[4]। चरकसंहिता में आतुरालय का सुन्दर वर्णन किया गया है।[5] अशोक के समय से ही देश में आतुरालयों की शृंखला स्थापित हुई।[6] गुप्त काल में भी इनका पर्याप्त विकास हुआ। पाटिलपुत्र में देश का सर्वोत्तम आतुरालय था। कायचिकित्सा के अतिरिक्त शस्त्रकर्म के लिए आतुरालय में शस्त्र-कर्मागार की भी व्यवस्था अवश्य होगी। यदि चरक को कनिष्क के काल में भी मानें तो इतना स्पष्ट है कि उस समय भी देश में ऐसे आदर्श आतुरालय स्थापित थे।

उपर्युक्त उद्धरणों में देवालय का भी निर्देश है। इनका निर्माण धार्मिक कृत्यों में माना जाता था अतः स्थान-स्थान पर देवालय बनाये जाते थे।

भवनों में अतिरिक्त राजपथों का निर्माण भी होता था। उत्तरापथ और दक्षिणापथ दो महापथ प्राचीन काल से प्रसिद्ध थे जो इस विशाल देश के एक छोर को दूसरे छोर से जोड़ते थे। दो रास्ते जहां एक दूसरे को काटते हैं वहां चतुष्पथ बन जाता है। सिंघाड़े की आकृति होने से इसे शृंगाटक—चतुष्पथ भी कहते हैं। वाग्भट ने इसका अनेक बार उल्लेख किया है।

---

१. का० पू० पृ०२१८–२२१

२. तस्माद् भिषजो राजा राजगृहासन्ने निवेशनं कारयेत्।'—सं० सू० ८।७

३. बृ० सं० ५३।१०

४. सं० सू० ३८।१५

५. च० सू० १५।६-७

६. अशोक के धर्मलेख-पृ० २८

विदेशी प्रभाव

ग्रन्थ में अनेक बाहरी देशों का उल्लेख है यथा बाह्लीक, बाह्लव, चीन, शूलीक, यवन, शक, कांबोज, बोष्काण आदि। इन देशों के साथ व्यापारिक एवं राजनैतिक संपर्क होने से विनिमय स्वाभाविक था। ऐतिहासिकों का मत है कि अतिप्राचीन काल से भारत का संपर्क विदेशों से रहा है। मिस्र, असीरिया, वेबीलोन आदि प्राचीन देशों से भारत का व्यापारिक संबंध रहा है।

छठीं शताब्दी ई० पू० में भी फारस देश के साथ इसका आर्थिक एवं राजनैतिक संबंध था। इसके अतिरिक्त, सारे देश में व्यापारिक केन्द्र स्थापित थे। जिनमें तक्ष-शिला, उज्जयिनी, पाटलिपुत्र, राजगृह, चम्पानगर आदि मुख्य हैं। इनका अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार जल एवं स्थल मार्ग से होता था। समुद्री तट पर शूर्परिक, भृगुकच्छ आदि प्रसिद्ध बन्दरगाह थे जहां दूसरे देशों से व्यापारिक माल आते जाते थे। ये सभी केन्द्र राजमार्गों से संबद्ध थे। राजगृह से तक्षशिला तथा श्रावस्ती से प्रतिष्ठान वन मार्गों से जुड़ा हुआ था। सिकन्दर के आक्रमण से भारत ग्रीक लोगों के निकट संपर्क में आया। बहुत से ग्रीक भारत में घुलमिल कर शैव, वैष्णव एवं बौद्धधर्म में दीक्षित हो गये और अनेक भारतीय ग्रीक देश में जाकर बसे। अनेक लोग आते-जाते भी रहे इस प्रकार विचारों का आदान-प्रदान चलता रहा। आगे चल कर फिर शक आये। वे भी इस भूमि में आत्मसात् हो गये और भारतीय समाज में घुल-मिल गये। विद्वानों का कथन है कि अनेक अधुनातन भारतीय प्रथायें शकों के साथ आई हैं। कुशान शकों की ही एक शाखा थी। उनके साम्राज्य-काल में देश का संपर्क मध्य एशिया तथा चीन से बढ़ा। बौद्ध भिक्षुओं के साथ आयुर्वेद के ग्रन्थ बाहर गये। चीनी तुर्किस्तान के खंडहरों में प्राप्त बावर की पाण्डुलिपि इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। गुप्तकाल में भारत का संपर्क रोम देश से भी हुआ और अनेक रोमन विचार आये। यही स्थिति हूणों के समय भी रही। वे शैव थे और हूणराज मिहिरकुल के जाने के बाद भी अधिकांश हूण भारत में खप गये।

इस प्रकार स्पष्ट है कि इतिहास के प्रायः सभी क्षणों में देश का वातायन खुला रहा जिससे विदेशों से संपर्क बना रहा और विचारों का आदान-प्रदान होता रहा। ज्योतिष-शास्त्र के ग्रन्थ से इसका स्पष्ट ज्ञान होता है। वराहमिहिर ने अपने ग्रन्थों में यवन, रोमन आदि विदेशी आचार्यों का उल्लेख किया है और उनके मतों का ग्रहण किया है। आश्चर्य की बात है कि आयुर्वेद के ग्रन्थों में यवनों, शकों, बाह्लवों आदि का उल्लेख तो है किन्तु उनके विचारों से वे कहां तक प्रभावित हुये इसका कोई संकेत नहीं मिलता। दो संभावनायें हैं, एक तो यह कि आयुर्वेद ने दूसरे को दिया है उनसे

कुछ लिया नहीं और दूसरा यह कि यदि लिया तो स्पष्टतः उसे पृथक् न रख कर पूर्णतः आत्मसात् कर लिया।

सिद्धान्तों के क्षेत्र में ऐसा प्रभाव कहां तक हुआ यह कहना कठिन है किन्तु अनेक विदेशी द्रव्य आयुर्वेद में गृहीत हुए यह तो स्पष्ट ही है। हिंगु का एक पर्याय बाह्लीक रहा है क्योंकि यह उस देश से विशेषतः आता था। वाग्भट ने वोष्काण देश में उत्पन्न हींग सर्वोत्तम मानी है। इसी प्रकार तुरुष्क, कांबोजिका आदि द्रव्य हैं।

आयुर्वेद की दृष्टि से शकों का आगमन महत्वपूर्ण है। पुराणों में यह कहा गया है कि भगवान कृष्ण ने अपने पुत्र साम्ब को कुष्ठ रोग से छुटकारा दिलाने के लिए शाकद्वीप से मग ब्राह्मणों को बुलाया जो सूर्यपूजा के अधिकारी थे। इससे दो बातों का पता चलता है:—एक तो यह कि सूर्यपूजा उनके द्वारा इस देश में प्रसारित हुई और दूसरे यह कि चिकित्सा उनका कुलक्रमागत व्यवसाय था। ऐसी स्थिति में यह कैसे संभव था कि आयुर्वेद की शास्त्रीय प्रगति को वे प्रभावित नहीं करते ? इस दृष्टि से इसके विश्लेषण की आवश्यकता है और इससे अनेक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्य सामने आ जा सकते हैं।

महायान बौद्धधर्म के प्रचार के कारण चीन, तिब्बत, मंगोलिया आदि देशों से सम्पर्क बढ़ा और परस्पर पर्याप्त आदान-प्रदान हुआ। विशेषतः इस अवधि में चीन के अनेक यात्री आये तथा नालन्दा महाविहार में अधिक संख्या में छात्र प्रविष्ट हुये। अन्य देशों में तो आयुर्वेद की स्थिति अविकसित थी अतः भारत से ज्ञान गया ही किन्तु चीन में प्राचीनकाल से चिकित्सा की परम्परा आ रही थी। गुप्त एवं उत्तर गुप्तकाल में चीन से सम्पर्क बढ़ने के कारण दोनों देशों में विचारों का पर्याप्त विनिमय हुआ। चीन की चिकित्सा में सूचीवेध (Acupuncture) तथा नाड़ी-विज्ञान ये दो बातें अत्यन्त महत्वपूर्ण थीं। वाग्भट ने शस्त्रों में सूचीकूर्च नामक शस्त्र का उल्लेख किया है[१]। मेरा अनुमान है कि संभवतः यह चीन की सूचीवेधचिकित्सा का ही प्रभाव हो। महायान के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सद्धर्मपुण्डरीक' में भी इसका उल्लेख है।[२] नाड़ीविज्ञान नहीं अपनाया गया। यह बहुत बाद में अन्य माध्यम से इस देश

---

१. सूचीकूर्चो वृत्तैकमूलोऽग्रे सुनिबद्धसप्ताष्टसूचिकः कुष्ठश्वित्रव्यङ्गेन्द्रलुप्तादिषु।

—सं० सू० ३४।३१

२. 'ताश्चतस्र ओषधीरारागयेदाराग्य च काश्चिद् दन्तैः क्षोदितां कृत्वा दद्यात् कांचित् पेषयित्वा काश्चिदन्यद्रव्यसंयोजितां पाचयित्वा दद्यात् काश्चिदामद्रव्यसंयोजितां कृत्वा दद्यात् काश्चिच्छलाकया शरीरस्थानं विद्ध्वा दद्यात् काश्चिदग्निना परिदाह्य दद्यात् काश्चिदन्योन्यद्रव्यसंयुक्तां यावत् पानभोजनादिष्वपि योजयित्वा दद्यात्।'

में आया। चीनी यात्री इत्सिग (६७२–६८८ ई०) जब भारत आया था उस काल में यहां के वैद्य दर्शन आदि से ही रोगी की परीक्षा करते थे। नाड़ी-परीक्षा का प्रचलन नहीं था।[1]



'सूच्यग्रेण प्रवेश्याङ्गे जात्यन्धाय प्रयोजयेत्।' सद्धर्मपुण्डरीकसूत्र, ओषधीपरिवर्त, पृ० ९६,९९.

१. 'The Medical Science, one of the five sciences (Vidya) in India, shows that a Physician, having inspected the voice and Countenance of the diseased, Prescribes for the latter according to the eight sections of Medical Science' 'there is, indeed, no trouble in feeling the pulse.' .

—Itsing : A Record of Buddhist practices in India, ch. XXVII, page 127; ch. XXVIII, page 133.

तृतीय खण्ड

साहित्यिक अध्ययन

अश्वघोष और वाग्भट

अश्वघोष कनिष्क के समकालीन माने जाते हैं। यह बौद्ध महाकवि थे। इनकी छाया परवर्ती कवियों पर स्पष्ट रूप से लक्षित होती है। वाग्भट के लिए भी बौद्ध वातावरण में होने के कारण स्वाभाविक था कि वह अश्वघोष को अवश्य देखते। विशेष गंभीरता में न जाकर यहां दोनों के मिलते-जुलते कुछ प्रसंग दिये जा रहे हैं।

१. अश्वघोष ने बुद्ध को 'महाभिषक्' के रूप में अनेक स्थलों पर संबोधित किया है :

तल्लोकमार्तं करुणायमानो रोगेषु रागादिषु वर्त्तमानम् ।
महाभिषङ् नार्हति विघ्नमेष ज्ञानौषधार्थं परिखिद्यमानः ॥

—बु० च० १३।६१

"अहं हि दष्टो हृदि मन्मथाहिना विधत्स्व तस्मादगदं महाभिषक् ॥'

—सौ० न० १०।५५

वाग्भट ने एक मन्त्र में 'महाभैषज्य तथा 'भैषज्यगुरु' का प्रयोग किया है :
नमो भगवते भैषज्यगुरवे" "ऊं भैषज्ये भैषज्ये' महाभैषज्ये—सं० सू० २७।१४

२—इसी प्रकार बौद्ध धर्म के त्रिस्कन्ध, अष्टांग तथा आर्यसत्यों का अश्वघोष ने प्रयोग किया है :—

"त्रिस्कन्धमेतं प्रविगाह्य मार्गं प्रस्पष्टमष्टांगमहार्यमार्यम्"
'तद्व्याधिसंज्ञां कुरु दुःखसत्ये दोषेष्वपि व्याधिनिदानसंज्ञाम् ।
आरोग्यसंज्ञां च निरोधसत्ये भैषज्यसंज्ञामपि मार्गसत्ये ॥

—सौ० न० १६।३७,४१

वाग्भट ने 'स्कन्धत्रयमात्रनिबन्धनः'[1] से त्रिस्कन्ध का निर्देश किया है। अष्टांग के आधार पर तो उनके ग्रन्थ का नाम ही है। चार आर्यसत्यों का भी उसने उल्लेख किया है :—

अभ्यस्यतो मार्गमिवार्यसत्यं संजायते स्वार्थपरार्थसिद्धिः। —सं० उ० ५०।९६

३—महामायूरी, अपराजिता आदि विद्याओं का संकेत अश्वघोष ने किया है :—
"यथौषधैर्हस्तगतैः सविद्यो न दश्यते कश्चन पन्नगेन।"—सौ० न० ५।३१
वाग्भट ने भी इन विद्याओं का उल्लेख अनेक स्थलों पर किया है।[2]

---

१. क्या चरक के त्रिस्कन्ध और अष्टांग का इससे कोई संबन्ध है ?
२. देखें :—द्वितीय खण्ड में धार्मिक स्थिति का प्रकरण।

४—विषों का निवारण मन्त्रों तथा अगदों से होता था उसका भी संकेत अश्वघोष ने किया है:—

'प्रयान्ति मंत्रैः प्रशमं भुजंगमा न मन्त्रसाध्यास्तु भवन्ति धातवः।
क्वचिच्च कंचिच्च दशन्ति पन्नगाः सदा च सर्वं च तुदन्ति धातवः ॥

—सौ० न० ९।१३

"स्थिते समाधौ हि न धर्षयन्ति दोषा भुजंगा इव मंत्रबद्धाः ।,—सौ० न० १६।३५

वाग्भट ने भी इसका उल्लेख किया है।[1]

५—शब्द-साम्य तथा भाव-साम्य के भी अनेक उदाहरण मिलते हैं यथा—

'गुरूणि वांसास्यगुरूणि चैव सुखाय शीते ह्यसुखाय घर्मे —सौ० न० ११।४२

कुंकुमेनानुदिग्धांगो गुरुणाऽगुरुणाऽपि वा —स० सू० ४।१९

'निरीक्षमाणाय जलं सपद्मं वनं च फुल्लं परपुष्टजुष्टम् —सौ० न० ७।२३

कान्ता वनान्ताः परपुष्टघुष्टा रम्याः स्रवन्त्यः सततं स्रवन्त्यः।

—सं० उ० ४९।८९

"प्रदीप्त इव वेश्मनि'

—सौ० न० १४।३०

"दीप्तस्येवाम्बु वेश्मनः

—सं० चि० २।५

'पुरं गुप्तमिवारयः'—सौ० न० १४।३६

'शूरैरायुधिभिर्गुप्तमधृष्यं नगरं परैः

—सं० उ० १।७६.

'क्वचित् शीतं क्वचिद् धर्मः
क्वचिद् रोगो भयं क्वचित्
बाधतेऽभ्यधिकं लोके,
तस्मादशरणं जगत् ॥

—सौ०न०१५।४५

'क्वचिद् धर्मः क्वचिन्मित्रं
क्वचिदर्थः क्वचिद् यशः।
कर्माभ्यासः क्वचिच्चेति
चिकित्सा नास्ति निष्फला ॥

—स० उ० ५०।१२४

'दर्पान्वितो नाग इवांकुशेन'

—सौ० न० १७।६४

नहि भद्रो[2]ऽपि गजपतिर्निरंकुशः श्लाघनीयो जनस्य—सं० सू० ८।५

कालिदास और वाग्भट

गुप्त-काल भारत के सांस्कृतिक पुनरुत्थान का युग माना जाता है। इसी कारण यह इतिहास का स्वर्णयुग भी कहा जाता है। महाकवि कालिदास इस युग के सच्चे

---

१. सं० उ० ४०।१११

२. भद्र, मन्द्र, मृग और मिश्र ये हाथी की चार जातियाँ होती हैं। भद्रगज का लक्षण है :—

"मध्वाभदन्तः शबलः समांगो वर्तुलाकृतिः।
सुमुखोऽवयवश्रेष्ठो ज्ञेयो भद्रगजः सदा ॥ —शु० नी० ४।७।३३-३४

प्रतिनिधि हैं जो तत्कालीन संस्कृति का पूरा-पूरा प्रतिनिधित्व करते हैं और जिन्होंने परम्परा के साथ-साथ सनातन मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा की है; शब्द और अर्थ, भावना और विवेक तथा भोग और त्याग का समुचित समन्वय स्थापित किया है। इस रूप में वह इतिहास के एक मानदण्ड के रूप में स्थित हैं जिसका विस्तार पूर्व से लेकर पश्चिम तक है। वाग्भट भी गुप्त-काल के एक प्रतिनिधि निर्माता हैं। अतः स्वाभाविक है कि ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक विवेचन के प्रसंग के महाकवि की कृतियों के साथ उनका तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जाय। कालिदास विक्रमादित्य (चन्द्रगुप्त द्वितीय) तथा कुमारगुप्त के समकालीन माने जाते हैं। अतः इनका काल ३५०-४७२ ई० है।[१]

वाग्भट की कृति 'अष्टांगसंग्रह' में कालिदास का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। यहां कुछ प्रमुख तथ्यों का विचार किया जा रहा है।

१ भाषा—यह कहा जाता है कि गुप्त-काल में 'गुप् धातु से बने हुए शब्द अत्यन्त लोकप्रिय थे और रचनाओं में बहुशः व्यवहृत होते थे। कालिदास की रचनाओं में ऐसे शब्द बहुत मिलते हैं।[२] अष्टांगसंग्रह में भी ऐसे शब्दों का अनेक बार प्रयोग हुआ है।[3] गुप्तकालीन 'अलिजर' शब्द का भी प्रयोग वाग्भट ने किया है।[४]

२ **शैली**—कालिदास के नाटकों का प्रारम्भ जैसे मंगलाचरण से होता है तथा समाप्ति भरत-वाक्य से होती है वैसे ही अष्टांग-संग्रह में भी ग्रन्थ का मंगलाचरण तथा समाप्ति हुई है।

छन्दोयोजना दोनों में प्रायः समान ही है किन्तु कालिदास ने कहीं-कहीं प्राचीन वैदिक छन्द का प्रयोग किया है। उसके विपरीत, वाग्भट ने अधिकसंख्य छन्दों का चमत्कारी रूप से प्रयोग किया है। अलंकारों का भी प्रयोग वाग्भट में विशेष मिलता है। ये तथ्य वाग्भट का परवर्तित्व सूचित करते हैं।

३—कालिदास ने प्राचीन महर्षियों के परिप्रेक्ष्य में अपनी स्थिति का वर्णन करते हुए लिखा है :—

"अथवा कृतवाग्द्वारे वंशेऽस्मिन् पूर्वसूरिभिः।
मणौ वज्रसमुत्कीर्णे सूत्रस्येवास्ति मे गतिः ॥ रघु० १।४

१. Winternitz : A History of Indian literature Vol III Part I, 47.

२. कालिदास का भारत—भाग २, पृ० २३०-३१

३. सं० उ० १।७६, ५।१२, ३१।३९, ४२।१७,

४. सं० चि० ९।१९

आयुर्वेद का बृहद् इतिहास—पृ० २१८,

अष्टांगसंग्रह-टीका (अत्रिदेव)—द्वितीय भाग पृ० ५३

उसी प्रकार वाग्भट ने लिखा है :—

"न मात्रामात्रमप्यत्र किञ्चिदागमवर्जितम् ।
तेऽर्थाः स ग्रन्थबन्धश्च संक्षेपाय क्रमोऽन्यथा ।। —सं० सू० १।२२

इस प्रकार दोनों ने आगम का निर्देश किया है :—

४—प्राचीन और नवीन की तुलना में नवीन के उचित महत्त्व पर बल देते हुए कालिदास ने कहा है :—

"पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम् ।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः ।। माल० १।२;

वाग्भट के स्वर में तीव्रता अधिक है :

"ऊर्ध्वमेति मदनं त्रिवृताधो वस्तुमात्रक इति प्रतिपाद्ये ।
मद्विधो यदि वदेदथवात्रिः कथ्यतां क इव कर्मणि भेदः ।।
साध्वसाध्विति विवेकवियुक्तो लोकपंक्तिकृतभक्तिविशेषः ।
बालिशो भवति नो खलु विद्वान् सूक्त एव रमते मतिरस्य ।।

—सं० उ० ५०।१३८-३९

५—शुभाशुभ निमित्तों का उल्लेख दोनों ने किया है[1]:—

पुरुषों की दाहिनी आंख तथा स्त्रियों की बांई आंख फड़कना शुभ और इसके विपरीत अशुभ माना गया है।

६—आथर्वणिक क्रियाओं का महत्व कालिदास की रचनाओं में मिलता है। रघु-कुल के गुरु वशिष्ठ अथर्वनिधि तथा अथर्वविद् कहे गये हैं[2] । अथर्व-परिशिष्ट में गुरु और पुरोहित को अथर्वविद् होना आवश्यक बतलाया गया हैं।[3] ज्ञात होता है कि उस युग में अथर्ववेद का अधिक महत्व था[4] और संभवतः अथर्व परिशिष्ट की रचना उसी के लगभग हुई हो। वराहमिहिर की रचनाओं में पुण्यस्नान घृतावेक्षण, उत्पात आदि अनेक प्रसंग अथर्वपरिशिष्ट में मिलते हैं। कालिदास की रचनाओं में में भी अभिचार और अभिशाप आदि कृत्य बहुशः व्यवहृत मिलते हैं।

---

१. रघु० ६।६८; १४।४९-५०; मेघ० १।१०, शा० १।१६, पृ० ८४; ७।१३ विक्र० ३।९; माल० पृ० ३४३;

२. रघु० १।५९; ८।४; ११।६२; १७।१३; शा० ३। पृ० ४१; १७६; १७।१७

३. समाहितांगप्रत्यंगं विद्यासारगुणान्वितम् ।
पैप्पलादं गुरु कुर्यात् श्रीराष्ट्रारोग्यवर्धनम् ।। अ० प० २।३।५

४. त्रयो लोकास्त्रयो देवास्त्रयो वेदास्त्रयोऽग्नयः ।
अर्धमात्रे लयं यान्ति वेदश्चाथर्वणः स्मृतः ।।—अ० प० २।५।४

शाप पर तो प्राय: उनकी सभी रचनायें केन्द्रित हैं। वाग्भट में भी दिनचर्या-प्रकरण में घृतावेक्षण आदि विधियां अथर्व-परिशिष्टोक्त ही हैं।

७—यज्ञ-याग, ब्राह्मण की पूजा एवं दक्षिणा आदि से उनका सत्कार, गौ-प्रदक्षिणा,बलि, तीर्थयात्रा, धार्मिक संस्कार, त्रिदेव-पूजा तथा भूत-प्रेत पर विश्वास[1] दोनों में मिलता हैं,सूर्य-पूजा का भी उल्लेख मिलता है[2]। किन्तु वाग्भट में ब्राह्मणधर्म के साथ-साथ बौद्धधर्म के अनेक तथ्य पाये जाते हैं। यद्यपि गुप्तकाल में भी सभी धर्मों का आदर और सम्मान था तथापि ब्राह्मणधर्म का प्रभुत्व था। आगे चल कर उत्तर गुप्तकाल में बौद्धधर्म का विशेष संपर्क होने लगा जो परवर्ती काल में तान्त्रिक संप्रदाय (वज्रयान–आदि) का कारण बना। कालिदास की रचनाओं में यद्यपि यत्र तत्र बौद्ध धर्म की छाया मिलती है तथापि ब्राह्मणधर्म का प्राधान्य है जब कि वाग्भट की रचना में बौद्ध मान्यताओं का सम्पर्क अधिक हैं। इस दृष्टि से वाग्भट कालिदास से पीछे का है।

८—कालिदास ने त्रिविध (कायिक, वाचिक तथा मानसिक) तप का उल्लेख किया है[3]। वाग्भट ने बौद्ध धर्म के अनुसार दस कर्मपथों का अनुसरण तथा दस पापकर्मों का परित्याग बतलाया है जिसमें कायिक, वाचिक एवं मानसिक तीनों भावों का अन्तर्भाव होता है[4]।

९—कालिदास ने वर्णाश्रम–व्यवस्था का निरूपण किया हैं[5]। जिसका अनुसरण वाग्भट ने भी किया हैं[6]। दोनों ने सभी वर्णों में ब्राह्मणों की श्रेष्ठता प्रतिपादित की हैं।[7]

१०–विद्यासमाप्ति पर कालिदास ने गुरुदक्षिणा का संकेत किया है।[8] वाग्भट ने भी गुरुपूजा का विधान किया हैं।[9]

११–संमोहन, प्रस्वापन आदि क्रियाओं का वर्णन कालिदास ने किया है।[10] इससे प्रतीत होता है कि तान्त्रिक क्रियाओंका उस काल में पर्याप्त प्रचार था। वाग्भट में तान्त्रिक क्रियाओं की विकसित अवस्था मिलती है। मन्त्र का ,प्रभाव भी दोनों में है।[11]

---

१. रघु० १।७६; १७।१७; १७।८०; १४।७; १५।१०१; ११।२५; कु०७।३९: ४४; शा०पृ०५८,६९; ७।२४

२. शा० पृ०१५५, विक्र० पृ० १६८; २१३; २१५

३. रघ० ५।५ ४. सं० सू० ३।११६–१८

५. रघु० ५।१९ ६. सं० उ० ४१।२१-२४,

७. रघु० १४।६७,८५

८. रघु० ५।२० ९. सं० चि० २१।८८

१०. रघु० ५।५७; ७।६१; कु० ३।६६; सं० उ० ५०।१००

११. रघु० १२।९९;

१२—शुक, सारिका आदि पक्षियों को रखने की परम्परा का संकेत कालिदास की रचनाओं में मिलता है।[1] एक-दो उदाहरण देखें:—

"भवति विरलभक्तिर्म्लानपुष्पोपहारः स्वकिरणपरिवेषोद्भेदशून्याः प्रदीपाः।
अयमपि च गिरं नस्त्वत्प्रबोधप्रयुक्तामनुवदति शुकस्ते मञ्जुवाक् पंजरस्थः॥
—रघु० ५।७४

"आलोके ते निपतति पुरा सा बलिव्याकुला वा
मत्सादृश्यं विरहतनु वा भावगम्यं लिखन्ती।
पृच्छन्ती वा मधुरवचनां सारिकां पंजरस्थां
कच्चिद् भर्तुः स्मरसि रसिके त्वं हि तस्य प्रियेति॥"—मेघ० २।२५

प्राचीन चौंसठ कलाओं में शुकसारिकाप्रलापन भी एक है।[2]

वाग्भट ने राजाओं के मनोरंजन के साथ उसकी रक्षा के लिए इन पशु-पक्षियों की व्यवस्था का विशद वर्णन किया है। सविष अन्न के प्रयोग से उनकी क्या दशा होती है इससे उनकी स्थिति का पूरा चित्रण होता है:—

'दृष्ट एवं चास्मिंश्चकोरस्याक्षिणी विरज्येते। कोकिलस्य स्वरो विकृतिमेति। हंसस्य गतिः स्खलति। कूजति भृंगराजः। माद्यति क्रौञ्चः। विरौति कृकवाकुः। विक्रोशति शुकः। सारिका च छर्दयति। चामीकरोऽन्यतो याति। कारण्डवो म्रियते। जीवंजीवको म्लायति। हृष्टरोमा भवति नकुलः। शकृद् विसृजति वानरः। रोदिति पृषतः। हृष्यति मयूरो दर्शनादेव चास्य विषं मन्दतामुपैति।"

—सं० सू० ८।२३.

१३—पूर्ण कलश, शंखध्वनि, तूर्यस्वन, श्रीवत्स, लक्ष्मी, पारिजात,[3] आदि मांगलिक भावों का उल्लेख कालिदास ने किया है। वाग्भट ने भी १०८ मांगलिक भावों का निर्देश किया है।[4] इसके अतिरिक्त प्रस्थान-काल में यात्रा का भी विचार किया गया है।[5] कालिदास ने हरिताल और मनःशिला को मांगलिक कहा है।[6] वाग्भट ने पुंनाम पक्षियों की वाम भाग में स्थिति शुभ मानी है और कालिदास ने भी मेघ के प्रस्थान-काल में ऐसा ही प्रास्थानिक मंगल उपस्थित किया है।

'पुंनामानः पक्षिणो वामाः शुभाः—सं० शा० १२।९

'वामश्चायं नदति मधुरं चातकस्ते सगन्धः। (मेघ० १।१०)

---

१. रघु० १७।२०; मेघ० २।२५; विक्र० २।२२

२. का० सू० १।३।१५;

३. रघु० ६।१९, १०।१०–११; १०।७७, ५।६३, १७।२९;

४. सं० शा० १२।१८; सू० ३।२४!

५. रघु० १६।२३; शा० पृ० ६४; ६. कु० ७।२३;

१४—शरीर के अंगों में स्थित सामुद्रिक चिह्नों से दीर्घायुष्ट्व, सौभाग्य, चक्रवर्तित्व आदि के बोध की परम्परा कालिदास के काल में प्रचलित थी जिनका अनेक स्थलों पर महाकवि ने उल्लेख किया है।[1] उसके पूर्व अश्वघोष ने भी इसका निर्देश किया है।[2] वाग्भट में भी ऐसे संकेत उपलब्ध होते हैं।[3]

१५—नेत्र में अञ्जन का विधान चिरन्तन काल से चला आ रहा है। कालिदास ने इसका अतीव सुन्दर चित्रण किया है।

"विलोचनं दक्षिणमञ्जनेन संभाव्य तद्वञ्चितवामनेत्रा।
तथैव वातायनसंनिकर्षं ययौ शलाकामपरां वहन्ती ॥ रघु० ७।८

वाग्भट ने सर्वार्थसिद्ध अञ्जन का बड़े ही सम्मान के साथ विस्तृत वर्णन किया है और हाथी पर बैठाकर जुलूस में वैद्य के घर से राजकुल में ले जाने का विधान बतलाया है।[4] वराहमिहिर ने इसी प्रकार ध्वजदण्ड को लाने का विधान बतलाया है।[5]

१६—अंशुक, दुकूल, क्षौम आदि वस्त्रों का वर्णन कालिदास ने किया है।[6] अंशुक संभवतः महीन रेशमी वस्त्र थे जो देह से सटे रहते थे और इतने हलके कि सांस से उड़ जांय। दुकूल सूती वस्त्र था। क्षौम अलसी के रेशों से बना हुआ वस्त्र था[7] वाग्भट ने इन सभी का उल्लेख किया है।

१७—यद्यपि धार्मिक दृष्टि से ब्राह्मण लोग मद्यपान नहीं करते थे[8] तथापि सामान्यतः समाज में मद्यपान का रिवाज था।[9] मद्यपान का स्थान "आपान-भूमि" कहलाता था और चषकों में मद्य पिया जाता था।[10] स्त्रियाँ भी मद्यपान करती थीं।[11] गुप्तकाल में इसका खूब प्रचलन था। कालिदास की रचनाओं में इसका सर्वत्र निर्देश मिलता है। एक स्थान में रणभूमि की उपमा पानभूमि से दी गई है।

---

१. रघु० ४।८८; ६।१८; शा० ७।१६,
२. बुद्धचरित १।६०   ३. सं० शा० ८।३२
४. सं० सू० ८।९१-९८   ५. बृ० सं० ४२।२३-२६
६. रघु० ७।१८; १०।८; १२।८; १६।४३; १९।२६; कु० १।१४, मेघ० २।७; ऋतु० ४।३; शा० १।३२; विक्र० ३।१२;
७. हर्षचरित-एक सांस्कृतिक अध्ययन पृ० ७६-७९
८. यात्रा—विवरण पृ० १५
९. कालिदास का भारत—भाग १ पृ० ३२३-३२४
१०. रघु० १९।११; कु० ६।४२
११. कु० ४।१२,; ७।६२; ८।७७ मेघ० २।१८; ऋतु० ५।१०; शा० ३।४; माल० पृ० ३९१; रघु० ८।६८;

"शिलीमुखोत्कृत्तशिरःफलाढ्या च्युतैः शिरस्त्रैश्चषकोत्तरेव ।
रणक्षितिः शोणितमद्यकुल्या रराज मृत्योरिव पानभूमिः ॥ रघु० ७।४९

इसकी तुलना वाग्भट में निम्नांकित श्लोकों से करें :—

"आपानभूमिमथ गन्धजलाभिषिक्ता—
माहारमण्डपसमीपगतां श्रयेत ।—सं चि० ९।४६
"पीत्वैवं चषकत्रयं परिजनं सम्मान्य सर्वं ततो
गत्वाहारभुवं पुर. सुभिषजो भुञ्जीत भूयोऽन्नं च ॥ सं० चि० ९।४७

१८—सैन्य में हाथी और घोड़े की प्रधानता का उल्लेख कालिदास ने किया है।[1] अष्टांगसंग्रह के वर्णनों से भी इसका संकेत मिलता है। किन्तु वाग्भट ने घोड़े की अपेक्षा हाथी को विशेष महत्त्व दिया है क्योंकि इसका अनेक बार उल्लेख हुआ है।[2] इससे प्रतीत होता है कि उस समय हाथियों का विशेष प्रयोग होने लगा था।[3]

१९—अपत्य का महत्व कालिदास ने अपनी अनेक रचनाओं में दिलीप, दशरथ, दुष्यन्त आदि चरितनायकों के माध्यम से प्रतिपादित किया है।[4] अष्टांगसंग्रह का एतत्सम्बन्धी वर्णन इससे बिलकुल मिलता-जुलता है।

"अच्छायः पूतिकुसुमः फलेन रहितो द्रुमः।
यथैकश्चैकशाखश्च निरपत्यस्तथा नरः ॥
अदृष्टपुत्रपौत्रस्य कुलतन्त्वनुवर्त्तिनः।
संसारसुखबाह्यस्य कीदृशं नाम जीवितम् ॥" सं० उ० ५०।७-८

२०—आकाशगंगा का उल्लेख कालिदास ने किया है।[5] अष्टांगसंग्रह में भी मिलता है।[6]

२१—सूर्यकान्त, चन्द्रकान्त, अयस्कान्त, पद्मराग, इन्द्रनील आदि मणियों तथा उनके संस्कार एवं उल्लेखन का उल्लेख कालिदास ने किया है। खानों से रत्न निकलते थे।[7] वाग्भट में भी इनका उल्लेख हुआ है।

२२—विषवल्ली का उल्लेख कालिदास[8] और वाग्भट दोनों ने किया है।

---

१. गजवती जवतीव्रहया चमूः । रघु० ९।१०;
२. सं० सू० ८।५, चि० ९।२०,
३. हर्षचरित-एक सांस्कृतिक अध्ययन—पृ. ३९-४०
४. रघु० १०।२; शा० पृ० १२१; ६।२४-२५;
५. रघु० १०।६३; १२।८५; ६. सं० शा० १२।८;
७. रघु० ११।२१; १३।५३-५४; १७।६३; कु० २।५९; ८।६७,७५; शा० २।७, ६।६ विक्र० ५।११, रघु० १८।२२;
८. रघु० १२।६१;

२३—गंगा आदि नदियों तथा हिमालय आदि पर्वतों का उल्लेख दोनों ने किया है।[1]

२४—कालिदास ने जातकर्म आदि संस्कारों का उल्लेख किया है।[2] ये संस्कार अष्टांगसंग्रह में भी पाये जाते हैं।

२५—गृहदीर्घिका, यन्त्रधारागृह, गर्भगृह आदि का वर्णन कालिदास ने किया है।[3] अष्टांगसंग्रह में भी इनका उल्लेख है।

२६—समाज में धन के महत्त्व का संकेत कालिदास ने किया है।[4] वाग्भट की रचना में भी ऐसा संकेत मिलता है।

२७—"श्याम" वर्ण का महत्त्व अनेक स्थानों पर कालिदास ने बतलाया है।[5] वाग्भट ने भी वर्णों के प्रकरण में "श्याम" वर्ण को सर्वधातुसाम्य की स्थिति में कह कर उसे सर्वोच्च आसन प्रदान किया है।

२८—विश्रान्त रति का वर्णन कालिदास ने किया है। अष्टांग संग्रह में भी ऐसा संकेत मिलता है।[6]

२९—तालवृन्त (ताड़ के पंखे) की हवा तथा नलिनीदलवात का उल्लेख कालिदास ने किया है[7] और वाग्भट ने भी।

३०—धर्मपत्नी का महत्त्व कालिदास ने बतलाया है[8] और वाग्भट ने भी।

३१—लोहे का स्वर्ण में बदल जाना धातुवाद का द्योतक है। कौटिल्य ने धातुवाद का उल्लेख किया है। कालिदास ने भी इनका संकेत किया है।[9] इसका देहवाद में विकसित रूप वाग्भट में मिलता है जहाँ पारद के बाह्य एवं आभ्यन्तर प्रयोग का उल्लेख है।

३२—ऋतुओं का वर्णन जो कालिदास ने ऋतुसंहार में किया है उससे बहुत मिलता-जुलता ऋतुचर्या का वर्णन वाग्भट ने किया है।

३३—राजाओं और समृद्ध व्यक्तियों में बहुपत्नी-प्रथा थी। वाग्भट में भी इसका उल्लेख है।

"बहुवल्लभा राजानः श्रूयन्ते।" शा० पृ० ५१

परिग्रहबहुत्वेऽपि द्वे प्रतिष्ठे कुलस्य मे।

---

१. रघु० १३।५७; १४।३; कु० १।१;

२. रघु० १०।७८; १४।७५; १५।३१; शा० पृ० १२१, पृ० १४८; विक्र० पृ० २४६;

३. रघु० १६।४६, ४९; १९।४२; मेघ० १।६५; माल० २।१२,

४. रघु० १७।६०, ५. रघु० १८।६, मेघ० १।५०,

६. रघु० १९।२५, कु० ८।८९, ७. कु० २।३५, शा० ३।१९;

८. कु० ६।१३ ९. कु० ६।५५

"बहुधनत्वाद् बहुपत्नीकेन तत्र भवता भवितव्यम्"—शा० पृ० २१

'बहुपरिग्रहाः नरपतयः सन्ति—सं० सू० ८।७

३४—स्त्रियों को समाज में स्वतन्त्रता नहीं थी जैसा कि कालिदास के वचनों से प्रतीत होता है।[1] वाग्भट ने भी स्त्रियों में विश्रम्भ एवं स्वतन्त्रता का निषेध किया है।[2]

३५—किसी को हाथी पर बैठाना बड़े अनुग्रह और सम्मान का सूचक था।[3] वाग्भट ने भी सर्वार्थसिद्ध अञ्जन-विधान में उसे सम्मान देने के लिए हाथी पर चढ़ा कर शोभा-यात्रा निकाली है।[4]

३६—संगीतशास्त्र, चित्रकला तथा मिट्टी के खिलौने बनाने की कला का अनेक स्थलों पर महाकवि ने संकेत किया है।[5]

३७—दिनचर्या के अन्तर्गत स्नान का नियम संभवतः प्रातःकाल में न होकरी मध्याह्न में करने का था जब बुभुक्षा की प्रतीति हो।[6] अष्टांगसंग्रह में भी ऐसा ह निर्देश है।

३८—ऐसा लगता है कि कालिदास के काल में ही विद्वानों की दरिद्रता प्रारम्भ हो गई थी और लक्ष्मी और सरस्वती में सापत्न्य—भाव प्रसिद्ध हो चला था जो महाकवि के निम्नांकित श्लोकों से स्पष्ट होता है :—

परस्परविरोधिन्योरेकसंश्रयदुर्लभम्।
संगतं श्रीसरस्वत्योर्भूतयेऽस्तु सदा सताम्॥ विक्र० ५।२४;

वाग्भट में भी ऐसे संकेत मिलते हैं।

३९—विद्या भी शनैः शनैः व्यवसाय के रूप में प्रतिष्ठित हो रही थी जैसा कि कालिदास के निम्नांकित कथनों से स्पष्ट होता है :—

"विद्याभरितानां ब्राह्मणानां नित्यदक्षिणां मासिकीं पुरोहितस्य हस्तं प्रापयिष्यामि।" माल० पृ० ३३८;

लब्धास्पदोऽस्मीति विवादभीरोस्तितिक्षमाणस्य परेण निन्दाम्।
यस्यागमः केवलजीविकायै तं ज्ञानपण्यं वणिजं वदन्ति॥ माल० १।१८

आयुर्वेद भी इसी प्रकार व्यवसाय के रूप में प्रतिष्ठित हो चुका था। जिसक संकेत वाग्भट के वचनों से मिलता है।

---

१. शा० पृ० ९४ २. सं० सू० ३।११२

३. शा० पृ० १०० ४ सं० सू० ८।९१—९८;

५. शा० ६।२१; पृ० १३५; विक्र० पृ० १७८; माल० १।४; पृ० २६५; २।२;६

६. विक्र० पृ० १९०; माल० पृ० २८८;

४०—वेश्या-प्रथा का संकेत कालिदास ने किया है।[१] वाग्भट ने भी कई स्थलों पर इसका निर्देश किया है।

आयुर्वेद के अनेक प्रसंग कालिदास की रचनाओं में मिलते हैं तथा पंचकर्म,[२] रसायन,[३] भूतविद्या,[४] विषचिकित्सा[५] आदि। ये विषय चरक-संहिता और वाग्भट दोनों में समान रूप से मिलते हैं। अधिक संभावना है कि ये विषय कालिदासने चरक संहिता के आधार पर तथा लोक में प्रचलित तत्कालीन परम्परा में लिये हों न कि वाग्भट से। शल्य के अनेक विषय संभवतः सुश्रुतसंहिता से लिये गये हैं।

१—कालिदास की रचनाओं में शकों का उल्लेख नहीं मिलता और वाग्भट की रचनाओं में हूणों का निर्देश नहीं है। इससे प्रतीत होता है कि गुप्त सम्राटों द्वारा उत्पात होने पर शक राजा सिन्धु और उसके पार्श्ववर्ती प्रदेशों में प्रतिरोपित हो गये हों और वाग्भट सिन्धुजन्मा होने के कारण स्वभावतः उनसे अवगत हों। दूसरी संभावना यह है कि आगे चलकर "शक" शब्द सभी विदेशी आक्रामकों के लिए रूढ हो गया हो और वाग्भट का इससे "हूणों" का अभिप्राय हो जो गुप्त सम्राटों के बाद सारे देश पर छा गये थे और विशेषतः पश्चिमी पंजाब, और सिन्धु उनका केन्द्र था।

२—योगसमाधि, तप और पंचाग्नितापन का वर्णन कालिदास ने किया है[६] किन्तु अष्टांगसंग्रह में यह नहीं मिलता। चरकसंहिता में योग का वर्णन है।

३—रात्रि में प्रकाश देने वाली एक औषधि का अनेक स्थलों पर उल्लेख कालिदास ने किया है जो दीपिका का काम करती थी।[७] चरक और सुश्रुत में ऐसी अनेक दिव्य औषधियों का वर्णन है किन्तु अष्टांगसंग्रह में इनका निर्देश नहीं है।

४—कालिदास ने मुमुक्षु-प्रकरण का उल्लेख किया है जिससे रोगोपसृष्ट शरीर का परित्याग हो[८] जो चरक के उसी प्रकरण का स्मरण मिलता है। अष्टांगसंग्रह में इसका उल्लेख नहीं है।

५—जनपदोद्ध्वंस का संकेत कालिदास ने किया है जो चरक के जनपदोद्ध्वंस प्रकरण की सूचना देता है।[९] अष्टांगसंग्रह में कुछ रूपान्तर से यह प्रकरण मिलता है,

१. मेघ० १।३९ २. मेघ० १।२१;
३. ऋतु० ६।३५; ४. शा० पृ० ३७, १२४
५. माल० ४।४।
६. रघु० ८।१७; १९; २४,; ७९;१०।२३; १३।४१, ४५; १४।६६; १५।४९; कु० ३।४५; ५०; ५।२०।
७. रघु० ८।५४; ९।७०; १०।६६; १२।६१; ७८; कु० १।१०; ३०; ६।४३;
८, रघु० ८।९४; ९. रघु० ९।४।

६—कालिदास ने बला, अतिबला आदि विद्याओं का उल्लेख किया है जो असाधारण योगप्रभावजन्य प्रतीत होती हैं और बालकों की रक्षा के लिए प्रयुक्त होती थी।[१] अष्टांगसंग्रह में बौद्धों की मायूरी, महामायूरी आदि विद्याओं का उल्लेख है।

७—कालिदास ने वादमार्ग का संकेत किया है।[२] यद्यपि चरकसंहिता में यह विषय विस्तार से वर्णित है, वाग्भट ने इसे बिलकुल छोड़ दिया है।

८—कालिदास ने अपनी रचनाओं में मध्यप्रक्रम का सर्वत्र उल्लेख किया है।[3] अष्टांगसंग्रह में इसका उल्लेख नहीं है। अष्टांगहृदय में इसका उल्लेख हुआ है।[४]

९—समाज में स्त्रियों और पुरुषों का समान स्थान कालिदास ने बतलाया है[५] किन्तु वाग्भट ने स्त्रियों का स्थन कुछ नीचे रखा है।

१०—कालिदास की रचनाओं में यक्ष, किन्नर आदि तथा पौराणिक देवी-देवताओं का उल्लेख किया है। वह शिवभक्त थे अतः मुख्यतः शिव का वर्णन किया है। बौद्ध देवी-देवताओं का नाम नहीं आया है यद्यपि जीर्णचीवर, क्षपणक आदि शब्दों से बौद्ध संन्यासियों का संकेत अवश्य होता है[६]। मालविकाग्निमित्र की कौशिकी परिव्राजिका संभवतः बौद्ध भिक्षुणी थी।[७] इसके विपरीत, अष्टांगसंग्रह में दोनों धर्मों का समन्वय है और दोनों प्रकार के देवी-देवताओं और मंत्रों का प्रयोग हुआ है।

कालिदास ने शब्दों का कुछ प्रयोग विशिष्ट रूप में किया है जो अष्टांगसंग्रह में नहीं मिलता यथा—

"पातयां प्रथममास पपात पश्चात्।—रघु० ९।६१;
"प्रभ्रंशयां यो नहुषं चकार।—रघु.० १३।३६
"संयोजयां विधिवदास समेतबन्धुः।—रघु० १६।८६;

"अद्धा" शब्द का प्रयोग कालिदास ने किया है।[८] यह शब्द चरक में मिलता है किन्तु वाग्भट की रचना में नहीं मिलता। 'डिम्भ' शब्द का प्रयोग कालिदास ने किया है। अष्टांगसंग्रह में कोष्ठांगों में 'डिम्भ' की गणना की गई है यद्यपि यह चरक या सुश्रुत में नहीं है।

---

१. रघु० ११।९, विक्र० पृ० १७६; २. रघु० १२।९२;
३. रघु० १३।७; १७।५८; विक्र० १।२०; ५।२२;
४. अनुमायात् प्रतिपदं सर्वधर्मेषु मध्यमाम्—हृ० सू० २।३४
५. कु० ६।१२; ६. विक्र०—पृ० १८७;
७. माल०—१।१४ ८. रघु० १३।६५

शब्द-योजना तथा भावविन्यास में भी सादृश्य दृष्टिगोचर होता है:—यथा—

कालिदास	वाग्भट
१—प्रचक्रमे पल्लवरागताम्रा प्रभा पतंगस्य मुनेश्च धेनुः। (रघु० २।१५)	आताम्रकिरणो रविः। सं० सू० ४।२१
२—अंकुशं द्विरदस्येव यन्ता गंभीरवेदिनः (रघु० ४।३९)	नहि भद्रोऽपि गजपतिर्निरंकुशः श्लाघनीयो जनस्य—सं० सू० ८।५
ताम्बूलीनां दलैस्तत्रारचिताऽपानभूमयः। (रघु० ४।४२)	ताम्बूलीनां किसलयं हृद्यं पूगफलान्वितम्। सं० सू० ३।३८;
४—केवलं स्मरणेनैव पुनासि पुरुषं यतः। अनेन वृत्तयः शेषा निवेदितफलास्त्वयि॥ (रघु० १०।२९)	प्रभातमारुतोद्भूताः प्रालेयजलवर्षिणः। स्मर्यमाणा अपि घ्नन्ति दाहं मलयपादपाः॥ सं० चि० ९।१८
५—चित्रद्विपाः पद्मवनावतीर्णाः करेणुभिर्दत्तमृणालभंगाः। (रघु० १६।१) शनैर्विमानादवतीर्य रेमे विलोलहारः सह ताभिरप्सु। स्कन्धावलग्नोद्धृतपद्मिनीकः करेणुभिर्वन्य इव द्विपेन्द्रः॥ —रघु० १६।६८	करेणुकाभिः परिवारितेन विक्षोभणं वारणयूथपेन।—सं० चि० ६।२०
६—रेणुः प्रपेदे पथि पंकभावं पंकोऽपि रेणुत्व मियाय नेतुः। रघु० १६।३०	पेया कफं वर्धयति पंकं पांसुषु वृष्टिवत्—सं० चि० १।१००
७—"पराभिमर्शो न तवास्ति कः करं प्रसारयेत् पन्नगरत्नसूचये। कु० ५।४३;	प्रसुप्तं कृष्णसर्पं स कराग्रेण परामृशेत्। —सं० चि० २।३९;
८—निशाः शशांकक्षतनीलराजयः क्वचिद् विचित्रं जलयंत्रमन्दिरम्। ऋतु० १।२;	"कान्ता कान्ता निशा शशांका।" हृ० उ० ४०।४५
९—नातिश्रमापनयनाय यथा श्रमाय राज्यं स्वहस्तधृतदण्डमिवातपत्रम्। —शा० ५।६	अत्यायासेन नात्मानं कुर्यादतिसमुच्छ्रितम्। पातो यथा हि दुःखाय नोच्छ्रायः सुखकृद्यथा॥ —सं० सू० ९।४७
१०—प्राजापत्योपनीतं तदन्नं प्रत्यग्रहीन्नृपः। वृषेव पयसां सारमाविष्कृतमुदन्वता॥ —रघु० १०।५२;	अथोपाध्यायः पुत्रीयं विधानमाचरेत् —सं० शा० १।५३
११—विकचवनकुसुम्भस्वच्छसिन्दूरभासा प्रबलपवनवेगोद्भूतवेगेन तूर्णम्। तटविटपलताग्रालिंगनव्याकुलेन	"ग्रीष्मेऽतसीपुष्पनिभः तीक्ष्णांशुर्दावदीपिताः। दिशो ज्वलन्ति भूमिश्च

दिशि दिशि परिदग्धाःभूमयःपावकेन ॥ मारुतो नैर्ऋतः सुखः ।
ऋतु० १।२४ सं० सू० ४।२८

निम्नांकित स्थलों में भी भाव-साम्य मिलता है।

१—मुख और चन्द्र में उपमेयोपमान-भाव स्थापित करने के प्रसंग में निम्नांकित श्लोकों की तुलना करें:—

निद्रावशेन भवताप्यनवेक्षमाणा पर्युत्सुकत्वमबला निशि खण्डितेव ।
लक्ष्मीर्विनोदयति येन दिगन्तलम्बी सोऽपि त्वदाननरुचिं विजहाति चन्द्रः ॥
—रघु० ५।६७

सितेषु हर्म्येषु निशासु योषितां सुखप्रसुप्तानि मुखानि चन्द्रमाः ।
विलोक्य नूनं भृशमुत्सुकश्चिरं निशाक्षये याति ह्रियेव पाण्डुताम् ॥ऋतु०१।९
स्त्रीणां विहाय वदनेषु शशांकलक्ष्मीं काम्यं च हंसवचनं मणिनूपुरेषु ।
बन्धूककान्तिमधरेषु मनोहरेषु क्वापि प्रयाति सुभगा शरदागमश्रीः ॥—ऋतु ३।२

कालिदास के इन श्लोकों की तुलना में वाग्भट का निम्नांकित श्लोक देखें—

यस्योपयोगेन शकांगनानां
लावण्यसारादिविनिर्मितानाम् ।
कपोलकान्त्या विजितः शशांको
रसातलं गच्छति निर्विदेव ॥सं० उ० ४९।१३६

बालक की भंगिमाओं का वर्णन करते हुए कालिदास ने कहा है:—

आलक्ष्यदन्तमुकुलाननिमित्तहासैरव्यक्तवर्णरमणीयवचःप्रवृत्तीन् ।
अंकाश्रयप्रणयिनस्तनयनान् वहन्तो धन्यास्तदंगरजसा मलिनीभवन्ति ॥
—शा० ७।१७

अष्टांगसंग्रह में इससे मिलता-जुलता कोई श्लोक नहीं है किन्तु अष्टांगहृदय में इसकी छाया पर निम्नांकित श्लोक है:—

स्खलद्गमनमव्यक्तवचनं धूलिधूसरम् । अपि लालाविलमुखं हृदयाह्लादकारकम् ॥
अपत्यतुल्यतां केन दर्शनस्पर्शनादिषु । किंपुनर्यद्यशोधर्ममानश्रीकुलवर्धनम्[1] ॥
—हृ० उ० ४७।१०–११.

"बाष्पायते निपतिता मम दृष्टिरस्मिन् वात्सल्यबन्धि हृदयं मनसः प्रसादम् ।
सञ्जातवेपथुभिरुज्झितधैर्यवृत्तिः इच्छामि चैनमदयं परिरब्धुमंगैः ॥—विक्र० ५।९.

नायिका के मुख का वर्णन भी महाकवि ने इसी प्रकार किया है:—

"स्मयमानमायताक्ष्याः किञ्चिदभिव्यक्तदशनशोभि मुखम् ।
असमग्रलक्ष्यकेसरमुच्छ्वसदिव पङ्कजं दृष्टम् ॥—माल० २।१०

---

१. तुलना करें—जानुसंचारिणो रेणुधूसरशरीरस्यांके लुलतः स्पर्शसुखमनुभूतम् ।
—का० उ० पृ० १६८

२—कालिदास के विक्रमोर्वशीय नाटक के अनुसार ही अष्टांग-हृदय की समाप्ति हुई है:—

'सर्वस्तरतु दुर्गाणि सर्वो भद्राणि पश्यतु ।
सर्वः कामानवाप्नोतु सर्वः सर्वत्र नन्दतु ।। " विक्र० ५।२५;
"भिषजां साधुवृत्तानां भद्रमागशालिनाम् ।
अभ्यस्तकर्मणां भद्रं भद्रं भद्राभिलाषिणाम् ।।"—हृ० उ० ४०।७७;

३—"सातिरेकमदकारणं रहस्तेन दत्तमभिलषेयुरंगनाः ।
ताभिरप्यपहृतं मुखासवं सोऽपिबद् बकुलतुल्यदोहदः ।।" रघु० १९-१२

"रहसि दयितामंके कृत्वा भुजान्तरपीडनात्
पुलकिततनुं जातस्वेदां सकम्पपयोधराम् ।
यदि सरभसं शीधोर्वारं न पाययते कृती
किमनुभवति क्लेशप्रायं तदा गृहतंत्रताम् ।।—सं० चि० ९।४८

४—अंगुलि और किसलय में उपमानोपमेयभाव स्थापित कर उसमें तर्जन की उत्प्रेक्षा का दोनों ने विभिन्न स्थलों पर समान रूप से प्रयोग किया है—

"अंगुलीकिसलयाग्रतर्जनं भ्रूविभंगकुटिलं च वीक्षितम् ।
मेखलाभिरसकृच्च बन्धनं वंचयन् प्रणयिनीरवाप सः ।। रघु० १९।१७
"एष वातेरितपल्लवांगुलीभिस्त्वरयतीव मां केसरवृक्षकः ।'शा० १, पृ १३
"पवनबलचलाभिः पल्लवांगुलीभिस्त्वरयतीव भवन्तं प्रवेष्टुम् । शा० पृ० २९४

वाग्भट में:—

"दाहं मन्दानिलोद्धूताः कुल्याः सलिलमालिनः ।
चलत्प्रवालांगुलिभिस्तर्जयन्ति महाद्रुमाः ।।—सं० चि० २।८६

५—ददौ रसात् पंकजरेणुगन्धि गजाय गण्डूषजलं करेणुः ।
अर्धोपयुक्तेन बिसेन जायां संभावयामास रथांगनामा ।।
—कु० ३।३७;

करेणुकाभिः परिवारितेन
विक्षोभणं वारणयूथपेन ।
आस्फालनं शीकरवर्षणं च,
सिन्धोः स्मरन् दाहतृषोरगम्यः ।।—सं० चि० ९।२०

भाषा, शैली, सामाजिक तथा धार्मिक दृष्टियों के विचार से वाग्भट कालिदास के परवर्ती प्रतीत होते हैं। वाग्भट ने कालिदास के अनेक शब्दों और ,भावों का आधार लिया है जब कि कालिदास के अनेक प्राचीन प्रयोगों से वह नितान्त मुक्त हैं। धार्मिक दृष्टि से भी ऐसा प्रतीत होता है कि कालिदास ब्राह्मण धर्म का प्रति-

निधित्व करते हैं और वाग्भट के काल में ब्राह्मणधर्म बौद्धधर्म को आत्मसात् कर एक नवीन धारा अपना रहा था। आयुर्वेदीय तथ्यों के सम्बन्ध में भी कालिदास चरक, सुश्रुत आदि प्राचीन तन्त्रों के ऋणी हैं न कि वाग्भट के। यह सब होते हुए भी वाग्भट के ऊपर गुप्तकालीन संस्कृति की पूरी छाप है। इतना तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि वह कालिदास के परवर्ती हैं।

भट्टि और वाग्भट

भट्टिकाव्य संस्कृत साहित्य का एक प्रसिद्ध काव्य है। अधिकांश विद्वानों का विचार है कि भर्तृहरि नाम का आद्य अंश 'भर्तृ' ही 'भट्टि' हो गया है। भट्टि ने ग्रन्थ के अन्त में अपना परिचय इस प्रकार दिया है:—

"काव्यमिदं विहितं मया वलभ्यां श्रीधरसेननरेन्द्रपालितायाम्।
कीर्तिरतो भवतान्नृपस्य तस्य प्रेमकरः क्षितिपो यतः प्रजानाम्॥

५०० ई० से ६५० ई० तक वलभी में श्रीधरसेन अनेक हो चुके हैं। भट्टि का काल ४७३-५०० ई० माना जाता है[1]।

भट्टिकाव्य की छाया यत्र-तत्र वाग्भट की रचना पर मिलती है। भट्टि के प्रसिद्ध श्लोक—

"न तज्जलं यन्न सुचारुपंकजं न पंकजं तद् यदलीनषट्पदम्।
न षट्पदोऽसौ न जुगुञ्ज यः कलं न गुंजितं तन्न जहार यन्मनः॥—२।१९

की छाया वाग्भट के निम्नांकित पद्य पर स्पष्ट देखी जा सकती है—

न तन्निषेवी जरसाभिभूयते न पन्नगर्नापि गरैर्न वृश्चिकैः।
न पाण्डुमेहज्वरशोफयक्ष्मभिर्न कण्ठनेत्रश्रवणत्वगामयैः॥—सं० उ० ४९।११९

इसी प्रकार निम्नांकित श्लोकों की तुलना करें—

१—विवृत्तपार्श्वं रुचिरांगहारं समुद्वहच्चारुनितम्बरम्यम्।
आमन्द्रमन्थध्वनिदत्ततालं गोपांगनानृत्यमनन्दयत्तम्॥—भट्टि २।१६
स्तननितम्बकृतादतिगौरवादलसमाकुलमीश्वरसंश्रयात्।
इति गतं दधतीभिरसंस्थितं तरुणचित्तविलोभनकार्मणम्॥—सं० चि० ९।४६

२—इन्दुं चषकसंक्रान्तमुपायुंक्त यथामृतम्।
प्रयुञ्जानः प्रिया वाचः समाजानुरतो जनः॥—भट्टि ८।३९
जितविकसितासितसरोजनयनसंक्रान्तिवर्धितश्रीकम्।
कान्तामुखमिव सौरभहृतमधुपगणं पिबेन्मद्यम्॥—सं० चि० ९।४६

---

१. बलदेव उपाध्याय: संस्कृत साहित्य का इतिहास पृ० २२६; और देखें:—
युधिष्ठिर मीमांसक : संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास भाग १ पृ० ३४८, भाग २ पृ० ३८५

३—मध्वपाययत स्वच्छं सोऽत्यलं दयितान्तिके ।
आत्मानं सुरताभोगविश्रम्भोत्पादनं मुहुः ॥—भट्टि ८।४१
रहसि दयितामंके कृत्वा भुजान्तरपीडनात्.................।
यदि सरभसं शीधोर्वारं न पाययते कृती..................॥—सं० चि० ९।४८
४—विलोलता चक्षुषि हस्तवेपथुं भ्रुवोर्विभंगं स्तनयुग्मवल्गितम् ।
विभूषणानां क्वणितं च षट्पदो गुरुर्यथा नृत्यविधौ समादधे ॥—भट्टि ११।३७
सीत्कारगर्भं हसितं सहावं छिन्नाक्षरं विभ्रमवच्च गीतम् ।
सव्याजसन्दर्शितचारुगात्रं वृत्तं प्रियाणामवलोकितं च ॥......
विहंगभृंगस्तनितानुयातं स्त्रीकूजितं भूषणशिंजितानि ॥—सं० उ० ५०।८५
५—लताः स्तबकशालिन्यो मधुलेहिकुलाकुलाः ।—भट्टि २२।५
कोकिलालिकुलालापकलकोलाहलाकुलाः ॥—सं० सू० ४।२३

भट्टि ने अपशकुन के रूप में कृष्णमृगों का दक्षिण भाग से वाम भाग में जाना अशुभ बतलाया है[1] किन्तु वाग्भट ने इसमें मृग को शुभ कहा है[2]। वराहमिहिर के एक श्लोक में यङन्त पदों का भी प्रयोग किया गया है[3]। इससे अनुमान होता है कि भट्टि, वाग्भट और वराहमिहिर के कुछ पूर्व हुये होंगे ।

विशाखदत्त और वाग्भट

विशाखदत्त का काल ५ वीं शती माना जाता है[4]। उनकी रचना 'मुद्राराक्षस' गुप्तकालीन कृतियों में प्रमुख स्थान रखती है। निम्नांकित पंक्तियों में वाग्भट के साथ उनका तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है—

१—मुद्राराक्षस का प्रारम्भ शंकर की प्रार्थना से हुआ है और अन्त विष्णु के वराहावतार की प्रार्थना से हुआ है। इससे प्रतीत होता है कि ब्राह्मण धर्म की उन्नत स्थिति उस काल में थी। वैदिक यज्ञयाग आदि भी हुआ करते थे। ब्राह्मणों को पर्व-विशेष में भोजन कराया जाता था। पशुबलि भी दी जाती थी। इसके अतिरिक्त, बौद्ध धर्म का भी अस्तित्व था और बौद्ध क्षपणक का दर्शन अशुभ माना जाता था

---

१. आच्छंन् वामं मृगाः कृष्णाः शस्त्राणां व्यस्मरन् भटाः । भट्टि १७।१०
२. सर्वत्र च दक्षिणाद् वामगमनमनिष्टं श्वसृगालयोः विपरीतं मृगविहंगयोः ॥
—सं० शा० १२।९
३. पेपीयते मधु मधौ सह कामिनीभिर्जेगीयते श्रवणहारि सवेणुवीणम् ।
बोभुज्यतेऽतिथिसुहृत्स्वजनैः सहान्नमब्दे सितस्य मदनस्य जयावघोषः ॥
—बृ० सं० १९।१८
४. बलदेव उपाध्याय; संस्कृत साहित्य का इतिहास पृ० ५०६

इससे समाज में उसकी तिरस्कृत स्थिति सूचित होती है[१]। वाग्भट में ब्राह्मण धर्म के साथ साथ बौद्ध धर्म का समन्वित रूप मिलता है।

२—ज्योतिष के तथ्य भी मुद्राराक्षस में मिलते हैं[२]। अष्टांगसंग्रह में अनेक स्थानों पर इनका उल्लेख हुआ है।

३—ग्रहाभियोग का निर्देश विशाखदत्त ने किया है[३]। वाग्भट ने भी ग्रहों की महत्वपूर्ण कारणता मानी है।

४—विषकन्या के प्रयोग का वर्णन विशाखदत्त ने किया है[४]। वाग्भट ने भी इसके प्रयोग का उल्लेख किया है।

इसके अतिरिक्त, शत्रु द्वारा प्रयुक्त अन्य विषाक्त प्रयोग तथा उनके प्रतिकार के लिए आप्त पुरुषों की नियुक्ति का उल्लेख मुद्राराक्षस में हुआ है[५] और वाग्भट ने भी इसका वर्णन विस्तार से किया है।

५—नगरों में वाणिज्य की स्थिति उस समय बहुत अच्छी थी और मणियों का काम भी अधिकता से होता था। विशाखदत्त ने चन्दनदास को मणिकार श्रेष्ठी कहा है[६]। वाग्भट ने भी वाणिज्य और मणियों का बहुशः निर्देश किया है।

६—विशाखदत्त ने पर्दा-प्रथा का संकेत किया है[७]। वाग्भट में ऐसा कोई संकेत नहीं मिलता।

७—राजनीति के तत्वों का विशद रूप से विशाखदत्त ने वर्णन किया है[८]। वाग्भट ने भी राज-व्यवहार के सम्बन्ध में काफी लिखा है।

८—वादमार्ग का भी निरूपण मुद्राराक्षस में मिलता है[९] यद्यपि वाग्भट ने इस पर विशेष बल नहीं दिया क्योंकि उसका लक्ष्य व्यावहारिक था।

९—दिव्यौषधि का निर्देश[१०] मुद्राराक्षस में है, वाग्भट में नहीं।

१०—हाथियों और घोड़ों का सैनिक महत्व उस समय विशेष था। इन दोनों में भी हाथियों का महत्व विशेष बढ़ रहा था। जंगल से हाथियों को फंसाकर लाना और उन्हें शिक्षित करने की एक कला थी। हथिनियों

---

१. मु० रा० १।१, २; ७।१९, पृ० ४,१४, २३; ३।२१, २७।३०, पृ० ११८, ६।१, ७।५,

२. मु० रा० १।६, पृ० ५३, ११७, ४।१९, २०,

३. मु० रा० पृ० ६

४. मु०रा० पृ० १३, २६, ५२, २।१६

५. मु० रा० पृ० १४, ४४, ५०, ५६

६. मु० रा० पृ० २०, ३।१५, १९, पृ० १६९

७. मु० रा० पृ० २१,

८. मु० रा० पृ० ३०,३३, ३५

९. पृ० ३१, १२०, ५।१०,

१०. हिमवति दिव्यौषधयः शीर्षे सर्पः समाविष्टः। मु० रा० १।२१

पर सवारी की जाती थी। गन्धहस्ती और मत्तहस्ती का भी निर्देश किया है[१]। वाग्भट ने भी इनका उल्लेख किया है।

११—संपेरे (आहितुण्डिक) की जीविका का काफी प्रचार था। सर्पविष को मन्त्र तथा औषधियों से शान्त किया जाता था[२]। वाग्भट में भी इनका निर्देश है।

१२—नाट्य, चित्रकला आदि कलाओं का संकेत विशाखदत्त ने किया है[३]। वाग्भट की रचना में भी ये संकेत मिलते हैं।

१३—शुभाशुभ मुहूर्तों तथा निमित्तों का भी उल्लेख मुद्राराक्षस में हुआ है[४]। वाग्भट ने भी इनका वर्णन किया है।

१४—शक राजा तथा सैन्य का उल्लेख विशाखदत्त ने किया है[५]। वाग्भट ने भी अनेक स्थलों पर शकों का उल्लेख किया है।

१५—राजा की स्तुति गाने वाले वैतालिकों का उल्लेख विशाखदत्त ने किया है[६]। वाग्भट ने 'कथक' और चारण का उल्लेख किया है।

१६—वेश्या-प्रथा का संकेत विशाखदत्त ने किया है[७]। वाग्भट में भी इसका संकेत मिलता है।

१७— राजा पर गुरु के अंकुश की चर्चा विशाखदत्त ने की है।[८] वाग्भट ने भी कहा है कि–"न हि भद्रोऽपि गजपतिः निरंकुशः श्लाघनीयो जनस्य।

१८—शालि धान्य का उल्लेख विशाखदत्त ने किया है।[९] वाग्भट ने भी इसकी अनेक जातियों का निर्देश किया है।

१९—राजाओं तथा धनिकों में बहुविवाह की प्रथा थी। इसका संकेत विशाखदत्त ने निम्नांकित श्लोक में किया है:—

भर्त्तुस्तथा कलुषितां बहुवल्लभस्य
मार्गे कथंचिदवतार्य तनूभवन्तीम्।
सर्वात्मना रतिकथाचतुरेव दूती
गंगां शरन्नयति सिन्धुपतिं प्रसन्नाम् ॥" (मु० रा० ३।९)

वाग्भट ने भी इस तथ्य का निर्देश किया है।

---

१. मु० रा० १।२६. २।३, ६, १४, ५५; ३।२५, ४।७, १६, १७, ५।२३, ६।३, ५, ७।१२, १५, १८,
२. मु० रा० २।१,
३. मु० रा० २।४, ४।३, पृ० १५७,
४. मु० रा० पृ० ४७, ५४. १०१, ११८, १२३,
५. मु० रा० पृ० ५०, ५।११
६. मु० रा० पृ० ६७,
७. मु० रा० ३।५, १०
८. मु० रा० ३।६
९. मु० रा० ३।८,

२०—विशाखदत्त ने सेवावृत्ति को कष्टकर बतलाया है तथा राजा के क्रोध को अग्नि और विष के समान कहा है[1]। वाग्भट ने भी राजसेवा को शस्त्र, सर्प और अग्नि से खेलने के समान कहा है[2]। बाणभट्ट ने भी इसके प्रति तीखा व्यंग्य किया है। अष्टांगहृदयकार ने इसके विपरीत, "पराराधनपाण्डित्य" का उपदेश किया है।

२१—मद्यपान की प्रथा थी। पानगृहों में लोग मद्य पीते थे। पानभूमि के लिए दोनों ने 'आपान' शब्द का प्रयोग किया है। स्त्री, मद्य और मृगया को विशाखदत्त ने व्यसन के रूप में माना है[3]। वाग्भट ने इसका अतिसेवन निन्दनीय कहा है।

२२—विजिगीषु का प्रयोग दोनों ने किया है[4]।

२३—गुरुभक्ति का निर्देश विशाखदत्त ने किया है[5] और वाग्भट ने भी।

२४—परलोक में विश्वास था तथा मृत्यु के बाद मृत व्यक्ति के लिए तर्पण किया जाता था[6]। वाग्भट में भी इसका संकेत है।

२५—विशाखदत्त ने मलयकेतु से कहलाया है कि अमात्यराक्षस प्रियतम और हिततम हैं[7]। यही लक्षण पथ्य का वाग्भट ने किया है।

२६—राक्षस, पिशाच आदि की धारणाओं का संकेत विशाखदत्त ने किया है[8]। वाग्भट ने भी इसका निर्देश किया है।

२७—विशाखदत्त ने राजा के बैठने के स्थान "आस्थानमंडप" का उल्लेख किया है[9]। वाग्भट ने "आहारमण्डप" का उल्लेख किया है। यह दोनों मिलकर राजभवन की व्यवस्था का संकेत करते हैं।

२८—विशाखदत्त ने कुलालचक्र का उल्लेख किया है[10]। इससे प्रतीत होता है कि उस समय कुम्भकार-कला का पर्याप्त प्रचार था। वाग्भट ने भी अनेक खिलौनों का उल्लेख किया है।

---

१. कष्टा खलु सेवा नाम। मु० रा० पृ०७७,१७०, ३९

२. आसन्नसेवा नृपतेः क्रीडा शस्त्राहिपावकैः। कौशलेनातिमहता विनीतैः सा निरूह्यते॥—सं० सू० ८।१४८,

३. एतौ खलु स्त्रीमद्यमृगयाशीलौ हस्त्यश्वावेक्षणे हि अनभियुक्तौ। मु० रा० पृ० ८८,६।२,

४. मु० रा० पृ० ९६,१०५,७।१४,

५. मु० रा० ३।३३

६. मु० रा० ४।५, पृ० १८२,१८३

७. मु० रा० पृ० १०५

८. मु० रा० पृ० १२६,१२९

९. मु० रा० पृ० १२७,

१०. मु० रा० ५।५,

२९—विशाखदत्त ने स्वामिभक्ति के सम्बन्ध में कहा है कि यह केवल गुणों से से ही तृप्त रहती है और दोषों को नहीं देखती[1]। इसी प्रकार के विचार वाग्भट ने व्यक्त किये हैं। दोनों के निम्नांकित वचनों की तुलना करें :—

अतोऽध्यारूढानां पदमसुजनद्वेषजननं,
मतिः सोच्छ्रायाणां पतनमनुकूलं कलयति ॥—५।१२

अत्यायासेन नात्मानं कुर्यादतिसमुच्छ्रितम्।
पातो यथा हि दुःखाय नोच्छ्रायः सुखकृत्तथा ॥

—सं० सू० ८।१४७

३०—आर्य और अनार्य शब्दों का प्रयोग विशाखदत्त ने किया है[2]। "यः आर्यः तं पृच्छ। वयम् इदानीं अनार्याः संवृत्ताः। मु० रा० पृ० १४९

वाग्भट ने भी अनार्य की सेवा का निषेध किया है।

३१—"श्याम" वर्ण का महत्व विशाखदत्त की रचना में मिलता है। विष्णु की उपमा मेघ को दी गई है। तलवार को भी मेघ के समान वर्णवाला बतलाया है[3]। वाग्भट ने भी 'सर्वधातुसाम्ये श्यामता' कहा है।

३२—विशाखदत्त ने"राजापथ्य" का परित्याग विष के समान करने का उपदेश किया है[4]। वाग्भट ने इसका उल्लेख किया है तथा इनके संग के परित्याग का भी विधान किया है।

मुद्राराक्षस मुख्यतः कूटनीति पर आधारित है जो समृद्ध राजनीति का द्योतक है। मुद्राराक्षस तथा अष्टांगसंग्रह दोनों से किसी कठोर राजतन्त्र की सत्ता का अनुमान होता है और भी तथ्य ऐसे हैं जिससे यह प्रतीत होता है कि दोनों के काल में बहुत अन्तर नहीं है। धार्मिक स्थिति के आधार पर विचार करने से वाग्भट कुछ परवर्ती प्रतीत होते हैं जब बौद्ध तथ्यों के प्रति अधिक समन्वित दृष्टिकोण विकसित हो चुका था।

शूद्रक और वाग्भट

मृच्छकटिक के रचयिता महाकवि शूद्रक का काल अन्य अन्य कवियों के समान ही सन्दिग्ध है तथापि इतना निश्चित है कि यह नाटक भासकृत दरिद्रचारुदत्त के आधार पर प्रणीत होने से भास का काल इसकी ऊपरी सीमा होगी। भास कालिदास के पूर्ववर्ती हैं क्योंकि कालिदास ने उसका उल्लेख किया है। कालिदास

---

१. मु० रा० ५।१९,
२. मु० रा० पृ० १७६, ३. मु० रा० ६।१८
४. परिहरथ तस्मात् विषमिव राजापथ्यं प्रयत्नेन। मु० रा० ७।१,

को यदि गुप्तकाल में ४०० ई० के लगभग मानें तो भास का काल लगभग ३०० ई० होगा। जहाँ तक निम्नतम सीमा का प्रश्न है, दण्डी ने काव्यादर्श में मृच्छकटिक के एक पद्य को उद्धृत किया है और दण्डी का काल ७०० ई० के बीच में आता है। सामाजिक एवं राजनीतिक स्थिति को देखते हुए इसका काल ५ वीं शताब्दी रक्खी गई है[1]।

यहां वाग्भट और शूद्रक का एक तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है।

१—मृच्छकटिक के अनुसार समाज में वर्णव्यवस्था थी। ब्राह्मण अपने कर्म से बहुत कुछ विचलित हो गये थे। वे ब्राह्मणभोजन में निमन्त्रित होते थे और दक्षिणा लेते थे।[2] कुछ ब्राह्मण व्यापार भी करते थे। संभवतः चिकित्सा भी एक व्यवसाय में परिणत हो गयी थी। वाग्भट की रचना में भी ब्राह्मणभोजन और दक्षिणा का निर्देश है।

२. आर्थिक दृष्टि से कुछ लोग अत्यधिक संपन्न और कुछ लोग अत्यन्त दरिद्र थे[3]। वसन्तसेना का अपार वैभव और चारुदत्त की दरिद्रता इसका प्रमाण है। वाणिज्य की स्थिति अच्छी थी। वणिक् वर्ग का समाज में प्राधान्य था।[4] वाग्भट में भी धनी और निर्धन के संकेत मिलते हैं।

३. सब कुछ होने पर भी चरित्र पर विशेष ध्यान दिया जाता था।[5] वाग्भट ने सद्वृत्त तथा दश कर्मपथों की रक्षा और दश पापकर्मों के परित्याग का विधान किया है।

४. समाज में वेश्याओं की प्रथा थी किन्तु आचार की दृष्टि से यह बुरा समझा जाता था।[6] वाग्भट में भी इसका संकेत है।

---

१. बलदेव उपाध्याय : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ५१७

२. मृ० क० १८, १८४; आर्य; संपन्नं भोजनं निःसपत्नं च। अपि च दक्षिणा कापि ते भविष्यति। मृ० क० पृ० १९,

३. दारिद्र्यान्मरणाद् वा मरणं मम रोचते न दारिद्र्यम्।
अल्पक्लेशं मरणं दारिद्र्यमनन्तकं दुःखम्॥ —मृ० क० १।११

'सममाढ्यदरिद्रयोः मृ० क० १०।२३

४. किं अनेकनगराभिगमनजनितविभवविस्तारो वाणिजयुवा वा काम्यते? मृ० क० पृ० ९७; ७।१

५. अनृतं नाभिधास्यामि चारित्रभ्रंशकारणम्। मृ० क० ३।२६, २५; पृ० १८३; २।२८, पृ० २०१, ४१४, ४९३, ९।२१, १०।५८

६. मृ० क० १।३१, ३२, वेश्याः श्मशानसुमना इव वर्जनीयाः—मृ० क० ४। १४, पृ० २४४, २६३

५. मद्यपान की परम्परा थी। जहाँ लोग मद्यपान करते थे वह स्थान 'आपानक' कहा जाता था। स्त्रियाँ भी मद्यपान करती थीं।[1]

५. संगीतकला, चित्रकला, संवाहनकला तथा मूर्तिकला की विकसित स्थिति थी[2]। वसन्तसेना-भवन के चतुर्थ कोष्ठ में संगीत और नाट्य का प्रबन्ध था। वाग्भट ने भीं इन कलाओं का संकेत किया है।

६—धार्मिक दृष्टि से वैदिक और बौद्ध धर्म दोनों का प्रचार था। संभवतः वैदिक धर्म की स्थिति अपेक्षाकृत अच्छी थी[3]। इसके अनुयायी-पूजा-पाठ, जप, समाधि, पंच महायज्ञ (पाठ, होम, अतिथिपूजा, तर्पण, बलि) करते थे। व्रत और उपवास भी करते थे[4]। गो, ब्राह्मण, देवी-देवताओं की पूजा का खूब प्रचार था विशेषतः शिव और शक्ति[5] तथा विष्णु और त्रिदेव की उपासना प्रचलित थी। शूद्रक ने नाटक के प्रारम्भ में शिव और पार्वती की वन्दना की है। चाण्डाल सह्यवासिनी देवी का स्मरण करता है। पशुबलि भी दी जाती थी[6]।

बौद्धधर्म गृहस्थों में व्याप्त न होकर केवल संन्यास में दृष्टिगोचर होता है। बौद्ध संन्यासी और भिक्षुणियां सर्वत्र देखी जाती थीं। देश के विभिन्न अंगों में विहार स्थापित थे[7]।

वाग्भट में वैदिक और बौद्ध धर्मों का रूप समन्वित देखने में आता है जब बौद्धधर्म के देवी-देवता और तंत्र-मंत्र गृहस्थों के द्वारा अपना लिये गये जो आगे चलकर तंत्र के रूप में विकसित हुआ।

७—मृच्छकटिक के वर्णन से प्रतीत होता है कि उस समय कोई सार्वभौम सम्राट नहीं था और देश का शासन विशृंखल था। इसके विपरीत, वाग्भट में विजिगीषु सम्राट का चित्र मिलता है।

---

१. मृ० क० पृ० २४०, ४।२९, आपानकमध्यप्रविष्टस्येव रक्तमूलकस्य शीर्षं ते भङ्क्ष्यामि। मृ० क० ३७६

२. मृ० क० पृ० ९४, पृ० १६७, २२९, पृ० २३५, ५।११

३. मृ० क० पृ० २६३, ३७१, ४४४

४. मृ० क० पृ० २३, १।१६, पृ० ३४, ५८, ६१, ९५, १४९, १६९, १८४, १८९, २२८, १०।२१

५. मृ० क० पृ० १६८, ५।२, ३, ६।२७, पृ० ४०४,८।१९, १०।४६

६. पशुबन्धोपनीतस्येव छागलस्य हृदयं फुरफुरायते प्रदीपः। मृ० क० ६५, ८। ४४, १०।२१, पृ०५६७, १०।५१, ५२,

७. मृ० क० पृ० १३६, ४४६, ४४९, ५०७, तत् पृथिव्यां सर्वविहारेषु कुलपतिरयं क्रियताम्। पृ० ५९६

८—अपत्य का महत्व शूद्रक ने निम्नांकित शब्दों में बतलाया है :—

शून्यमपुत्रस्य गृहम् ।—मृ० क० १।८

इदं तत् स्नेहसर्वस्वं सममाढ्यदरिद्रयो: । अचन्दमनौशीरं हृदयस्यानुलेपनम् ॥१०।२३

९—"राजवल्लभ" शब्द का अनेक स्थलों पर प्रयोग किया है[1]। यह इस बात का द्योतक है कि लोग राजा का प्रियपात्र होने का प्रयत्न करते थे क्योंकि उनका समाज में सम्मान था।

१०—अंशुक वस्त्र का प्रचार मृच्छकटिक के वर्णन से ध्वनित होता है। वसन्तसेना चारुदत्त के यहां जाते समय रक्तांशुक पहने थी[2]। वाग्भट ने भी इसका संकेत किया है।

११—मृच्छकटिक के कथानक का स्थान उज्जयिनी हैं जिसका अनेक स्थलों पर निर्देश हुआ है। पाटलिपुत्र का निर्देश संवाहक के प्रसंग में हुआ है जो जीविका की खोज में उज्जयिनी आया है[3]। इससे प्रतीत होता है कि उस काल में पाटलिपुत्र का महत्व समाप्त हो रहा था और उज्जयिनी राजनीति और अर्थ का केन्द्र बनी थी। वाग्भट ने अवन्ति (उज्जयिनी) का उल्लेख किया है पाटलिपुत्र का नहीं।

१२—शूद्रक ने हाथी और घोड़े का निर्देश किया है[4] किन्तु अश्व की अपेक्षा हाथी का उल्लेख अधिक है, इससे प्रतीत होता है कि हाथी का प्रयोग अधिक होता था। वाग्भट में भी यही स्थिति है। गन्धहस्ती तथा मत्तहस्ती का प्रयोग दोनों ने किया है[5]।

१३—शूद्रक ने धान के खेत (कलमकेदार) का निर्देश किया है[6]। इससे पता चलता है कि धान की खेती बहुत थी और कलम धान बहुत लोकप्रिय और श्रेष्ठ माना जाता था। वाग्भट ने भी इसका उल्लेख किया है।

१. इह राजमार्गे राजवल्लभाश्च पुरुषा: संचरन्ति। मृ० क० पृ० ३४,
किं राजा गजवल्लभो वा सेव्यते ?—पृ० ९७

२. रक्तांशुकं पवनलोलदशं वहन्ती। मृ० क० १।२०

३. मृ० क० पृ० ६८, 'पाटलिपुत्रं मे जन्मभूमि: संवाहकस्य वृत्तिमुपजीवामि'। मृ० क० पृ० १२७, १७६, १८३, ४०२, ५०४,

४. मृ० क० १।५०,५।२०, २१, ६।१,२, ५५९,

५. आर्याया गन्धगजं प्रेक्षिष्ये गत्वा। मृ० क० पृ० १३७, मत्तवारणसारूप्यं—मृ० क० ५।११,

६. मृ० क० पृ० ८७; सदध्ना कलमोदनेन प्रलोभिता न भक्षयन्ति वायसा बलिं सुधासवर्णतया। मृ० क० पृ० २३२

१४—ग्रहों की शान्ति के लिए चौराहे पर उपहार (बलि) देने की परंपरा का संकेत शूद्रक ने किया है[1]। वाग्भट में भी यह मिलता है।

१५—सिद्ध पुरुषों की प्रतिष्ठा समाज में बहुत थी। उनकी बात सत्य मानी जाती थी। सिद्धादेश से गोपालदा॰क आर्यक राजा बन गया।[2] वाग्भट में भी सिद्ध पुरुषों की पूजा का विधान है।

१६—पंखा झलने के लिए उस समय तालवृन्त का प्रयोग होता था।[3] वाग्भट ने भी उसका उल्लेख किया है।

१७—'महामात्र' 'शब्द का प्रयोग शूद्रक ने" 'महावत' अर्थ में किया है।[4] महामात्र के अधीन भृत्यों के लिए 'मात्रपुरुष' शब्द आया है।[5] वाग्भट ने संभवतः मन्त्री के लिए इसका प्रयोग किया है।

१८—सूर्यपूजा का बहुत प्रचार था। मृच्छकटिक में एक स्थान पर यह कहा है कि नित्य सूर्य को अर्घ्य देने से जल गिरने के कारण वहां की भूमि दूषित हो गई थी।[6] वाग्भट में भी सूर्यपूजा का विधान है।

१९—यान्त्रिक विधियों का शूद्रक ने उल्लेख किया है यथा घटीयन्त्र और यन्त्र-दृढ़ कपाट।[7] वाग्भट में भी ऐसे संकेत मिलते हैं।

२०—गुप्तकाल में चतुःसमुद्र का सामाज्य व्यवहार हो गया था कारण कि समुद्र के द्वारा व्यापार अधिक होता था। मृच्छकटिक में भी इसका उल्लेख है।[8] वाग्भट ने भी उल्लेख किया है।

२१—सुसंस्कृत समाज में पर्दाप्रथा थी और बैलगाड़ी का रिवाज था ऐसा मृच्छकटिक से पता चलता है।[8]

---

१. चतुष्पथोपनीतः उपहारः' मृ० क० पृ० ९०

२, मृ० क० पृ० १२३

३. तालवृन्तकं गृहाण। परिश्रम आर्यस्य बाधते। मृ० क० पृ० १३०; तालवृन्तकं गृहीत्वा लघु आगच्छ। मृ० क० पृ० १९६, ५।१३,

४. स आलानस्तम्भं भंक्त्वा महामात्रं व्यापाद्य—मृ० क० पृ० १३८

४ए. पिण्डं हस्ती प्रतिग्राह्यते मात्रपुरुषैः। मृ० क० पृ० २३३

५. नित्यादित्यदर्शनोदकसेचनेन दूषितेयं भूमिः। मृ० क० पृ० १५९,६।२७

६. मृ० क० ३।१६

७. चतुःसमुद्रसारभूता रत्नावली' मृ० क० पृ० १८७

८. गृहीतावगुण्ठनं पक्षद्वारे सज्जं प्रवहणम् मृ० क० पृ० १९२, वधूशब्दावगुण्ठनम्। मृ० क० ४।२४

२८—सद्वृत्त का उल्लेख मृच्छकटिक में हुआ है।[1] वाग्भट ने विस्तार से सद्-वृत्त का वर्णन किया है।

२९ – स्त्रियों को स्वतन्त्रता नहीं थी और उनके प्रति अविश्वास था।[2] वाग्भट ने भी लिखा है :—'विश्रम्भस्वातन्त्र्ये स्त्रीषु च त्यजेत्।

३०—मांगलिक भावों का उल्लेख मृच्छकटिक में है। वसन्तसेना के गृहद्वार के दोनों पार्श्व में हरित चूतपल्लवों से शोभित स्फटिक के मंगलकलश रक्खे हुये थे।[3] वाग्भट में १०८ मांगलिक भावों का वर्णन है।

३१—विविध रत्नों का उल्लेख शूद्रक ने वसन्तसेना के गृह के वैभव का वर्णन करते हुए किया है। भवन के षष्ठ कक्ष में तो रत्नों का ही विशेष कार्य होता था।[4] वाग्भट में भी अनेक रत्नों का उल्लेख आया है।

३२—मृच्छकटिक के वर्णन से प्रतीत होता है कि सकर्पूर ताम्बूल का प्रयोग किया जाता था।[5] वाग्भट में भी ताम्बूल का प्रयोग लगभग इसी प्रकार का है।

३३—पशु-पक्षियों को पालने की परम्परा का वणन मृच्छकटिक में है। वसन्त-सेना के भवन के सप्तम प्रकोष्ठ में विभिन्न पशु-पक्षी पाल कर रक्खे गये थे। वाग्भट ने भी अन्नरक्षाध्याय में इनका वर्णन किया है।

"इतोऽपि सप्तमे प्रकोष्ठे। सुश्लिष्टविहंगवाटीसुखनिषण्णानि अन्योन्यचुम्बनप-राणि सुखमनुभवन्ति पारावतमिथुनानि। दधिभक्तपूरितोदरो ब्राह्मण इव सूक्तं पठति पञ्जरशुकः। इयमपरा स्वामिसम्माननाब्धप्रसरा गृहदासीव अधिकं कुरकुरायते मदन-सारिका।' (मृ० क० पृ० २४१-२४२)

३४—पैर के तलवे को तैल से स्निग्ध रखने के लिए जूते की तली में तैल डालते थे। यह प्रथा आज भी देहातों में है। वसन्तसेना की माता इसी प्रकार अपना पैर स्निग्ध

---

१. मृ० क० ४।९,

२. अपण्डितास्ते पुरुषा मता मे ये स्त्रीषु च श्रीषु च विश्वसन्ति।—मृ० क० ४।१२।

३. निक्षिप्तसमुल्लसद्धरितचूतपल्लवललामस्फटिकमंगलकलशाभिरामोभयपार्श्वस्य। मृ० क० पृ० २३०

४. वैडूर्यमौक्तिकप्रवालपुष्परागेन्द्रनीलनकर्केतरकपद्मरागमरकतप्रभृतीन् रत्नविशे-षान् अन्योन्यं विचारयन्ति शिल्पिनः। मृ० क० पृ० २३९,

५, दीयते गणिकाकामुकयोः सकर्पूरं ताम्बूलम्। मृ० क० पृ० २४०

रखती थी ।[1] वाग्भट ने भी शिर, कर्ण और पैर में विशेष रूप से तैलाभ्यंग का विधान दिया है ।

२५—भूतप्रेत, राक्षसी, डाकिनी (डायन) आदि का अन्धविश्वास मृच्छकटिक के वर्णनां से ध्वनित होता है ।[2] वाग्भट में भी भूतविद्या का विस्तृत वर्णन है ।

३६—उद्यानदीर्घिका का वर्णन दोनों में है ।[3]

३७—वैष्णवधर्म के उत्थान के साथ साथ श्याम वर्ण का महत्व भी बढ़ने लगा । कालिदास ने इस वर्ण की प्रशंसा की है । मृच्छकटिक में भी मेघ की उपमा विष्णु के श्याम शरीर से दी गई है[4] । वाग्भट ने भी 'सर्वधातुसाम्ये श्यामता' कह कर उसे सर्वोच्च स्थान प्रदान किया है ।

३८. शूद्रक ने कदम्ब और नीप का एक साथ उल्लेख किया है। इससे पता चलता है कि कदम्ब की ये दो जातियाँ उस समय लोक में प्रचलित थीं ।[5] वाग्भट ने भी इन दो जातियों का उल्लेख किया है ।

३९—चित्रभित्तियों का उल्लेख मृच्छकटिक में हुआ है ।[6] गुप्तकाल में इनकी प्रचलित परम्परा थी । वाग्भट ने भी इसका निर्देश किया है ।

बच्चों के खिलौनों का वर्णन मृच्छकटिक में हुआ है। चारुदत्त के पड़ोसी का लड़का सोने की गाड़ी से तथा उसका लड़का मिट्टी की गाड़ी से खेलता है ।[7]

४१—निमित्तों और शकुनों का उल्लेख मृच्छकटिक में हुआ है[8] और वाग्भट ने भी किया है ।

४२—'गुप्ति' शब्द का कारागार के अर्थ में शूद्रक ने प्रयोग किया है ।[9] इसका

---

१. उपानद्युगलक्षिप्ततैलचिक्कणाभ्यां पादाभ्यामुच्चासनोपविष्टा तिष्ठति ।' मृ० क० पृ० २४४

२. अहो अपवित्रडाकिन्या उदरविस्तारः । मृ० क० पृ० २४४
सत्यं राक्षस्येवात्र प्रतिवसति ।—पृ० ३०१

३. इतश्च उदयमानसुरसमप्रभैः कमलरक्तोत्पलैः सन्ध्यायते इव दीर्घिका । मृ० क० पृ० २४८

४. केशवगात्रश्यामः—उन्नतो मेघः । मृ० क० ५।३

५. मृ० क० ५।३५

६. एषा च स्फुटितसुधाद्रवानुलेपात् संक्लिन्ना सलिलभरेण चित्रभित्तिः ।—मृ० क० ५।५०

७. मृ० क० पृ० ३१९,३२० ८. मृ० क० पृ० ३२५, ९।१०

९. गोपालदारकः गुप्तिं भंक्त्वा गुप्तिपालकं व्यापाद्य बन्धनं भित्त्वा परिभ्रष्टःप्रपक्रामति । मृ० क० पृ० ३२७

प्रयोग वाग्भट ने भी किया है। संभवतः गुप्तकाल में इसका प्रयोग प्रचलित था।

४३—अनिष्ट ग्रहों का उल्लेख मृच्छकटिक में किया है[1] और वाग्भट में भी।

४४—मृच्छकटिक में चन्दनक दाक्षिणात्य है। अनेक म्लेच्छ जातियों का भी उल्लेख हुआ है।[2] इससे प्रतीत होता है कि उत्तर भारत में अनेक दाक्षिणात्य आकर बस गये थे कुछ तो राजसेवा में और कुछ तान्त्रिक क्रियाओं के प्रसंग में। कादम्बरी का जरद्द्रविड़ धार्मिक तथा हर्षचरित का भैरवाचार्य इसी की ओर संकेत करते हैं। वाग्भट के वर्णनों से भी इसका पता लगता है। वाग्भट-काल में दक्षिण के अनेक खाद्य-पदार्थ भी उत्तर भारत में प्रचलित थे।

४५—मृच्छकटिक में यत्र-तत्र आया 'श्रावक' शब्द संभवतः कथक-चारण आदि के लिए प्रयुक्त हुआ है[3]। वाग्भट में भी कथक का उल्लेख है।

४६—व्यायाम-सेवन का संकेत मृच्छकटिक में है[4]। व्यायाम-सेवन की परम्परा गुप्तकाल में प्रचलित थी। राजकुल में भी व्यायामभूमि होती थी। प्रायः सभी कवियों ने व्यायाम का महत्व बतलाया है। वाग्भट में तो है ही।

४७—विषों का प्रयोग औषध में भी होता था। कालिदास और भारवि आदि कवियों ने भी इसका उल्लेख किता है। किन्तु मृच्छकटिक के निर्देश से पता चलता है कि विष में औषधत्व लाने की प्रक्रिया कठिन थी। संभवतः यह शोधनादि प्रक्रियाओं की ओर संकेत करता है।[5] वाग्भट में भी विषों का प्रयोग औषधीय कर्मों के लिए विहित है।

---

१. "कस्याष्टमो दिनकरः कस्य चतुर्थश्च वर्तते चन्द्रः।
षष्ठश्च भार्गवग्रहो भूमिसुतः पंचमः कस्य।
भण कस्य जन्मषष्ठो जीवो नवमस्तथैव सूरसुतः।
जीवति चन्दनके कः स गोपालदारकं हरति॥ मृ० क० ६।९-१०

'अंगारकविरुद्धस्य प्रक्षीणस्य बृहस्पतेः। ग्रहोऽयमपरः पार्श्वे धूमकेतुरिवोत्थितः॥ मृ० क० ९।३३

२. वयं दक्षिणात्या अव्यक्तभाषिणः। खसरवत्ति—खड़ा—खरट्टो विलयकर्णाटि-कर्णप्रावरण-द्रविड-चोल-चीन-वर्बर-खेर-खान-मुख-मधुघातप्रभृतीनां म्लेच्छजातीनाम्। मृ० क० पृ० ३४८

३—किमहं श्रावकः, कोष्ठकः कुम्भकारो वा ? मृ० क० पृ० ३७८

४. एवं कृते व्यायामः सेवितो……भवति। मृ० क० पृ० ४२

५. दुष्करं विषमौषधीकर्तुम्। मृ० क० पृ० ४०३

४८—'परलोक' का उल्लेख मृच्छकटिक में है[1]। वाग्भट ने भी उभयलोकाविरुद्ध कार्य करने का उपदेश किया है।

४९—शाकाहार तथा मांसाहार दोनों का संकेत मृच्छकटिक से मिलता है[2]। संभवतः शाकाहार धार्मिक वर्ग में तथा मांसाहार राजकुल तथा सामान्य लोक में प्रचलित था। वाग्भट ने भी द्विविध आहार का निर्देश किया है। कृतान्नों में अपूप, मोदक, गुडौदन, सूप, शाक[3] आदि का विशेष व्यवहार था। वाग्भट-काल में भी ये प्रचलित थे।

५०—मृच्छकटिक में 'शील' पर विशेष बल दिया है।[4] वाग्भट ने भी दश कर्मपथों की रक्षा तथा दश पापकर्मों के त्याग के द्वारा शील का उपदेश किया है।

५१—चाणक्य का उल्लेख मृच्छकटिक में अनेक बार आया है।[5] संभवतः गुप्तकाल में चाणक्य का कौटिल्य अर्थशास्त्र अत्यधिक प्रचलित ग्रन्थ था। वाग्भट ने भी इसका उल्लेख अनेक स्थलों पर किया है।

५२—'सेतु' का निर्माण यत्र तत्र अधिक संख्या में हुआ था जिससे कृषिकर्म में सुविधा हो।[6] वाग्भट ने भी सेतुबन्ध का निर्देश किया है।

५३—मृच्छकटिक से पता चलता है कि कूप से जल निकालने के लिए रस्सी और कलसे[7] का तथा बड़े पैमाने पर सिचाई वगैरह के लिए घटीयन्त्र[8] का प्रयोग होता था जो पशुओं या पुरुषों द्वारा चलाया जाता था। वाग्भट ने भी इसका उल्लेख किया है।

५४—'मयि मृत्युवशं प्राप्ते विद्येव समुपागता।' मृच्छकटिक का यह श्लोक (१०।४२) संभवतः मायूरी, महामायूरी आदि विद्याओं की ओर संकेत करता है जो मृत्यु के समय पढ़ी जाती थीं। प्रभाकरवर्धन की मृत्यु के समय महामायूरी का पाठ हुआ था। नावनीतक में भी मायूरी विद्या का उल्लेख है।

---

१. पृ० ४१ कः स परलोकः ? सुकृतदुष्कृतस्य परिणामः।—मृ० क० पृ० ४१ और देखें पृ० ५०४, ५२८, ५३२

२. सर्वकालं मया पुष्टो मांसेन च घृतेन च। मृ० क० ८।२८

३. मृ० क० १०।२९

४. किं कुलेनोपदिष्टेन शीलमेवात्र कारणम्। मृ० क० ८।२९,३३

५. मृ० क० पृ० ४२८ (८।३४,३५)

६. मृ० क० १०।१४ ७. मृ० क० १०।२४

८. एष क्रीडति कूपयंत्रघटिकान्यायप्रसक्तो विधिः। मृ० क० १०।५९

५५—कार्त्तिकेय की पूजा का भी लोक में प्रचार था।[1] गुप्तकाल में यह बहुत लोकप्रिय देवता थे। यह गुप्त राजाओं के कुलदेवता थे। वाग्भट ने भी इनका वर्णन किया है।

आयुर्वेदीय विषयों में रसायन का उल्लेख मृच्छकटिक में हुआ है[2]। इसके अतिरिक्त अगदतन्त्र (सर्पविष-चिकित्सा[3]), चातुर्थिक ज्वर[4], सुरापान द्वारा स्थूलता[5] स्वरभेद[6], शल्य[7], आदि का भी निर्देश हुआ है। ये विषय सामान्य रूप से वाग्भट में भी हैं।

शूद्रक और वाग्भट की शैली में समानता के कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं :-

१—मृच्छकटिक का

"लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः।
असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्विफलतां गता।। १।३४

यह श्लोक अतीव प्रसिद्ध है और परवर्ती लेखकों द्वारा बहुशः उद्धृत हुआ है। वाग्भट का निम्नांकित श्लोक इसी छाया पर निर्मित है इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता :—

तस्माद् या यस्य हृदयं विशतीव वरांगना।
तुल्यस्वभावा या हारिमृजारूपगुणान्विता।।
पाशभूतैर्वहन्त्यंगैर्लावण्यमिव मूर्तिमत्।
आलपन्त्यकृतेनैव या गात्राणि निषिंचति।।
पिबन्तीव च पश्यन्ती स्पृशन्ती लिबतीव या।
नित्यमुत्सवभूता या या समानमनःशया।।

—सं० उ० ५०।७६

२—निम्नांकित श्लोकों की भी तुलना करें :—

उदयति हि शशांकः कामिनीगण्डपाण्डुर्ग्रहगणपरिवारो राजमार्गप्रदीपः।
तिमिरनिकरमध्ये रश्मयो यस्य गौराः स्रुतजल इव पंके क्षीरधाराः पतन्ति।।

—मृ० क० १।५७

यस्योपयोगेन शकांगनानां लावण्यसारादिविनिर्मितानाम्।
कपोलकान्त्या विजितः शशांकः रसातलं गच्छति निर्विदेव।।

—सं० उ० ४९।१३६

---

१. मृ० क० १०।४६

२. गुडौदनं, घृतं, दधि, तण्डुलाः आर्येण अत्तव्यं रसायनं सर्वमस्तीति।
—मृ० क० पृ० १४

३. मृ० क० पृ० १६४ ४. मृ० क० पृ० २४५

५. मृ० क० ४।२९ ६. मृ० क० ८।१३-१४

७. मृ० क० १०।२८

१—इतः पिण्डीकृता इव चन्द्रपादाः पदगतिं शिक्षमाणानीव कामिनीनां पश्चाद् परिभ्रमन्ति राजहंसमिथुनानि ।—मृ० क० पृ० २४२

सहचरीनिनादसंकल्पोपजनितौत्सुक्यकलहंसानुनादितनूपुररशनाकलापशिंजितानुगमसंमुखमुग्धमृदुवचनाभिः ।—सं० सू० २१।४

४—हरति करसमूहं खे शशांकस्य मेघो
नृप इव पुरमध्ये मन्दवीर्यस्य शत्रोः ।—मृ० क० ५।१७
परक्षेत्रेऽपि वर्तन्ते राजानोऽतिबला इव ।—सं० उ० ४५।३३

५—इतोऽपि सप्तमे प्रकोष्ठे सुश्लिष्टविहंगवाटी-सुखनिषण्णानि अन्योन्य-चुम्बनपराणि सुखमनुभवन्ति पारावतमिथुनानि । दधिभक्तपूरितोदरो ब्राह्मण इव सूक्तं पठति पंजरशुकः । इयमपरा स्वामिसम्मानलब्धप्रसरा गृहदासी इव अधिकं कुरकुरायते मदनसारिका । अनेकफलरसास्वादप्रतुष्टकण्ठा कुम्भदासीव कूजति परपुष्टा । आलम्बिता नागदन्तेषु पंजरपरम्पराः । योध्यन्ते लावकाः । आलाप्यन्ते पिंजर-कपिंजलाः । प्रेष्यन्ते पंजरकपोताः । इतस्ततो विविधमणिचित्रित इवायं सहर्षं नृत्यन् रविकिरणसन्तप्तं पक्षोत्क्षेपैर्विधुवतीव प्रासादं गृहमयूरः । इतः पिण्डीकृता इव चन्द्रपादाः पदगतिं शिक्षमाणानीव कामिनीनां पश्चात् परिभ्रमन्ति राजहंसमिथुनानि । एते अपरे वृद्धमतल्लिका इतस्ततः गृहसारसाः । —मृ० क० पृ० २४१-२४२

चकोरस्याक्षिणी विरज्येते । कोकिलस्य स्वरो विकृतिमेति । हंसस्य गतिः स्खलति । कूजति भृङ्गराजः । माद्यति क्रौंचः । विरौति कृकवाकुः । विक्रोशति शुकः । सारिका च छर्दयति । चामीकरोऽन्यतो याति । कारण्डवो म्रियते । जीवंजीवको ग्लायति । हृष्टरोमा भवति नकुलः । शकृद्विसृजति वानरः । रोदिति पृषतः । हृष्यति मयूरः ।—सं० सू० ८।२३

मृच्छकटिक में वर्णित सामाजिक उच्छृंखलता तथा राजनीतिक विद्रोह आदि घटनाओं से अनुमान होता है कि उस समय देश में कोई व्यवस्थित शासन नहीं था। गुप्त राजाओं के अन्तिम काल में उनकी दुर्बलता के कारण या हूणों के उपद्रवों के कारण अस्तव्यस्तता से ऐसी स्थिति हो सकती है। इसके विपरीत, वाग्भट एक व्यवस्थित राजतन्त्र का प्रतिनिधित्व करते हैं। उपर्युक्त उद्धरणों से वाग्भट पर शूद्रक की छाया स्पष्ट रूप से प्रतीत होती है।

वराहमिहिर और वाग्भट

वराहमिहिर का ज्योतिष में वही स्थान है जो वाग्भट का आयुर्वेद में है। वराहमिहिर का काल ५०५-५८७ ई० माना जाता है।[१] इस प्रकार यह विक्रमा-

१. V. Subrahmanya Shastri : Brihat Jataka, Preface vi.

दित्य (यशोधर्मा—५४४ ई०) के समकालीन थे और उनकी गणना नवरत्नों में हुई। वराहमिहिर पर वाग्भट की पूरी छाया है अतः कालनिर्णय की दृष्टि से दोनों का तुलनात्मक अध्ययन अतीव महत्वपूर्ण है।

अष्टांगसंग्रह और वराहमिहिर की रचनाओं की शैली और विषयवस्तु में पर्याप्त साम्य दृष्टिगोचर होता है। इस सम्बन्ध में निम्नांकित तथ्य महत्वपूर्ण हैं:—

वराहमिहिर की बृहत्संहिता में १०० अध्याय हैं तथा अष्टांगसंग्रह में भी उत्तरस्थान छोड़कर १०० अध्याय हैं।

१—ग्रन्थ का मंगलाचरण दोनों ने शार्दूलविक्रीडित छन्द से किया है। इसके अतिरिक्त दोनों के ग्रन्थों में विविध छन्दों का प्रयोग हुआ है। अलंकारों का भी प्रयोग दोनों में है और दोनों की भाषा गद्य-पद्यमय है।

२—दोनों ने प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर संक्षेप में उनके सारभूत ग्रन्थों की रचना की है।[1]

३—आर्ष ग्रन्थों के प्रति तत्कालीन अन्धश्रद्धा की प्रतिक्रिया में सामान्यजनकृत रचनाओं के महत्व को प्रतिपादित किया गया है जो उस युग के सांस्कृतिक पुनरुत्थान का सूचक है। दोनों का यह दृष्टिकोण है कि प्राचीन ऋषिप्रणीत ग्रन्थ ही ठीक है और आधुनिक सामान्यजनकृत ग्रन्थ अनुपादेय है ऐसी धारणा उचित नहीं है क्योंकि सत्य तो एक ही है चाहे ब्रह्मा कहें या हम जैसे सामान्य मनुष्य यथा मदनफल वमनकारक है और त्रिवृत् विरेचन है ऐसा कथन सामान्यजन का भी उतना ही सत्य है जितना अत्रि जैसे महर्षि का। इसी प्रकार मंगलवार शुभकारक नहीं है इस पितामहवाक्य और 'मंगलवार अनिष्ट है' ऐसे मनुज-वाक्य में क्या अन्तर है।[2]

---

१. सर्वतंत्राण्यतः प्रायः संहृत्याष्टांगसंग्रहः।
युगानुरूपसंदर्भो विभागेन करिष्यते॥—सं० सू० १।१८-२०
न मात्रामात्रमप्यत्र किंचिदागमवर्जितम्।
तेऽर्थाः स ग्रन्थबंधश्च संक्षेपाय क्रमोऽन्यथा॥ —वही २२
आब्रह्मादि विनिःसृतमालोक्य ग्रन्थविस्तरं क्रमशः।
क्रियमाणकमेवैतत् समासतोऽतो ममत्रोत्साहः॥—बृ० सं० १।५

२. ऊर्ध्वमेति मदनं त्रिवृताधो वस्तुमात्रक इति प्रतिपाद्ये।
मद्विधो यदि वदेदथवात्रिः कथ्यतां क इव कर्मणि भेदः॥
—सं० उ० ५०।१३८

मुनिविरचितमिदमिति यच्चिरन्तनं साधु न मनुजग्रथितम्।
तुल्येऽर्थेऽक्षरभेदादमन्त्रके का विशेषोक्तिः।

४—शक, यवन, चीन आदि देशों का उल्लेख दोनों में मिलता है।

५—'महामात्र' शब्द दोनों में मिलता है।

६—वर्णव्यवस्था का संकेत दोनों में है। संग्रहकार ने सर्पों को वर्णों के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—इन चार वर्गों में विभाजित किया है और वराहमिहिर ने भी ग्रहों का इस प्रकार विभाजन किया है।

७—भेषजव्यापार तथा चित्रकला, शिल्प, संगीत, नृत्य, गोष्ठी आदि का निर्देश दोनों में मिलता है।

८—ब्राह्मणों की यज्ञ आदि विविध धार्मिक क्रियाओं के साथ बौद्धों के विभिन्न संप्रदायों का उल्लेख दोनों में है। वराहमिहिर ने विष्णु की प्रतिमा के साथ-साथ देवी, स्कन्द, इन्द्र, शंकर, बुद्ध, अर्हत्, सूर्य आदि देवताओं का उल्लेख किया है। इससे स्पष्ट है कि सभी देवताओं की पूजा का लोक में प्रचार था। ऐसा ही विचार वाग्भट की रचना में दृष्टिगोचर होता है।

९—अथर्ववेदीय प्रभाव दोनों पर स्पष्ट लक्षित होता है।

१०—भौगोलिक स्थिति का दोनों ने वर्णन किया है। गंगा आदि नदियों, हिमालय आदि पर्वत, तीर्थस्थान, संगम, आदि का निर्देश दोनों में है।

११—पौराणिक आख्यानों का प्रभाव दोनों पर है। श्रीवत्सांक, कौस्तुभमणि आदि का उल्लेख दोनों में है। देव, गुरु, ब्राह्मण, गो इनकी पूजा का विधान दोनों में है। ब्राह्मणों को दक्षिणा देने का भी विधान है।

१२— शुभ करण, दिवस, नक्षत्र, मुहूर्त, तिथि आदि का विचार दोनों में है।

१३—अनेक रोगों और ओषधियों का निर्देश दोनों में है। उदाहरणार्थ, यौन रोगों के लिए गुह्यरोग-विज्ञानीय तथा गुह्यरोगप्रतिषेधीय ये दो अध्याय अष्टांग-संग्रह में मिलते हैं। कामशास्त्र के अधिक प्रचार से तथा भोग-विलासमय जीवन के कारण यौनरोगों का बाहुल्य होने लगा होगा और इसलिए वाग्भट ने इन्हें एक स्वतन्त्र शीर्षक के अन्तर्गत रख कर समुचित महत्त्व दिया। वराहमिहिर ने अनेक स्थानों पर गुह्यरोगों का निर्देश किया है[1]। इससे पता चलता है कि वह वाग्भट के द्वारा वर्णित गुह्यरोगों का निर्देश करते हैं।

१४—वराहमिहिर ने वृहत् संहिता के कान्दर्पिक प्रकरण में अनेक वाजीकरण योगों का उल्लेख किया है जो अष्टांगसंग्रह के योगों से बहुत मिलते-जुलते हैं।

क्षितितनयदिवसवारो न शुभकृदिति यदि पितामहप्रोक्ते ॥
कुजदिनमनिष्टमिति वा कोऽत्र विशेषो नृदिव्यकृतेः ॥

—बृ० सं० १।३-४

१. बृ० जा० २३।७,२५।९, बृ० सं० ५।८६,५०।९

माक्षीकधातुमधुपारदलोहचूर्णपथ्याशिलाजतुघृतानि समानि योऽद्यात् ।
सैकानिविंशतिरहानि जरान्वितोऽपि सोऽशीतिकोऽपि रमयत्यबलां युवेव ।।
(बृ० सं० ७६।३)

वराहमिहिर का यह श्लोक अष्टांगसंग्रह के निम्नलिखित श्लोक की ही प्रतिच्छाया है :—

शिलाजतुक्षौद्रविडंगसर्पिर्लोहाभयापारदताप्यभक्षः ।
आपूर्यते दुर्बलदेहधातुस्त्रिपञ्चरात्रेण यथा शशांकः ।।
—सं० उ० ४९।२४५

इसके अतिरिक्त, वृष्य शष्कुलिका का विधान दोनों में प्रायः समान ही है :—

माषात्मगुप्तागोधूमशालिषष्टिकपैष्टिकान् ।
शर्करायाः विदार्याश्च चूर्णानीक्षुरकस्य च ।।
संयोज्य क्षीरसर्पिभ्यां घृते पूपलिकाः पचेत् ।।
पयोऽनुपानास्ताः शीघ्रं कुर्वन्ति वृषतां नरम् ।
चूर्णमाषात्तिलाच्छालैर्विदार्याश्च ससैन्धवम् ।।
रसेन पुण्ड्रकस्येक्षोः प्लुतं वाराहमेदसि ।
पक्त्वा शष्कुलिकाः खादन्नारोहेत् षष्टिमंगनाः ।। सं० उ० ४९।४१-४२
तिलाश्वगन्धाकपिकच्छुमूलैर्विदारिकाषष्टिकपिष्टयोगः ।
आजेन पिष्टः पयसा घृतेन पक्वं भवेच्छष्कुलिकातिवृष्या ।।
—बृ० सं० ७६।९

वराहमिहिर ने इस प्रकरण में और निम्नांकित योग दिये है :—

(१) कपिकच्छूमूल से शृत क्षीर—बृ० सं० ७६।४

(२) दुग्धघृतपक्व माष का सेवन क्षीरानुपान से—७६।४

(३) विदारिकाचूर्ण को उसी के स्वरस से भावित कर शृत दुग्ध से सेवन। ७६।५

(४) आमलकीचूर्ण उसके स्वरस से भावित, घृत-मधु-शर्करा से चाट कर दूध पीना। ७६।६

(५) बस्तांडक्षीर से भावित तिल खाकर दुग्ध पीना। —७६।७

(६) षष्टिकौदन, माषयूष और घृत का क्षीरानुपान से सेवन।—७६।८

(७) गोक्षुर का सेवन दुग्ध से, विदारीकन्द का सेवन दुग्ध से। ७६।१०

(८) अजमोदा, लवण, हरीतकी, शुण्ठी, पिप्पली इनके चूर्ण का सेवन मद्य, तक्र, पेया या उष्णजल से दीपन है।—७६।११

(९) हर्म्यपृष्ठ, चन्द्ररश्मि, उत्पल, मद्य, मदालसा प्रिया, वल्लकी, स्मरकथा, एकान्त, स्रक्। ७६।२ ये सभी योग अष्टांगसंग्रह के योगों से मिलते-जुलते हैं।

(१०) कुछ श्लोक तो भाव और भाषा में बिलकुल मिलते-जुलते हैं। कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं।

अष्टांगसंग्रह	बृहत्संहिता
(१) वसन्ते दक्षिणो वायुराताम्रकिरणो रविः —सू० ४।२१,	फाल्गुनमासे—कपिलस्ताम्रो रविश्च शुभः ।। —२१।२१
(२) रहसि दयितामंके कृत्वा भुजान्तरपीडनात् । —चि० ९।४८	रहसि मदनसक्तया रेवया कान्तयोपगूढम् ।। —१२।७
(३) त्रिवर्णं मण्डलं लिखेत् । —उ० ५।५	तस्मिन् मण्डलमालिख्य कल्पयेत्तत्र मेदिनीम् । —४८।२४
(४) दध्यक्षतान्नपानरुक्मरत्नार्चितविप्रम् । —सू० ३८,	गुडपूपपायसाद्यैर्विप्रानभ्यर्च्य दक्षिणाभिश्च । —४३।१८
(५) प्राप्य दुष्प्रापमैश्वर्यं बहुमानं च भूपतेः । —सू० ८।१४८,	विख्यातो भवति नरेन्द्रवल्लभश्च । —४४।९९
(६) न देशं व्याधिबहुलं नावैद्यं नाप्यनायकम् । —सं० सू० ३।११३	नासांवत्सरिके देशे वस्तव्यं भूतिमिच्छता । —बृ० सं० २।११
(७) तस्माद्राजा कुलीनं निष्णातमष्टांगे सात्म्यज्ञं च प्राणाचार्यं परिगृह्णीत ।। सं० सू० ८।४	तस्माद् राज्ञाधिगन्तव्यो विद्वान् सांवत्सरोऽग्रणीः ।—बृ० सं० २।१०

१६—वराहमिहिर ने प्राचीन आचार्यों के लिए 'मुनि' शब्द का प्रयोग किया है[१] । वाग्भट ने भी इस शब्द का प्रयोग किया है ।

१७—वराहमिहिर ने अपना परिचय 'आवन्तिक' कह कर दिया है[२] । वह अवन्ति (उज्जयिनी) के निवासी सूर्यपूजक मगब्राह्मण थे । वाग्भट ने अपने को 'सिन्धुजन्मा' कहा है । इससे लोग यह अर्थ लेते हैं कि वह सिन्ध का निवासी था । किन्तु मेरा विचार है कि वह जनमा तो सिन्ध में किन्तु कुछ दिनों के बाद जीविका के प्रसंग में अवन्ति चला आया होगा । अनेक स्थानों पर उसने 'अवन्तिसोम' नामक पेय का उल्लेख किया है जिससे स्पष्ट होता है कि अवन्ति से वह पूर्ण परिचित था । वह मगब्राह्मण था यह कहना तो कठिन है किन्तु उसने कुष्ठरोग की चिकित्सा में सूर्य की आराधना करने का विधान किया है । आज भी कुष्ठरोग में सूर्यपूजा की

---

१. बृ० जा० २८।९, १०; बृ० सं० १०६।६

२. आदित्यदासतनयः तदवाप्तबोधः कापित्थके सवितृलब्धवरप्रसादः ।
आवन्तिको मुनिमतान्यवलोक्य सम्यग्घोरां वराहमिहिरो रुचिरां चकार ।।
—बृ० जा० २८।९

परम्परा चली आ रही है। बिहार में, जहाँ मगब्राह्मणों की बहुलता है, आज भी सूर्य के मन्दिरों में सूर्यषष्ठी का मेला लगा करता है। अवन्ती में रहने के कारण वह एक दूसरे के संपर्क में आये होंगे और ऐसी स्थिति में एक की छाया दूसरे पर पड़नी स्वाभाविक है।

१८—वाग्भट ने स्थावर विषों का विभिन्न रोगों की चिकित्सा में प्रयोग प्रारंभ किया और ऐसे सभी प्रयोगों का एक स्वतन्त्र अध्याय विषोपयोगीय में वर्णन किया। चूंकि इन विषों को सामान्यतः मौल कहते हैं[1] अतः इनका प्रयोग करने वाले वैद्य मौलिक भिषक् कहलाते थे। कहने की आवश्यकता नहीं कि ऐसे चिकित्सकों की संख्या उस काल में पर्याप्त रही होगी। वराहमिहिर ने इन "मौलिक भिषकों" का उल्लेख किया है[2]। स्पष्टतः यह उल्लेख वाग्भट के आधार पर हुआ होगा।

१९—मन्त्र, ओषधि आदि के माध्यम से तान्त्रिक प्रयोग अभिचार, मोहन, वशीकरण आदि प्रचलित थे। वराहमिहिर ने इन क्रियाओं की निन्दा की है और कहा है कि इनसे हानि ही होती है कल्याण नहीं[3]। वाग्भट की रचना में भी तान्त्रिक प्रयोगों की बहुलता है।

२०—गंधयुक्ति-प्रकरण में शिरःतैल भानुपाक विधि से बनाने का उल्लेख है[4]। वाग्भट ने अष्टांगसंग्रह में इस विधि का निर्देश किया है।

२१—मान-प्रकरण में पल का दसवां भाग धरण वाग्भट ने कहा है। इसी के अनुसार वराहमिहिर ने भी बतलाया है[5]।

२२—नक्षत्रकर्मगुण-प्रकरण[6] में वराहमिहिर ने नक्षत्रों से व्याधि और औषध का संबंध स्थापित किया है। वाग्भट ने भी इसका उल्लेख किया है।

२३—ताम्बूल का गुण विस्तृत रूप में वराहमिहिर ने वर्णन किया है[7]। वाग्भट में भी यही स्थिति मिलती है। इससे पता चलता है कि उस काल में ताम्बूल-चर्वण का पर्याप्त प्रचलन था।

२४—गोष्ठ का वर्णन वराहमिहिर ने किया है[8]। वाग्भट ने इसका वर्णन रसायन-प्रकरण में निम्नांकित रूप से किया है :—

---

१. सर्वमपि चैतन्मौलमित्युच्यते मूलाश्रयत्वात् पत्रादीनाम्। सं० उ० ४०।१

२. मौलिकभिषजां मूले ।। बृ० सं० ९।३२

३. मन्त्रौषधाद्यैः कुहकप्रयोगैः भवन्ति दोषा बहवो न शर्म। बृ० सं ७५।५

४. बृ० सं० ७७।६

५. पलदशभागो धरणं। बृ० सं० ८१।१३

६. बृ० सं० ९८ ७. बृ० सं० ७७।३४-३७

८. बृ० सं० ४८।११

गवामृजुत्वेन कृतानुकारैरनन्यवागाशयदेहचेष्टैः ।
स्थिरेन्द्रियायुर्ज्वलनैः सुशीलैः सुवृद्धगोपैः समधिष्ठितेषु ॥
प्राज्याज्यदुग्धौषधिपादपेषु हुम्भारवैर्वल्गितवत्सकेषु ।
मठप्रवेशेन विनापि सिद्धिं व्रजन्ति गोष्ठेषु रसायनानि ॥

—सं० उ० ४९।२६९.

२५—वाग्भट ने वैद्य को राजभवन के पास ही रहने का उपदेश किया है[1]। वराहमिहिर ने भी वास्तुविद्या-प्रकरण में राजभवन के पास वैद्य, पुरोहित तथा दैवज्ञ के निवासस्थान का विधान किया है[2]।

वराहमिहिर तथा वाग्भट की रचनाओं में निम्नांकित वैषम्य मिलता है :—

१—बृहत्संहिता में कुरु, पांचाल, तक्षशिला आदि कुछ प्राचीन स्थानों के नाम मिलते हैं किन्तु अष्टांगसंग्रह में इनका उल्लेख नहीं है।

२—अवगाण (अफगान), सितहूण, चीन, पह्लव आदि जातियों का उल्लेख बृहत्संहिता में है किन्तु अष्टांगसंग्रह में नहीं है।

३—अथर्ववेदीय प्रभाव वराहमिहिर पर अधिक प्रतीत होता है क्योंकि अथर्वपरिशिष्ट के अनुसार कूर्मविभाग, पुष्यस्नान, घृतकंबल, उत्पात आदि अनेक प्रकरणों का उसने निर्देश किया है जब कि अष्टांगसंग्रह में इनमें से केवल घृतावेक्षण का ही निर्देश दिनचर्या-प्रकरण में किया गया है।

४—वाग्भट ने छन्दों का चमत्कार दो-तीन श्लोकों में ही दिखलाया है जब कि वराहमिहिर ने पूरे एक अध्याय में ५० से ऊपर छंदों के विविध भेदों का चमत्कार-पूर्ण प्रदर्शन किया है।

५—अलंकारों के प्रयोग में भी वराहमिहिर वाग्भट से आगे हैं। एक नमूना देखिये :—

जये धरित्र्याः पुरमेव सारं पुरे गृहं सद्मनि चैकदेशः ।
तत्रापि शय्या शयने वरा स्त्री रत्नोज्ज्वला राज्यसुखस्य सारः ॥

—बृ०सं० ७४।१

उपमा का चमत्कार देखें :—

प्राजापत्ये शकटे भिन्ने कृत्वेव पातकं वसुधा ।
केशास्थिशकलशबला कापालमिव व्रतं धत्ते ॥—बृ० सं० ९।२५
हृदयानि सतामिव स्वभावात् पुनरम्बूनि भवन्ति निर्मलानि ।

—बृ० सं० १२।८.

---

१. तस्माद् भिषजो राजगृहासन्ने निवेशनं कारयेत् ॥ सं० सू० ८।७

२. बृ० सं० ५३।१०

ताम्बूलरक्तोत्कषिताग्रदन्ती विभाति योषेव शरत् सहासा ॥

—बृ० सं० १२।९.

और भी देखें :—

येन चाम्बुहरणेऽपि विद्रुमः भूधरैः समणिरत्नविद्रुमैः ॥

निर्गतैस्तदुरगैश्च राजितः सागरोऽधिकतरं विराजितः ॥—बृ० सं० १२।३

गंगादिवाकरसुताजलचारुहारां धात्रीं समुद्ररशनां वशगां करोति ॥

—बृ० सं० ४३।३२

यह श्लोक तो बेजोड़ है :—

ध्वजकुंभहयेभभूभृतामनुरूपे वशमेति भूभृताम् ।

उदयास्तधराधराधरा हिमवद्विन्ध्यपयोधरा धरा ॥—बृ० सं० ४३।३५

६—भाषा कहीं-कहीं यङन्त के प्रयोग से बोझिल बना दी गई है यथा बृ० सं० १९।१८ में। अष्टांगसंग्रह में ऐसे प्रयोग नहीं मिलते।

७—पाखण्डों और नास्तिकों का बहुशः उल्लेख उपेक्षा और तिरस्कार के साथ किया गया है जिससे बौद्धधर्म की अवनति और उसके प्रति असहिष्णुता का प्रारंभ सूचित होता है यथा—

पाखण्डानां नास्तिकानां च भक्तः साध्वाचारप्रोज्झितः कोधशीलः ।

ईर्ष्युः क्रूरो विग्रहासक्तचेता यस्मिन् राजा तस्य देशस्य नाशः ॥

—बृ० सं० ४६।७६

अष्टांगसंग्रह में इसके विपरीत, बौद्धधर्म और ब्राह्मणधर्म का समुचित सामंजस्य मिलता है।

८—वराहमिहिर ने शकों का इस रूप में उल्लेख नहीं किया है जिस रूप में वाग्भट ने। इससे प्रतीत होता है कि वराहमिहिर शकों से परिचित तो थे किन्तु उतने निकट से नहीं। इसके विपरीत, वाग्भट ने जिस रूप में वर्णन किया है उससे उसका शकों का सान्निध्य सूचित होता है।

९—वराहमिहिर पर कालिदास का प्रभाव वाग्भट से अधिक है इसका विस्तृत विवेचन आगे करेंगे।

१०—वारों का क्रम वराहमिहिर में है किन्तु अष्टांगसंग्रह में नहीं।

इसके अतिरिक्त, वराहमिहिर ने अष्टांगसंग्रह के साथ-साथ चरक और सुश्रुत से भी बहुत कुछ लिया है यथा—

१—चरक ने आयुर्वेद को त्रिस्कन्ध (हेतु, लिङ्ग, औषध) बतलाया है उसी प्रकार वराहमिहिर ने ज्योतिष को त्रिस्कन्ध (गणित, होरा, शाखा) कहा है।

—बृ० सं० १।९

२—चरक ने जैसे लिखा है—"यस्य द्वादशसाहस्री हृदि तिष्ठति संहिता। सोऽर्थज्ञः स विचारज्ञः चिकित्साकुशलश्च सः।" उसी प्रकार वराहमिहिर ने लिखा है :—संहितापारगश्च दैवचिन्तको भवति।—बृ० सं० २।१६

३—तैल, घृत और मधु क्रमशः वात, पित्त और कफ के शामक बतलाये गये हैं। बृहत्संहिता में भी लिखा है—घृतमधुतैलक्षयाय—५-६०

इसी प्रकार सुश्रुत का भी आधार लिया गया है यथा—

४—असम्यक् अर्थकरण की निन्दा वराहमिहिर ने की है (बृ० सं० २।२)। यह प्रसंग सुश्रुत के 'यथा खरश्चन्दनभारवाही भारस्य वेत्ता न तु चन्दनस्य' से बिलकुल मिलता है।

५—बृहत्संहिता का यह श्लोक—

अविदित्वैव यः शास्त्रं दैवज्ञत्वं प्रपद्यते।
स पंक्तिदूषणः पापो ज्ञेयो नक्षत्रसूचकः॥ २।१६

सुश्रुत के इस श्लोक के आधार पर है :—

यस्तु कर्मसु निष्णातो धाष्टर्याच्छास्त्रबहिष्कृतः।
स सत्सु पूजां नाप्नोति वधं चार्हति राजतः॥—सू० ३।४७

६—मरक, कुहक शब्द का सुश्रुत के आधार पर ही वराहमिहिर ने अनेक स्थलों पर प्रयोग किया है। शल्यहृत् और भिषक् शब्द भी बृहत्संहिता में आये हैं।

इसी प्रकार के अन्य साहचर्यबोधक तथ्य सामने आ सकते हैं।

इससे यह पता चलता है कि सुश्रुत और चरक वराहमिहिर से पूर्व प्रसिद्ध थे तथा अष्टांगसंग्रह भी अस्तित्व में आ चुका था किन्तु कुछ ही पूर्व रहा होगा जिससे पूर्णतः इसका आधार न लेकर अन्य प्राचीन ग्रन्थों का भी आधार उन्हें लेना पड़ा। फिर वाग्भट के बाद भी चरक, सुश्रुत तो चलते ही रहे। भाषा और शैली की सरलता से भी वाग्भट वराहमिहिर के पूर्ववर्ती सिद्ध होते हैं। इसके विपरीत, ज्योतिष के तथ्यों के लिए वाग्भट वराहमिहिर के ऋणी प्रतीत होते हैं। ऐसी स्थिति में अधिक सम्भावना यह है कि दोनों समकालीन हों।

भारवि और वाग्भट

भारवि का काल एहोल शिलालेख (६३४ ई०) के आधार पर षष्ठ शताब्दी का उत्तरार्ध माना जाता है। इनकी प्रसिद्ध रचना 'किरातार्जुनीय' नामक महाकाव्य है।

वाग्भट और भारवि का एक तुलनात्मक अध्ययन यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

१—वैदिक धर्म, यज्ञ आदि की प्रधानता का परिचय किरातार्जुनीय से प्राप्त होता है। शैवधर्म की भी प्रमुखता का संकेत मिलता है क्योंकि कथानक का मूल आधार यही है। योग, जप, उपवास आदि का भी संकेत है।[१] वाग्भट में ये विषय मिलते हैं। यज्ञ में पशुबलि भी दी जाती थी।[२]

२—कुछ वाक्यदोषों का परिगणन कर उनका निराकरण तथा आगम की रक्षा का निर्देश भारवि ने किया है।[३] वाग्भट ने भी ग्रन्थ के प्रारम्भ में इन दोषों का संकेत कर आगम की रक्षा का उल्लेख किया है।

३—कृषिकर्म का बड़ा सुन्दर चित्रण भारवि ने किया है। शालि की सर्वोत्तम जाति 'कलम' और उसकी गोपिका का वर्णन अत्यन्त सजीव है।[४] वाग्भट ने भी कृषिकर्म का उल्लेख किया है।

४—जिगीषु का उल्लेख भारवि ने किया है[५] और वाग्भट ने भी।

५—वेदव्यास ने अर्जुन को मन्त्रविद्या प्रदान की है ऐसा उल्लेख किरातार्जुनीय में आता है।[६] वाग्भट ने भी मायूरी आदि विद्याओं का वर्णन किया है। भारवि के कथन से स्पष्ट है कि पुरोहित अथर्ववेिद् होते थे। आभिचारिक क्रियाओं का भी निर्देश है। वाग्भट ने भी इनका निर्देश किया है।[७]

७—वस्त्रों में क्षौम, दुकूल और अंशुक सभी का वर्णन भारवि ने किया है[८] और वाग्भट ने भी।

८—वेश्याओं का उल्लेख भारवि ने किया है।[९] वाग्भट ने भी उसका उल्लेख किया है।

९—कालिदास के समान दिव्यौषधि[१०] का अनेक स्थलों पर भारवि ने वर्णन किया है किन्तु वाग्भट में यह नहीं मिलता।

१०—गंगा, यमुना आदि नदियों का उल्लेख भारवि ने किया है। वाग्भट ने भी इन महानदियों का उल्लेख किया है।[११]

११—अनेक सुरत-विशेषों का उल्लेख भारवि ने किया है।[१२] वाग्भट ने भी इनका उल्लेख किया है।

---

१. कि० १।२२,४४; ३।२६,२८; ४।३२; ६।१९; १०।१०; १२।२,८; १३।४३; १७।५४

२. कि० १४।३८ ३. कि० २।२७,२८

४. कि० २।३१; ४।१,२,४,९,२६,२७,३४,३६। ५. कि० २।३५,१३।२६,१७।३८

६. कि० ३।२३,२५ ७. कि० ३।५६,१०।१०

८. कि० ४।६,११; ७।६,१४; ८।१७

९. कि० ४।१७ १०. कि० ५।१४, २४, २८; १५।४७

११. कि० ५।१५ १२. कि० ५।२३

१२—अनेक मणियों और रत्नों का निर्देश भारवि ने किया है।[1] वाग्भट ने भी इनका उल्लेख किया है।

१३—निमित्त और शकुन का वर्णन भी भारवि ने किया है।[2] वाग्भट ने भी निमित्तों और मांगलिक भावों का वर्णन किया है।

१४—आकाशगंगा[3] का उल्लेख दोनों ने किया है।

१५—मद्यपान की प्रथा का संकेत भारवि ने किया है। स्त्रियाँ भी मद्यपान करती थीं। पानभूमि में बैठा कर चषकों में मद्य पीते थे।[4] वाग्भट ने भी इसका वर्णन किया है।

१६—वर्णाश्रम-व्यवस्था का संकेत भारवि ने किया है।[5] वाग्भट ने भी इसका निर्देश किया है।

१७—चित्रकला का संकेत[6] भारवि ने किया है और वाग्भट ने भी।

१८—प्रस्वापन अस्त्र का उल्लेख भारवि ने किया है।[7] संभवतः यह मोहन, मारण आदि तांत्रिक क्रियाओं की ओर संकेत करता है। वाग्भट में भी इन क्रियाओं का संकेत है।

निम्नांकित श्लोकों में शब्द-साम्य और अर्थसाम्य देखें।

भारवि	वाग्भट
१—कनकराजिविराजितसानुना। —कि० ५'४	किंशुकाशोकचूतादिवनराजिविराजिताः —स० सू० ४।२२
२—आशु कान्तमभिसारितवत्या योषितः पुलकरुद्धकपोलम्। निर्जिगाय मुदमिन्दुमखण्डं खण्डपत्रतिलकाकृतिकान्त्या॥ —कि० ९।३८	यस्योपयोगेन शंकांगनानां लावण्यसारादिविनिर्मितानाम्। कपोलकान्त्या विजितः शशांकः रसातलं गच्छति निर्विदेव॥ —सं० उ० ४९।१३६

1. कि० ५।३८
2. कि० ६।२,३,४
3. कि० ७।१०
4. कि० ९।३५,३६,५१-७१
5. कि० ११।७६, १४।८२
6. कि १५।३५
7. कि० १६।२५

भारवि	वाग्भट
३—शीघ्रपानविधुरासु निगृह्णन् मानमाशु शिथिलीकृतलज्जः। संगतासु दयितैरुपलेभे कामिनीषु मदनो नु मदो नु ॥ —कि० ९।४२	रहसि दयितामंके कृत्वा भुजान्तरपीडनात् पुलकिततनुं जातस्वेदां सकम्पपयोधराम्। यदि सरभसं शीधोर्वारं न पाययते कृती किमनुभवति क्लेशप्रायं तदा गृहतंत्रताम्॥ —सं० चि० ९।४८
४—अर्थितस्तु न महान् समीहते जीवितं किमु धनं धनायितम्। —कि० १३।५६	यस्मिन् यस्य प्राणयात्रा निबद्धा तस्मै यच्छन् को धनानां धनायेत् ॥ —सं० उ० ५०।१३०

पृथुनितम्बविलम्बिभिरम्बुदैः (कि० ५।६) भारवि के इस विन्यास को वाग्भट द्वितीय ने अष्टांगहृदय में अपनाया है :—

तेऽम्बुलम्बाम्वुदेऽम्बरे।—(हृ० सू० ३।४२)

संस्कृत काव्य की अलंकृत शैली की जो धारा प्रचलित हुई भारवि उसके मूर्धन्य नायक हैं। अपने काव्य किरातार्जुनीयम् में शब्द और अर्थ का अद्भुत चमत्कार इन्होंने दिखलाया है। इनके पूर्व तक महाकवि कालिदास द्वारा प्रचलित रस-शैली की धारा प्रवाहित हो रही थी। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, वाग्भट प्रथम कालिदास से अधिक प्रभावित हैं। यद्यपि छन्दों और शब्दों का चमत्कार उनकी रचना में मिलता है तथापि उसमें प्रौढ़ता का अभाव होने से प्रारम्भिक स्थिति का ही द्योतक है जब कि भारवि-काल में इसमें पर्याप्त प्रौढ़ता आ गई थी। वाग्भट द्वितीय की रचना इस दृष्टि से अधिक प्रौढ़ है और भारवि से प्रभावित प्रतीत होती है। अतः ऐसा अनुमान है कि वाग्भट प्रथम भारवि के पूर्व या समकालीन तथा वाग्भट द्वितीय भारवि के बाद हुआ।

सुबन्धु और वाग्भट

सुबन्धु गद्यकवि के रूप में प्रख्यात हैं। उनकी रचना 'वासवदत्ता' एक प्रमुख कृति है। सुबन्धु का स्मरण बाणभट्ट ने इस प्रकार किया है।

कवीनामगलद् दर्पो नूनं वासवदत्तया।
शक्त्यैव पाण्डुपुत्राणां गतया कर्णगोचरम् ॥

वासवदत्ता के एक टीकाकार नरसिंह वैद्य का कथन है कि सुबन्धु विक्रमादित्य की सभा में थे। वासवदत्ता में उद्योतकर का निर्देश आया है जो छठी शती में हुए थे

और जिन्होंने दिङ्नाग के मत का खण्डन किया था। इन सब बातों को मिलाकर विचार करने से सुबन्धु छठी शती के अन्त (६०० ई०) में ठहरते हैं।[1] वासवदत्ता के आधार पर वाग्भट और सुबन्धु की रचनाओं में निम्नांकित साम्य दृष्टिगोचर होता है :—

१—सुबन्धु में ब्राह्मणधर्म की उन्नत दशा प्रतीत होती है किन्तु साथ-साथ बौद्धधर्म की भी दार्शनिक प्रतिष्ठा हो रही थी और उसका बहुत प्रचार था। दोनों पक्ष बारी-बारी से अपने पक्ष में खण्डन-मण्डन प्रस्तुत कर रहे थे फिर भी ब्राह्मणधर्म का पलड़ा काफी भारी था[2]। वाग्भट में भी दोनों धर्मों का समन्वित रूप मिलता है।

२—खण्डन-मण्डन के प्रसंग में यह स्वाभाविक है कि वादमार्गों का परिज्ञान किया जाय अतः वासवदत्ता में वादमार्गों के अनेक निर्देश मिलते हैं[3]। वाग्भट में इनका उल्लेख नहीं है जब कि चरकसंहिता में इनका विशद वर्णन है।

३—'सार्वभौम' शब्द के प्रयोगों से प्रतीत होता है कि विजिगीषु राजा का अस्तित्व था[4]। वाग्भट में भी ऐसे प्रयोग मिलते हैं। छत्र और चामर आदि राजचिह्नों का भी उल्लेख है तथा त्रिभुवन-विजय की भी कल्पना है।

४—सुबन्धु के वर्णन से मद्यपान की प्रथा का संकेत होता है। स्त्रियाँ भी चषकों में मद्यपान करती थीं[5] यद्यपि आचार में इसका निषेध था[6]। वाग्भट में भी ऐसे संकेत मिलते हैं।

---

१. बलदेव उपाध्याय : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ३७९

नोट—इस प्रकरण में सभी उद्धरण सुबन्धुकृत वासवदत्ता के हैं।

२. द्विजराजविरुद्धता पंकजानाम्।२०; मीमांसान्याय इव पिहितदिगम्बरदर्शनः। ९३ श्रुतिवाचनम् इव क्षपितदिगम्बरदर्शनम्। १८७, बौद्धसिद्धान्त इव क्षपित-श्रुतिवाचनदर्शनः। २९७

३. छलनिग्रहप्रयोगा न्यायशास्त्रेषु। १७

४. सार्वभौमयोगा दिग्गजानाम्। २०; सार्वभौमकरस्पर्शोपभोगक्षमा। ११८, १८८, १९०

५. मधुपानगोष्ठयैव नानाविटपितासवया। १०५–६
दोषमधुभाजि चषक इव विभावरीवध्वाः। ४४–४५

६. अपतितेनापि नानासवासक्तेन। ११२, ससुरालयमपि पवित्रम्। १२१, कश्चित् सुराप इव पपात। २९७

५—शुक, सारिका आदि पक्षियों को घरों में रखने की परम्परा का निर्देश सुबन्धु ने किया है[1]।

६—मठ शब्द का प्रयोग किसी व्यवस्थित संस्थान के लिए सुबन्धु ने किया है[2]। वाग्भट ने भी ऐसा प्रयोग किया है।

७—प्राचीनकाल में प्रातःकाल गलियों या सड़कों पर काव्यकथा का गान करते हुए कार्पटिक या कथक गुजरते थे। इनका उल्लेख सुबन्धु ने किया है[3] और वाग्भट ने भी।

८—गंगा-यमुना के संगम का उल्लेख सुबन्धु ने किया है[4]। वाग्भट ने भी नदियों के संगम का उल्लेख किया है।

९. संमोहन का उल्लेख सुबन्धु की रचना में मिलता है[5]। वाग्भट की रचना में भी इसका संकेत मिलता है।

१०—ताम्बूल-चर्वण की प्रथा का संकेत सुबन्ध ने किया है[6]। वाग्भट का ताम्बूली–किसलय (मगही पत्ती) इस परम्परा का संकेत करता है।

११—विषवृक्ष का संकेत सुबन्धु ने किया है[7]। वाग्भट ने विषवल्ली का निर्देश किया है।

१२—वासवदत्ता का प्रारंभ सरस्वती की वन्दना से हुआ है। उसके बाद विष्णु और शिव की स्तुति है। आगे चलकर भी इन देवताओं का उल्लेख हुआ है[8]। बौद्ध देवताओं का निर्देश नहीं है। प्रतीत होता है कि वैष्णवधर्म के साथ साथ शैवधर्म भी समान रूप से चल रहा था साथ ही बौद्ध देवताओं के प्रति असहिष्णुता भी लोक में बढ़ रही थी।

---

१. कलप्रलापबोधितचकिताभिसारिकासु सारिकासु। ४५; क्षणदागतसुरतवैयात्यवचनशतसंस्कारकगृहशुकचाटुव्याहृतिक्षणजनितमन्दाक्षासु।

—५१, २३२, २३३, २३४

२. प्रबुद्धाध्ययनकर्मठेषु मठेषु। ४५

३. हासरागमुखरकार्पटिकजनोपगीयमानकाव्यकथ्यासु रथ्यासु। ४५, तया प्रवर्तमानकथकजनगृहगमनत्वरेषु चत्वरेषु। १७२

४. हारलतारोमावलीगंगायमुनासंगमव्याजप्रयागतटाभ्याम्। ५८

५. सम्मोहिनीमिव सर्वेन्द्रियाणाम्। ६६

६. परिहृतताम्बूलाहारादिसकलोपभोगः। ६९

७. विषतरुप्रसूनमिव यथा यथाऽनुभूयते तथा तथा मोहमेव द्रढयति। ७१

८. १, २, ३, ४; रुद्र इव विरूपाक्षः, विष्णुरिव चक्रधरः। ७२

१३—पारद का उल्लेख दो स्थानों पर सुबन्धु की रचना में हुआ है। एक स्थान पर उससे चांचल्य का संकेत है[१] और दूसरे स्थान पर धातुवादविद् के द्वारा उसके पिण्डीकृत रूप का निर्देश है[२]। इससे प्रतीत होता है कि उस काल तक धातुवाद का पर्याप्त विकास हो चुका था और पारद के भी अनेक संस्कार होते थे और उन्हें बद्ध किया जाता था। वाग्भट ने भी पारद का प्रयोग किया है।

१४—श्रीपवर्त उस काल में अनेक चमत्कारों का केन्द्र तथा तांत्रिक क्रियाओं का स्थान माना जाता था। सुबन्धु ने इसका उल्लेख किया है[३]। वाग्भट में यह नहीं मिलता।

१५—'अंशुक' शब्द का प्रयोग वस्त्र के लिए किया गया है[४]। वाग्भट में भी यह प्रयोग मिलता है। बौद्ध भिक्षु और भिक्षुकी रक्तांशुक धारण करते थे[५]।

१६—सुबन्धु ने अनेक स्थलों पर विविध छन्दों का निर्देश किया है तथा अलंकारों का भी चामत्कारिक प्रयोग किया है[६]। वाग्भट में भी विविध छन्दों एवं अलंकारों का प्रयोग हुआ है।

१७—अनेकशाखालंकृत वेद का निर्देश सुबन्धु ने किया है। इससे प्रतीत होता है कि वैदिक संप्रदाय की अनेक शाखायें देश में प्रचलित थीं[७]। इसके अतिरिक्त, शतपथ ब्राह्मण, उपनिषद्, मीमांसा, न्याय, ज्योतिष, छन्दःशास्त्र, कामसूत्र, भगवद्गीता, काव्य-अलंकार, ६४ कला, बौद्धदर्शन, व्याकरण, महाभारत, रामायण तथा अभिधर्मकोश का निर्देश वासवदत्ता में हुआ है। वाग्भट ने १०८ मंगलों में अनेक भावों का समावेश किया है।

१८—चित्रकला का निर्देश अनेक स्थलों पर सुबन्धु ने किया है[८]। वाग्भट की रचना में भी ऐसे संकेत मिलते हैं।

---

१. पारद इव क्षणमपि न तिष्ठति। २९

२. पारदपिण्डमिव गगनधातुवादिनः। १९१

३. श्रीपर्वत इव सन्निहितमल्लिकार्जुनः। ८७

४. पिहिताम्बरोऽपि विलसदंशुकः। ९२

५. शाक्य इव रक्तांशुकधरः १६७ भिक्षुकीव तारानुरागरक्ताम्बरधारिणी। १७३

६. यश्च कुसुमविचित्राभिः···दर्शितानेकवृत्तविलासः। ९४-९५

७. वेदस्येव भूरिशाखालंकृतस्य। १०६, ११४, ११९, १२६, १४४, २३४-३६, २५०, ८९

८. चित्रे चापि न शक्यते विलिखितुम्। १०४

१९—पाशुपत धर्म के साथ शक्तिपूजा का पूरा प्रचार था[१] जिसमें महिषबलि दी जाती थी। कापालिक संप्रदाय भी उठ रहा था[२]।

२०—वेश्याप्रथा का संकेत सुबन्धु ने किया है[३]। वाग्भट में भी इसका निर्देश मिलता है।

२१—कृषि की दशा बहुत अच्छी थी। शालि, गोधूम का बाहुल्य था। शालि की एक विशिष्ट जाति कलम का भी निर्देश सुबन्धु ने किया है[४]। वाग्भट ने भी अनेक धान्यों का वर्णन किया है। धान्यभृष्ट लाजा का भी वर्णन दोनों में मिलता है[५]।

२२—सुबन्धु ने गंगा, यमुना, मालिनी, तुङ्गभद्रा, शोण, नर्मदा, गोदावरी नदियों का उल्लेख किया है[६]। वाग्भट ने भी गंगा आदि महानदियों का उल्लेख किया है।

२३—सुबन्धु की रचना में वर्ण-व्यवस्था और जाति का संकेत मिलता है[७]। वाग्भट की रचना में भी इसके संकेत मिलते हैं।

२४—'पाटली' शब्द का प्रयोग सुबन्धु[८] तथा वाग्भट दोनों ने समान रूप से किया है।

२५—इन्द्रनील, पद्मराग आदि मणियों तथा चुम्बक, कर्षक और द्रावक का उल्लेख सुबन्धु ने किया है[९]। वाग्भट की रचना में भी इनका बहुशः प्रयोग हुआ है।

२६—सन्ताप-शमन के लिए सुबन्धु ने चन्दनलेप, कदलीकानन, कुसुमशय्या,

---

१. भगवती कात्यायनी चण्डाभिधाना स्वयं निवसति। ११७

२. ६३, १२२, १६७, १७३

३. वेश्याजनेनाधिष्ठितम्। ११६, वारुणीवारविलासिनी-अरुणमणिकुण्डलकान्तिः। १६६, वारयोषिदिव पल्लवानुरक्ता। १७३

४. प्रशस्तकेदार इव बहुधान्यकार्यसम्पादकः १२२, ताराश्वेतगोधूमशालिनो नभः क्षेत्रस्य। १९२, कांचनच्छेदगौरगोधूमकशालिशालिनि ···हृष्टकलमगोपिकागीतसुखित-मृगयूथे। २२८, १९, २५०-५१

५. तिमिरोद्गमधूमधूमलसन्ध्यानलपरितप्तगगनमहानसस्थालीकटाहभर्ज्यमानस्फुटितलाजानुकारास्ताराः। १८४

६. ११७, १५०, १९१

७. जातिहीनता मालासु न दुष्कुले। १२६, द्विजघातः सुरतेषु न प्रजासु। १२८

८. १३२, १३८, २६६

९. १३८, १९७, २१६, २५३, २६७, २८०

नलिनीदलप्रस्तर, कदलीदल एवं तालवृन्त के व्यजन का विधान किया है[1]। यही विधान वाग्भट ने किया है।

२६—सुबन्धु ने अनेक प्रकार की गोष्ठियों का उल्लेख किया है जो उस समय समाज में प्रचलित थीं[2]। वाग्भट ने दिनचर्या-प्रकरण में भोजनोत्तर इन्ही गोष्ठियों में मन बहलाने का विधान किया है।

२८—मांगलिक भावों, स्वप्न एवं ग्रहों और निमित्तों का उल्लेख सुबन्धु ने किया है[3]। वाग्भट ने १०८ मंगलों में इनका निर्देश किया है और ग्रहों के अपचार से भी व्याधि की उत्पत्ति का निर्देश किया है।

२९—किं न सम्यगागमिता विद्या, किं न यथावदाराधिता गुरवः, किं नोपासिता वह्नयः, किं अधिक्षिप्ता भूदेवाः, किं न प्रदक्षिणीकृताः सुरभयः, किं न कृतं शरण्येषु अभयम् (२५९-६०)

इन वाक्यों के द्वारा सुबन्धु ने तत्कालीन सद्वृत्त पर अच्छा प्रकाश डाला है। वाग्भट ने भी सद्वृत्त-प्रकरण में इनका उल्लेख किया है।

३०—सूर्यपूजा का उस समय विशेष प्रचार था। शिव की अष्टमूर्ति में सूर्य थे और इसके अतिरिक्त, १२ आदित्य की मान्यता प्रचलित थी[4]। सुबन्धु ने इनका उल्लेख किया है। वाग्भट ने भी सूर्यपूजा का निर्देश किया है।

३१—विद्याधर, डामर, डाकिनी, पिशाच, वेताल आदि का उल्लेख सुबन्धु ने किया है[5]। वाग्भट ने भी इनका उल्लेख किया है।

३२—कायमान का प्रयोग सुबन्धु ने किया है[6] और वाग्भट ने भी। शब्द-साम्य तथा अर्थ-साम्य के कुछ उदाहरण नीचे देखें:—

सुबन्धु	वाग्भट
१—मदमुखरराजहंसकुलकोलाहलमुखरितकूल-पुलिनया। ९६	कोकिलालिकुलालापकलकोलाहला-कुलाः। —सं० सू० ४।२३
२—अनिलोल्लासितनभस्तरुकुसुममंजरीभिरिव तर्जयन्तीभिः। २१७	चलत्प्रवालांगुलिभिस्तर्जयन्ति महाद्रुमाः।—सं० चि० २।८६

---

१. १५७-१६०   २. १६८

३. प्रस्थानमंगलकलश इव मकरकेतोस्त्रिभुवनविजयैषिणः। १८८, प्रस्थानलाजांजलय इव करका व्यराजन्त। २८५

अहो ग्रहाणां अतिकटुकटाक्षपातनम्—अहो दुःस्वप्नानां दुर्निमित्तानां च फलम्। २५८

४. १६०   ५. २४३, २४०, २९४

६. क्रियमाणकायमानिकानिकेतनम्। २९०

आयुर्वेद के विषयों में अगदतंत्र, प्रसूति, रसायन, जलौका आदि शल्यकर्म; मरक, श्वित्र, उन्माद, पलित, अजीर्ण-गुल्म आदि रोग, इनका उल्लेख सुबन्धु की रचना में हुआ है[1]। इससे प्रतीत होता है कि ये रोग सामान्यतः उस काल में प्रसिद्ध थे और इनकी चिकित्सा भी प्रचलित थी। रक्तमोक्षण के लिए जलौका का प्रयोग बहुत प्रचलित प्रतीत होता है और रसायन का प्रयोग भी समाज में आहृत था। यह कहना यद्यपि कठिन है कि ये विषय प्राचीन संहिताओं से लिये गये या वाग्भट से किन्तु इतना निश्चित प्रतीत होता है कि अन्य शस्त्र-कर्मों की अपेक्षा जलौका का व्यवहार दोषसंशोधन की दृष्टि से अत्यन्त प्रचलित था और संभवतः इसी कारण रक्तमोक्षण को वाग्भट ने पंचकर्म के अन्तर्गत रखना उचित समझा। रसायन का वर्णन भी वाग्भट ने विस्तार से किया है। पारद का भी उल्लेख सुबन्धु ने दो बार किया है। इससे प्रतीत होता है कि पारद का प्रयोग उस समय अधिक हो रहा था। अष्टांगसंग्रह में केवल एक ही स्थान में पारद का प्रयोग मिलता है। इसके अतिरिक्त सुबन्धु की शैली भी विशेष अलंकृत है। इन कारणों से वह वाग्भट के बाद की रचना प्रतीत होती है।

बाणभट्ट और वाग्भट

बाणभट्ट हर्षवर्धन (६०६–६४८ ई०) के समकालीन थे, अतः ऐतिहासिक दृष्टि से बाणभट्ट की रचनाओं का पर्यालोचन अधिक महत्वपूर्ण है। इसी दृष्टि से वाग्भट के साथ बाणभट्ट का तुलनात्मक अध्ययन यहां प्रस्तुत किया जा रहा है—

१—ग्रन्थ की अवतारणा में बाणभट्ट ने शंकर-पार्वती की वन्दना की है। महाकवि कालिदास ने भी महाकाव्य रघुवंश का प्रारम्भ ऐसे ही किया है। इससे स्पष्ट है कि कालिदास के समान बाणभट्ट भी शैव थे। कादम्बरी में तारापीड़ को परममाहेश्वर कहा गया है। शैव संप्रदाय के अनेक घोर और अघोर रूप उस समय प्रचलित थे जिनका कवि ने यथास्थान उल्लेख किया है। शिव के समान विष्णु के अनेक अवतारों की पूजा भी समाज में प्रचलित थी। शक्ति की उपासना का भी प्रचार था और स्थान-स्थान पर चण्डिकामंदिर स्थापित थे। सूर्यपूजा का भी पर्याप्त प्रचलन था। राजा प्रभाकरवर्धन आदित्यभक्त कहा गया है। कार्तिकेय-पूजा का भी प्रचार था। कादम्बरी में कार्तिकेयायतन का वर्णन है। वैदिक यज्ञ-याग भी सर्वत्र होते थे। सबसे बड़ी विशेषता तत्कालीन समाज की थी धर्म के प्रति असाधारण सहिष्णुता और समन्वय जिससे ब्राह्मणधर्म के साथ साथ बौद्धधर्म तथा अन्य अनेक धार्मिक

---

१. १९–२०, रसायनसिद्धिमिव यौवनस्य। ६५; ७५, ९३, ११५, १२५, १५६, १७८, १८४, २९५, २९७

संप्रदाय समाज में प्रचलित थे। बाणभट्ट के साथियों में क्षपणक, पाराशरी, मस्करी तथा शैव थे। मायूरी, महामायूरी आदि बौद्ध विद्याओं के साथ-साथ दुर्गास्तोत्र तथा विष्णुसहस्रनाम का पाठ और मृत्युंजय तथा आदित्यहृदय का जप भी होता था। कादम्बरी में महाश्वेता के पास कृष्ण, दुर्गा, शिव, बुद्ध सभी के उपासक गण थे। आर्यावलोकितेश्वर की पूजा का भी उल्लेख है। देवमन्दिरों के साथ साथ बौद्ध विहार भी उज्जयिनी की शोभा बढ़ा रहे थे[1]।

वाग्भट में भी ऐसी ही स्थिति देखी जाती है।

२—मंगलाचरण के बाद बाणभट्ट ने पूर्ववर्ती आचार्यों और कवियों का स्मरण किया है। इस प्रसंग में उन्होंने भट्टार हरिचन्द्र का भी स्मरण किया है।[2] सुबन्धु ने हरिचन्द्र का नाम नहीं लिया है अतः भट्टार सम्भवतः सुबन्धु के कुछ ही पूर्व हुये होंगे।

वाग्भट ने भी ग्रन्थ के प्रारम्भ में पूर्ववर्ती आचार्यों का नाम लिया है। वाग्भट ने भट्टार का नाम नहीं लिया है। इससे पता चलता है कि भट्टार या तो वाग्भट के समकालीन या कुछ ही आगे पीछे हुये हों। अधिक सम्भावना है कि वह वाग्भट के कुछ पूर्व हुये थे।

३—यौगिक तथा तान्त्रिक क्रियाओं का अनेक स्थलों पर उल्लेख बाण ने किया है। भैरवाचार्य तथा जरद्द्रविड़ धार्मिक, तान्त्रिक कार्यकलाप के मूर्त्त रूप हैं। श्रीपर्वत, जो उस समय में तन्त्र-मन्त्र का प्रमुख केन्द्र था, उसका उल्लेख अनेक बार बाण की रचनाओं में हुआ है। मन्त्रसाधक कराल तथा असुरविवर-व्यसनी लोहिताक्ष बाणभट्ट के साथियों में थे[3]।

वाग्भट में भी तान्त्रिक क्रियाओं का विकसित रूप मिलता है।

४—वर्णाश्रम-व्यवस्था का संकेत बाण की रचनाओं में मिलता है। ब्राह्मणों का समाज में आदर था, जिन ब्राह्मणों का आचार गिर गया था वे भी जात्या

---

१. हृ० च० १।१,२, पृ० २५, ७७–७८, ९७,१२२,१४३,१५३–५५, १५७–५८. १६०, १६३, १६६, १७०–७१, १७८, १८२, २०८, २१९, २३३, ३५९; का० पू० १२१, ११६, ३०,३१, ९१, २, १४, ६४४, ६२९, ५९६, ३८८–८९, १७५–७६, १६८, का० उ० २१३, १७४,१,२, तत्कालीन प्रचलित विविध सम्प्रदायों का उल्लेख राजा प्रभाकरवर्धन की मृत्यु के बाद वाले प्रसंग में दिवाकरमित्र के आश्रम-वर्णन-प्रकरण तथा शुकनाश के गृहवर्णन में बड़ी अच्छी रीति से किया गया है।

२—पदबन्धोज्ज्वलो हारी कृतवर्णक्रमस्थितिः।
भट्टारहरिचन्द्रस्य गद्यबन्धो नृपायते ॥ हृ० च० १।१२

३. हृ० च० १।२१, पृ० १३,३०,३९,६८,१६५–६६,१८४, १८६,१८७,२६३

माननीय थे। शूद्रों को नीच तथा अस्पृश्य समझा जाता था। कादम्बरी में चण्डाल-कन्या के वर्णन से ऐसा प्रतीत होता है[1]।

५—विषवृक्ष का उल्लेख बाण ने और वाग्भट ने भी किया है[2]।

६—सूर्यकान्त, चन्द्रकान्त, अयस्कान्त, पद्मराग, इन्द्रनील आदि मणियों का उल्लेख बाण की रचनाओं में सर्वत्र मिलता है जो तत्कालीन समृद्धि का द्योतक है[3]। वाग्भट ने भी इनका निर्देश किया है।

७—निरन्तर व्यायाम के द्वारा कर्कश शरीर का बाण ने बहुशः वर्णन किया है। इससे प्रतीत होता है कि नियमित व्यायाम करने की परम्परा उस समय थी। अभ्यंग की प्रथा भी थी। कादम्बरी में चन्द्रापीड़ और वैशम्पायन जिस विद्यालय में पढ़ने के लिये भेजे गये थे उसमें व्यायामशाला भी थी। राजभवन में भी व्यायाम-भूमि होती थी[4]। वाग्भट ने भी दिनचर्या-प्रकरण में व्यायाम का विधान किया है।

८—सेतुबन्ध का उल्लेख[5] दोनों ने किया है।

९—ताम्बूल-सेवन की परम्परा प्रचलित थी। ताम्बूल के साथ मुख-सुगन्धि के लिए सहकार, कर्पूर, कंकोल, लवंग और पारिजातक—इनका सेवन किया जाता था[6]। स्त्रियां भी ताम्बूल-सेवन करती थीं। राजा के सेवकों में ताम्बूलदायक भी होता था[7]। पान के बीड़े के लिए 'ताम्बूलवीटिक' शब्द का प्रयोग हुआ है[8]।

१०—वाग्भट ने सर्वार्थसिद्ध अञ्जन का वर्णन किया है। अनेक रोगों में सिद्ध

---

१. असंस्कृतमतयोऽपि जात्यैव द्विजन्मानो माननीयाः।

—ह० च० पृ० २०, ६९, १३३, १३६, का० पृ० ३५

२. ह० च० पृ० २२, क.० –३२५

३. ह० च० पृ० २८, ३४, ३८, ८९, १००, १०२–३, १५५, ३३०, ३८९ का० १५३–१५४, १६४, ४७६, ४७९, २५४, २८३।

४. अनवरतव्यायामकृतकर्कशशरीरेण ह० च० पृ० ३७, ४०, ४३, ११८, २३६, ३६८, दूरीकृतव्यायामशिथिलभुजदंडः–ह० च० ४०३, ४०४; कृतदारुणदारुव्यायाम-योग्यांगाभ्यंगेन—ह० च० पृ० ४०८, का०–९२, २३०, (४०३), ४१४

५. ह० च० ३८

६. अतिसुरभिसहकारकर्पूरकंकोललवंगपारिजातकपरिमलमुचा—

—ह० च० पृ० ३९, ११२, २१७, का० ३०६, ३०८, ५२०, ५५८

७. ह० च०-पृ० ५७, १४५, १५९, २४७, ३०१

८. का० ५२९, ५५४, ९५६

योगों का उल्लेख किया गया है जो फलप्रद होते हैं। रसायन का तो एक स्वतन्त्र अध्याय में ही वर्णन किया है[1]।

बाणभट्ट ने इन सबका निर्देश किया है[2]।

११—सद्वृत्त का विधान बाणभट्ट ने अनेक प्रसङ्गों में किया है[3]। वाग्भट ने भी इसका विस्तार से वर्णन किया है।

१२—कौस्तुभमणि आदि का उल्लेख मांगलिक भावों में वाग्भट ने किया है। बाण ने भी इनका उल्लेख किया है[4]।

१३—तालवृन्त तथा विशिष्ट अवस्थाओं में नलिनीदल का प्रयोग पंखा झलने के लिए होता था[5]। वाग्भट और बाण दोनों ने इसका उल्लेख किया है।

१४—'ढौकृ गमने' धातु का प्रयोग बाणभट्ट ने अनेक स्थलों पर किया है[6]। वाग्भट में इसका प्रयोग नहीं मिलता।

१५—दिव्यौषधियों में पुनः संजावनौषधि का उल्लेख बाण ने किया है[7]। वाग्भट में इसका उल्लेख नहीं मिलता।

१६—अंशुक नामक महीन रेशमी वस्त्र का प्रचार था। इसी का एक प्रकार चीनांशुक कहलाता था। क्षौम अलसी के रेशों से बना हुआ वस्त्र था। दुकूल सूती वस्त्र था। पुण्ड्र देश में बनने वाला दुकूल वस्त्र बाण का पुस्तकवाचक सुदृष्टि पहने था। सम्भवतः वह ढाका के मलमल की तरह कोई वस्त्र था। कौशेय वस्त्र का भी वर्णन है। इनका उल्लेख बाणभट्ट ने किया है[8]। वाग्भट में भी इनका उल्लेख हुआ है। किन्तु पौण्ड्र आदि का उल्लेख नहीं है। हृदय में उनका उल्लेख है। सम्भवतः ये वस्त्र वाग्भट प्रथम के बाद प्रचार में आये।

---

१. सं० सू० ८।९१

२. आकर्षणांजनमिव चक्षुषोः, वशीकरणमन्त्रमिव मनसः, स्वस्थावेशचूर्णमिवेन्द्रियाणाम्, सिद्धयोगमिव सौभाग्यस्य, रसायनमिव यौवनस्य। हृ० च० पृ० ४२; सकलयुवजनवशीकरणचूर्णेनेव दिशश्छुरयन्—पृ० ३७०, आत्मार्पणं हि महताम् अमूलमंत्रमयं वशीकरणम् पृ० ४०२, का०—४५७, ६४५.

३. हृ० च० पृ० ४३, का०.३३४, का० उ० १०६

४. हृ० च० पृ० ४५, का०.३१९

५. हृ० च० पृ० ५३, ११३, २०९, का० २८९, ३०५, ६१५

६. हृ० च० पृ० ५४, २६१

७. पुनः संजीवनौषधिरिव पुष्पधनुषः।—हृ० च० पृ० ५८

८. हृ० च० पृ० ६४, १०२, १७७, २४५, २९१, का०—२२७, का० उ० १९९

१७—तपस्वी दो प्रकार के होते थे—एक जंगलों में घूमने वाले और दूसरे गृहस्थ। गृहस्थ तापसों को बाणभट्ट ने गृहमुनि कहा है[१]। वाग्भट में मुनि शब्द मिलता है। आगे चलकर इसका प्रयोग व्यापक रूप से होने लगा। अष्टांगहृदयकार ने तथा परवर्ती टीकाकारों ने चरक के लिए 'मुनि' और 'महामुनि' शब्दों का प्रयोग किया है। व्याकरण में भी पाणिनि, कात्यायन और पतंजलि "मुनित्रय" की संज्ञा से प्रसिद्ध हुये। कादम्बरी में जाबालि-आश्रम के वर्णन में तापसपरिषद् का भी उल्लेख आता है।

१८—नृत्य, संगीत, काव्य, चित्रकला आदि कलाओं की स्थिति अच्छी थी और उनका समाज में प्रचार था[२]। वाणभट्ट ने इसका सर्वत्र निर्देश किया है। हर्ष की बहन राज्यश्री नृत्यकला में शिक्षित हुई थी[३]। वाग्भट ने भी इनका उल्लेख किया है।

१९—'सोम' नामक औषधि का वर्णन बाणभट्ट ने किया है। अपने पूर्वजों का वर्णन करते हुये उन्होंने लिखा है कि उनके घरों में सोम की हरी क्यारियाँ लगी थीं[४]। सोम के उद्गार से मुनियों के निःश्वास सुगंधित रहते थे[५]। बाणभट्ट का इससे किस औषधि का अभिप्राय है स्पष्ट नहीं होता। वस्तुतः सोम बहुत पहले ही सन्दिग्ध हो गया था और दुर्लभ भी था। संभवतः बाणभट्ट ने सोम के किसी प्रतिनिधि द्रव्य का निर्देश किया है जो सुगंधित होता था। वाग्भट का दृष्टिकोण व्यावहारिक होने के कारण सोम का उल्लेख उसमें नहीं मिलता।

२०—गर्भाधान का वय प्राचीन आयुर्वेदीय ग्रन्थों में पुरुष के लिए २५ और स्त्री के लिए १६ बतलाया गया है। विवाह भी संभवतः इन्हीं वयों में होता था। आगे चलकर विवाह का वय कम होता आया। वाग्भट ने दोनों स्थितियों का समन्वय कर विवाह का वय पुरुष के लिए २१ और स्त्री के लिए १२ निर्धारित किया है किन्तु गर्भाधान का वय २५ और १६ ही रक्खा है। इसका अर्थ यह हुआ कि विवाह के तीन वर्षों के बाद द्विरागमन होने पर स्त्री-पुरुष का समागम होता था। अभी हाल तक अल्प आयु में विवाह होने पर ३ या ५ वर्षों पर द्विरागमन की

---

१. ह० च० पृ० ६९; का० १४४, १४५, १५२, उ० १८७ तुलना करें—च० सं०

२. ह० च० पृ० ७०, १३९, २७९

३. अथ राज्यश्रीरपि नृत्तगीतादिषु विदग्धासु सखीषु·········शनैः शनैरवर्धत—ह० च० पृ० २३९

४. ह० च० पृ० ७२: सेकसुकुमारसोमकेदारिकाहरितायमानप्रघनानि।—पृ०७८

५. अनवरतसोमोद्गारसुगंधिनिःश्वासावकृष्टैर्मूर्तिमद्भिरिव शापाक्षरैः—

—का० १३२, ३५८

परंपरा लोक में प्रचलित थी। स्वयं बाणभट्ट का विवाह १४ वर्ष की आयु में हो गया था। हर्षवर्धन का विवाह २१ वर्ष में तथा राज्यश्री का विवाह १३ वर्ष की आयु में हुआ था। बाणभट्ट के काल में सामान्यतः ५ वर्ष की आयु होने पर बालक गुरुकुल में विद्याध्ययन के लिए भेज दिया जाता था और वहाँ १० वर्षों तक अध्ययन करने के बाद १६ वें वर्ष में वह स्नातक होकर घर आता था। उसी वर्ष गोदान संस्कार होकर विवाह होता था। कादम्बरी में चन्द्रापीड़ विजिगीषा और विहार में भटक गया गया अतः उसका विवाह २० वर्ष[1] की आयु में हुआ। बाणभट्ट की रचनाओं से इस पर पूर्ण प्रकाश पड़ता है[2]। वाग्भट में विवाह की आयु कुछ अधिक है।

२१—बाणभट्ट के साथियों में जिनके नाम गिनाये गये हैं उनसे तत्कालीन संस्कृति पर पूरा प्रकाश पड़ता है। इनमें प्रासंगिक दृष्टि से कुलपुत्र वायुविकार, जांगुलिक मयूरक, भिषक्पुत्र मन्दारक तथा धातुवादविद् विहंगम प्रमुख हैं[3]।

(क) **कुलपुत्र वायुविकार**—दोषविकारों के आधार पर विशेषतः वायुविकार नामकरण अन्यत्र भी देखने को मिलता है। दण्डी के दशकुमारचरित में भी ऐसे पात्र का उल्लेख है। उससे प्रतीत होता है कि आयुर्वेद के त्रिदोष-सिद्धान्त उस समय लोक में प्रचलित थे और व्यक्ति की चंचलता, अनवस्थितता तथा अंगभंग आदि को देखकर वायुविकार नाम रख दिया गया हो। यह सुविदित है कि सभी दोषों में वायुदोष सर्वप्रधान है। दूसरी बात, वातिक शब्द उन तांत्रिकों के लिए व्यवहृत होता था जो वेताल-साधना करते थे[4]। संभव है, उस काल में इन तांत्रिकों की बहुलता होने के कारण ऐसे नाम रक्खे जाते हों।

(ख) **जांगुलिक मयूरक**—सर्पविषों के उपचार की परम्परा चिरकाल से चली आ रही है। कुछ लोग तो औषधियों से इनकी चिकित्सा करते हैं और कुछ लोग तन्त्र-मंत्र से। तन्त्र-संप्रदाय में इसी आधार पर जांगुलि देवी की मान्यता प्रचलित हुई जो विष का हरण करने वाली बतलाई गई हैं। इसी देवी के आधार पर इस संप्रदाय का नाम जांगुलिक पड़ा। मन्त्रप्रयोग से विष का उपचार करने वाले नरेन्द्र कहलाते थे। सर्पविष के लिए गारुड़ मंत्र प्रसिद्ध था[5]। मयूरक नाम भी सर्पविषघ्न वृत्ति से संबन्ध रखता है।

---

१. हृ० च० पृ० ७३   २. का० उ० ५४

३. हृ० च० पृ० ७४–७५

४. असुरविवरमिति वातिकैः—हृ० च० पृ० १६५–६६

५. गारुडेनापि भुजंगभीरुणा—हृ० च० पृ० १५७

(ग) **भिषक्पुत्र मन्दारक**—यह किसी बड़े वैद्य का अवारा लड़का मालूम होता है। हर्षचरित में दो और वैद्यों के नाम प्रभाकरवर्धन की बीमारी के प्रसंग में आये हैं एक सुषेण और दूसरा रसायन। सुषेण का विशेष परिचय नहीं मिलता किन्तु रसायन कुलक्रमागत, अष्टांग आयुर्वेद का ज्ञाता १८ वर्षों की आयु का एक नवयुवक वैद्य था। वह राजा का इतना घनिष्ठ था कि प्रभाकरवर्धन की मृत्यु के पूर्व ही उससे अपना प्राणान्त कर लिया। इससे यह पता चलता है कि वैद्यक व्यवसाय कुलक्रमागत चल रहा था। इसमें कुछ लोग तो नियमित रूप से शास्त्र का अध्ययन कर और व्यावहारिक योग्यता प्राप्त कर अपने कार्य में निपुणता प्राप्त करते थे और कुछ लोग मन्दारक की भाँति पिता के जीवनकाल तक आवारागर्दी करते थे और अन्त में वैद्य के आसन पर बैठकर सिद्धसाधित बन जाते थे।

वाग्भट में भी वैद्यों के ये रूप मिलते हैं। वैद्य की योग्यता में वाग्भट ने लिखा है कि वह अष्टांग आयुर्वेद में निपुण और कुलीन हो। ये लक्षण रसायन नामक वैद्य में मिलते हैं। मेरे विचार से, बाणभट्ट के समय के पूर्व अष्टांगसंग्रह बन चुका था और वैद्य का अष्टांग आयुर्वेद में निपुण होना आवश्यक माना जाता था। यह कहना कठिन है कि रसायन के प्रसंग में बाणभट्ट ने अष्टांग शब्द से 'अष्टांगसंग्रह' का संकेत किया है किन्तु इतना निश्चित है अष्टांग ज्ञान की मान्यता बाणभट्ट के पूर्व हो चुकी थी और संभवतः इसका श्रेय वाग्भट को हो। वैद्य का रसायन नाम भी सार्थक है जो बाणभट्ट की सूक्ष्म बुद्धि का परिचायक है।

(घ) **धातुवादविद् विहंगम**—धातुवाद का प्रचार गुप्तकाल से हुआ ऐसा अधिकांश लोगों का मत है। कौटिल्य अर्थशास्त्र में धातुवाद का वर्णन है और इसी आधार पर अनेक ऐतिहासिक उसे मौर्यकालीन रचना न मानकर गुप्तकालीन रचना मानते हैं। पारद के विविध प्रयोगों द्वारा निकृष्ट धातुओं को स्वर्ण आदि उत्कृष्ट धातुओं में परिवर्तित कर देना धातुवाद की कला थी। इसी कारण इस क्रम में पारद के भी अनेक संस्कार किये गये और अन्त में उसे बद्ध किया गया। सुबन्धु ने वासवदत्ता में चन्द्रोदय-वर्णन के प्रसंग में चन्द्रमा की उपमा देते हुए यह कहा कि मानों वह किसी धातुवादविद् के द्वारा बनाया गया पारद का पिण्ड हो। पारद का उल्लेख अनेक स्थलों पर बाणभट्ट की रचनाओं में आया है[1]। इसके अतिरिक्त सोने-चांदी को पिघला कर उसका दूसरे धातुओं पर पानी चढ़ाने की कला भी प्रचलित थी[2]। इससे स्पष्ट है कि बाणभट्ट के काल में धातुवाद का कार्य चरम सीमा

---

१. पारदरसधारामिव धौताम्। का० ३९३

२. तप्तकनकद्रवेणेव बहिरुपलिप्तमूर्त्तिः—का० १०९

रजतद्रवेणेव निर्मृष्टाम्। का० ३९४

पर पहुँच रहा था और उसके बाद देहवाद में भी उसका प्रयोग होने लगा था। वाग्भट में पारद का एक योग रसायन-प्रकरण में आभ्यन्तर प्रयोग के लिए आया है। यही योग वराहमिहिर ने बृहत्संहिता में लिखा है। इस समय तक अन्य धातुओं का प्रयोग भी चिकित्सा में होने लगा था। बाणभट्ट की रचनाओं में रसायन के साथ जो दूसरा शब्द 'रस' आया है[1] वह सम्भवतः इसी रसशास्त्रीय परम्परा का द्योतक है जिसमें आगे चलकर रसेश्वरदर्शन की प्रतिष्ठा हुई और रसशास्त्र के अनेक छोटे-बड़े ग्रन्थ लिखे गये।

२२—उत्तर भारत तथा दक्षिण भारत में सम्पर्क बढ़ गया था। दक्षिण भारत का श्रीपर्वत उस समय तन्त्र-मन्त्र के लिए सारे देश में विख्यात था। कहते हैं वाकाटक वंश की रानी प्रभावती गुप्त की ओर से वहाँ नित्य फूल चढ़ाने को भेजा जाता था। उत्तर भारत में भी ऐसे अनेक धार्मिक केन्द्र तीर्थ थे जहाँ दक्षिण के लोग आया जाया करते थे। बाणभट्ट की रचनाओं के अनेक पात्र यथा जरद् द्रविड़ धार्मिक, संवाहिका केरलिका आदि दाक्षिणात्य हैं। कादम्बरी की चाण्डालकन्या दक्षिणापथ से आई थी तथा तारापीड़ के राजकुल के सेवकों में अन्ध्र, द्रविड़, सिंहल के लोग अधिक थे[2]।

वाग्भट की रचना से भी प्रतीत होता है कि दक्षिण से वह पर्याप्त प्रभावित हैं। दक्षिण के सम्पर्क से खान-पान की अनेक सामग्रियाँ उत्तर भारत में प्रचलित हुई जिनका वर्णन वाग्भट ने किया है। संभवतः दक्षिण के अधिक संपर्क के कारण ही 'नारिकेलोदक' का वर्णन वाग्भट ने किया है। इसका व्यवहार उस समय प्रचलित रहा होगा। बाणभट्ट ने भी इसका उल्लेख किया है[3]। चरक, सुश्रुत में इसका निर्देश नहीं मिलता।

२३—भूत-प्रेत, राक्षस-पिशाच, ग्रहबाधा आदि पर लोक में काफी विश्वास फैला था[4]। इसके लिए उपचार भी किये जाते थे। विशेषतः रक्षासूत्र और मंत्रकरंडक का धारण किया जाता था। मण्डल-लेख तथा विद्याराज का भी निर्देश है[5]।

---

१. सुभाषितश्रवणरसरसायनाः—ह० च० पृ० १४८

२. का० ६४५,५५, दक्षिणापथादागता चण्डालकन्यका–' का० २३, अन्ध्रद्रविड-सिंहलप्रायेण सेवकजनेन। का० २६९

३. वनपालपीयमाननारिकेलरसासवैः। ह० च० पृ० १६१

४. ह० च० पृ० ७५, १८२, १८८, १८९, २२८–९; पिशाचानामिव नीचात्मनां चरितानि छिद्रप्रहारीणि प्रायशो भवन्ति। ह० च० ३२२, का०-४९२, ४५८, ३२८

५. विद्याराजेनेव ब्रह्मसूत्रेण परिगृहीतम्—ह० च० पृ० १८९, १८८, १९२

इसके चिकित्सक नरेन्द्र और महानरेन्द्र कहलाते थे[१]। वाग्भट में भी भूतविद्या का सविस्तर वर्णन है।

२४—शुक, सारिका आदि पक्षियों को घरों में पालने की प्रथा थी। बाणभट्ट की रचनाओं में उनकी महत्वपूर्ण भूमिका है। कादम्बरी की कथा शुक के मुख से ही प्रारंभ होती है[२]।

वाग्भट ने राजा की रक्षा एवं मनोरंजन के लिए विविध पशु-पक्षियों को पालने का विधान किया है।

२५—जल को गुलाब आदि से सुवासित कर प्रयोग किया जाता था[३]। वाग्भट में भी ऐसी विधि का निर्देश है।

२६—आथर्वणिक अभिचार आदि क्रियाओं तथा अथर्वपरिशिष्टोक्त पुष्याभिषेक आदि का उल्लेख बाण ने किया है। महोत्पातों का भी विस्तार से वर्णन किया है[४]। वाग्भट ने भी इसका उल्लेख किया है।

२७—'कष्टा च सेवा' कहकर बाण ने सेवा की कृच्छ्रता का निर्देश किया है[५]। वाग्भट ने भी इसका संकेत किया है।

२८—मांगलिक भावों की जो मान्यता उस समय समाज में प्रचलित थी उसका निदर्शन बाण ने बड़ी उत्तम रीति से किया है। इसके अतिरिक्त, शुभाशुभ निमित्तों तथा स्वप्नों का भी उल्लेख किया है। इस संबंध में बाण जब राजा हर्षवर्धन से मिलने जा रहा है उस समय का प्रास्थानिक वर्णन अवलोकनीय है :—

"दूसरे दिन बाण उठा, प्रातःकाल ही स्नान कर लिया। श्वेत दुकूल पहनकर हाथ में अक्षमाला ली। प्रास्थानिक सूक्तों और मंत्रों को बार बार दुहराया और देवाधिदेव भगवान शंकर का दूध से अभिषेक करके सुगंधित फूल, धूप की गंध, ध्वज, भोग, विलेपन, प्रदीप आदि सामग्रियों से बड़ी श्रद्धा-भक्ति से पूजा की। अग्नि में आहुति दी। पहली बार तिल की आहुति पड़ते ही अग्नि की शिखायें चटकने

---

१. रक्षाप्रतिसरोभैतानि ओषधिसूत्राणि बबन्ध।—का० २०२

गोरोचनालिखितभूर्जपत्रगर्भान् मंत्रकरंडकान् उवाह।—महानरेन्द्रलिखितमण्डलमध्यवर्तिनी विविधबलिदानानन्दितदिग्देवतानि बहुलचतुर्दशीनिशासु चतुष्पथे स्नानमंगलानि भेजे।—का० २००

२. शुकसारिकारब्धाध्ययनदीयमानोपाध्यायविश्रान्तिसुखानि—ह० च० पृ० ७९, २८४, ३८८, का० २७२, २७३, ५३३, ५६१, ६६१, का० उ० १३८

३. अभिनवपटुपाटलामोदसुरभिपरिमलं न केवलं जलं—ह० च० पृ० ८१, ११६

४. ह० च० पृ० ८५—८६, ९९, १७६, २८०, ३३६, ३६०

५. ह० च० पृ० ९५

लगीं और अधिक घी की आहुति पड़ते ही दाहिनी ओर बढ़ गई। यथाशक्ति ब्राह्मणों को दक्षिणा दी। पूर्व की ओर खड़ी हुई उत्तम गौ की प्रदक्षिणा की। श्वेत चन्दन, श्वेत माला और श्वेत वस्त्र धारण किया। गोरोचना लगाकर दूवनाल में गुथे हुए श्वेत अपराजिता के फूलों का कर्णफूल कान में लगाया, चोटी में पीली सरसों रक्खी। माता के समान स्निग्धहृदया पिता की छोटी बहन साक्षात् भगवती महाश्वेता मालती ने प्रस्थान-काल के सभी मंगलाचरण किये। सगी वृद्धाओं ने आशीर्वाद दिये और परिवार की वृद्धाओं ने अभिनन्दन किया। पूजितचरण गुरुओं ने जाने की अनुमति दी और अभिवादित कुलवृद्धों ने मस्तक सूंघा। शकुनों से जाने का उत्साह बढ़ा। फिर ज्योतिषी के कथनानुसार नक्षत्रदेवताओं को प्रसन्न किया। इस प्रकार शुभ मुहूर्त में हरे गोबर से लिपे हुए आँगन के चौतरे पर स्थापित पूर्ण कलश---जिसके कण्ठ में श्वेतफूलों की माला लपेट दी गई थी, जो पिसान के पंचांगुल थापों से उजला था एवं जिसके मुख में नये आम के पल्लव डाल दिये गये थे---को देखता हुआ, कुल-देवताओं को प्रणाम करके, हाथ में फल-फूल लिये हुए और अप्रतिरथ सूक्त के मंत्रों का पाठ करते हुए अपने पुरोहित ब्राह्मणों द्वारा अनुगत होकर बाण दाहिना पैर पहले उठा कर प्रीतिकूट से चला[1]। इसी प्रकार राज्यवर्धन जब पिता की बीमारी का हाल सुनकर घर की ओर चला तो दुःस्वप्न और दुर्निमित्त हुये और उनकी शान्ति के लिए ब्राह्मणों को स्वर्ण आदि का दान किया[2]।

वाग्भट ने जो १०८ मांगलिक भावों तथा निमित्तों का वर्णन किया है वह इससे बिलकुल मिलता जुलता है।

२९---विजिगीषु राजा का सजीव चित्रण बाण ने किया है[3]। वाग्भट ने भी विजिगीषु राजा का उल्लेख किया है। यह कहना कठिन है कि यह लिखते समय वाग्भट के मस्तिष्क में किस राजा का चित्र था---दिग्विजयी गुप्त सम्राटों का, हूण राजा का या विक्रमादित्य यशोधर्मा का? किन्तु इतना स्पष्ट है कि वाग्भट के काल में राजाओं की विजिगीषा प्रबल थी और निरन्तर इस प्रकार युद्ध होते रहते थे जिनमें हजारों आदमी नित्य मौत के मुँह में जाते थे।

३०---बाण ने अपनी रचनाओं के आरम्भ में अपनी वंशावली का वर्णन किया है। इसी प्रकार का एक संक्षिप्त वर्णन वाग्भट ने अष्टांगसंग्रह के अन्त में दिया है।

---

१. हृ० च० पृ० ९६-९७, सुमुल्लसद्भिः स्तनमंडलैर्मंगलकलशमय इव बभूव महोत्सवः---हृ० च० २२७

२. हृ० च० पृ० २५८, २६०, २६१; वाङ्निमित्तज्ञः पितरि सुतरां जीविताशां शिथिलीचकार। हृ० च० २७६, ३२७-२८, ३५६, ३७१, का०-४७७, २०३

३. हृ० च० पृ० ९९, १६५, १९६, का०-३५७, ३६३, ३६५

३१—बाण जब राजभवन की ओर चला तो प्रातः ही स्नान कर लिया। घर पर हर्षचरित सुनाने के पूर्व प्रात.काल उठकर मुँह-हाथ धोकर बाण ने सन्ध्या की और सूर्योदय होने पर ताम्बूल खाकर बैठा। इसमें स्नान का कोई जिक्र नहीं है। कादम्बरी में भी शुककथा सुनते-सुनते मध्याह्न होने पर ही राजा शूद्रक के स्नान-भोजन का निर्देश है। जाबालि आश्रम की भी यही स्थिति है। इससे प्रतीत होता है कि प्रातः स्नान की परम्परा सामान्यतः नहीं थी[१]। पर्वों में, विशेष अवसरों पर या मुनिवर्ग में प्रातः स्नान की परम्परा थी। वाग्भट में 'अथ जातान्नपानेच्छः' के द्वारा मध्याह्न में बुभुक्षा होने पर स्नान का विधान है।

३२—सेना में उस समय हाथी और घोड़ों की प्रमुखता थी। सवारी में भी उनका व्यवहार होता था। बाणभट्ट ने उनका सविस्तार वर्णन किया है। चन्द्रापीड़ का घोड़ा 'इन्द्रायुध' तथा महाराज हर्षवर्धन का हाथी दर्पशात इसके उदाहरण हैं। दर्पशात गन्धगज था और चौथी आयु में पहुँच चुका था। करेणुकायें सवारी के काम आती थीं[२]। वाग्भट ने भी हाथी-घोड़ों का और गन्धहस्ती का उल्लेख किया है। करेणुकाओं की सवारी का भी वर्णन किया है।

३३—राजाओं के प्रियपात्रों के लिए 'राजवल्लभ' शब्द का प्रयोग प्रचलित था। मृच्छकटिक में भी इसका उल्लेख हुआ है। बाणभट्ट ने भी इसका प्रयोग किया है[३]। वाग्भट ने भी शिवा गुटिका नामक रसायन के प्रसंग में कहा है कि इसके सेवन से पुरुष राजवल्लभ हो जाता है[४]।

३४—बाणभट्ट ने 'जिनः क्षमासु' में बुद्ध के लिए 'जिन' शब्द का प्रयोग किया है[५]। वाग्भट ने भी 'जिन' और 'जिनसुत' शब्दों का प्रयोग किया है। अष्टांगहृदयकार ने भी इस शब्द का प्रयोग किया है। ऐसी मान्यता है कि बुद्ध के निर्वाण के बाद उन्हें 'जिन' कहा जाने लगा।

३५—ज्योतिष के अनेक तथ्यों का बाणभट्ट ने उल्लेख किया है। ग्रहों, नक्षत्रों तथा मुहूर्तों का भी उल्लेख हुआ है[६]। प्रभाकरवर्धन के दरबार में अनेक ज्योतिषी थे जिनमें प्रधान तारक नामक भोजक (शाकद्वीपीय ब्राह्मण) था[७]।

---

१. ह० च० पृ० १५९, १७५, का० ५०१, ५९५,४०,३०५–३०७

२. ह० च० पृ० १०९,३६९, का० २८,३४३, उ० २१,७८

३. 'किं राजा राजवल्लभो वा सेव्यते'—मृ० क० पृ० ९७.

४. सं० उ० ४९।१९३. ५. ह० च० पृ० ११५,१३२,१३६,४३७

६. ह० च० पृ० ११६,२०१,२१८,३५९, का० ११२, १६९, १७५, ४२२

७. 'सकलगणकमध्ये महितो हितश्च त्रिकालज्ञानभाग् भोजकस्तारको नाम गणकः।'—ह० च० पृ० २१८

३६—यन्त्रधारागृह तथा भूमिगृह का वर्णन बाणभट्ट ने किया है। धारागृह में फव्वारे होते थे जिनमें विविध पशु, पक्षी तथा स्त्री की आकृतिवाले यन्त्रों से पानी निकलता था। कादम्बरी में यन्त्रवृक्षक, यन्त्रमयूरक तथा यन्त्रमयी पत्रशकुनि-श्रेणी का उल्लेख है। सभा, आवसथ (सराय), कूप, बगीचे, मन्दिर, सेतु (पुल या बाँध) तथा यन्त्र (रहट और फव्वारे) लगाना धर्मकृत्यों में विहित था अतः धनी-मानी व्यक्तियों तथा राजा-महाराजाओं द्वारा इनकी स्थापना होती रहती थी[1]। वाग्भट ने भी इसका उल्लेख किया है। अष्टांगहृदयकार ने स्त्री की आकृति वाले यन्त्र के स्तन आदि अङ्गों से जल निकलने वाले फव्वारे का उल्लेख किया है।

३७—मद्यपान सम्भ्रान्त समाज में प्रचलित था। इसके लिए जो विशिष्ट स्थान होता था उसे 'पानभूमि' या आपान कहते थे। स्त्रियाँ भी मद्यपान करती थीं। बाण जब हर्ष से मिलने गये थे तो हर्ष के मुख से मदिरा की गन्ध फैल रही रही थी[2]। वाग्भट ने भी मद्यपान का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है।

३८—शरीर के अङ्गों में जो सामुद्रिक लक्षण होते थे उनसे पुरुष के सौभाग्य, चक्रवर्तित्व आदि का अनुमान किया जाता था। हर्षवर्धन के सभी अवयवों में सभी लक्षण थे ऐसा बाण ने कहा है[3]।

३९—वेश्या-प्रथा समाज में थी[4]। वाग्भट ने भी इसका संकेत किया है।

४०—पहाड़ी प्रदेशों की खानों से अनेक बहुमूल्य पत्थर तथा द्रव्य निकाले जाते थे। बाण ने इसका संकेत अनेक स्थलों पर किया है[5]। वाग्भट ने भी अनेक खनिज द्रव्यों का वर्णन किया है।

४१—उपनयन आदि संस्कारों तथा सांग वेद के पठन-पाठन का उल्लेख बाण ने किया है जो तत्कालीन समाज में प्रचलित थे[6]। वाग्भट में भी इनका निर्देश है।

---

१. ह० च० पृ० ११६,२२२ का० ६१२,४९४,६१६,६१३,६१४,४७,१५४
'स्मृतिशास्त्रेणेव सभावसथकूपप्रपारामसेतुयन्त्रप्रवर्तकेन—का० १५७

२. ह० च० पृ० ११७,१२५,१३७,१६६–६७, २०६,२८०, का० १८३,२७९, ३२२,३२५,५९

३. सर्वावयवेषु सर्वलक्षणगृहीतम्।
—ह० च० पृ० ११९,२०६,२९४। का० २२२–२२३

४. ह० च० पृ० १२०,१२९,१६५,२२०,२१६,४०१, का०–२७,४१,४५,४६, २७१, २७६,२८६

५. ह० च० पृ० १३०,३३६,३४६, का० १७५

६. ह० च० पृ० १३५, का० २२९

४२—बाण के पुस्तक-वाचक सुदृष्टि की वेषभूषा का जो वर्णन मिलता है उससे तत्कालीन समाज तथा जीवन का अच्छा परिचय मिलता है। सुदृष्टि पौण्ड्र श्वेत दुकूल वस्त्र पहने था। स्नान के बाद उसने माथे पर तीर्थ की मिट्टी तथा गोरोचन से तिलक किया था। तैल और आंवले से उसका सिर स्निग्ध था। वह माल्यधारण किये था। निरन्तर पान खाने के उसके होंठ लाल थे। आंखों में अंजन लगाये था। उसका वेष विनीत और आर्य था[1]।

तैलामलक शब्द से आंवले का तेल ऐसा अर्थ प्रतीत नहीं होता क्योंकि उस स्थिति में आमलकतैल लिखना अधिक उपयुक्त होता। मालूम होता है कि तैल में आंवला मिलाकर लोग धूप में रखते थे जो स्नान के समय लगाते थे। दशकुमारचरित में भी इसका उल्लेख आया है। कालिदास के काल में लोग इंगुदीतैल सिर में लगाते थे। संभव है, जंगलों में आश्रमवासी लोग इंगुदीतैल का तथा गृहस्थ लोग विशेषतः राजा और धनी वर्ग तैलामलक का प्रयोग करता था।

कादम्बरी में राजा शूद्रक तथा चन्द्रापीड़ की दिनचर्या का जो वर्णन किया गया है वह अष्टांगसंग्रहोक्त दिनचर्या के आधार पर ही है। राजा शूद्रक चण्डालकन्या से शुक का वर्णन सुन रहे थे। इतने में मध्याह्न हो गया। मध्याह्न की शंखध्वनि होने पर स्नान का समय हो गया यह जानकर राजा सबको विसर्जित कर आस्थान मंडप (दरबारे आम) से उठा। व्यायामभूमि, जहाँ सभी व्यायाम के उपकरण एकत्रित थे, वहां जाकर अपने समवयस्क राजपुत्रों के साथ व्यायाम किया। जब हलका पसीना आने लगा तब स्नानभूमि में जाकर स्वर्ण की गन्धोदकपूर्ण जलद्रोणी में बैठकर स्नान करने लगा। पहले वारविलासिनियाँ उसके सिर में सुगंध आमलक लगाने लगीं और फिर कलश से स्नान कराने लगीं। स्नानोत्तर सांप की केंचुल के समान पतला और स्वच्छ वस्त्र पहनकर तथा सिर में साफा बांधकर पितृतर्पण किया और फिर मंत्र के साथ सूर्य को अर्घ्य देखकर मन्दिर गया। वहाँ शिव की पूजा की, अग्निहोत्र किया और विलेपन भूमि में आकर कस्तूरी-कर्पूर-केशरयुक्त चन्दन का सर्वांग में लेप किया। माल्य धारण किया और वस्त्र बदलकर इष्टमित्रों के साथ भोजन किया। भोजन के बाद धूमवर्ति का पानकर ताम्बूल लिया और आराम से टहलते हुए भुक्तवास्थानमंडप (दरबारे खास) में आकर बैठा। वहां कुछ राजाओं, मंत्रियों तथा मित्रों के साथ कथावार्ता की[2]।

इसी प्रकार चन्द्रापीड़ भी जब शिकार खेलकर दोपहर को घर लौटा तो थोड़ा विश्राम कर स्नानभूमि में स्नान किया। उसके बाद स्वच्छ तौलिये से शरीर पोंछ कर वस्त्र बदले और शिर पर साफा बांधा और देवार्चन किया। तदनन्तर अंगरागभूमि में

---

१. हृ० च० पृ० १४५ २. का० ४०–५१

जाकर, अंगराग, माल्य, आभूषण आदि धारण किये। फिर आहारमंडप में जाकर मित्र के साथ भोजन किया। भोजन के बाद आचमन कर ताम्बूल लेकर थोड़ी देर ठहर कर फिर मित्रों के साथ वार्तालाप कर कार्य में लग गया। उसका अश्व इन्द्रायुध भी मध्याह्न में पसीने से इतना तर हो गया कि स्नान किये की तरह प्रतीत होता था[१]।

दिनचर्या का यह विवरण वाग्भटोक्त विधान से बिलकुल मिलता-जुलता है। भोजन के विविध पात्रों का भी उसने विस्तृत वर्णन किया है।

४३—बाणभट्ट ने अपने चार चचेरे भाइयों का वर्णन करने के प्रसंग में व्याकरणशास्त्र के वाङ्मय पर अच्छा प्रकाश डाला है यथा वृत्ति, वाक्य, न्यास, न्यायवाद, संग्रह[२]। 'न्यास' शब्द से कुछ लोगों का कथन है कि यह जिनेन्द्रबुद्धि-कृत न्यास का बोधक है किन्तु इसके पूर्व भी अनेक न्यास-ग्रन्थ प्रचलित थे। अतः यह कथन उचित नहीं। भट्टार हरिचन्द्र ने अपनी चरक-व्याख्या का नाम 'शिष्योपाध्यायिक न्यास' रक्खा है। अपनी टीका में उन्होंने न्यायवाद का भी उद्धरण दिया है। 'न्यास' शब्द वस्तुतः कालिदास के समय से ही प्रचलित हो गया था। मृच्छकटिक में इसका बहुशः प्रयोग किया गया है। प्रतीत होता है कि भट्टार हरिचन्द्र के समय तक इस वाङ्मय का विस्तार हो चुका था। मेरा तो अनुमान है कि वाग्भट ने अपने ग्रंथ का संग्रह नाम इसी संग्रह के आधार पर रक्खा होगा।

४४—बाणभट्ट ने अन्य देशों के साथ सिन्धु का भी उल्लेख किया है क्योंकि वहां के घोड़े प्रसिद्ध थे। हर्ष के विषय में कहा गया है :—अत्र पुरुषोत्तमेन सिन्धुराजं प्रमथ्य लक्ष्मीरात्मीकृता[३]। यह सिन्धुराज कौन था यह स्पष्ट नहीं होता। विशाखदत्त ने मुद्राराक्षस में शक-नरपतियों का उल्लेख किया है। वाग्भट में भी शकाधिपति का निर्देश किया है। संभव है, सिन्धु प्रदेश पर किसी शकाधिपति का राज्य हो जिससे हर्ष ने राज्य छीन लिया। यद्यपि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने शकों का विनाश किया था किन्तु संभव है कि मालवा और सौराष्ट्र से भाग कर वे सिन्धु प्रदेश में एकत्रित हो गये हों। उत्खात होने के बाद प्रतिरोपित होना यह गुप्त-काल की एक स्वाभाविक प्रक्रिया थी। अथवा वहां हूणों का अधिकार हो और हर्ष ने उन्हें पराजित कर उस प्रदेश को अपने शासन में कर लिया हो। हूण लोग बीच-बीच में बराबर सिर उठाते रहे जैसा कि हम देखते हैं कि राज्यवर्धन हूणों को दबाने के लिए भेजे गये थे और घायल होकर लौटे थे। एक मत यह भी है कि वहां कोई शूद्र राजा था[४]।

---

१. का० ३०५—३०७ २. ह० च० पृ० १४७

३. ह० च० पृ० १५३—५४

४. गौरीशंकर चटर्जी : हर्षवर्धन, पृ० ३८—४०, ६६

४५—बाण के हर्षचरित में कथा का प्रारंभ करने से पूर्व बन्दी के द्वारा गाये हुये दो श्लोक दिये गये हैं[१]। वाग्भट ने भी कथक और चारण का उल्लेख किया है।

४६—शुक्र और बृहस्पति ये दो आचार्य गुप्तकाल में प्रमुख थे जिनके नीति सम्बन्धी ग्रन्थ प्रचलित हैं[२]। वाग्भट में भी इनके अनेक योगों का उल्लेख मिलता है तथा राजव्यवहार का विषय बहुत कुछ उस पर आधारित है।

४७—घटीयंत्र (रहट) का अनेक स्थलों पर उल्लेख बाणभट्ट की रचनाओं में हुआ है। खेतों की सिचाई के लिए इनका प्रयोग होता था[३]। दशकुमार-चरित में भी इनका उल्लेख है। माधवकर ने भी इससे सादृश्य रखने वाले ग्रहणीरोग के एक प्रकार को घटीयंत्र कहा है।

४८—लोहे का काम विशेष रूप से होता था। उससे अस्त्र-शस्त्र बनाये जाते थे[४]।

४९—यक्ष, सिद्ध, विद्याधर आदि का उल्लेख[५] बाणभट्ट तथा वाग्भट दोनों ने किया है।

५०—बाण ने प्रभाकरवर्धन को 'हूणहरिणकेसरी' और 'सिन्धुराजज्वर' कहा है। इसके साथ साथ गुर्जर, गांधार, लाट और मालव का भी उल्लेख है[६]। राज्यवर्धन इन हूणों से लड़ने के लिए उत्तरापथ गया था[७]। इससे प्रतीत होता है कि इन सभी प्रदेशों में हूणों का आधिपत्य था जिन्हें पराजित कर प्रभाकरवर्धन ने अपने अधिकार

---

१. ह० च० पृ० १५८

२. शुक्रबृहस्पतिभ्याम् इव सुरासुरविजयविद्यासिद्धिश्रद्धयानुबध्यमानम्—
—ह० च० पृ० १७६

३. घटीयंत्रराजिरज्जवः—ह० च० पृ०४५६, का० ६९३, अनवरतचलितजलघटीयंत्र-सिच्यमानहरितोपवनान्धकारैः—ह० च० १५४, घटीयंत्र और वापी का भारत में प्रचलन शकों द्वारा हुआ ऐसा श्री वासुदेवशरण अग्रवाल का मत है।

४. कृतान्तकोपानलतप्तेनेवायसा घटितम्।—ह० च० पृ० १८३, का०–११०, का० उ० १९५ ११४

५. ह० च० पृ० १९७

६. हूणहरिणकेसरी सिन्धुराजज्वरो गुर्जरप्रजागरो गांधाराधिपगंधद्विपकूटपाकलो लाटपाटवपाटच्चरो मालवलक्ष्मीलतापरशुः प्रतापशील इति प्रथितापरनामा प्रभाकरवर्धनो नाम राजाधिराजः। ह० च० पृ० २०३

७ राजा राज्यवर्धनं हूणान् हन्तुं···उत्तरापथं प्राहिणोत्। ह० च० २५७, ३०९

में लिया किन्तु हूणों का उपद्रव दबाने के लिए राज्यवर्धन पुनः गये इससे प्रतीत होता कि इनका पूर्णतया दमन प्रभाकरवर्धन नहीं कर सके थे। वाग्भट के काल की दृष्टि से यह सूचना महत्त्वपूर्ण है। वाग्भट ने अपने को सिन्धुजन्मा कहा है इससे निःसन्देह वह सिन्धुप्रदेश के निवासी थे। अपनी रचना में उन्होंने शकाधिपति तथा अन्य प्रसंगों में शकों तथा शकांगनाओं का उल्लेख किया है। हूणों का उल्लेख नहीं मिलता। ऐसी संभावना है कि वाग्भट का शकाधिपति (बाण ने 'शकपति' शब्द का भी प्रयोग उस शकराज के लिए किया है जिसका विनाश चन्द्रगुप्त के हाथों हुआ—पृ०३५४-५५) उसी परम्परा का हो जिसे यहां सिन्धुराज कहा गया है और जिसका दमन प्रभाकरवर्धन ने किया था। वाग्भट ने चूंकि हूण शब्द का प्रयोग नहीं किया है इससे यह भी सम्भव है कि उन्होंने 'शक' शब्द का प्रयोग हूणों के लिए किया हो। वस्तुतः शक शब्द आगे चलकर सभी विदेशियों के लिए प्रयुक्त होने लगा।[१]

५१—समाज में स्त्रियों की स्थिति सम्मानजनक नहीं थी। कन्या उत्पन्न होने से लोग दुखी होते थे। विधवायें भी थीं और अधिकांश स्त्रियां वैधव्य के भय से पति के साथ साथ या उनके पूर्व सती हो जाती थीं। राजा प्रभाकरवर्धन की पत्नी यशोमती इसी प्रकार सती हो गई थी जिसका वर्णन बाण ने किया है। स्त्रियों पर विश्वास उठ चुका था अतः उन्हें स्वतंत्रता नहीं दी जाती थी और वे पति या पुत्र के संरक्षण में जीवन बिताती थीं[२]। वाग्भट ने भी ऐसा ही निर्देश किया है।

५२—नदी में स्नान करके पितृ-तर्पण काउल्लेख बाण ने किया है[३]। वाग्भट में भी इसका उल्लेख है।

५३—शशांक का उल्लेख बाण ने किया है[४]। राज्यवर्धन आगे चल कर राजा शशांक के द्वारा मारा गया, उसी का पूर्वाभास इस शब्द से ध्वनित होता है। वाग्भट ने भी शशांक का उल्लेख किया है।[५] किन्तु यह कहना कठिन है कि उसका अभिप्राय भी यही हो।

---

१. D. C. Bhattacharya : A. B. O. R. I. Vol. XXVIII, 125.

२. सेयं सर्वाभिभाविनी शोकाग्नेर्दाहशक्तिर्यदपत्यत्वे समानेऽपि जातायां दुहितरि दूयन्ते सन्तः।—ह० च० पृ० २४०, २४६, २८४, २९१, ४३५, का०—५००, ९०,९१, ४९७,५२४,६६८,२८२; अबलानां हि प्रायशः पतिरपत्यं वावलंबनम्' ह० च० ४५३

३. तस्यां स्नात्वा पित्रे ददावुदकम्' ह० च० पृ० ३००

४. 'अकाशताकाशे शशांकमण्डलम्' ह० च० पृ० ३१४

५. 'कपोलकान्त्या विजितः शशांकः रसातलं गच्छति निर्विदेव'। सं० उ० ४९।११

५४—चकोर की आँखें विष से लाल हो जाती हैं इसका उल्लेख बाण ने किया है और वाग्भट ने भी[१]।

५५—बाण ने कुछ वर्ग के व्यक्तियों के स्वाभाविक दोषों का उल्लेख किया है। यथा बिना लोभ का ब्राह्मण, क्रोधहीन मुनि, अचंचल कपि आदि संसार में दुर्लभ हैं किन्तु इसमें वैद्य का निर्देश नहीं किया गया है[२]। इससे प्रतीत होता है कि उस समय वैद्य-व्यवसाय समाज की श्रद्धा और सम्मान का विषय था और विवाद आदि दोष वैद्यों में नहीं थे। भट्टोजिदीक्षित ने 'वैद्याः विप्रवदन्ते' के द्वारा वैद्यों की विवादशीलता का उल्लेख किया है जो उनकी तत्कालीन स्थिति का द्योतक है।

५६—ब्राह्मणों को रत्न, गौ आदि का दान देने का उल्लेख बाण ने किया है[३]। वाग्भट ने भी इसका बहुशः उल्लेख किया है।

५७—हर्ष की दिग्विजय-यात्रा के प्रसंग में सेना के साथ वैद्य का उल्लेख नहीं किया गया है। किन्तु राज्यवर्धन के घायल होने पर उसके शरीर में पट्टियाँ बँधी थीं। इससे प्रतीत होता है कि उस काल में सेना के साथ वैद्य रहते थे। सम्भवतः उनकी यात्रा की पृथक् व्यवस्था हो। वाग्भट ने भी इसका उल्लेख किया है, सुश्रुत में इसका स्पष्ट उल्लेख है।

५८—'गुप्ति' शब्द का प्रयोग रक्षा के अर्थ में बाणभट्ट ने किया है[४] और वाग्भट ने भी। इसका प्रयोग कारागार या शस्त्रागार अर्थ में भी होता था।[५]

५९—बाणभट्ट ने चीन, किंपुरुष, स्त्रीराज्य, तुरुष्क, पारसीक, शकस्थान, पारियात्र, प्राग्ज्योतिष, मालव, दक्षिणापथ आदि देशों तथा हेमकूट, हिमालय, गन्धमादन, दर्दुर, महेन्द्र आदि पर्वतों[६] तथा गङ्गा, यमुना, सरस्वती आदि नदियों का उल्लेख किया है[७]। वाग्भट ने भी अनेक नदियों और पर्वतों तथा भौगोलिक स्थानों का उल्लेख किया है।

६०—कलम धान्य शालि धान्यों में सर्वोत्तम माना गया है[८]। कालिदास ने भी अपनी रचनाओं में इसका बहुशः उल्लेख किया है। इससे प्रतीत होता है कि गुप्त

---

१. राज्ये विष इव चकोरस्य मे विरक्तं चक्षुः।—ह० च० पृ० ३१७

२. ह० च० पृ० ३१९ ३. ह० च० पृ० ३५९-६०, ३६२

४. पातालमिव महायोगिनां गुप्तये समासादितम्।—ह० च० ३८०

५. ह० च० पृ० ३८०–८१

६. ह० च० पृ० १८, २७, २९, ९८, १२७, ४५१

७. पुलाकोऽपि वा कलमः—ह० च० पृ० ४०१ ८. ह० च० प० ४५६

एवं उत्तरगुप्तकाल में इस धान्य की विशेषता लोकप्रसिद्ध थी। वाग्भट ने भी इसका वर्णन किया है।

६१—काल-मान के प्रसंग में बाणभट्ट ने कालनालिका का उल्लेख किया है[1]। सम्भवतः यह एक प्रकार की घड़ी थी। वाग्भट ने भी नाडिका का प्रयोग इस सन्दर्भ में किया है।

६२—वाग्भट ने सर्पों में आशीविष का विष असाध्य बतलाया है। बाणभट्ट ने भी इसका प्रयोग किया है[2]। विष का शमन ओषधि तथा मन्त्र से किया जाता था[3]। अगस्त्य नक्षत्र का उदय होने पर विष का शमन हो जाता है इसका भी उल्लेख किया गया है[4]। कालिदास ने भी ऐसा कहा है।

संग्रह में 'सौगन्धिक' का प्रयोग हुआ है। वराहमिहिर ने सौगन्धिक नामक एक रत्न का उल्लेख किया है। टीकाकारों ने इसे गन्धक कहा है। अष्टांगहृदय में 'गन्धपाषाण' शब्द से गन्धक का उल्लेख है तथा उसका प्रयोग नेत्ररोगों में अञ्जन के लिए हुआ है। बाणभट्ट ने भी गन्धपाषाण का उल्लेख किया है।[5] पारद का भी प्रयोग होता आ रहा था। दोनों के मिलन से रसशास्त्र का वास्तविक प्रारम्भ माना जाता है जिसकी भूमिका तो अष्टाङ्गसंग्रह-काल में बन चुकी थी किन्तु जिसका स्वरूप व्यक्त हुआ क्रमशः कालान्तर में।

मेदोरोग वाग्भट के काल में अधिक मिलता था। इसका कारण सम्भवतः सुरापान था। वाग्भट ने इसकी चिकित्सा का भी विशिष्ट विधान किया है। बाणभट्ट ने भी इसका निर्देश किया है।[6]

कादम्बरी का ज्वरद्द्रविड धार्मिक रसायन का असम्यक् प्रयोग करने के कारण कालज्वर से आक्रान्त हो गया था[7]। रसायन-सेवन की विधि समुचित शोधन के बाद है। यदि सम्यक् शोधन न हो तो अनेक विकार हो सकते हैं। वाग्भट में भी यह विषय प्रतिपादित है।

---

१. नाडिकाच्छेदप्रहतपटुपटहनादानुसारी मध्याह्नशंखध्वनिरुदतिष्ठत्।—का० ४०

२. का० पृ० ४६३

३. सततममूलमंत्रशक्यः विषमो विषयविषास्वादमोहः।—का० ३१४

४. का० पृ० १७५

५. गंधपाषाणपरिमलामोदिना। – का० ३७०

६. अनारोपितमेदोदोषं गुरुकरणम्। —का० ३१८

७. असम्यक्कृतरसायनानीतकालज्वरेण—का० ६४४

निम्नांकित उद्धरणों की तुलना करें :—

१—पुण्ड्रकराजिभिर्विराजितललाटाजिराः— —ह० च० पृ० १८ | किंशुकाशोकचूतादिवनराजिविराजिताः —सं० सू० ४।२२

२—कोकिलकुलकलप्रलापिनी ह० च० पृ० ५९-६० | कोकिलालिकुलालापकलकोलाहलाकुलाः —सं० सू० ४।२३

मदकलकोकिलकुलकोलाहलैः—

ह० च०, पृ० ४५८

पुलिन्दभट्ट ने कादम्बरी उत्तरभाग में ऐसे अनेक प्रयोग किये हैं :—

(क) मधुकरकुलकलकोलाहलाकुलित—का० उ० ५

(ख) मदकलकेकाकोलाहलैः—का० उ० ११६

(ग) आबद्धकलकलापिकुलकेकाकोलाहलाकुलितचेतोवृत्तिम्—का० उ० १५१

३—रसातलादवनीमवदार्य उद्गच्छता रजनीकरबिम्बेन अराजत रजनी। —ह० च० पृ० ४७४ | कपोलकान्त्या विजितः शशांको रसातलं गच्छति निर्विदेव। —सं० उ० ४९।१३६

६३—आयुर्वेदीय अंगों यथा कायचिकित्सा, शल्य, भूतविद्या, प्रसूति आदि के संबंध में भी प्रचुर सामग्री बाणभट्ट की रचनाओं में मिलती है जिससे तत्कालीन स्थिति के संबन्ध में महत्वपूर्ण सूचना उपलब्ध होती है। बाणभट्ट के काल में चिकित्सा में धातुओं, रत्नों तथा रस-रसायन का प्रयोग विशेष होने लगा था। वाग्भट की रचना में भी ऐसे ही तथ्य मिलते हैं।

वाग्भट और बाणभट्ट में अत्यधिक साम्य होने के कारण तथा अन्य प्रमाणों के आधार पर ऐसा अनुमान है कि वाग्भट बाणभट्ट के कुछ ही पूर्व हुआ।

दण्डी और वाग्भट

दण्डी का काल सातवीं शती का अन्तिम चरण माना जाता है। वे बाणभट्ट के बाद हुये। दण्डी की अनेक रचनायें हैं जिनमें 'दशकुमारचरितम्' प्रमुख है।

वाग्भट और दण्डी का तुलनात्मक अध्ययन यहां प्रस्तुत किया जा रहा है—

१–दण्डी ने जन्मजात सामुद्रिक लक्षणों का उल्लेख किया है जिनके द्वारा भावी जीवन का अनुमान किया जाता है।[१] वाग्भट ने भी ऐसे लक्षणों का निर्देश किया है।

२—दण्डी ने बालक के जातकर्म, नामकरण, चूड़ाकर्म, उपनयन आदि संस्कारों

---

१. सकललक्षणलक्षितं सुतमसूत।—द० कु० पू० ५०, ९२; उ० २।६; ४।२६

का उल्लेख किया है।[1] वाग्भट ने भी बालक के संबंध में इन संस्कारों का वर्णन किया है।

३—'सुश्रुत' नामक एक मंत्री का उल्लेख दण्डी ने किया है। इससे प्रतीत होता है कि सुश्रुत का नाम उस समय लोकप्रिय हो गया था। इसके अतिरिक्त प्रमतिगुप्त, मन्त्रगुप्त आदि नाम गुप्तकालीन प्रतीत होते हैं। वाग्भट ने सुश्रुत का नाम ही नहीं लिया है बल्कि अधिकांशतः अनुसरण भी किया है। गुप्तकालीन अनेक शब्द भी प्रयुक्त हुये हैं[2]।

४—दण्डी के वर्णन से तत्कालीन धार्मिक स्थिति का जो चित्र मिलता है उससे ज्ञात होता है कि उस समय शिव एवं शक्ति की पूजा का विशेष प्रचार था। देश के विभिन्न प्रान्तों में शिवालय तथा चण्डिकामंदिर स्थापित हुए थे। देवताओं को वलि और उपहार दिये जाते थे।[3] श्रुति-स्मृति-विहित विधानों एवं यज्ञों का प्रचार था। साथ-साथ बौद्ध धर्म का भी अस्तित्व था जो पाषंड के नाम से कहा गया है।[4] दण्डी ने एक विरूपक नामक बौद्ध क्षपणक का वर्णन किया है जो पुनः वैदिक धर्म में लौट आया था[5] इससे धार्मिक सहिष्णुता प्रकट होती है। वाग्भट में भी वैदिक धर्म के साथ-साथ बौद्ध धर्म का भी उल्लेख है। गणेश, कार्तिकेय आदि देवताओं की पूजा होती थी तथा गंगा का भी माहात्म्य प्रचलित था।[6] पशुबलि भी होती थी।[7]

५—'मणिभद्र' नामक यक्ष का वाग्भट ने उल्लेख किया है और उसके नाम पर 'माणिभद्र वटक' प्रसिद्ध हुआ है। दण्डी ने भी मणिभद्र और उसकी कन्या तारावली का उल्लेख किया है।[8]

६—सर्पविष की चिकित्सा का वर्णन चिरन्तन काल से चला आ रहा है। औषधियों के साथ-साथ मंत्रशक्ति का भी प्रयोग उसकी चिकित्सा में होता रहा है।

---

१. द० कु० पू० ५०,८० २. द० कु० पू० ५१; ७२; ८।२८

३. द० कु० पू० ५७,५८; २।१०, १२; ३।२; उ० ५।१०, १२; ६।२,३, ६; ८।१३, ३४

४. द० कु० उ० २।२४; ३।३१; ६।४३, ४५; ८।७

५. द० कु० उ० २।४६ ६. द० कु० उ० ३।१७; ५।२२; ७।२३, १९

७. द० कु० उ० ३।२६

८. यक्षकन्याहं तारावली नाम, नन्दिनी मणिभद्रस्य।

द० कु० पू० ७३; उ० ४।६; ५।१०

वाग्भट ने औषधियों के निष्फल होने पर मन्त्रशक्ति के प्रयोग का विधान किया है किन्तु दण्डी के वर्णन से ज्ञात होता है कि मन्त्रबल के निष्क्रिय होने पर औषधियों का प्रयोग किया जाता था।[1] मणि, मन्त्र तथा औषधों से चमत्कार-विधान की शिक्षा का भी उल्लेख दण्डी ने किया है।[2] मणिमन्त्रौषधिज्ञ ब्राह्मण पूजनीय होता था।[3]

७—दण्डी ने अनेक स्थलों पर 'दिग्विजयप्रयाण' का उल्लेख किया है।[4] 'विजिगीषु' राजा का भी निर्देश किया है।

८—मांगलिक भावों तथा शकुनों और शुभाशुभ स्वप्नों का उल्लेख दण्डी ने किया है[5] और वाग्भट ने भी इनका निर्देश किया है।

९—सद्वृत्त का विधान दण्डी ने किया है।[6] वाग्भट ने भी इसका विस्तार से वर्णन किया है।

१०—पातालप्रवेश, मंत्र-साधन आदि अनेक तांत्रिक क्रियाओं का उल्लेख दशकुमारचरितम् में मिलता है।[7] वाग्भट में भी इनका विकसित रूप मिलता है।

११—दण्डी ने वाग्भट के द्वारा वर्णित सिद्धांजन का उल्लेख किया है।[8] इससे ज्ञात होता है कि दण्डी वाग्भट के परवर्ती हैं।

१२—दण्डी ने क्षौम, सूक्ष्मचित्रवस्त्र (अंशुक), चीनांशुक वस्त्रों का उल्लेख किया है[9]। वाग्भट ने भी इनका निर्देश किया है।

१३—कर्पूरसहित ताम्बूल के सेवन का विधान दण्डी ने किया है।

---

१. मन्त्रबलेन विषव्यथामपनेतुमक्षमः समीपकुञ्जेष्वौषधिविशेषमन्विष्य प्रत्यागतो व्युत्क्रान्तजीवितां तां व्यलोकयम्। द० कु० पू० ७७, तेषु कश्चिन्नरेन्द्राभिमानी मां निर्वर्ण्य मुद्रातन्त्रमन्त्रध्यानादिभिश्चोपक्रम्याकृतार्थः—द० कु० उ० २।३१; ४।१४; १८; २१

२. मणिमन्त्रौषधादिमायाप्रपञ्चचुञ्चुत्वम्।—द० कु० पू० ८०,

३. भूसुरकुमारो मणिमन्त्रौषधिज्ञः परिचर्यार्हः—द० कु० पू० ५।१०

४. द० कु० पू० २।२, ४।९

५. द० कु० पू० २।३–४, ४।१०, २०; २६; उ० ५।२; ८।२२

६. द० कु० पू० २।१०

७. द० कु० पू० २।१४; ५।२५, उ० २।२६, ३।२४, २६; ६।१९, ४७–७।७, ११, १२

८. 'वसुपूर्णान् कलशान् सिद्धाञ्जनेन ज्ञात्वा'–द० कु० पू० ४।९, ५।२५; उ० ६।१२

९. द० कु० पू० ४।२१; ४।२३; ५।३; उ० १।२५; २।५९, ६०, ६४; ५।२, ३, ९

संभवतः स्त्रियां भी ताम्बूल चर्वण करती थीं।[१] वाग्भट ने भी ताम्बूल सेवन का वर्णन किया है।

१४—दण्डी ने सिद्धों, विद्याधरों और यक्षों का उल्लेख किया है।[२] वाग्भट ने भी इनका निर्देश किया है।

१५—आम्र के विशिष्ट प्रकार 'सहकार' का उल्लेख [३]दण्डी और वाग्भट दोनों ने किया है।

१६—तालवृन्त तथा विशिष्ट अवस्थाओं में नलिनीदल व्यजन के काम में आते थे[४]। इसका उल्लेख दण्डी और वाग्भट दोनों में मिलता है।

१७—दण्डी ने 'वणिक्' का उल्लेख अनेक स्थलों में किया है। इससे प्रतीत होता है कि उस काल में वाणिज्य की स्थिति अच्छी थी और वणिक् का समाज में आदर था।[५] वाग्भट ने भी वणिक् का उल्लेख किया है।

१८—ज्योतिषियों का उल्लेख दण्डी ने अनेक स्थलों पर किया है।[६] वाग्भट ने भी ज्योतिष के अनेक तथ्यों का प्रयोग किया है।

१९—दण्डी ने 'मत्तहस्ती' का प्रयोग किया है[७] और वाग्भट ने भी।

२०—'वेश्या' का उल्लेख दण्डी ने किया है।[८] वाग्भट ने भी इसका निर्देश किया है।

२१—संगीत, नृत्य, चित्र आदि कलाओं का उल्लेख दण्डी ने किया है।[९] वाग्भट ने भी स्थान-स्थान पर इनका निर्देश किया है।

२२—अर्थोपार्जन के उपायों में दण्डी ने कृषि, पाशुपाल्य और वाणिज्य के साथ-साथ संधि और विग्रह ये राजकार्य भी गिनाये हैं।[१०] वाग्भट ने भी राजसेवा को अर्थागम का साधन बतलाया है।

---

१. द० कु० पू० ४।२३; ५।१६; उ० २।५९, ६०, ६६; ५।१४,

२. द० कु० पू० ४।२६; उ० १।१६; ७।१-२

३. द० कु० पू० ५।१ ४. द० कु० पू० ५।१७; उ० ३।२०

५. द० कु० उ० १।६; ५।१४ ६. द० कु० उ० १।११; २।६०

७. द० कु० उ० १।२०, २।५१, ४।२; ८।२४

८. द० कु० उ० २।३; 'प्रकृष्टगणिकाप्रार्थ्ययौवनो हि यः स पुमान्'–२।२२, ५२, ५३; ६।४

९. द० कु० उ० २।६, ६६; ३।११, १२; ६,४२

१०. अर्थस्तावदर्जनवर्धनरक्षणात्मकः। कृषिपाशुपाल्यवाणिज्यसंधिविग्रहादिपरिवारः; तीर्थप्रतिपादनफलश्च।—द० कु० उ० २।१६

२३—मुशल और उलूखल गृह के प्रचलित उपकरण थे।[१] वाग्भट ने भी इनका उल्लेख किया है।

२४—अर्थोपार्जन की दृष्टि से वणिक् और वेश्याजन को समकक्ष रखा है।[२] वाग्भट ने भी इन्हें 'सदातुरों' की श्रेणी में एक ही साथ रखा है।

२५—चाणक्य का उल्लेख[३] दोनों ने किया है।

२६—दण्डी ने मद्यपान तथा पानगोष्ठियों की प्रथा का संकेत किया है।[४] स्त्रियां भी मद्यपान करती थीं। वाग्भट ने भी इसका निर्देश किया है।

२७—'पथ्य' शब्द का हितकर अर्थ में प्रयोग दण्डी ने किया है।[५] वाग्भट ने भी इसका प्रयोग किया है।

२८—विविध मणियों और रत्नों का उल्लेख दण्डी ने किया है[६] और वाग्भट ने भी।

२९—रक्षिक पुरुषों का दोनों ने उल्लेख किया है।[७]

३०—आथर्वण विधियों का उस समय समाज में विशेष प्रचार था ऐसा दण्डी के वर्णन से प्रतीत होता है।[८] वाग्भट ने भी अथर्वोक्त विधानों का अनेक स्थलों पर वर्णन किया है।

३१—दण्डी ने 'मठिका' शब्द का प्रयोग आश्रम के लिए किया है। वाग्भट ने 'मठ' का प्रयोग किया है।[९] 'मठिका' शब्द 'मठ' का ही अल्पार्थक है जिसका अर्थ छोटी कुटिया होता है। यह शब्द संभवतः बौद्ध आश्रमों (Monastries) के लिए प्रचलित रहा हो।

३२—राजाओं और धनी लोगों में उस समय बहुविवाहप्रथा थी।[१०] वृद्धावस्था में भी ऐसे लोग युवतियों से विवाह करते थे।[११] वाग्भट ने भी इसका निर्देश किया है।

३३—माल्यधारण, स्नान, अनुलेपन आदि दैनिक चर्या का संकेत दण्डी की रचना में मिलता है।[१२] वाग्भट ने भी इसका उल्लेख दिनचर्या-प्रकरण में किया है।

---

१. द० कु० उ० २।४७
२. द० कु० उ० २।४७. ४९
३. द० कु० उ० २।५०, उ० ८।८
४. द० कु० उ० २।५१; ८।१४
५. द० कु० उ० २।५७
६. द० कु० उ० २।६४
७. द० कु० उ० २।६७
८. द० कु० उ० २।७३; ३।२६
९. द० कु० उ० ३।१, ८।३२, ३३
१०. तदेकवल्लभः स तु बह्ववरोधोऽपि विकटवर्मा।—द० कु० उ० ३।९
११. द० कु० उ० ६।४२
१२. द० कु० उ० ३।१३; ७।१७

३४—इहलोक और परलोक दोनों का वर्णन दण्डी ने किया है।[१] वाग्भट ने भी इनका वर्णन किया है।

३५—सद्वृत्त का विधान[२] दण्डी और वाग्भट दोनों ने किया है।

३६—'पाटला' के लिए 'पाटली' शब्द का प्रयोग दण्डी ने किया है।[३] वाग्भट ने भी प्रायः सर्वत्र ऐसा ही प्रयोग किया है।

३७—'गर्भगृह'[४] का उल्लेख भी दोनों ने किया है।

३८—स्त्रियों का स्थान समाज में विवादास्पद हो चला था और लोग उन्हें सारी बुराइयों की जड़ मानने लगे थे।[५] वाग्भट ने भी लिखा है कि स्त्रियां को स्वातंत्र्य नहीं देना चाहिए और न उनमें विश्वास ही करना चाहिए।

३९—'महारावि' शब्द का उल्लेख[६] दोनों ने किया है।

४०—प्राचीन कवियों ने एक प्रकाशयुक्त संजीवनी औषधि का वर्णन किया है। दण्डी ने भी 'जीवनौषधि' का उल्लेख किया है।[७] ऐसी किसी औषधि का वर्णन वाग्भट की रचना में नहीं मिलता यद्यपि जीवनीयगण की औषधियां हैं जो जीवनी शक्ति को बढ़ाती हैं।

४१—'अचिन्त्यो हि मणिमंत्रौषधीनां प्रभावः'[८] दण्डी का यह कथन वाग्भटोक्त प्रभाव-वर्णन से बिलकुल मिलता-जुलता है।

४२—सविष अन्न खिला कर हत्या करने की प्रथा का दण्डी ने उल्लेख किया है।[९] विषप्रयोग में अन्य विधानों का भी वर्णन किया है।[१०] वाग्भट ने इस विषय का एक स्वतन्त्र अध्याय में ही वर्णन किया है।

४३—दिनचर्या में वाग्भट ने प्रातःकाल स्नान का विधान नहीं किया है। 'अथ जातान्नपानेच्छः' के द्वारा बुभुक्षा होने पर मध्याह्न में स्नान का विधान है[११]। दण्डी

---

१. द० कु० उ० ३।१५
२. द० कु० उ० ३।१६, ७।४
३. द० कु० उ० ३।१९
४. द० कु० उ० ३।९, ४।२६
५. स्त्रियश्चोपधीनामुद्भवक्षेत्रम्—द० कु० उ० ३।७
६. द० कु० उ० ३।८;
७. जीवय मां जीवनौषधिभिरिवापांगैरनंगभुजंगदष्टम्।—द० कु० उ० ३।२२
८. द० कु० उ० ३।२८
९. द० कु० उ० ३।३२; ४।११, ४।१६; ८।१०, ११
१०. द० कु० उ० ८।२४; ८।२९
११. उषसि स्नात्वा कृतमंगलो मंत्रिभिः सह समगच्छे। द० कु० उ० ३।३४; ७।१५

ने भी राजा की दिनचर्या में तृतीय अर्ध-प्रहर में स्नान-भोजन का विधान किया है[१]।

४४—सतीप्रथा का संकेत दण्डी ने किया है।[२] ऐसा कोई निर्देश वाग्भट में नहीं मिलता।

४५—'गुप्ति' शब्द का प्रयोग[३] दण्डी और वाग्भट दोनों ने किया है।

४६—दण्डी ने मुर्गों की लड़ाई का उल्लेख किया है[४]। वाग्भट में ऐसा संकेत नहीं मिलता।

४७—शल्यतन्त्र के आचार्य धन्वन्तरि का उल्लेख दण्डी ने किया है[५]। वाग्भट ने भी इन आचार्यों का उल्लेख किया है।

४८—तीर्थयात्रा का वर्णन दण्डी ने किया है[६]। वाग्भट ने भी तीर्थयात्रा का महत्व बतलाया है।

४९—'पृथुनितम्बविलम्बितविचलदंशुकोज्ज्वलम्'[७] दण्डी के इस वाक्य पर भारवि की छाया है। इसके सदृश कोई वाक्यविन्यास वाग्भट में नहीं मिलता किन्तु अष्टांग-हृदय में मिलता है।

५०—'रसायन' का संकेत दण्डी ने किया है[८]। वाग्भट ने तो एक स्वतन्त्र अध्याय में इसका विशद वर्णन किया है।

५१—अनिन्दित पुरुषों के लक्षण वाग्भट ने बतलाये हैं। दण्डी ने भी इसका उल्लेख किया है[९]।

५२—'अविमृश्यकारिणां हि नियतमनेकाः पतन्त्यनुपशयपरम्पराः'—दण्डी का यह वाक्य[१०] भारवि के प्रसिद्ध श्लोक 'सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम्'—का स्मरण दिलाता है। वाग्भट में भी ऐसे वचन मिलते हैं। यह पहले बतलाया जा चुका है कि वाग्भट भारवि के समकालीन या पूर्ववर्ती थे।

---

१. द० कु० उ० ८।१०   २. द० कु० उ० ४।१५,१६

३. द० कु० उ० ४।२२   ४. द० कु० उ० ५।१४

५. तच्छल्योद्धरणक्षमश्च धन्वन्तरिसदृशस्त्वदृते नेतरोऽस्ति वैद्यः—द० कु० उ० ५।२०

६. द० कु० उ० ५।२२   ७. द० कु० उ० ६।१०

८. पुष्टं च तमुद्रिक्तधातुम्—द० कु० उ० ६।२३, ६।४४

९. द० कु० उ० ६।२७, २८, २९   १०. द० कु० उ० ६।२६

५३—स्नान के पूर्व तैलामलक लगाने का विधान बाणभट्ट में मिलता है। दण्डी ने भी ऐसा उल्लेख किया है।[1] वाग्भट में दिनचर्या-प्रकरण में ऐसा विधान नहीं मिलता।

५४—भोज्य-पदार्थों का वर्णन जो दण्डी ने किया है[2] वह प्रायः वाग्भट के वर्णन से मिलता-जुलता है। ताजे गुलाब के फूलों से वासित जल का विधान[3] दोनों में है।

५५—ग्रहदोष से रोगों की उत्पत्ति का उल्लेख दण्डी और वाग्भट दोनों ने किया है।[4]

५६—दण्डी ने अनुकरणात्मक 'चटचटायित' शब्द का प्रयोग किया है।[5] वाग्भट ने भी हृदय-ध्वनि के लिए 'धुकधुका' शब्द का प्रयोग किया है। अन्य भी ऐसे प्रयोग मिलते हैं।

५७—दण्डी ने 'नरेन्द्र' शब्द का प्रयोग विषवैद्यों तथा तान्त्रिकों दोनों के लिए किया है।[6] वाग्भट ने भी इसका प्रयोग किया है।

५८—सूर्यपूजा का समाज में प्रचार था।[7] वाग्भट ने भी कुष्ठप्रकरण में सूर्याराधन का विधान किया है।

५९—हाथी पर सवार होकर शोभायात्रा का वर्णन दण्डी ने किया है।[8] वाग्भट ने भी सर्वार्थसिद्धांजन की ऐसी ही शोभायात्रा का वर्णन किया है।

६०—उच्च श्रेणी के तपस्वियों के लिए 'महामुनि' शब्द का प्रयोग दण्डी ने किया है।[9] अष्टांगहृदयकार ने इस शब्द का प्रयोग किया है। परवर्ती टीकाकारों ने भी इसी पद्धति पर चरक को मुनि या महामुनि कहा है।

६१—वर्णव्यवस्था का संकेत दण्डी की रचना में मिलता है।[10] वाग्भट की रचना में भी इसका संकेत मिलता है।

६२—कादम्बरी में शुकनासोपदेश के अनुसार दण्डी ने भी वसुरक्षित नामक वृद्ध मन्त्री से ऐसा उपदेश दिलवाया है। उसमें शास्त्र को दिव्य-चक्षु कहा गया है

---

१. दत्ततैलामलकः क्रमेण सस्नौ। द० कु० उ० ६।३२

२. द० कु० उ० ६।३२,३३   ३. द० कु० उ० ६।३३

४. भर्ता तु भवत्याः केनचिद् ग्रहेणाधिष्ठितः पाण्डुरोगदुर्बलः—द० कु० उ० ६।४४,

५. द० कु० उ० ७।२   ६. द० कु० उ० ७।१२

७. द० कु० उ० ७।१४   ८. द० कु० उ० ७।१९

९. द० कु० उ० ७।२१   १०. द० कु० उ० ८।३; ८।३८

और उसके बिना पुरुष को अन्ध बतलाया गया है।[१] वाग्भट में भी ऐसा निर्देश है।

६३—'बहुश्रुतता' का उपदेश दोनों ने किया है। एक ही शास्त्र को पढ़ते-पढ़ते सारा जीवन नष्ट हो जाता है इसका संकेत भी दोनों ने किया है।[२]

६४—'श्रोत्रिय' का उल्लेख दण्डी ने किया है।[३] वाग्भट ने भी सदातुरों में इसका उल्लेख किया है।

६५—ब्राह्मणों की स्थिति समाज में गिर गई थी। उनकी आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी तथा वे इसके लिए दान-दक्षिणा, पूजा-पाठ पर निर्भर रहते थे।[४] दक्षिणा आदि का संकेत वाग्भट ने भी किया है।

६६—राजसेवा-सम्बन्धी अनेक विचार दण्डी की रचना में आये हैं।[५] ऐसे विचार वाग्भट की रचना में भी हैं। अष्टांगहृदय में दण्डी के विचारों का पर्याप्त साम्य दृष्टिगोचर होता है।

६७—मृगया के लाभ का वर्णन करते हुए दण्डी ने व्यायाम की उपयोगिता पर अच्छा प्रकाश डाला है।[६] वाग्भट ने भी व्यायाम के लाभ बतलाये हैं। इसी प्रकार मद्यपान के गुणों का भी वर्णन किया है।[७]

६८—सन्तानोत्पत्ति के द्वारा उभयलोक के श्रेय की प्राप्ति[८] का निर्देश वाजीकरण-प्रकरण में दोनों ने किया है।

६९—कापालिक सम्प्रदाय का उल्लेख दण्डी ने किया है। वाग्भट ने भी इसका संकेत किया है।[९]

आयुर्वेद के आठों अंगों यथा रसायन, वाजीकरण, अगदतन्त्र, भूतविद्या, कायचिकित्सा, शल्य, शालाक्य, कौमारभृत्य के विषय दशकुमारचरित में मिलते हैं। बहुत सम्भव है कि इनमें से बहुत कुछ अष्टांगसंग्रह से लिये गये हों।

दण्डी की अलंकृत गद्यशैली वाग्भट की शैली से नितान्त भिन्न है। दण्डी बाणभट्ट के बाद हुए हैं। पहले कहा जा चुका है कि अष्टांगसंग्रह बाणभट्ट के पूर्व हो चुका था।

---

१. द० कु० उ० ८।५
२. द० कु० उ० ८।९
३. द० कु० उ० ८।११
४. द० कु० उ० ८।१२
५. द० कु० उ० ८।१६
६. द० कु० उ० ८।१७
७. द० कु० उ० ८।२०
८. द० कु० उ० ८।१९
९. द० कु० उ० ८।२९

माघ और वाग्भट

महाकवि माघ का काल सातवीं शताब्दी का अन्त या आठवीं शताब्दी का प्रारम्भ माना जाता है। 'शिशुपालवधम्' इनकी प्रतिनिधि रचना है। माघ आलंकारिक युग के सर्वश्रेष्ठ कवि माने जाते हैं।

निम्नांकित पंक्तियों में वाग्भट और माघ का एक तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है :—

१—माघ वैष्णव सम्प्रदाय के कवि थे और कहा जाता है कि भारवि, जो शैव थे, के महाकाव्य 'किरातार्जुनीय' का उत्तर देने के विचार से तथा काव्यकथा की दृष्टि से उनको पराजित करने के उद्देश्य से उन्होंने 'शिशुपालवधम्' की रचना की। अतः स्वभावतः उन्होंने विष्णु के स्वरूप का विशेष रूप से वर्णन किया है किन्तु उसके अतिरिक्त, त्रिदेव तथा विष्णु के विभिन्न अवतारों का भी वर्णन किया है। उस काल में जो वैदिक विधान यज्ञ, जप, योग आदि प्रचलित थे उनका भी निर्देश मिलता है।[1]

बौद्ध सम्प्रदाय का भी उल्लेख किया गया है यद्यपि ज्ञात होता है कि बौद्धधर्म उस समय बहुत क्षीण हो चुका था। 'बुद्ध' के लिए 'जिन' शब्द का प्रयोग किया गया है।[2] वह अवतार के रूप में स्वीकृत हो चुके थे।

वाग्भट ने भी वैदिक विधानों तथा विभिन्न देवताओं के साथ बौद्ध देवताओं का भी उल्लेख किया है। बुद्ध के लिए "जिन" शब्द संग्रह तथा हृदय दोनों में आया है।[3]

२—माघ ने स्त्रियों को वैर का मूल कहा है।[4]

वाग्भट में गार्हस्थ्य की दृष्टि से स्त्रियों को ऊंचा स्थान दिया गया है किन्तु लौकिक व्यवहार में उन पर विश्वास करने तथा उन्हें स्वतन्त्रता देने का निषेध किया गया है। इससे प्रतीत होता है कि स्त्रियों का स्थान माघ के काल में और नीचे गया है।

३—आप्त प्रमाण के प्रति विद्रोह कालिदास ने ही प्रारम्भ किया था। महाकवि माघ ने इस भावना को निम्नांकित शब्दों में व्यक्त किया है :—

---

१. शिशु० २।५१; ३।६५, ७५; ४।७; ४।५५, ६५; ११।४१, ४२, १२।११; १३।२३, २८; १४।१; ९, १०, १८, २१, ६१, ६२, ६९; १९।८७

२. शिशु० २।२८; १५।५८ ३. शिशु० १९।११२

४. बद्धमूलस्य मूलं हि महद्वैरतरोः स्त्रियः—शिशु० २।३८

'अन्यदुच्छृङ्खलं सत्त्वमन्यच्छास्त्रनियन्त्रितम् ।
सामानाधिकरण्यं हि तेजस्तिमिरयोः कुतः ।—शिशु० २।६२

वाग्भट ने भी इस भावना को व्यक्त किया है और अष्टांगहृदय में तो यह स्वर अत्यन्त मुखर हुआ है ।

४—चित्रकला, संगीत, नाट्य आदि कलाओं का चित्रण माघ ने किया है ।[१] वाग्भट ने भी अनेक स्थलों पर इनका संकेत किया है । काव्य में माघ चित्रात्मक काव्य के समर्थक थे ।[२]

५—माघ ने विजिगीषु राजा की उपमा बारह आदित्यों में एक 'दिनकृत्' से दी है ।[३] वाग्भट ने भी 'विजिगीषु' का उल्लेख किया है ।

६—'महानदी' तथा गंगा-यमुना के संगम का उल्लेख माघ ने किया है ।[४] वाग्भट ने भी इनका उल्लेख किया है ।

७—रत्नों और मणियों का वर्णन माघ ने विस्तार से किया है ।[५] चन्द्रकान्त और सूर्यकान्त मणियों के सम्बन्ध में निम्नांकित श्लोक ध्यान देने योग्य हैं :—

'कान्तेन्दुकान्तोपलकुट्टिमेषु प्रतिक्षपं हर्म्यतलेषु यत्र ।
उच्चैरधःपातिपयोमुचोऽपि समूहमूहुः पयसां प्रणाल्यः ।।' शिशु० ३।४४

'फलद्भिरुष्णांशुकराभिमर्शात् कार्शानवं धाम पतंगकान्तैः ।
शशंस यो मात्रगुणाद् गुणानां संक्रान्तिमाक्रांतगुणातिरेकाम् ।।'
—शिशु० ४।१६

'सायं शशांककिरणाहतचन्द्रकान्तविस्यन्दिनीरनिकरेण कृताभिषेकाः ।
अर्कोपलोल्लसितवह्निभिरह्नि तप्तास्तीव्रं महाव्रतमिवाप्य चरन्ति वप्राः ।।'
—शिशु० ४।५८

८—मद्यपान की प्रथा का माघ ने दशम सर्ग में विस्तार से वर्णन किया है । स्त्रियाँ भी मद्यपान करती थीं । सुगन्धित मद का प्रयोग चषकों में करते थे । सहकार और उत्पल से मद्य को सुगन्धित बनाते थे ।[६]

---

१. शिशु० २।६७, ७२; ३।४६; २०।४४

२. म्रदीयसीमपि घनामनल्पगुणकल्पिताम् । प्रसारयन्ति कुशलाश्चित्रां वाचं पटीमिव ।। शिशु० २।७४, ४।५३; १३।६६; १४।५०

३. शिशु० २।८१ ४. शिशु० २।१००; ४।२६; १२।२३

५. शिशु० ३।३८

६. शिशु० ३।५४; ८।५२; ९।२७; १०।१-३८; ११।४९; १५।८०; १६।१२

वाग्भट ने भी इसका उल्लेख किया है।

९—अंशुक जो बहुत महीन प्रकार का वस्त्र था उसका वर्णन माघ ने अनेक स्थलों पर किया है। निम्नांकित श्लोक उसके स्वरूप का अच्छा परिचायक है :—

'छन्नेष्वपि स्पष्टतरेषु यत्र स्वच्छानि नारीकुचमण्डलेषु।
आकाशसाम्यं दधुरम्बराणि न नामतः केवलमर्थतोऽपि ॥–शिशु० ३।५६.

इसके अतिरिक्त, क्षौम, दुकूल तथा कौशेय आदि अनेक प्रकार के वस्त्रों का वर्णन किया है।[1] अष्टांगसंग्रह में भी इनका उल्लेख मिलता है। अष्टांगहृदय में अनेक विध वस्त्रों का उल्लेख है।[2]

१०—माघ के वर्णन से प्रतीत होता है कि देश की आर्थिक स्थिति अच्छी थी। वाणिज्य पर्याप्त उन्नत हो चुका था।[3] वाग्भट में इसका संकेत मिलता है।

११—कालिदास ने जिन प्रकाशयुक्त महौषधियों का उल्लेख किया है वे आगे चलकर सम्भवतः कविसमय के अनुसार रूढ हो गईं और फलतः माघ ने भी उनका उल्लेख कई बार किया है।[4] वाग्भट में दिव्य औषधियों का वर्णन नहीं है। कारण कि उनका दृष्टिकोण व्यावहारिक तथा युगानुरूप था।

१२—समाज में उस समय आथर्वणिक क्रियाओं का भी जोर था। महाकवि माघ ने इसका संकेत किया है।[5] वाग्भट में भी इनका संकेत है।

१३—माघ ने षष्ठ सर्ग में छः ऋतुओं का वर्णन किया है। वाग्भट ने भी ऋतुचर्याप्रकरण में ऋतुओं का काव्यमय वर्णन किया है किन्तु वाग्भट का वर्णन अधिकांश कालिदास के वर्णन से मिलता है, माघ से नहीं।

१४—'कलमगोपवधू' का वर्णन माघ ने संभवतः भारवि के आधार पर किया है।[6] वाग्भट ने शालि के प्रकारों में 'कलम' का उल्लेख किया है।

१५—माघ के वर्णन से प्रतीत होता है कि ताम्बूल का प्रचुर प्रयोग होता था। स्त्रियां भी ताम्बूल का सेवन करती थीं। प्रणयकेलि में नायिका द्वारा उच्छिष्ट ताम्बूल दिया जाता था।[7]

---

१. शिशु० ४।२१, ७।३२, ३४, ३६, ८।६, ३१, ४६, ६५, ९।८४, १०।४३ ७३, ८१, ११।३४, ६५, १२।५९; १३।३१

२. हृ० सू० ३।१६ ३. शिशु० ४।११, १२।२६

४. शिशु० ४।३४, १४।२९

५. शिशु० ४।३७; स्फुटमिदमभिचारमन्त्र एव प्रतियुवतेरभिधानमंगनानाम्।
—७।५८, १४।५६

६. शिशु० ६।४९, १२।४२, ४३

७. स्वच्छाम्भःस्नपनविधौतमंगमोष्ठस्ताम्बूलद्युतिविशदो विलासिनीनाम्।
—शिशु० ८।७०

'द्रवतां न नेतुमधरः क्षमते नवनागवल्लिदलरागरसः।—शिशु० ९।६५

१६—माघ ने अष्टांगसंग्रह में वर्णित 'सर्वार्थसिद्धाञ्जन' का उल्लेख 'अपूर्वरसाञ्जन' नाम से किया है। मल्लिनाथ ने टीका में लिखा है : 'रसांजनं रसं रागमेवांजनं, सिद्धांजनं च दधिरे।'[१]

१७—रतान्त क्रिया का वर्णन माघ ने किया है और वाग्भट ने भी :–

'भूय एव समगंस्त रतान्ते ह्रीवंधूभिरसहा विरहस्य।' शिशु० १०।८१

१८—श्रावक, बन्दी और मागध का उल्लेख माघ ने किया है जो प्रातःकाल सड़कों पर सस्वर काव्यगान करते हैं।[२] वाग्भट ने इन्हें 'कथक' और 'चारण' नाम से कहा है।

१९. वाग्भट ने जो ब्राह्ममुहूर्त में उठने का विधान किया है ('ब्राह्मे मुहूर्ते उत्तिष्ठेत्') उसका वर्णन महाकवि माघ ने भी बड़े सुन्दर ढंग से किया है :–

क्षणशयितविबुद्धाः कल्पयन्तः प्रयोगानुदधिमहति राज्ये काव्यवद्दुर्विगाहे।
गहनमपररात्रप्राप्तबुद्धिप्रसादाः कवय इव महीपाश्चिन्तयन्त्यर्थजातम्॥

—शिशु० ११।६

२०—माघ ने सूर्योदय–वर्णन के प्रसंग में सूर्य की उपमा जलती हुई खैर की लकड़ी के अंगार से दी है (११।४५) इससे प्रतीत होता है कि इन्धन में खैर की लकड़ी का प्रयोग बहुशः लोकमें प्रचलित था।[3] वाग्भट तथा अन्य पूर्ववर्ती आयुर्वेदीय आचार्यों ने विशेष रूप से अयस्कृतियों के निर्माण में इसके प्रयोग का विधान किया है।

२१—"गुप्ति" शब्द सुरक्षित बन्धन (कारागार) के लिए प्राचीन वाङ्मय में व्यवहृत हुआ है। माघ और वाग्भट दोनों ने इसका प्रयोग किया है।[४]

२२—ज्योतिष के अनेक तथ्य महाकवि माघ ने वराहमिहिर से लिये हैं।[५] वाग्भट में भी ऐसे अनेक प्रसंग मिलते हैं। संभवतः वाग्भट ने वराहमिहिर तथा अन्य प्राचीन आचार्यों से ये तथ्य लिये हैं जब कि माघ ने वराहमिहिर से लिये हैं जैसा कि मल्लिनाथ ने अपनी टीका में लिखा है।

२३—मांगलिक भावों और शुभाशुभ निमित्तों का वर्णन[६] माघ ने किया है और वाग्भट ने भी। माघ के पंचदश सर्ग का नाम है "अपशकुनाविर्भाव"।

---

१. दधिरे रसांजनमपूर्वमतः—शिशु० ९।२१

२. शिशु० ११।१; १२।३५

३. ज्वलितखदिरकाष्ठांगारगौरः विवस्वान्। शिशु० ११।४५

४. सरभस इव गुप्तिस्फोटमर्कः करोति। शिशु० ११।६०

५. शिशु० १३।२२

६. शिशु० १३।३७, १५।५७, १५।८१–९६, १६।१९

२४–राजसूय यज्ञ में पंक्तिपावन ब्राह्मण सम्मिलित हुये थे और उन्हें दक्षिणा दी गई थी ऐसा माघ ने उल्लेख किया है।[1] वाग्भट ने भी ब्राह्मणों को पूजा और दक्षिणा देने का विधान किया है।

२५—माघ ने भी वर्णाश्रम व्यवस्था[2] का संकेत किया है और वाग्भट ने भी।

२६—माघ ने "मत्कुण" का उल्लेख किया है। वाग्भट ने भी इसका उल्लेख किया है।[3]

२७—माघ ने 'कंकत' (कंघी) का उल्लेख किया है और शिर में बाल न रहने पर उसकी व्यर्थता बतलाई है। इससे प्रतीत होता है कि उस समय लोग बाल बड़े रखते थे और कंघी से संवारते थे।[4] वाग्भट ने भी ऐसा संकेत किया है।

२८—विषवृक्ष का उल्लेख माघ ने किया है।[5] वाग्भट ने भी विषवल्ली का उल्लेख किया है।

२९—माघ ने 'कालयवन' का उल्लेख किया है।[6] वाग्भट ने शकों का उल्लेख किया है।

३०—"पटमण्डप" शब्द का प्रयोग माघ ने किया है।[7] वाग्भट ने "पटालिक" शब्द का प्रयोग किया है।

३१—माघ ने 'विन्ध्य', 'सह्य' आदि पर्वतों का उल्लेख किया है।[8] वाग्भट ने भी इनका निर्देश किया है।

३२—हाथी का विशेष वर्णन माघ ने किया है। हर्षवर्धन के समय से हाथियों का महत्व सैन्य दृष्टि से बढ़ गया था। सवारी में भी करेणुकाओं का प्रयोग होता था।[9] वाग्भट ने भी इनका प्रयोग किया है।

३३—"डिम्ब" शब्द का प्रयोग माघ ने किया है। वाग्भट ने भी इसका प्रयोग किया है।[10]

३४—माघ और वाग्भट दोनों ने वेश्याओं[11] का उल्लेख किया है।

३५—"मुसल-उलूखल" का प्रयोग माघ ने किया है।[12] वाग्भट ने भी प्रसव-

---

१. शिशु० १४।३३ २. शिशु० १४।१८
३. शिशु० १४।६८, १९।७१
४. शिरसीव कंकतमपेतमूर्धजे। शिशु० १५।३३
५. शिशु० १५।४९ ६. शिशु० १५।५६
७. शिशु० १७।६८ ८. शिशु० १८।१
९. शिशु० १८।६ १०. १८।७७
११. शिशु० १९।६१ १२. शिशु० १९।८१

काल में विलम्ब होने पर मुसल-उलूखल से धान कूटने का एकीय मत के रूप में उल्लेख किया है।

३६—"कौस्तुभ" आदि का उल्लेख माघ ने अनेक प्रसंगों में किया है।[1] वाग्भट ने इसका उल्लेख मांगलिक भावों के अन्तर्गत किया है।

३७—माघ में प्रस्वापन आदि अनेक विद्याओं का प्रयोग हुआ है[2] जो वाग्भट की तांत्रिक क्रियाओं का स्मरण दिलाता है।

निम्नांकित श्लोकों की शब्दसाम्य तथा अर्थसाम्य की दृष्टि से तुलना करें :-

१—अनीत्वा पंकतां धूलिमुदकं नावतिष्ठते।—पेया कफं वर्धयति पंकं पांसुषु वृष्टिवत्
जलान्यनैषीद्रज एव पंकताम्। शिशु० १२।५८ सं० चि० १।१०१

२—"उच्चैर्महारजतराजिविराजितासौ"—शिशु० ४।२८
तैर्वैजयन्तीवनराजिराजिभिः—शिशु० १२।२९
"राजराजी सरोजाजेरजिरेजोऽजरोऽरजाः। रेजारिजूरजोर्जार्जी रराजर्जुरजर्जरः॥
—शिशु० १९।१०२

३—चलितया विदधे कलमेखलाकलकलोऽलकलोलदृशान्यया। शिशु० ६।१४
"रससम्मदोदयविकासिबलकलकलाकुलीकृते। शिशु० १५।७७
"लोकालोकी कलोऽकल्ककलिलोऽलिकुलालकः।
कालोऽकलोऽकलिः काले कोलकेलिकिलः किल॥ शिशु० १९।९८
संग्रह में देखें :—
१—"किंशुकाशोकचूतादिवनराजिविराजिताः।
कोकिलालिकुलालापकलकोलाहलाकुलाः॥—सं० सू० ४।२२

२—वाग्भट ने तरु-पल्लवों की अंगुलियों से उपमा दी है और जब वे वायु के झोंके से हिलते हैं तो यह उत्प्रेक्षा की गई है कि मानो वे अंगुलियों से बुला रही हों या डरा रही हों। इस भाव पर माघ ने अनेक स्थलों पर अनेक श्लोक दिये हैं।

"वनस्पतिस्कन्धनिषण्णबालप्रवालहस्ताः प्रमदा इवात्र।
पुष्पेक्षणैर्लम्भितलोचकैर्वा मधुव्रतव्रातवृतैर्व्रतत्यः॥ शिशु ४।३५
"धृततुषारकणस्य नभस्वतस्तरुलतांगुलितर्जनविभ्रमाः।
पृथुनिरन्तरमिष्टभुजान्तरं वनितया मितया न विषेहिरे॥ शिशु० ६।६०
"मधुमथनवधूरिवाह्वयन्ति भ्रमरकुलानि जगुर्यदुत्सुकानि।
तदभिनयमिवावलिर्वनानामतनुत नूतनपल्लवांगुलीभिः॥ शिशु० ७।२५
"चलांगुलीकिसलयमुद्धतैः करैरनृत्यत स्फुटकृतकर्णतालया। शिशु० १७।३७

---

१. शिशु० २०।३७ २. शिशु० २०।४१

संग्रह के निम्नांकित श्लोक की तुलना करें:—

१—'दाहं मन्दानिलोद्धूता: कुल्या: सलिलमालिन: ।
चलत्प्रवालांगुलिभिस्तर्जयन्ति महाद्रुमा: ।।

—सं० चि० २।८६

चन्द्र से मुख की श्रेष्ठता प्रदर्शित करने के संबंध में अनेक आलंकारिक वर्णन माघ में मिलते हैं:—

२—"क्षितिप्रतिष्ठोऽपि मुखारविन्दैर्वधूजनश्चन्द्रमधश्चकार । शिशु० ३।५२

"एकस्यास्तपनकरै: कराल्तिताया बिभ्राण: सपदि सितोष्णवारणत्वम् ।
सेवायै वदनसरोजनिर्जितश्रीरागत्य प्रियमिव चन्द्रमाश्चकार ।। शिशु० ८।४

"नवकुमुदवनश्रीहासकेलिप्रसंगादधिकरुचिरशेषामप्युषां जागरित्वा ।
अयमपरदिशोंके मुञ्चति स्रस्तहस्त: शिशयिषुरिव पाण्डु म्लान-
मात्मानमिन्दु: ।। शिशु० ११।२२

प्रकटमलिनलक्ष्मामृष्टपत्रावलीकैरधिगतरतिशोभै: प्रत्युष: प्रोषितश्री: ।
उपहसित इवासौ चन्द्रमा: कामिनीनां परिणतशरकाण्डापाण्डुभिर्गण्डभागै: ।।

—शिशु० ११।३०

संग्रह में :—

"यस्योपयोगेन शर्कांगनानां लावण्यसारादिविनिर्मितानाम् ।
कपोलकान्त्या विजित: शशांको रसातलं गच्छति निर्विदेव ।।

—सं० उ० ४९।१३६

३—"निषेव्य मधु माधवा: सरसमत्र कादम्बरं
हरन्ति रतये रह: प्रियतमांगकादम्बरम् ।। शिशु० ४।६६

"कान्ताजनेन रहसि प्रसभं गृहीतकेशे रते स्मरसहासवतोषितेन ।
प्रेम्णा मन:सु रजनीष्वपि हैमनीषु के शेरते स्म रसहासवतोषितेन ।।

—शिशु० ६।७७

"रहसि दयितामंके कृत्वा भुजान्तरपीडनात्
पुलकिततनुं जातस्वेदां सकम्पपयोधराम् ।
यदि सरभसं शीधोर्वारं न पाययते कृती
किमनुभवति क्लेशप्रायं तदा गृहतन्त्रताम् ।।

—सं० चि० ९।४८

४—जज्ञे जनैर्मुकुलिताक्षमनाददाने संरब्धहस्तिपकनिष्ठुरचोदनाभि: ।
गम्भीरवेदिनि पुर:कवलं करीन्द्रे मन्दोऽपि नाम न महानवगृह्य साध्य: ।।

—शिशु० ५।४९

न हि भद्रोऽपि गजपतिर्निरंकुशः श्लाघनीयो जनस्य ॥

—सं० सू० ८।५

माघ की शैली प्रौढ आलंकारिक है। वाग्भट की शैली में भी कुछ अलंकार हैं किन्तु वह अपेक्षाकृत प्रारंभिक है अतः वह माघ का पूर्ववर्ती प्रतीत होता है। आयुर्वेदीय विषय भी माघ ने संभवतः कुछ वाग्भट से लिये हैं। ऐसा लगता है कि तब तक अष्टांगहृदय की भी रचना हो चुकी थी।



चतुर्थ खण्ड
ऐतिहासिक अध्ययन

अनेक वाग्भट

इतिहासकारों ने वाग्भट-नामधारी अनेक आचार्यों के अस्तित्व की सूचना दी है। श्री हरि शास्त्री पराड़कर[1] तथा पं० नन्दकिशोर शर्मा ने अष्टांगसंग्रह एवं अष्टांगहृदय के रचयिता वाग्भटों के अतिरिक्त निम्नांकित आठ वाग्भटों की सूची उपस्थित की है:—

१—मालवेन्द्र के अमात्य, देवेश्वर के पिता तथा कविकल्पलता के कर्ता।

२—नेमिकुमार के पुत्र, जैन, छन्दोनुशासन, काव्यानुशासन आदि के कर्ता।

३—रसरत्नसमुच्चय के कर्ता।

४—वाग्भट-कोश के कर्ता।[2]

५—सोम के पुत्र, जैन, जयसिंह के अमात्य, वाग्भटालंकार-श्रृंगारतिलक आदि के रचयिता।

६—लघुजातक-कर्ता।

७—नेमिनिर्वाणकाव्य के रचयिता।

८—प्राकृतपिंगलसूत्र-कर्ता।

आफ्रेक्ट के कॅटलोगस कॅटलोगारम[3] से निम्नांकित वाग्भटों का पता चलता है :—

१—वाहटनिघण्टु के रचयिता।

२—वाग्भटस्मृतिसंग्रह के कर्ता।

३—वाग्भट के पौत्र तथा सिंहगुप्त के पुत्र आर अष्टांगहृदय, वमनकल्प, वाग्भटीय के रचयिता।

४—तीसट (चिकित्साकलिका-कर्ता) के पिता।

५—मालवेन्द्र के अमात्य, देवेश्वर के पिता (कविकल्पलता-कर्ता)

६—नेमिकुमार पुत्र, जैन, अलंकारतिलक, छन्दोनुशासन (सटीक), वाग्भटालंकार और श्रृंगारतिलक काव्य के रचयिता।

७—पदार्थचन्द्रिका, भावप्रकाश, रत्नसमुच्चय तथा शास्त्रदर्पण[4] के कर्ता।

---

१. हरिशास्त्री पराड़कर : वाग्भटविमर्श (प्रस्तावना, अष्टांगहृदय, निर्णयसागर, १९३९)

२. अष्टांगसंग्रह, प्रस्ताविक पृ० ८ (अत्रिदेव-टीका)

३. Part I, Page 559, Part II, Page 132.

४. They may not be by the same author—Ibid.

८—वाग्भटकोश के कर्ता (मेदिनीकोश में उद्धृत)[1]

९—वृद्ध वाग्भट (टोडरानन्द और भावप्रकाश में उद्धृत)

१०—वाग्भटालंकार के रचयिता।

इनके अतिरिक्त, एक अन्य वाग्भट जयसिंह सिद्धराज (११०० ई) के समकालीन बतलाये जाते हैं।[2]

दो जैन वाग्भटों में वाग्भटालंकार का रचयिता वाग्भट प्रथम तथा काव्यानुशासन का रचयिता वाग्भट द्वितीय माना जाता है क्योंकि काव्यानुशासनकर्ता ने अपने ग्रंथ में वाग्भट का उल्लेख किया है जो वाग्भटालंकार का रचयिता प्रतीत होता है। वाग्भट प्रथम का प्राकृत नाम 'वाहड' था। वह अणहिल्लपट्टन का निवासी तथा चालुक्यराज श्री जयसिंहदेव का समकालीन था। प्रो० बूहलर के अनुसार श्री जयसिंहदेव का राज्यकाल १०९३–११४३ ई० है। अतः वाग्भट प्रथम का काल भी यही सिद्ध होता है।[3] दासगुप्त और डे ने इसका काल १२वीं शती का पूर्वार्ध माना है।[4] विण्टरनिज ने भी प्रायः इसीका समर्थन किया है।[5] श्री बलदेव उपाध्याय इसका काल १५वीं शती का पूर्वार्ध मानते हैं।[6]

काव्यानुशासन का रचयिता वाग्भट द्वितीय नेमिकुमार का पुत्र है जैसा कि उसने स्वयं अपनी टीका में लिखा है :—[1]

"श्री नेमिकुमारस्य नन्दनः विनिर्मितानेकनव्यकाव्यनाटकछन्दोलंकारमहाकाव्यप्रमुखमहाप्रबन्धबन्धुरः—महाकविः श्रीवाग्भटोऽभीष्टदेवतानमस्कारपूर्वकं उपक्रमते।

—काव्यानुशासन पृ० १–२

---

१. वाग्भट का उल्लेख हेमचन्द्र ने अभिधानचिन्तामणि की स्वोपज्ञ वृत्ति टीका में किया है (देखें स्वोपज्ञवृत्ति-भावनगरसंस्करण, पृ० १६७), इससे स्पष्ट है कि कोशकर्ता वाग्भट १२वीं शती के पूर्व हुआ। इसके अतिरिक्त देखें दुर्गसिंहकृत लिंगानुशासन (परिशिष्ट टिप्पणी, पृ० ४५)—'अजमोदा ब्रह्मकुशः। पुंसि वाग्भटः स्त्रियाममरः।'

२. P. K. Gode : Introduction, Astangahrdaya, Page 1.

३. सत्यव्रत सिंह : वाग्भटालंकार, भूमिका, पृ० १–५ (चौखम्बा)

४. Das Gupta & De: A history of sanskrit literature, classical period, Vol. I, 559

५. Winternitz, A History of Indian Literature, Vol. III, I, 22

६. बलदेव उपाध्याय : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ६१९

इसका काल १५वीं शती मानते हैं।[1] इसने ऋषभदेवचरित नामक काव्य तथा छन्दोनुशासन नामक छन्दोग्रन्थ भी लिखा है।

'नेमिनिर्वाणम्' काव्य का रचयिता भी जैन था। कुछ लोग वाग्भटालंकार के रचयिता वाग्भट प्रथम को[2] तथा कुछ लोग काव्यानुशासन के रचयिता वाग्भट द्वितीय[3] को इसका कर्ता मानते हैं। कुछ लोग इसके रचयिता को दोनों से भिन्न और प्राचीन मानते हैं।[4] बलदेव उपाध्याय इसे ११४० ई० में रखते हैं।[5] स्पष्टतः यह काल वाग्भटालंकार-कर्ता वाग्भट प्रथम का है किन्तु वह उसका काल १५वीं शती का पूर्वार्ध मानते हैं अतः यह स्पष्ट नहीं होता कि इस संबंध में उनका क्या विचार है। भर्तृहरिकृत महाभाष्यदीपिका में एक वैयाकरण वाग्भट का निर्देश मिलता है।[6] इसी प्रकार प्रबन्धकोश में एक स्थपति वाग्भट का उल्लेख है।[7]

श्रीगुरुपद हालदार ने निम्नांकित वाग्भटों का उल्लेख किया है:[8]—

१—प्रथम वाग्भट (२री शती)—सिंहगुप्त के पिता (स्मृतिनिबन्ध, वैद्यकनिघण्टु के कर्त्ता एवं वैयाकरण)

२—द्वितीय वाग्भट (२री—३री शती)—सिंहगुप्त के पुत्र—वृद्धवाग्भट (अष्टांगसंग्रह) मध्यवाग्भट, (मध्यसंहिता या संग्रहसंहिता), लघुवाग्भट (अष्टांगहृदयसंहिता) तथा रसवाग्भट (रसरत्नसमुच्चय) के प्रणेता।

---

१ Das Gupta and De : A History of sanskrit literature. Vol. I, Page 563,

२. Ibid: page 559.

३. winternitza : A History of sanskrit literature, Vol. III, I, 25.

४. "वाग्भटालंकारकर्तृवाग्भटतोऽस्य प्राचीनत्वमैक्यं वा कल्पनीयम्।
—शिवदत्त एवं काशीनाथ पाण्डुरंग परब,
(नेमिनिर्वाणम्, पृ० १ टि०)

५. बलदेव उपाध्याय : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० २७९।

६. हन्तेः कर्मण्युपष्टम्भात् प्राप्तमर्थे तु सप्तमी।
चतुर्थी बाधिकामाहुश्चूर्णभागुरिवाग्भटाः॥ (जगदीशतर्कालंकारकृत शब्दशक्तिप्रकाशिका में उद्धृत)

७. 'संघे उदयनसुतो वाग्भटश्चतुर्विंशतिमहाप्रासादकारापकः।'
—प्रबन्धकोश, हेमसूरिप्रबन्ध पृ० ४८

८. गुरुपद हालदार : वृद्धत्रयी, पृ० २६२

३—तृतीय वाग्भट(१२वीं शती)–गुर्जराधिपति जयसिंह का मंत्री, नेमिनिर्वाण, वाग्भटालंकार का प्रणेता।

४—चतुर्थ वाग्भट (१३–१४वीं शती)—काव्यानुशासन, हृदयटिप्पण आदि के कर्ता। इनके अतिरिक्त, एक अन्य वाग्भट का निर्देश उन्होंने किया है जो शास्त्रदर्पण-निघण्टु, वाग्भटव्याकरण, वैद्यकसंहिता आदि के रचयिता हैं। इनका काल वह १२वीं शती मानते हैं।

वृद्ध वाग्भट और वाग्भट

अष्टांगसंग्रहकार वाग्भट और अष्टांगहृदयकार वाग्भट के व्यक्तित्व के संबंध में विद्वानों में दो मत हैं। हार्नले, कीथ, ज्योतिषचन्द्र सरस्वती, हरिप्रपन्न जी, डा० गोडे आदि विद्वान् दोनों वाग्भटों को भिन्न मानते हैं और उन्हें क्रमशः वृद्ध वाग्भट और लघु वाग्भट या वाग्भट प्रथम और वाग्भट द्वितीय के नाम से कहते हैं। इसके विपरीत, कविराज गणनाथ सेन, स्वामी लक्ष्मीराम, हरिशास्त्री पराडकर, पं० हरिदत्त शास्त्री, यादवजी त्रिकमजी आचाय, टी० रुद्रपारशव, नन्दकिशोर शर्मा, संपादकमंडल चरकसंहिता (जामनगर) आदि विद्वान दोनों को एक ही मानते हैं। एकत्वसमथक आचार्य अपने पक्ष में निम्नांकित युक्तियां देते हैं:—

१—**भाषासादृश्य**—दोनों ग्रन्थों की भाषा और शैली में पर्याप्त समानता है।

२—**पितृनामसादृश्य**—दोनों ग्रन्थों की भाषा के रचयिता सिंहगुप्त के आत्मज हैं।

३—**विषयवस्तुसादृश्य**—वर्णित विषयवस्तु में समानता है, कहीं भी मतभेद दृष्टिगोचर नहीं होता।

४—**हृदयकार की स्वीकारोक्ति**—अष्टांगहृदय के अन्त में लेखक ने यह स्वीकार किया है कि यह ग्रन्थ संग्रह का ही संक्षिप्त संस्करण है।

५—**संग्रह के श्लोकों का अविकल उद्धरण**—अष्टांगहृदय में अष्टांगसंग्रह के अनेक श्लोक अविकल रूप में उद्धृत मिलते हैं।

६—**टीकाकारों की सहमति**—अष्टांगहृदय के टीकाकार अरुणदत्त[1] तथा भट्ट नरहरि[2] और अष्टांगसंग्रह के टीकाकार इन्दु[3] ने दोनों को एक ही माना है।

---

१. तथा ह्ययमेव तन्त्रकारः संग्रहे मधुनो भेदानाख्यत्। हृ० सू० ५।५१ (अ०द०)
अत एवायमेव तन्त्रकारोऽन्यथा संग्रहे जगाद। हृ० शा० १।८ (अ०द०)

२. एतदुक्तमनेनैव संग्रहे स्वयमेव—वाग्भटखण्डनमण्डन–टीका

३. तथा चाचार्येणैव युक्त्या संपन्ने हृदये कथितम्। सं० चि० ५।१६-१८ (इन्दु)
तथा चाचार्य एव हृदये केवलं महत्याः प्रतिषेधं करोति। सं० शा० ३।३४ (इन्दु)

लगभग यही युक्तियां इसके विपक्ष में दी जाती हैं :—

१—भाषा और शैली—समान होने पर भी दोनों में पर्याप्त अन्तर है। अष्टांग संग्रह गद्यपद्यात्मक (चम्पू) शैली में है किन्तु अष्टांगहृदय पूर्णतः पद्य में है। भाषा भी अष्टांगहृदय की प्रौढियुक्त है अतः यह रचना परवर्त्ती प्रतीत होती है। कवित्व की दृष्टि से भी अष्टांगहृदय अधिक छन्दोवैविध्यमय तथा आलंकारिक है।

२—पिता और पितामह तथा जन्मस्थान के संबंध में जैसा परिचय ग्रन्थकार ने अष्टांगसंग्रह के अन्त में दिया है वह अष्टांगहृदय में नहीं मिलता। वर्तमान संस्करणों में स्थानों के अन्त में कहीं कहीं "इति श्रीसिंहगुप्तसूनु-वाग्भटविरचितायां अष्टांग-हृदयसंहितायां तृतीयं निदानस्थानं समाप्तम्" ऐसी पुष्पिका मिलती है। संभवतः लिपि-कर्ताओं के द्वारा बाद में ऐसा जोड़ा गया है जब दोनों वाग्भटों में ऐक्य की विचार-धारा चली हो।

३—विषयवस्तु—अष्टांगसंग्रह की अपेक्षा अष्टांगहृदय की विषयवस्तु में बहुत अन्तर है।[1]

४—उद्धरणों से इतना ही पता चलता है कि अष्टांगहृदय अष्टांगसंग्रह का एक संक्षिप्त संस्करण है जो अध्येताओं के ज्ञान में सहायक होने के उद्देश्य से प्रस्तुत किया गया है। ऐसा संकेत नहीं मिलता कि संग्रह के लेखक ने ही हृदय की रचना की। संभवतः संग्रह के लोकप्रिय होने के कारण उसका संक्षिप्त छन्दोबद्ध संस्करण परवर्ती वाग्भट के द्वारा किया गया हो। इससे केवल संग्रह की लोकप्रियता का ही संकेत मिलता है।

५—संग्रह के श्लोकों का अविकल उद्धरण मिलना स्वाभाविक है जब कि ग्रन्थकार का उद्देश्य कोई मौलिक रचना करना नहीं बल्कि उसीका एक संक्षिप्त संस्करण प्रस्तुत करना हो।

६—टीकाकारों की सम्मति का कोई महत्व नहीं है क्योंकि तब तक दोनों वाग्भटों का व्यक्तित्व एकीकृत हो चुका था और इस भ्रम के निराकरण का कोई प्रयत्न नहीं हुआ।

इसके अतिरिक्त निम्नांकित युक्तियाँ भी दोनों वाग्भटों की भिन्नता की समर्थक हैं :—

७—संग्रहकार वाग्भट बौद्ध गुरु के शिष्य होने के कारण उस धर्म से पर्याप्त प्रभावित थे जबकि हृदयकार पर ऐसा प्रभाव लक्षित नहीं होता। दो-तीन स्थलों

---

१. देखें—प्रथमखण्ड (शास्त्रीय अध्ययन)

पर जो संकेत मिलते हैं वह संग्रह के अनुकरण के कारण ही प्रतीत होते हैं। संग्रह और हृदयकार के धार्मिक दृष्टिकोण में अन्तर निम्नांकित श्लोक से स्पष्ट होता है जिसमें संग्रहकार ने "जिनजिनसुत" का स्मरण किया है और हृदयकार ने "शिव-शिवसुत" का।

"जिनजिनसुततारांभास्करराराधनानि
प्रकटितमलपापं कुष्ठमुन्मूलयन्ति ।।– सं चि० २१।८२

संभव है, हृदयकार उस देश और काल में हुये हों जहां शैव धर्म का बोलबाला हो। सम्भवतः इसीलिए अष्टांगसंग्रह बौद्धधर्म के ह्रास के कारण जहां कुछ प्रचार में सीमित हो गया वहां हृदय की लोकप्रियता में कोई कमी नहीं आई विशेषतः दक्षिण में शैवधर्मावलम्बियों का आश्रय पाकर वह खूब फूला-फला और अद्यावधि सम्मान का भाजन बना हुआ है। पद्यबद्ध, संक्षिप्त फलतः सुखस्मरणीय रूप भी उसकी लोकप्रियता में सहायक बना।। फलतः विदेशों में भी यही लोकप्रिय हुआ और तिब्बती, अरबी आदि भाषाओं में इसके अनुवाद हुए। इसके बाद संग्रह पृष्ठभूमि में चला गया। ज्योतिष के क्षेत्र में भी ऐसा ही हुआ। ब्रह्मगुप्त की रचनाओं के आने पर वराहमिहिर के ग्रन्थ पीछे चले गये और वराहमिहिर के ग्रन्थों के भी लघु संस्करण चलने लगे। अलबरूनी जब भारत आया था तो ब्रह्मगुप्त के ग्रन्थ ब्रह्मसिद्धान्त और खण्डखाद्य बहुत लोकप्रिय थे। इनका उसने स्वयं अरबी में "सिन्दहिन्द" और 'अरकन्द' नामसे अनुवाद किया। इसी प्रकार वराहमिहिर के लघुजातक का भी अनुवाद उसने किया।[1]

८—संग्रह की अपेक्षा हृदय में आगम के प्रति श्रद्धा एवं आर्ष अधिकृति के प्रति चुनौती तथा सुभाषित के प्रति आग्रह का स्वर अधिक मुखर एवं तीव्र है।[2]

९—ऐसा स्वाभाविक नहीं प्रतीत होता कि एक ही व्यक्ति एक ही विषय को दो भिन्न भिन्न ग्रन्थों में प्रतिपादित करे जिसकी भाषा, शैली और विषयवस्तु में पर्याप्त सादृश्य हो।[3]

---

१. Sachau : Alberuni's India, preface, XXX-XXXII.

२. "अभिनिवेशवशादभियुज्यते सुभणितेऽपि न यो दृढमूढकः।
पठतु यत्नपरः पुरुषायुषं स खलु वैद्यकमाद्यमनिर्विदः ।।–हृ० उ० ४०।८५
'ऋषिप्रणीते प्रीतिश्चेन् मुक्त्वा चरकसुश्रुतौ।
भेडाद्याः किं न पठ्यन्ते तस्माद्ग्राह्यं सुभाषितम् ।। हृ० उ० ४४।८८

३. Though the names of the authors of both these works are the same, the persons are different because no one person will waste his energies in writing two extensive works on the same subject (science). —Rasayogasagar, Introduction, page 84.

श्री दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य[1] ने अष्टांगसंग्रह (वृद्ध वाग्भट), अष्टांगहृदय (स्वल्प वाग्भट) तथा रसरत्नसमुच्चय (रस वाग्भट) इन तीनों ग्रन्थों के रचयिता वाग्भट को एक ही माना है। इनके अतिरिक्त; उन्होंने वाग्भट की एक और रचना "मध्य वाग्भट" की भी उद्भावना की है जिसका मुख्य आधार उन्होंने बनाया है श्री निश्चलकरकृत रत्नप्रभा (१११०–११२०A.D.) को जिसमें मध्य वाग्भट के अनेक उद्धरण हैं। ये उद्धरण अधिकांश संग्रह या हृदय से मिलते जुलते हैं। मध्यवाग्भट या मध्यसंहिता के नाम से इसका निर्देश है और इसके रचयिता वाग्भट मुनि या वाग्भट गुप्त कहे गये हैं। अनेक स्थलों पर मध्यवाग्भट का उल्लेख वृद्ध वाग्भट या स्वल्प वाग्भट के साथ भी हुआ है अतः उनका मत है कि यह वाग्भट की कोई स्वतन्त्र रचना रही होगी जो हृदय की रचना के बाद अनुपयोगी हो जाने के कारण लुप्त हो गई हो। डा० हार्नले तथा अन्य विद्वान जो इन वाग्भटों को पृथक् मानते हैं उनके मत का इन्होंने खण्डन किया है और आश्चर्य व्यक्त किया है कि किसने यह वाद प्रचलित किया कि सभी रचनाओं के कर्ता वाग्भट पृथक् हैं। अपने पक्ष में यह निम्नांकित युक्तियां देते हैं :—

१—निश्चल कर ने वृद्ध, मध्य और स्वल्प वाग्भटों के अस्तित्व को अनेक युक्तियों से प्रमाणित किया है किन्तु ऐसा कहीं संकेत नहीं मिलता कि वह इन रचनाओं को भिन्न भिन्न वाग्भटों के द्वारा रचित मानते हों। इसके विपरीत, वह एक ही वाग्भट को मानते थे इसके स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं यथा इन सभी ग्रन्थों के उद्धरणों के प्रसंग में उन्होंने "वाग्भटस्य" यही प्रयोग किया है।

२—चक्रपाणि ने "वाग्भट" शब्द से संग्रह और हृदय दोनों के (संभवतः लुप्त मध्यवाग्भट के भी) के भी रचयिता का ग्रहण किया है।

३—इन्दु ने अपनी "शशिलेखा" टीका में दोनों को एक माना है यह अनेक प्रकरणों से प्रतीत होता है।[2]

४—हृदय की प्राचीनतम टीका पदार्थचन्द्रिका के रचयिता चन्द्रनन्दन (मध्य ११ शती) ने दोनों वाग्भटों को एक माना है।[3]

---

१. Date and works of Vagbhata the Physician—Dineshchandra Bhattacharya, A, B. O. R. I. Vol. XXVIII. 112-127.

२. "वृद्धमूलकस्य त्रिदोषकर्तु:......न जाने"–इन्दु सं० सू० १७, "तथाच श्रीवाहटग्रन्थ एव"

तथा च आचार्य एव हृदये केवलं महत्याः प्रतिषेधं करोति। शास्त्रकृतश्चैतदेवाभिमतम्। येन हृदये पठति–तदेव व्यक्ततां यातं रूपमित्यभिधीयते।

'तथा चाचार्येणैव युक्त्या सम्पन्ने हृदये कथितम्।

३. तथा च संग्रहे प्रोक्तमाचार्येण—पृ० १०२

५—अरुणदत्त (११२५-११५०) ने भी दोनों को एक माना है।[1]

इस प्रकार पांच मूर्धन्य विद्वानों द्वारा इस पक्ष का समर्थन होता है यद्यपि हेमाद्रि ने इस प्रश्न को खुला ही छोड़ रक्खा है।

६—आभ्यन्तर साक्ष्य भी इसके विरुद्ध नहीं जाता यद्यपि इसका अधिकांश उपयोग इसके विरुद्ध ही किया गया है।

(क) एक आपत्ति यह दी जाती है कि हृदय में वाग्भट ने अपने पिता का कोई निर्देश नहीं किया केवल पुष्पिका में मिलता है जो संभवतः बाद में जोड़ दिया गया हो। अष्टांगसंग्रह में ग्रन्थ में ही पैतृक परंपरा का उल्लेख किया गया है। इस संबंध में निश्चल कर का निम्नांकित उद्धरण ध्यान देने योग्य है जिससे इस आपत्ति का निराकरण हो जाता है।

"यदुक्तं सिंहगुप्तपुत्रेण राजर्षिणा वाग्भटेन स्वसंहितायां लक्षणं शीतादीनां-कषाय-योनयः पंच-फाण्टस्तस्माद्विकल्पना इति।"

यह स्पष्टतः हृदयकार वाग्भट का ही संकेत है जो सिंहगुप्त के पुत्र के रूप में निर्दिष्ट किये गये हैं।

(ख) दोनों रचनाओं में विषय की दृष्टि से जहां तहां जो विरोध आ जाता है उसके विषय में उनका कथन है कि आयुर्वेद जैसे समुद्रवत् गंभीर और विशाल शास्त्र की सार और सारतरभूत रचनाओं में विषय-संकलन के दृष्टिभेद से कुछ वैषम्य हो जाना स्वाभाविक है।

वैषम्य की अपेक्षा दोनों रचनाओं में साम्य ही अधिक है। कई श्लोक तो एक ही छन्द और वस्तु में दोनों में समान मिलते हैं।

इसके अतिरिक्त, ऐसे भी उदाहरण हैं जहां एक ही लेखक ने एक ही रचना के बृहत् और लघु संस्करण स्वयं किये हों यथा नागोजी भट्ट ने शब्देन्दुशेखर बृहत् और लघु तथा मञ्जूषा बृहत्, लघु और परमलघुमंजूषा बनाई। इन रचनाओं में भी संभवतः कुछ अन्तर्विरोध मिले।

यदि दोनों वाग्भटों को पृथक् मानें तो दोनों के बीच में काल का पर्याप्त व्यवधान मानना होगा जो वर्तमान साक्ष्यों की स्थिति में संभव नहीं है।

---

१. "तथा चास्यैव संग्रहे—हृ० सू० १।१; संग्रहे तु स्पष्टार्थं कृतमेव—हृ० सू० ५।४१, तथा ह्ययमेव तंत्रकारः संग्रह मधुनो भेदानाख्यन्। हृ० सू० ५।५२, "अत एवायमेव तन्त्रकारोऽन्यथा संग्रहे जगाद"—हृ० शा० १।८, "अत एव संग्रहे यदुक्तम्'''''तदेतेनैवोक्तप्रायत्वान्नेहोक्तम्।—हृ० सू० ५।२४, तथा च संग्रहेऽधिकमप्युक्तम्—हृ० सू० ५।६१

७—यह रसरत्नसमुच्चय को भी इसी वाग्भट की रचना मानते हैं। इसके प्रमाण में तीसट के पुत्र चन्द्रट द्वारा योगरत्नसमुच्चय में उद्धृत विजय-भैरव तैल[1] का पाठ रखते है जो रसरत्नसमुच्चय से किंचित् पाठभेद के साथ लिया गया प्रतीत होता है।

श्री भट्टाचार्य की उपर्युक्त युक्तियाँ चिन्तनीय हैं। निश्चल कर ने जिस मध्य वाग्भट की उद्भावना की है उसका निर्देश न तो किसी अन्य ग्रन्थ में और न टीका में ही मिलता है अतः उसका मूल्य संदिग्ध है। संभवतः किसी अन्य व्यक्ति ने या वाग्भटनामधारी आचार्य ने वृद्ध वाग्भट और लघु वाग्भट के बीच में एक सेतु के रूप में मध्यवाग्भट की कल्पना और रचना की हो। ऐसे अनेक प्रमाण मिलते हैं कि एक ग्रन्थ के तीन (बृहद्, मध्य और लघु) संस्करण तीन विभिन्न व्यक्तियों द्वारा तीन विभिन्न कालों में हुआ। उदाहरण के लिए, भट्टोजिदीक्षित ने सिद्धान्तकौमुदी बनाई उसके बाद मध्य और लघु सिद्धान्तकौमुदी विभिन्न व्यक्तियों द्वारा बनी। अतः यह बिलकुल स्वाभाविक है कि तीनों वाग्भटों की रचना तीन विभिन्न वाग्भटों के द्वारा भिन्न भिन्न कालों में हुई।

१०वीं शती तक अनेक वाग्भटनामधारी आचार्य अनेक क्षेत्रों में यद्यपि हो चुके थे तथापि आयुर्वेद के क्षेत्र में इनकी संख्या सीमित थी अतः तुल्यनामा व्यक्तियों का कालान्तर में एकीकरण नितान्त स्वाभाविक है और फलतः संग्रह, हृदय और बाद में रसरत्नसमुच्चयकार वाग्भट भी एक माने जाने लगे।

आश्चर्य का विषय है कि चक्रपाणि ने वाग्भट के नाम से जितने उद्धरण दिये हैं वे सभी हृदय के हैं, संग्रह का एक भी नहीं है। संभवतः वह भी दोनों को एक मानते हों और हृदय की रचना के आगे संग्रह का उद्धरण देने की आवश्यकता न समझी हो।

इन्दु ने यद्यपि एकत्वसमर्थक अनेक प्रसंग उपस्थित किये हैं तथापि—

"वृद्धमूलकस्यत्रिदोषकर्तुः—तत् स्वयं हृदयपठितस्यैव वृद्धमूलकस्य कटुविपाकित्वं स्मृतं किं वान्यत् किंचिदिति न जाने।"

इस उद्धरण से एक संदेह उत्पन्न हो जाता है। इस उद्धरण से स्पष्ट होता है कि संग्रहकार ने हृदयपठित विषय का स्मरण कर वहां तदनुसार प्रतिपादन किया अतः इससे यह भी स्पष्ट हुआ कि वाग्भट ने संग्रह के पूर्व हृदय की रचना की जो यथार्थ के विपरीत प्रतीत होता है। सामान्यतः बृहद ग्रन्थ पहले बनता है, बाद में सुविधा के लिए उसके संक्षिप्त संस्करण निकलते हैं। पौर्वापर्यविपर्यय से ऐसा प्रतीत होता है कि

---

१. "रोगशान्त्यै सदा पेयं तैलं विजयभैरवम्" इति रसवाग्भटात्।"

इन्दु इनके व्यक्तित्वों तथा उनकी रचनाओं के संबंध में यथार्थ जानकारी नहीं रखता था अतः इस संबंध में उसकी प्रामाणिकता नहीं मानी जा सकती।

चन्द्रनन्दन और अरुणदत्त भी इसी भ्रान्ति के शिकार रहे और पूर्वप्रचलित परंपरा के अनुसार उन्होंने भी दोनों वाग्भटों में भेद करने पर विचार ही नहीं किया। सर्वप्रथम हेमाद्रि के ध्यान में यह बात आई और तब इस प्रश्न का ऊहापोह प्रारम्भ हुआ।

जहां तक अन्तःसाक्ष्य का प्रश्न है, २–३ शताब्दियों के बाद जब दोनों व्यक्तित्व एकाकार हो गये तब पैतृक परंपरा का भी समान आरोपित हो जाना स्वाभाविक है। अतः ११वीं शती के निश्चल कर का प्रमाण इस संबंध में प्रामाणिक नहीं माना जा सकता।

विषयवस्तु की दृष्टि से भी दोनों में पर्याप्त भेद है। दोनों के बीच काल का दीर्घ व्यवधान तो स्वभावतः है ही।

जहां तक चन्द्रट द्वारा उद्धृत रसरत्नसमुच्चय के पाठ का प्रश्न है, यह प्रामाणिक नहीं मालूम होता। रसरत्नसमुच्चय का काल १३ वीं शती बतलाया गया है जब कि चन्द्रट ११ वीं शती के हैं।

महामहोपाध्याय कविराज गणनाथ सेन प्रत्यक्षशारीर के उपोद्घात में लिखते हैं :—

"यत्तु अष्टांगसंग्रहकारो वाग्भटः अष्टांगहृदयकाराद् वाग्भटाद् भिन्न इति कस्यचित् पाश्चात्यविदुषो मतं, तत् सर्वथा निर्मूलमतिविस्मयकरं च नः। ग्रन्थद्वयस्य सर्वत्रैव भाषासादृश्यात्, ग्रन्थकर्त्रोः पितृनामसादृश्यात्, क्वचिदपि मतभेदस्यादर्शनाच्च। वाग्भटेन हि महान्तं ग्रन्थं अष्टांगसंग्रहाख्यं विरचय्य संक्षेपो हृदयमिव हृदयमेतत् निरमायीति स्वयमेवाभिहितं तेन सुस्पष्टया गिरा ग्रन्थसमाप्तौ।

किन्तु संग्रह और हृदय की भाषा और शैली में पर्याप्त अन्तर है, इनके पितृनाम भी एक नहीं हैं तथा दोनों की विषय-वस्तु में भी बहुत भेद है अतः जिन युक्तियों पर यह मत आधारित है वह समीचीन नहीं हैं।

आचार्य यादवजी त्रिकम जी ने लिखा है :—

"अस्मन्मते तु अष्टांगसंग्रहकर्ता अष्टांगहृदयकर्ता च वाग्भट एक एव। स च पूर्वं नानातंत्रेभ्यो वचनानि संगृह्य अष्टांगसंग्रहं निर्ममे। तदनन्तरं तत एव सारमादाया-ष्टांगहृदयं चकार।"

उपर्युक्त मत का समर्थन करते हुए श्री हरिशास्त्री पराड़कर लिखते हैं :—

"एतदेव मतमस्मत्सम्मतम्। संग्रहकारो वाग्भट एव हृदयकार इत्यत्र नास्ति

नः स्तोकोऽपि सन्देहः। अष्टांगहृदये मूलग्रन्थे तथा चोपलब्धटीकाग्रन्थेष्वपि समुपलभ्यन्ते कानिचित् वचनानि, येषु सुविचार्यमाणेषु प्रेक्षावतामेतद्विषयकः संशयस्तिरोहितो भवेदिति मन्यामहे वयम्। अष्टांगहृदये वर्तेते इमौ श्लोकौ—

"विपुलामलविज्ञानमहामुनिमतानुगम्। महासागरगंभीरसंग्रहार्थोपलक्षणम्।
अष्टांगवैद्यकमहोदधिमन्थनेन योऽष्टांगसंग्रहमहामृतराशिराप्तः ॥
तस्मादनल्पफलमल्पसमुद्यमानां प्रीत्यर्थमेतदुदितं पृथगेव तन्त्रम् ॥
(अ० हृ० उ० ४०।७९-८०)

अत्र प्रथमतः अष्टांगवैद्यकमहोदधिमन्थनेनाष्टांगसंग्रहरूपोऽमृतराशिः प्राप्तः। सांप्रतं तु स्वल्पेनैव परिश्रमेण तत्फलमनल्पं जना लभेरन्निति बुद्धया तस्मादेवैतत् महासागरवद् गम्भीरस्य संग्रहार्थस्योपलक्षणभूतं पृथक् तन्त्रमष्टांगसंग्रहाख्यमुदितम्। इति हृदयसंग्रहयोरेककर्तृकत्वमनुमापयति। तथा च"—एतत् पठन् संग्रहबोधशक्तः स्वभ्यस्तकर्मा भिषगप्रकम्प्यः। (अ० हृ० उ० ४०।८३)

इत्यत्राष्टागंहृदयं सम्यक्तया पठन्नष्टांगसंग्रहावबोधसमर्थो भवतीत्यनेन एककर्तृकत्वमेवोभयोः सूचितं भवति।—उपोद्घात, अष्टांगहृदय, पृ० २

इसके अतिरिक्त, टीकाकारों के उद्धरणों से आपने इस पक्ष का समर्थन किया है।

हृदय के अन्त में संग्रह का जो निर्देश किया गया है उससे इतना ही पता चलता है कि संग्रह उस युग का एक अतीव लोकप्रिय ग्रन्थ था किन्तु सामान्य जनों के लिए एक और ऐसे ग्रन्थ की आवश्यकता आई जो संक्षेप में और सुबोध शैली में उन विषयों को उपस्थित करे और जिसकी सहायता से संग्रह के विषयों का बोध हो सके। उसी ग्रन्थकर्ता ने हृदय की भी रचना की ऐसा लक्षित नहीं होता। इससे संग्रह की लोकप्रियता और युग की प्रवृत्ति का ही पता चलता है। नाना तन्त्रों के अध्ययन में कठिनाई को देखते हुए अष्टांगसंग्रह की रचना हुई किन्तु आगे चल कर यह भी दुर्बोध और कठिन मालूम होने लगा तब उससे भी सारतर हृदय की रचना हुई। इन प्रवृत्तियों के विकास में अवश्य काल का पर्याप्त अन्तर अपेक्षित है अतः इससे इतना ज्ञात होता है कि हृदय संग्रह के बाद की रचना है और काल के पर्याप्त व्यवधान से एक ही लेखक की दोनों कृतियां हों ऐसा संभव नहीं प्रतीत होता।

कविराज ज्योतिषचन्द्र सरस्वती ने कविराज गणनाथ सेन की ऐक्यनिर्धारक युक्तियों का खंडन किया है और अविकल पाठोद्धार, भाषाशैली, पितृनाम, विषयवस्तु आदि की विभिन्नता के आधार पर दोनों वाग्भटों को पृथक माना है।

इन्होंने कहा है कि संग्रहकर्ता और हृदयकर्ता अभिन्न थे ऐसा कुछ विद्वानों का मत है वे इस पक्ष के समर्थन में निम्नांकित युक्तियां देते हैं[1]:-

१—दोनों ग्रन्थों का भाषा-सादृश्य

२—पितृनामसादृश्य

३—मतभेद का अभाव

४—एकत्व के संबन्ध में हृदयकार की स्पष्टोक्ति

५—हृदय द्वारा चरक-सुश्रुत के वचनों का परिवर्तित रूप में किन्तु संग्रह के वचनों का अविकल रूप में ग्रहण।

६—टीकाकारों द्वारा एकत्व का समर्थन।

१—ग्रन्थों के भाषासादृश्य के आधार पर ग्रन्थकारों की एकता नहीं हो सकती। चरक और वाचस्पतिमिश्र में भी भाषासादृश्य दृष्टिगोचर होता है। इसके अतिरिक्त, प्राचीन आयुर्वेद-ग्रंथकारों द्वारा इतर ग्रन्थ के वचनों के उद्धरण की प्रवृत्ति भी सर्वत्र मिलती है। सिद्धयोग के कर्ता वृन्द ने माधवकर की गदचिकित्सा के वचनों को आत्मसात् कर लिया है और उसके वचन भी चक्रपाणिदत्त ने ले लिये हैं किन्तु इस आधार पर उनकी एकता नहीं कही जाती है। चरक-सुश्रुत के श्लोक संग्रहकार तथा हृदयकार ने अविकल रूप में उद्धृत किये हैं। फिर भी संग्रह और हृदय दोनों ग्रन्थों के पर्यालोचन (विशेषत: ऋतुचर्याध्याय) से स्पष्ट होगा कि हृदयकार में अनेक छन्दों तथा अलंकारों के प्रयोग से अलंकृत प्रौढ कवित्व है जब कि विषयवस्तु की प्रौढि संग्रह में हृदय की अपेक्षा अधिक है।

२—संग्रह में ग्रन्थकार ने अपना परिचय स्पष्ट दिया है किन्तु ऐसा हृदय में नहीं मिलता। वर्तमान मुद्रित कुछ ग्रन्थों में अध्यायसमाप्तिवाक्य में ऐसा मिलने पर भी सर्वत्र ऐसा उपलब्ध नहीं होता। इससे अनुमान होता है कि संभवत: लेखक के नाम सादृश्य से पिता का नाम कल्पित कर लिया गया होगा।

३—दोनों ग्रन्थों में मतभेद भी अनेक स्थलों में दृष्टिगोचर होता है। यहां शारीर-संबन्धी कुछ मतभेदों का उल्लेख किया जा रहा है :-

---

१. पहले तीन हेतु गणनाथ सेनकृत प्रत्यक्षशारीर के उपोद्घात पृ० ५५ पर देखें। ४-५ हेतु यादवजी संपादित निर्णयसागर के चरक-उपोद्घात—पृ०१४ पर तथा ६ हेतु निर्णयसागर मुद्रित अष्टांगहृदय के वाग्भट-विमर्श (उपोद्घात) में देखें।

संग्रह	हृदय
(क) गर्भोत्पादन में पुरुष की आयु २५ वर्ष कही गई है। (शा० १)	इसमें २० वर्ष है (शा० १)
(ख) प्रसवोत्तर पंचकोलचूर्ण के साथ स्नेहमात्रापान का विधान चरकानुसार है। इसमें गुडोदक का अनुपान नहीं है। (शा० २)	गुडोदक का अनुपान विहित है। सुश्रुतोक्त दो योगों को मिलाकर एकत्र कहा गया है। (शा० २)
(ग) कोष्ठांगों में डिम्भ का उल्लेख नहीं है। चरक-सुश्रुत में भी नहीं मिलता।	डिम्भ का उल्लेख है।
(घ) सन्धिवर्णन में स्नायु, पेशी तथा सिराओं की सन्धि की संख्या दो सहस्र बतलाई गई है।	२२१० सन्धियाँ आत्रेय मत से होती हैं ऐसा कहा है किन्तु यह चरकसंहिता में उपलब्ध भी नहीं होता। इसके अतिरिक्त संग्रहकार ने स्नाय्वादि सन्धियों की संख्या बतलाई जब कि हृदयकार ने अस्थियों की।
(ङ) सुश्रुत के अनुसार चार प्रकार की रक्तवाहिनियाँ तथा चार प्रकार की सिरायें बतलाई गई हैं।	सात प्रकार की कही गई हैं।
(च) दोषधातुमलसन्निपातजनित अन्तरूष्मा का उल्लेख 'अन्ये' करके दिया गया है।	आत्रेयशासन का उल्लेख है
(छ) मर्म पंचविध कहा गया है। (शा० ७)	षड्विध मर्म कहा गया है।
(ज) शृंगाटक मर्म के वर्णन में सुश्रुतानुसार जिह्वा, घ्राण आदि की सिराओं का सन्निपात बतलाया है।	धमनी-मर्म कहा है अतः सिरा के बदले स्रोत शब्द दिया है (शा० ४)

(झ) मर्मों की संख्या निम्नांकित मानी गई है :—

मांसमर्म—११	मांसमर्म—१०
सिरामर्म—४१	सिरामर्म—२७
स्नावमर्म—२७	स्नावमर्म—२३
अस्थिमर्म—८	अस्थिमर्म—८
सन्धिमर्म—२०	सन्धिमर्म—२०
	धमनीमर्म—९
१०७	९७

(ञ) शुष्कमेयेष्विदं मानं द्विगुणं तद् द्रवार्द्रयोः (क० ८)

द्विगुणं योजयेद्रार्द्रं कुडवादि तथा द्रवम् (क० ६)

(ट) गुद को मांसमर्म कहा है।

इसे धमनीमर्म कहा तथा स्वयं मांसमर्म गुदोऽन्येषां स्नाव्नि कक्षाधरौ तथा। अपस्तम्भावपांगौ च धमनीस्थं न तैः स्मृतम् ॥ (शा० ४)
इस श्लोक के द्वारा संग्रहकार से अपना मतभेद तथा व्यक्तित्वभेद सूचित किया है।

४—ग्रन्थ के अन्त में हृदयकार ने जो अपने ग्रन्थ का प्रयोजन और महत्व बतलाया है उससे दोनों ग्रन्थों की एकता सिद्ध नहीं होती बल्कि इससे यही पता चलता है कि हृदय के बहुत पूर्व संग्रह बन चुका था तथा विद्वत्समाज में प्रतिष्ठित हो चुका था अतएव उसके लोकप्रिय संक्षिप्त संस्करण हृदय की आवश्यकता प्रतीत हुई। इससे दोनों ग्रन्थों के काल में भी पर्याप्त अन्तर होना स्वाभाविक है।

५—संग्रहकार ने बहुशः चरक-सुश्रुत के वचनों को अविकल रूप में लिया है और हृदयकार ने भी। जहां कहीं परिवर्तन किया है वहां मौलिकता संग्रहकार की ही है हृदयकार की नहीं। कहीं कहीं तो ऐसा भी है कि संग्रहकार ने परिवर्तित कर उद्धृत किया है जब कि हृदयकार ने अविकल रूप में प्राचीन वचनों को लिया है। उदाहरण के लिए तुलना करें।

एष आगमसिद्धत्वात् तथैव फलदर्शनात्।
मंत्रवत् संप्रयोक्तव्यो न मीमांस्यः कथंचन ॥ —(सु० चि० २)

एतदागमसिद्धत्वात् प्रत्यक्षफलदर्शनात् ।
प्रयोज्यं मन्त्रवत्तन्त्रं तन्त्रज्ञानविशारदैः ॥—(सं० उ० ५०)

इदमागमसिद्धत्वात् प्रत्यक्षफलदर्शनात् ।
मन्त्रवत् संप्रयोक्तव्यं न मीमांस्यं कथंचन ॥—(हृ० उ० ४०)

इससे हृदयकार का संग्रहकार की अपेक्षा पार्थक्य और स्वल्पशक्तिमत्व स्पष्ट हो जाता है।

६—सभी टीकाकार तन्त्रकार की अपेक्षा अर्वाचीन हैं अतः उनका मूलविरोधी वचन प्रमाण नहीं माना जा सकता। तथाकथित वाग्भटशिष्य इन्दु का वचन भी प्रामाणिक नहीं माना जा सकता क्योंकि उसकी वाग्भटशिष्यता ही सन्दिग्ध है क्योंकि इस सम्बन्ध में प्रचलित श्लोक किंवदन्तीमात्र है। अधिक से अधिक उसे हृदयकार का शिष्य मान सकते हैं। फिर अपनी रचना में कहीं उसने अपना परिचय या गुरु का नाम नहीं दिया है। यदि वह संग्रहकार का शिष्य होता तो संग्रहटीका के प्रारंभ में "सोऽयं वाहटनामा शास्त्रकारः" ऐसा आचार्यपदविहीन अनादरसूचक वाक्य नहीं लिखता किन्तु जहां जहां उसने हृदयकार का उल्लेख किया है वहां वहां 'आचार्य' पद दिया है। अतः उसकी संग्रहकार की समकालीनता सन्दिग्ध है। इसके अतिरिक्त अन्य टीकाकार शिवदास सेन, डल्हण आदि ने संग्रहकार को 'वृद्ध' विशेषण से अभिहित कर उनका पार्थक्य बतलाया है।

इसके अतिरिक्त, संग्रहकार और हृदयकार के पार्थक्य के समर्थन में निम्नांकित युक्तियां दी जा सकती हैं :—

१—हृदयकार का नाम वाग्भट था या नहीं इसमें सन्देह है क्योंकि हृदय में इसका कहीं उल्लेख नहीं है जब कि संग्रहकार ने अपना परिचय विस्तार से दिया है।

२—संग्रह के रसायनाध्याय में कुक्कुटी, कंचुकी, पलाण्डु आदि द्रव्यों के अनेक कल्प वतलाये गये हैं जब कि हृदय में इनका व्यवहार न होने के कारण परित्याग कर दिया गया है। ये योग तबतक दुर्लभ और युगाननुरूप हो गये थे जिस सम्बन्ध में स्वयं लेखक ने निर्देश किया है :—

उक्तानि शक्यानि फलान्वितानि युगानुरूपाणि रसायनानि ।
महानुशंसीन्यपि चापराणि प्राप्त्यादिकष्टानि न कीर्त्तितानि ॥
(हृ० उ० ९)

इससे प्रतीत होता है कि हृदयकार संग्रहकार की अपेक्षा बहुत अर्वाचीन हैं। संग्रहकार ने अनेक स्थलों में शकराजाओं का उल्लेख किया है। शकों के कारण

पलाण्डु का प्रयोग भी प्रचलित था किन्तु हृदय-काल में शकाधिपत्य नष्ट होने तथा धर्मशास्त्र की प्रतिष्ठा होने के कारण इसका प्रयोग निषिद्ध होने से हृदयकार ने इसे छोड़ दिया है।

३—संग्रहकार के अतिरिक्त हृदयकार ने जो लिखा है वह प्रायः आर्षविरुद्ध तथा युक्तिविरुद्ध है। उदाहरणार्थ, संग्रह में गर्भाधान—वय पुरुष के लिए २५ वर्ष लिखा है जब कि हृदयकार ने २० वर्ष दिया है। संभवतः उस समय ऐसा ही देशाचार था। इसी कारण, संग्रहकार ने ग्रंथ के प्रारम्भ में लिखा है–'न मात्रामात्रमप्यत्र किंचिदागम-वर्जितम्" जब कि हृदयकार ने 'तेभ्योऽति विप्रकीर्णेभ्यः प्रायः सारतरोच्चयः' में 'प्रायः' शब्द दिया है। मनु के समय पुरुष के लिए विवाह का वय ३० वर्ष, संग्रहकाल में २५ वर्ष तथा हृदय-काल में २० वर्ष यह स्पष्टतः काल का भेद बतलाया है तथा हृदयकार की अर्वाचीनता इससे सिद्ध होती है।

४—हृदयकार ने अनेक महत्वपूर्ण विषयों को छोड़ दिया है जिसके लिए अर्वाचीन टीकाकारों को संग्रह के आधार पर उनका सामंजस्य स्थापित करना पड़ा है। उदाहरण के लिए, हृदय में नाड़ीस्वेद का उपदेश किया गया किन्तु उसकी विधि नहीं बतलाई गई। इसी प्रकार शारीर-प्रकरण में अनेक विषयों का परित्याग किया गया है।[1]

पं० नन्दकिशोर शर्मा ने इन युक्तियों का खण्डन किया है।

अविकल पाठोद्धार के सम्बन्ध में इनका कथन है कि यद्यपि सूत्रप्रधान ग्रन्थों में विभिन्न ग्रन्थकार अविकल पाठोद्धार करते हैं क्योंकि सूत्रों को परिवर्तित नहीं कर सकते यथा सिद्धान्तकौमुदी, मध्यकौमुदी तथा लघुकौमुदी में विभिन्न ग्रन्थकारों द्वारा एक ही सूत्रों का उद्धरण और विवेचन हुआ है किन्तु आयुर्वेद जैसे व्यावहारिक शास्त्र के प्रतिपादन में व्यक्तित्त्व के अनुसार भेद स्वाभाविक है जैसा कि चरक ने लिखा है: "बुद्धेर्विशेषस्तत्रासीन्नोपदेशान्तरं मुनेः।" किन्तु दो आयुर्वेदीय ग्रंथों में भी जब अविकल पाठोद्धार दृष्टिगोचर होता है तब दोनों लेखकों का एकत्व ही सिद्ध होता है।

जहां तक शैली और भाषा का प्रश्न है, इनका कथन है कि संग्रहकार ने तत्कालीन विषयों का विभिन्न तन्त्रों से संग्रहमात्र किया अतः भाषा में प्रौढि नहीं मिलती जैसा कि किसी स्वतन्त्र निबन्ध में होना चाहिये किन्तु कालक्रम से उसी लेखक का अभ्यास बढ़ने पर तथा स्वतन्त्र रचना के कारण हृदय में प्रौढि तथा शैलीभेद होना स्वाभाविक है।

---

१. ज्योतिषचन्द्र सरस्वती–उपोद्घात, पृ० ४–१४, अष्टांगहृदय-तत्त्वबोध-व्याख्या

और जब एक ही लेखक की दोनों रचनायें हैं तब दूसरी रचना में पृथक् वंशवर्णन की क्या आवश्यकता है इस विचार से संभवतः हृदय में पितृनाम का ग्रन्थ में निर्देश नहीं किया गया।

विषयवस्तुगत मतभेदों के संबन्ध में आपका विचार है कि लेखक पहले आर्षवचनों के संग्रह की दृष्टि से लिखता है और बाद में युगानुसारी प्रत्यक्ष दर्शन के आधार पर दूसरी रचना करता है अतः एक ही लेख की कालक्रम से दो रचनाओं में कुछ विरोधाभास अस्वाभाविक नहीं है। अतः इस आधार पर एककर्तृकता खंडित नहीं होती। इस प्रकार उन्होंने कविराज ज्योतिषचन्द्र सरस्वती के मतों का खण्डन कर कविराज गणनाथ सेन के मत का मण्डन किया है :—

"मदीयमतेन तु गणनाथमहोदयानां मतमेव युक्तियुक्तम्, अन्यैरपि विद्वद्भिरिदमेवांगीकृतम्।[१]

अत्रिदेव गुप्त[२] ने भी इसी आधार पर दोनों को एक माना है। चरकसंहिता (जामनगर) के संपादक-मण्डल[३] ने भी यही माना है। श्री भगवतसिंह जी भी दोनों ग्रन्थों के कर्ता वाग्भट को एक ही मानते हैं।[४]

---

१. प्रास्ताविकम्-अष्टांगसंग्रह (हिन्दी टीका) निर्णयसागर, १९५१, पृ० ४५

२—प्राक्कथन— " " " पृ० ११

आयुर्वेद का बृहत् इतिहास—अत्रिदेव, पृ० २१५

३. Charaka Samhita (Jamnagar) Vol. I, Page 100

४. Bhagawat Singhjee—History of Aryan medical Science—Page 34-35

अष्टांगहृदयतन्त्रस्य कर्ता वाहटस्य पौत्रः सोगतधर्मावलंबी संघगुप्तस्य तनयोऽष्टांगसंग्रहकारो वाहट एव। हृद्याकारेण हृदयव्याख्यायामप्येवमुक्तम् "कर्ताऽस्य वाहटो नाम सिन्धुदेशसमुद्भवः। संघगुप्तस्य तनयो बुद्धभक्तो गृहाश्रमी"॥ इति। यत्तु अष्टांगहृदयकारो वाहटः संग्रहकारात् भिन्न इति केषांचिद्विदुषां मतं तत् सर्वथा प्रामादिकमेवेति मन्यामहे। इन्दुना विरचितायामष्टांगसंग्रहव्याख्यायां शशिलेखाख्यायां तथा तेनैव रचितायामष्टांगहृदयव्याख्यायां शशिलेखाख्यायां तथा बह्वीष्वन्यासूपलब्धासु हृदयव्याख्यासु संग्रहहृदययोरेककर्तृकत्वं स्पष्टीकृत्योक्तं दरीदृश्यते। ग्रन्थद्वयस्य भाषाशैलीसादृश्यात् प्रायेण मतभेदस्यादर्शनात् ग्रन्थकर्तुर्बुद्धभक्तत्वख्यापनाच्च संग्रहहृदययोर्भिन्नकर्तृत्वमतमेतदसमीचीनमतिविस्मयकरं च नः प्रतिभाति।—वयस्करनारायणशंकरमूसः स्वल्पप्रास्ताविकम्, पृ० ५, अष्टांगहृदय (शशिलेखा सहित), भाग १

दोनों वाग्भटों को भिन्न मानने वालों में डा० जुलियस जौली तथा डा० हार्नले प्रमुख हैं। डा० जौली[1] का कथन है कि दो प्रमुख रचनायें वाग्भट से संबद्ध हैं। इनमें जो बड़ी और प्राचीन है उसे वृद्ध वाग्भट और दूसरी को वाग्भट कहते हैं। वाग्भट के अन्त में लेखक ने वृद्ध वाग्भट को ही अपना आधार बतलाया है। अष्टांगसंग्रह, जो कि टीकाओं में बहुशः उद्धृत है तथा अष्टांगहृदय का आधारभूत है, एक अत्यन्त प्राचीन रचना माना जाता है,विशेषतः उसका अधिकांश भाग केवल इस कारण नहीं कि वह अष्टांगहृदय का पूर्ववर्ती है किन्तु उसकी विषय-वस्तु और शैली भी विशिष्ट है। अष्टांगसंग्रह गद्य-पद्य मिश्रित शैली में है जो चरक-सुश्रुत से समानता रखती है। अष्टांगसंग्रह में बौद्ध भावना प्रबल है किन्तु अष्टांगहृदय में क्षीण है। अध्यायों के क्रम में भी अन्तर है। संग्रह में १५० और हृदय में १२० अध्याय हैं। संग्रह का चरक विशेषतः सुश्रुत से संबन्ध हृदय की अपेक्षा घनिष्ठतर है। इसके अतिरिक्त, अष्टांगसंग्रह में पर्याप्त मौलिक सामग्री है जो चरक-सुश्रुत के परीक्षण, अध्ययन एवं परिबृंहण के लिए एक मूल्यवान साधन है। डा० हार्नले[2] ने हृदय के कर्ता से भिन्न संग्रहकार को माना है जिसे टीकाकारों ने "वृद्ध वाग्भट" कहा है। यह संग्रहकार को वाग्भट प्रथम और हृदयकार को वाग्भट द्वितीय कहते हैं। इनके मत में हृदय संग्रह पर आधारित है और उसमें इसके पाठोद्धरण अविकल रूप में मिलते हैं।

प्रोफेसर कीथ[3] ने लिखा है कि वाग्भट द्वितीय ने वाग्भट प्रथम की रचना का अनुसरण किया है और हृदय की छन्दोबद्ध रचना संग्रह की पद्य-गद्यमय शैली से परवर्ती है ऐसा लक्षित होता है। वाग्भट द्वितीय संभवतः वाग्भट प्रथम का ही वंशज हो यद्यपि इसके पक्ष में कोई प्रमाण नहीं है सिवा इसके कि इससे समस्या के सुलझाने में कुछ मदद मिलती है।

डा० पी० के० गोडे[4] भी दोनों को पृथक मानते हैं। पं० हरिप्रपन्न जी[5] भी

---

१. Jullius jolly : Indian medicine, page 11-12.

२. osteology (studies in the Medicine of ancient India part I) oxford, 1907, p. 7.

३. Keith : History of Samskrit literature-page 510.

४. Gode : Introduction, Ashtanga hridaya, Nirnayasagar, Bombay (1939) page-2.

Idem : Commentary of Indu on the Ashtanga sangraha, A. B. O. R. I. XXV, page 219.

५. रसयोगसागर-उपोद्घात, पृ० ३२.

दोनों को पृथक मानते हैं। उनका कथन है कि अष्टांहृदय के रचयिता अन्य वाग्भट हैं। यद्यपि संग्रह और हृदय के कर्त्ताओं में नामसाम्य है तथापि वे दोनों व्यक्ति भिन्न हैं क्योंकि कोई भी व्यक्ति एक ही विषय के दो विस्तृत ग्रन्थ लिखने में अपनी शक्ति नष्ट नहीं करता। इसके अतिरिक्त, अष्टांगहृदय संग्रह का संक्षिप्त संस्करण भी नहीं है क्योंकि दोनों ही लगभग तुल्यकाय हैं। दोनों में पाठ भी अधिकांश समान हैं और इसका कारण संभवतः यह हो कि दोनों नाम-साम्य के कारण एक गोत्र के हों और द्वितीय वाभग्ट ने अपने पूर्वज की प्रख्याति के कारण उसका अनुसरण या अनुकरण किया हो।

इस संबंध में कविराज ज्योतिषचन्द्र सरस्वती के मत का ऊपर उल्लेख किया जा चुका है।

अष्टांगहृदय के अन्त में लेखक ने तो यह स्पष्ट निर्देश किया कि महासागर के समान गंभीर विषयां वाला अष्टांगसंग्रह अल्प-समुद्यम व्यक्तियों तक पहुँच जाय इस उद्देश्य से हृदय की पृथक् रचना की गई।[१] इसमें तनिक भी सन्देह नहीं रहना चाहिए कि यह संग्रह के बाद की संक्षिप्त रचना है या उसका लघु संस्करण है। तब प्रश्न यह उठता है कि यह लघु संस्करण स्वयं मूलग्रन्थकार द्वारा किया गया या किसी अन्य व्यक्ति द्वारा? उदाहरण दोनों प्रकार के उपलब्ध होते हैं। गुप्तकालीन सांस्कृतिक पुनरुत्थान के युग में जब वाङ्मय इतना विशाल हो गया कि एक व्यक्ति के लिए उसे समेटना असंभव हो गया तो स्वभावतः लघु संस्करणों की आवश्यकता पड़ी। ज्योतिष के क्षेत्र में हम देखते हैं कि वराहमिहिर ने बृहज्जातक, योगयात्रा तथा विवाहपटल इन तीनों ग्रन्थों का स्वयं लघु संस्करण बनाया। इसमें भी लघु संस्करण बाद ही में बनाये गये।[२] नागेशभट्ट ने व्याकरण में सिद्धान्तमंजूषा, लघुमंजूषा तथा परमलघुमंजूषा की रचना की। अन्य व्यक्तियों द्वारा भी लघु संस्करण बनाये गये यथा मनुकृत बृहन्मानस करण (शाक ८००) का लघु संस्करण (लघु मानस)

---

१. 'विपुलामलविज्ञानमहामुनिमतानुगम्। महासागरगंभीरसंग्रहार्थोपलक्षणम्॥
अष्टांगवैद्यकमहोदधिमन्थनेन योऽष्टांगसंग्रहमहामृतराशिराप्तः।
तस्मादनल्पफलमल्पसमुद्यमानां प्रीत्यर्थमेतदुदितं पृथगेव तन्त्रम्॥
—हृ० उ० ४०।७९-८०

एतत् पठन् संग्रहबोधशक्तः स्वभ्यस्तकर्मा भिषगप्रकम्प्यः।
आकम्पयन्त्यन्यविशालतन्त्रकृताभियोगान् यदि तन्न चित्रम्॥
—हृ० उ० ४०।८३

२. 'शं०बा० दीक्षित : भारतीय ज्योतिष पृ० २९६

मुंजाल द्वारा शाक ८५४ में बनाया गया।[१] इसी प्रकार व्याकरण के क्षेत्र में मध्य सिद्धान्तकौमुदी तथा लघु सिद्धान्तकौमुदी के उदाहरण हैं जो सिद्धांत कौमुदी के मध्य और लघु संस्करण के रूप में विभिन्न व्यक्ति द्वारा लिखे गये। किन्तु जब वाग्भट प्रायः वराहमिहिर के समकालीन हैं तब स्वभावतः यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या वराहमिहिर के समान ही वाग्भट ने भी स्वयं संग्रह और उसके लघु संस्करण हृदय दोनों की रचना नहीं की ? इस संबंध में दो बातें विचारणीय हैं : एक तो यह कि प्रायः ऐसे ग्रन्थों के आगे 'बृहत्' और 'लघु' विशेषण ही देखे जाते हैं किन्तु संग्रह के संबंध में 'महासंग्रह' और 'लघुसंग्रह' न होकर 'संग्रह' और हृदय रक्खा गया जो यह संकेत करता है कि यह केवल लघु संस्करण न होकर संग्रहार्थ का बोध कराने वाली एक स्वतन्त्र रचना है। दूसरी बात यह कि ऐसे स्थलों में बृहत् और लघु संस्करणों में कोई अन्तर या विरोध नहीं होता केवल संक्षेप होता है किन्तु संग्रह और हृदय में विषयवस्तु-गत भेद भी पर्याप्त है। वराहमिहिर के बृहज्जातक और लघुजातक की तुलना करने पर यह पता चलता है कि कहीं कहीं विषय को स्पष्ट करने के उद्देश्य से लघुजातक में विषय की दृष्टि से किंचित् परिवर्तन-परिवर्धन तो हुए हैं किन्तु कहीं विषयगत विरोध, शैलीभेद या सांस्कृतिक वैषम्य दृष्टिगोचर नहीं होता। उदाहरण के लिए, गर्भ-संभवासंभव ज्ञान-प्रकरण में बृहज्जातक में सामान्यतः निर्देश किया किन्तु लघुजातक में स्त्री और पुरुष के भेद में उसे और स्पष्ट कर दिया।[२] इसी प्रकार के अन्य उदाहरण भी हैं।[३] इसके विपरीत, संग्रह और हृदय की परस्पर तुलना करने पर हम देखते हैं कि दोनों में शैलीभेद, कहीं कहीं विषयगत विरोध

---

१. वही, पृ० ३१८–३१९;

२. 'रवीन्द्रशुक्रावनिजैः स्वभागगैर्गुरौ त्रिकोणोदयसंस्थितेऽपि वा।
भवत्यपत्यं हि विबीजिनामिमे करा हिमांशोर्विदृशामिवाफलाः॥ बृ० जा० ४।३
'बलयुतौ स्वगृहांशेष्वर्कसितावुपचयर्क्षगौ पुंसाम्।
स्त्रीणां वा कुजचन्द्रौ यदा तदा गर्भसंभवो भवति॥ ल० जा०

३. 'उदयस्थेऽपि वा मन्दे कुजे वास्तमुपागते। स्थिते चान्तःक्षमानाथे
शशांकसुतशुक्रयोः॥–बृ० जा० ५।२
चन्द्रे लग्नमपश्यति मध्ये वा सौम्यशुक्रयोश्चन्द्रः।
'जन्मपरोक्षस्य पितुर्यमोदये वा कुजे चास्ते॥–ल०जा०
राश्यन्तगे सद्भिरवीक्ष्यमाणे चन्द्रे त्रिकोणोपगतैश्च पापैः॥
प्राणैः प्रयात्याशु शिशुर्वियोगमस्तं च पापैस्तुहिनांशुलग्ने॥ बृ० जा० ६।८
'उदयगतो वा चन्द्रः सप्तमराशिस्थितैः पापैः। ल०जा०

तथा धार्मिक एवं सांस्कृतिक वैषम्य भी पर्याप्त उपलब्ध होता है। अतः यद्यपि ग्रन्थकारों द्वारा ग्रन्थों के बृहत् एवं लघु संस्करण बनाने की परम्परा रही है तथापि संग्रह और हृदय के संबंध में वह बात प्रमाणित नहीं होती।

इसके अतिरिक्त, प्रायः सभी टीकाकारों ने वृद्ध वाग्भट और वाग्भट का पृथक उल्लेख किया है। जेज्जट ने चरक संहिता की निरन्तरपदव्याख्या में वाग्भट का उल्लेख और उद्धरण किया है। वृद्ध वाग्भट उसमें नहीं मिलता। "आचार्य" शब्द का भी अनेक स्थलों पर प्रयोग है किन्तु वह चरक और सुश्रुत के लिए विशेष रूप से प्रयुक्त हुआ है। इसी प्रकार चक्रपाणि ने भी केवल वाग्भट का उल्लेख किया है और उद्धरण भी सभी लघु वाग्भट के दिये हैं। अरुणदत्त भी संग्रह और हृदय के कर्त्ता को अभिन्न मानते हैं। इन्दु संग्रह और हृदय का पृथक उल्लेख करता है किन्तु दोनों को एक मानता है। डल्हण, हेमाद्रि, विजयरक्षित और श्रीकण्ठदत्त दोनों वाग्भटों को पृथक मानते हैं।[1]

इस प्रकार टीकाकारों के विचारों का विश्लेषण करने से एक रोचक सामग्री सामने आती है। जेज्जट और चक्रपाणि वृद्ध वाग्भट का नाम ही नहीं लेते केवल लघु वाग्भट का उद्धरण "वाग्भट" नाम से करते हैं। अरुणदत्त और इन्दु संग्रह और हृदय की पृथक सत्ता को मानते हैं किन्तु उनके कर्ता को अभिन्न बतलाते हैं। डल्हण हेमाद्रि, विजयरक्षित और श्रीकण्ठदत्त दोनों को भिन्न मानते हैं। ऐसा लगता है कि जेज्जट और चक्रपाणि के समय लघु वाग्भट ही प्रचलित रहा हो और संग्रह पृष्ठभूमि में चला गया हो[2] अतः उन लोगों ने केवल "वाग्भट" शब्द से उसीका उल्लेख किया। सम्भवतः संग्रह और हृदय की तुलना का उन्हें अवसर नहीं मिला और न आवश्यकता हुई। अरुणदत्त और इन्दु ने हृदय के आधारभूत ग्रन्थ संग्रह को ढूंढ निकाला और यह विचार बनाया कि दोनों के कर्त्ता एक ही हैं। आगे चल कर दोनों का पर्याप्त तुलनात्मक अध्ययन होने पर यह भ्रम दूर हो गया। फलतः अर्वाचीन टीकाकार

---

१. देखें परिशिष्ट १ में टीकाकारों के वाग्भट-संबंधी उद्धरण।

२. ब्रह्मगुप्त की रचना के बाद वराहमिहिर की भी यही स्थिति हुई थी :—

"It is remarkable that the works which about 770 had been the standard in India still held the high position in A. D. 1020 Viz. the works of Brahmagupta. It can't be proved that the works of Varahamihir were accessible to Arabs at the time of Mansur.

—Sachau : Alberuni's India, Preface, XXXVI–VVVVII.

उन्हें भिन्न मानने लगे। इस प्रकार इस संबंध में ऐतिहासिक दृष्टि से तीन स्थितियाँ आती हैं :—

१– केवल हृदय का अस्तित्व।

२– संग्रह और हृदय दोनों किन्तु उनके कर्त्ता एक।

३– दोनों के कर्त्ता भिन्न।

मेरे विचार से इस धारणा के विकासक्रम की एक स्पष्ट ऐतिहासिक शृंखला है जिसे ध्यान से देखने पर महत्वपूर्ण तथ्य सामने आ सकते हैं।

प्रथम स्थिति में जब संग्रह क्षेत्र में था ही नहीं तो उन टीकाकारों के मतों का इस संबंध में विचार ही कैसे हो सकता है? दोनों वाग्भटों को एक मानने वालों में प्रमुख हैं अरुणदत्त और इन्दु। ये दोनों इस संबंध में इतने आसक्त और भ्रान्त हो गये थे कि संग्रह और हृदय के पौर्वापर्य का भी इन्हें ज्ञान नहीं रहा था। अरुणदत्त में तो नहीं किन्तु इन्दु में यह बात स्पष्ट रूप से मिलती है कि वह हृदय को पहले और संग्रह को बाद की रचना मानते थे[1] जो कि तथ्य से नितान्त विपरीत है। अतः उनकी बात प्रामाणिक नहीं मानी जा सकती। उनके और वाग्भट के बीच में काल का इतना व्यवधान था कि वहाँ तक पहुंचने का कल्पना के अतिरिक्त उनके पास और कोई साधन नहीं था। आगे चल कर विद्वानों ने ऊहापोह के बाद दोनों को पृथक रखना ही उचित समझा।

इन सब कारणों से दोनों वाग्भट भिन्न व्यक्ति प्रतीत होते हैं जो वृद्ध वाग्भट और वाग्भट, वाग्भट प्रथम और वाग्भट द्वितीय या गद्य वाग्भट[2] और पद्य वाग्भट कहे गये हैं।

वाग्भट या बाहट

अष्टांगसंग्रह के रचयिता आचार्य वाग्भट हैं किन्तु वस्तुतः उनका नाम वाग्भट था या बाहट यह विचारणीय है। कुछ विद्वानों का मत है कि वाग्भट ही मौलिक

---

१. 'वृद्धमूलकस्य त्रिदोषकर्त्तुः कटुकस्य कफकर्तृत्वे यदाचार्यवाहटेन मधुरविपाकित्वं कारणमुक्तं तत् स्वयं हृदयपठितस्यैव वृद्धमूलकस्य कटुविपाकित्वं स्मृतं किं वान्यत् किंचिदिति न जाने।' —इन्दु (सं० सू० १७)

२– "गद्यवाहट प्रस्ताव : ऋतुचर्यायाम्"—अष्टांगसंग्रह (डी १३०७०)— Decriptive catalogue of the sanskrit Mss; G. O. M. L., Madras, Vol. xxiii–Medicine.

नाम था, "बाहट" (वंगीय परम्परा में बाभट) उसका अपभ्रंश है।[१] किन्तु सन्देह का आधार यह है कि वाग्भट के तथाकथित शिष्य इन्दु ने अपनी 'शशिलेखा" व्याख्या में ग्रन्थकर्ता के लिए सर्वत्र "बाहट" शब्द का ही प्रयोग किया है।[२] इसके अतिरिक्त कौशिकसूत्र की व्याख्या में भी "बाहट" शब्द ही आया है।[३] ऐसी स्थिति में दो ही विकल्प हैं—या तो ग्रन्थकार का मौलिक नाम "बाहट" हो या वाग्भट का ही कालक्रम से बाहट में रूपान्तर हो गया हो। इस प्रश्न का समाधान रचयिता ने स्वयं कर दिया है यह कह कर कि "भिषग्वरो वाग्भट इत्यभून् मे पितामहो नामध-रोऽस्ति यस्य"। अतः यह निःसन्देह है कि उनका नाम "वाग्भट" था "बाहट" नहीं। बाहट वस्तुतः उसका प्राकृत रूपान्तर है जो परवर्ती काल में विशेषतः दक्षिण भारत में प्रचलित हुआ। कई तथ्य इससे सामने आते हैं एक तो यह कि इन्दु अष्टांग-संग्रहकार वाग्भट का शिष्य नहीं था। शिष्य अपने गुरु का नाम विकृत कर क्यों लिखेगा ?। दूसरी बात यह कि इन दोनों के काल में पर्याप्त अन्तर रहा होगा जिस अवधि में वह "बाहट" नाम से प्रसिद्ध हो चुके होंगे। युगानुरूप होने से इस ग्रन्थ को समाज ने बड़े आदर और उत्साह से ग्रहण किया और धीरे धीरे इसकी ख्याति विदेशों में भी होने लगी। अष्टांगहृदय का तिब्बती भाषा में अनुवाद कराया गया और आगे चलकर अरबी में भी इसका अनुवाद हुआ। इन दोनों अनुवादों में ग्रन्थकार का नाम "बाहट" है। चीनी यात्री इत्सिंग जब इस देश में आया था तब यह ग्रन्थ अपनी चरम ख्याति पर था। इसकी लोकप्रियता के कारण ही वाग्भट द्वितीय ने पद्य में इसका रूपान्तर और संक्षेप किया और इन्दु और जेज्जट आदि ने उसकी व्याख्या की। इन्दु के "दुर्व्यरिव्याविषसुप्तस्य" इस पद से प्रतीत होता है कि इसके पूर्व इस ग्रन्थ पर अनेक टीकायें लिखी जा चुकी थीं जो इसकी लोक-प्रियता और प्रसिद्धि के पर्याप्त प्रमाण हैं।

---

१. Keith : history of samkrit literature, Page 510

२. दुर्व्यरिव्याविषसुप्तस्य वाहटस्यास्मदुक्तयः। सन्तु संवित्तिदायिन्यः सदागमपरिष्कृताः॥ पृ० १

सोऽयं वाहटनामा शास्त्रकारो—देवतानमस्कारं करोति पृ० १

"वाहटेन दर्शयता लघुशब्दप्रयोगः कृतः। पृ० ३

"तत् वाहट एकीकुर्वन्नाह। पृ० ३

३. "तत्र द्विविधा व्याधयः आहारनिमित्ता अन्यजन्यपापनिमित्ताश्च। तत्र आहारनिमित्तेषु चरकवाहटसुश्रुतेषु शमनं भवति। ("कौ० सू० ४।१५)

राजकीय प्राच्य हस्तलिखित ग्रन्थागार, मद्रास[१] में उपलब्ध अनेक हस्तलिखित ग्रन्थों में "वाहट" नाम से उसका उद्धरण या निर्देश आया है। इनमें निम्नांकित मुख्य हैं:—

१—आयुर्वेदार्थसारस्यम् (डी १३०७३)
"संगमपरहितं वाहटे"

२—निकित्सासारसंग्रह (डी १३१४५)
"रसार्णवं वाहटं च पारिजातं च कौमुदीम्।
नागार्जुनं च कापालं दामोदरमतं तथा ॥

३—नाडीशास्त्रसंग्रह (डी १३१५५)
"नमामि बाहटाचार्यानायुर्वेदाब्धिपारगान्"

४— निदानग्रन्थ (डी १३१५७)
"बाहटाचार्यवरेण प्रसादं लोकविश्रुतम्"

५—बाहटग्रन्थः (डी १३१७६)
"अस्य श्रीपर्वतीयस्य प्रियसूनुर्गुणोन्नतः।
षण्मुखे रचिते चैव बाहटग्रन्थमुत्तमम् ॥"

६—भेषजकल्पसारसंग्रह (डी १३१८३)
"बाहटे चरके भोजे बृहद्योगे च हारिते।
इत्यर्थे मूलमंत्रेषु ततः सारं समुद्धृतम् ॥

७—रत्नाकरौषधयोगग्रन्थः (डी १३१९०)
"रसारार्वि वाहटं च"

८—रोगसंख्यानिदानम् (डी १३२१५)
"वक्ष्ये वाहटसंहितोदितरुजासंख्यानिदानक्रमात्"

वंशपरम्परा और जन्मभूमि

वाग्भट के पितामह का नाम वाग्भट और पिता का नाम सिंहगुप्त था। इनके पिता ब्राह्मण और गुरु बौद्ध अवलोकित थे। इन्होंने अपने गुरु से प्रारंभिक शिक्षा और अपने पिता से परवर्ती शिक्षा प्राप्त की तथा अनेक आयुर्वेदीय ग्रन्थों के अवलोकन और आलोचन के बाद 'अष्टांगसंग्रह' नाम गन्थ की रचना की जिसमें आयुर्वेद के

---

१. Descriptive catalogue of the samskrit Mss. in the G.O.M.L, Madras, VOL. XXIII–Medicine.

आठों अंगों का स्पष्ट वर्णन है।[1] निश्चलकर ने एक स्थल पर वाग्भटको 'राजर्षि' का विशेषण दिया है। इससे श्री दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य[2] को अनुमान है कि वह सिन्ध की किसी छोटी रियासत के राजा थे। जेज्जट ने अपनी चरक-टीका की पुष्पिका में "इति महाजह्नुपति-श्रीवाहट-शिष्यजेज्जटकृतौ" दिया है और चूंकि जेज्जट वाग्भट के शिष्य थे अतः इसे प्रामाणिक मान कर वाग्भट को 'महाजह्नु' नामक रियासत का राजा माना है। यह आजकल कराची जिले में हैदराबाद से ५० मील उत्तर सिन्धु नदी के पश्चिमी तट पर स्थित 'मझन्द' नामक स्थान है। श्री भट्टाचार्य का यह कथन है कि चन्द्रट की व्याख्या से यह पता चलता है कि तीसट के पिता एक विख्यात वैद्य थे और चिकित्साकलिका की अनेक पाण्डुलिपियों में पुष्पिका में 'वाग्भटसूनुतीसट' ऐसा उल्लेख है। इससे सभी संशयों का निराकरण हो जाता है।[3]

किन्तु मेरी दृष्टि में, जैसा कि ऊपर बतलाया गया है, कोई स्पष्ट उल्लेख न होने से यह विषय संदिग्ध कोटि में ही रक्खा जा सकता है।

भंडारकर प्राच्य संशोधन मंदिर में प्राप्त हस्तलिखित 'चिकित्साकलिका' ग्रन्थ के अन्तमें लिखा है—"इति वाग्भटसूनुना तीसटदेवेन रचितं चिकित्साशास्त्रं" इसी आधार पर डाक्टर आफ्रेक्ट ने अपनी ग्रन्थसूची में उनका इस रूप में समावेश किया। इस पर कुछ लोगों की मान्यता है कि चिकित्साकलिका के रचयिता तीसटाचार्य वाग्भट के पुत्र थे और तीसटाचार्य के पुत्र चन्द्रट जिन्होंने चिकित्साकलिका-व्याख्या की रचना की उनके पौत्र थे। किन्तु यह बात आश्चर्यजनक प्रतीत होती है कि ग्रन्थ के प्रारम्भिक मंगलाचरण में अनेक आचार्यों का स्मरण किया गया है किन्तु वाग्भट का

---

१. भिषग्वरो वाग्भट इत्यभून् मे पितामहो नामधरोऽस्ति यस्य।
पुत्रोऽभवत्तस्य च सिंहगुप्तस्तस्याप्यहं सिन्धुषु लब्धजन्मा॥
समधिगम्य गुरोरवलोकितात् गुरुतराच्च पितुः प्रतिभां मया।
सुबहुभेषजशास्त्रविलोचनात् सुविहितोऽङ्गविभागविनिर्णयः।
—अ० सं० उ० ५०।१३२-१३१

२. D.C. Bhattacharya : Date & works of Vagbhata the physician—A B. O. R. I. XXVIII, page 122.

३. Ibid, page 125,

उनमें नाम नहीं है।[1] चन्द्रट ने भी इन श्लोकों की व्याख्या में वाग्भट का कोई उल्लेख नहीं किया है।[2] इसके अतिरिक्त चन्द्रट ने वाग्भट के एक प्रसिद्ध श्लोक को 'अन्यैः' करके उद्धृत किया है।[3] अतः यह बात संदिग्ध ही है।

ऐसी भी एक मान्यता है कि इन्दु और जेज्जट वाग्भट के शिष्य थे। इस पर आगे विचार किया जायगा।

अष्टांगसंग्रह में निर्दिष्ट "सिन्धुषु लब्धजन्मा" यह वाक्य महत्वपूर्ण है। प्रायः लोग इससे अभिप्राय लेते हैं कि वाग्भट सिन्धु प्रदेश का निवासी था किन्तु ध्यान से देखने पर यह पता चलता है कि उसका जन्म सिन्धु प्रदेश में हुआ था। वह जीवनपर्यन्त वहीं रहा या अन्यत्र स्थानान्तरित हो गया विचारणीय है। सिन्धु नदी में करेणुकाओं की क्रीड़ा,[4] सिन्धु नदी में अञ्जन की उत्पत्ति[5] तथा सिन्धु प्रदेश में स्थित शकों और शकांगनाओं[6] से सन्निकट परिचय इन बातों से स्पष्ट होता है कि वह सिन्धु प्रदेश में कुछ वर्षों तक अवश्य रहा। एक स्थल पर उसने हीन और अनार्य की सेवा का निषेध किया है और गुणी राजा की सेवा का विधान किया है। यह भी लिखा है कि राजहीन तथा अधर्मिजनभूमिष्ठ देश में न रहे और ऐसे देश में

---

१. सूर्याशिवधन्वन्तरिसुश्रुतादीन् भक्त्या नमस्कृत्य पितुश्च पादान्।
कृता चिकित्साकलिकेति योगैर्माला सरोजैरिव तीसटेन॥

हारीतसुश्रुतपराशरभोजभेलभृग्वग्निवेशचरकादिचिकित्सकोक्तैः।
एभिर्गणैश्च गुणवद्भिरतिप्रसिद्धैर्धन्वन्तरीयरचनारुचिरप्रपंचैः॥
—चिकित्साकलिका श्लो० १-२

२. 'तदनु आयुर्वेदाब्धिप्रतरणपोतपात्राणां पितुः पादानां नमस्कृतिरित्यनेन क्रमेण नमस्कारं कृत्वा'
'आदिग्रहणात् वैतरणीरभ्रपुष्कलावतक्षारपाणिजतूकर्णचक्षुष्येणविदेहनिमिप्रभृतयो गृह्यन्ते'।—चन्द्रट

३. तथाऽन्यैरप्युक्तम्—'जाठरानलसंपर्काद् यदुदेति रसान्तरम्।
रसानां परिणामान्ते स विपाक इति स्मृतः॥
—चन्द्रट-व्याख्या. श्लो० १६

४. सं० चि० ९।२०

५. सं० उ० ४९।१३६; ५०।७९

६. सिन्धुस्रोतःसमुत्थं.........अञ्जनमाहरेत्—सं० सू० ८।९२

रहे जहां जल, औषध, समिधा, पुष्प, तृण, इन्धन का बाहुल्य हो, अन्न प्रचुर होता हो, योगक्षेम की व्यवस्था सुन्दर हो, नगर के आसपास सुन्दर प्राकृतिक दृश्य हों तथा वह पण्डितों से मण्डित हो। इससे अनुमान होता है कि सिन्धु प्रदेश में उस काल में कोई अनार्य राजा था जिसका परित्याग कर वह उपर्युक्त नगर में चला गया था। उस काल में उपर्युक्त गुणों से भूषित नगर उज्जयिनी थी जहां सब प्रकार का प्रबन्ध था और जो कालिदास, वराहमिहिर आदि विद्वज्जनों से शोभित थी। वराहमिहिर की रचनाओं विशेषतः बृहत्संहिता से वाग्भट की रचनाओं का घनिष्ठ सम्पर्क सूचित होता है। वराहमिहिर ने चरक, सुश्रुत आदि प्राचीन संहिताओं से भी बहुत लिया है। उधर वाग्भट भी ज्योतिष के विचारों में वराहमिहिर से प्रभावित प्रतीत होते हैं। इन सब बातों से अनुमान होता है कि वाग्भट ५५० ई० के लगभग वराहमिहिर की बृहत्संहिता की रचना के पूर्व उज्जयिनी पहुंच गया था और उसके निकट संपर्क में था। संभवतः यशोधर्मा की विजय के बाद वह उज्जयिनी चला आया। अष्टांगसंग्रह में अवन्तिभूमि[1] तथा अवन्तिसोम[2] का बहुशः उल्लेख है। गदनिग्रह तथा गुणसंग्रह के रचयिता सोढल ने गुडूची को अवन्त प्रदेश में उत्पन्न वरौषधि कहा है।[3] उसने वाग्भट के अनेक अंगों को अविकल तथा परिवर्तित रूप में अपने ग्रंथ में उद्धृत किया है। उदाहरण के लिए, वाग्भट द्वारा रसायन-प्रकरण में लिखित पारद का प्रसिद्ध योग इसने शिलाजत्वादि योग के रूप में क्षयरोग-प्रकरण में अविकल उद्धृत किया है (२।९।६०)। इसके अतिरिक्त, किंचित् परिवर्तित रूप में निम्नांकित योगों का उल्लेख किया है:—

'शिलाजतु मधु व्योषताप्यलोहरजांसि यः। क्षीरभुक् लेढि तस्याशु क्षयः क्षयमवा-
प्नुयात् ॥ (शिलाजत्वादिलेह)—२।९।५२

'मधुताप्यविडंगाश्मजतुलोहघृताभयाः। हन्ति यक्ष्माणमत्युग्रं सेव्यमाना हिताशिना॥
(मध्वादिलेह)—२।९।५३

इनके अतिरिक्त, रसोनकल्प, पलाण्डु-कल्प तथा गुग्गुलु-कल्प प्रायः वाग्भट के समान हैं। ब्राह्मीघृत, महावज्रकघृत, माणिभद्रवटक, शिवागुटिका आदि योग भी

---

१. गोधूमोऽवन्तिभूमिषु"—सं० सू० ७।३३,

२. सं सू० ३५।५

३. हिताय जगतः केचित् पेतुरमृतबिन्दवः। अवन्तेषु प्रदेशेषु ततो जाता वरौषधिः। गुडूची छिन्नरोहेति सैवोक्ता छिन्नरोहिणी। निर्दिष्टाऽमृतवल्ली च यस्मादमृ-तसंभवा ॥—गदनिग्रह (८।२।१९२-१९३)

उद्धृत किये हैं। संभव है, सोढल अवन्ति प्रदेश या उससे लगे हुये गुजरात प्रदेश का निवासी हो, इस कारण वाग्भट की परम्परा का विशेष अनुसरण किया है।

वाग्भट द्वितीय के भी पिता का नाम सिंहगुप्त मिलता है जैसा कि "इति श्री सिंहगुप्तसूनुवाग्भटविरचितायामष्टांगहृदयसंहितायां तृतीयं निदानस्थानं समाप्तम्" इस पुष्पिका में है किन्तु यह प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों में नहीं मिलती और वर्तमान संस्करणों में भी सर्वत्र नहीं है जहां कहीं उल्लेख है अतः इसकी मौलिकता पर संदेह है। अनुमानतः दोनों वाग्भटों की एकता का प्रचार होने पर इसका आरोप किया गया होगा।

एक बात यह भी है कि कुशानकाल से यह परम्परा रही है कि एक पीढ़ी के बाद नाम का पुनरावर्तन हो यथा पितामह का नाम पौत्र को दिया जाता था। व्यक्तित्व में भेद करने के लिए नाम के साथ प्रथम, द्वितीय आदि विशेषण लगाये जाते थे यथा चन्द्रगुप्त प्रथम, चन्द्रगुप्त द्वितीय आदि। संभवतः इसी आधार पर कीथ का अनुमान है कि वाग्भट द्वितीय वाग्भट प्रथम का वंशज हो। मेरा भी अनुमान यही है जो निम्नांकित दो तथ्यों पर आधारित है :—

१—जिस प्रकार संग्रह का अक्षरशः उद्धरण हृदय में किया गया है वैसा कोई वंशज ही कर सकता है इतर व्यक्ति नहीं। (यद्यपि उस काल में कापीराइट का प्रश्न नहीं था फिर भी नैतिक बन्धन तो था ही)।

२—इत्सिंग का कथन है कि उस काल में भारत में सर्वत्र अष्टांग का प्रचार था और उसी का अध्ययन-अध्यापन होता था। यह सर्वविदित है कि अध्ययन-अध्यापन में हृदय का ही प्रचार रहा है और अद्यावधि है, संग्रह कभी लोकप्रिय नहीं हुआ, अतः यह स्पष्ट है कि इत्सिंग के पूर्व वाग्भट द्वितीय के द्वारा अष्टांगहृदय की रचना हो चुकी थी। यदि वाग्भट प्रथम को वराहमिहिर का समकालीन माने तो वाग्भट द्वितीय को लगभग बाणभट्ट के समकालीन माना जा सकता है और यह असंभव नहीं है कि उनमें पितामह-पौत्र का संबंध हो (वाग्भट प्रथम के पितामह का नाम भी वाग्भट ही था)।

धर्म

अष्टांगसंग्रह में यत्र तत्र बौद्ध देवी-देवताओं का उल्लेख होने के कारण अनेक विद्वानों की मान्यता है कि वाग्भट बौद्ध थे किन्तु कुछ विद्वान इसके विरुद्ध उन्हें वैदिकधर्मानुयायी मानते हैं क्योंकि अनेक स्थलों पर उन्होंने वैदिक धर्म की मान्यताओं का अनुसरण किया है और वैदिक धर्मका उपदेश किया है।

डा० प०ल० वैद्य[1] ने वाग्भट को बौद्ध सिद्ध किया है और इस संबंध में निम्नांकित युक्तियां दी हैं :—

१. वाग्भट ने चरक-सुश्रुत से संगृहीत विषयों के अतिरिक्त विशिष्ट विषयों का संग्रह बौद्ध आगमों से किया।

२. ग्रन्थारंभ में बुद्ध को नमस्कार किया है।

३. जहां तक विप्र, गो, देव आदि तथा वैदिक क्रियाओं का संबंध है, इनका निर्देश भी इस कारण किया कि आयुर्वेदशास्त्र धर्मविशेष के लिए सीमित न होकर सर्वसाधारण के लिए है अतः वैदिकधर्मानुयायियों को दृष्टि में रख कर इनका निर्देश किया गया। इसके अतिरिक्त, देवताओं का समावेश बौद्ध धर्म में भी ईस्वी सन् के बाद प्रारम्भ हो गया। संभव है, 'देव' शब्द से अभिप्राय वाग्भट का इन्हीं बौद्ध देवताओं से हो।

४. अशोक के समय से बौद्ध धर्म के प्रचार के साथ साथ संग्रह और हृदय दोनों का प्रचार दूर दूर देशों में होता गया। १३वीं शती में इनका प्रचार सिंहल द्वीप में भी था। सिन्धु में उत्पन्न वाग्भट की ख्याति बौद्धधर्मावलम्ब के कारण ही इतनी दूर तक हुई।

५. बौद्धों के अतिरिक्त द्वेषरहित द्विजों के द्वारा भी उसके पठन-पाठन का प्रचार हुआ और जैसे जैसे यह द्विजों के द्वारा संमानित होता गया इसकी बौद्धानुयायिता विस्मृत होती गई। अतएव हेमाद्रि ने 'अनुयायात् प्रतिपदं सर्वधर्मेषु मध्यमाम्' इस श्लोक का बौद्ध शास्त्रीय अर्थ न कर 'सर्वधर्मेषु मध्यस्थो भूत्वा' ऐसा सामान्य अर्थ किया।

यदि आभ्यन्तर साक्ष्य की परीक्षा की जाय तो निम्नांकित प्रमाण मिलते हैं :—

१—ग्रन्थकर्ता ने मंगलाचरण में बुद्ध को नमस्कार किया है।

२—कुष्ठ-चिकित्सा (सं० चि० १९।९८) में पापकर्मज कुष्ठ के प्रसंग में 'शीलाभियोग' 'सर्वसत्त्वमैत्री' 'जिनजिनसुततारारा‍धन' का निर्देश किया गया है।

३— इसके अतिरिक्त, बालग्रहों के प्रकरण में (सं० उ० ५।५०) द्वादशभुज आर्यविलोकित के जप का विधान है। दिनचर्या-प्रकरण में रात्रि में सोने के पूर्व शास्ता के स्मरण का उपदेश है।

---

१. वैद्यसम्मेलनपत्रिका (भाग ५, संख्या १)—वाग्भटाचार्यः किं वैदिक उत सौगतः ?

४—औषधग्रहण के मंत्र भी बौद्ध हैं—यथा 'ऊं नमो भगवते भैषज्यगुरवे वैडूर्यप्रभराजाय तथागतायार्हते सम्यक्संबुद्धाय।'

५—जलचरहिंसा के प्रायश्चित्तरूप में पंचपिंड प्रदान का विधान तथा रात्रि भोजन-निषेध यह बौद्धानुकूल आचार है (सं० सू० ३)।

६—सद्वृत्त में जो दशधा पापकर्म के त्याग का विधान है वह भी बौद्ध आचार है। ऐसा विभाजन किसी स्मृति में नहीं मिलता अतः अनुमान है कि वाग्भट ने इसका ग्रहण बौद्ध आगमों से किया होगा।

७—'अनुयायात् प्रतिपदं सर्वधर्मेषु मध्यमाम्, (हृ०सू० २।३०)

इसमें प्रतिपादित मध्यमा प्रतिपद् त्रिपिटक के अन्तर्गत महावग्ग के धर्मचक्रप्रवर्तन में पाया जाता है। बुद्धत्वप्राप्ति के बाद भगवान ने इसका उपदेश सर्वप्रथम पांच भिक्षुओं को किया था।

श्री हरिशास्त्री पराडकर ने उपर्युक्त मत का समर्थन करते हुए इसमें निम्नांकित युक्तियां और जोड़ी हैं:—

८—'तथा मरणमुद्दिष्टं सौगतानां चतुर्विधम्' (सं० सू० ९) में चतुर्विध मरण बौद्धशास्त्र के अनुसार है।

९—अपराजिता, पर्णशबरी (सं०चि०२) आदि बौद्ध देवता तथा महाविद्या, मायूरी, महामायूरी (सं०उ०८) आदि मंत्र बौद्धागम के हैं।

१०—गर्भ के सत्वविशेषकर भावों में अभीक्ष्ण श्रुतियों का निर्देश है[1]। इसकी व्याख्या करते हुए इन्दु ने लिखा है :—

अभीक्ष्णं पुनः पुनर्विहिताः श्रुतयो गर्भस्य सत्वविशेषकराः। तेन सुसत्वादीनां बुद्धादीनां संबन्धिन्यः श्रुतयो गर्भिण्या अभीक्ष्णं श्रुताः सुसत्वमेव गर्भं जनयन्ति।

इससे पता चलता है कि इन्दु ने भी वाग्भट के बौद्धत्व का समर्थन किया है।

११—अवलोकित बौद्धगुरु का शिष्य होना भी वाग्भट के बौद्धत्व का समर्थक है। (सं० उ० ५०)

१२—वैद्यगुणों के प्रसंग में बोधिसत्व के आचरण का विधान किया गया है (सं०उ०५०)। कोई भी वैदिकमतावलम्बी आचार्य बुद्ध के चरित का अनुसरण करने का उपदेश क्यों करेगा ?

---

१. सत्वविशेषकराणि पुनर्मातापितृसत्वादयोऽन्तर्वत्न्याःश्रुतयश्चाभीक्ष्णं स्वोपचितं च कर्म भवति (सं० शा० १)

टी० रुद्रपारशव [1] ने अष्टांगसंग्रह के उपोद्घात में लिखा है :—

"कुछ लोग कहते हैं कि वाग्भट ब्राह्मण था क्योंकि धर्माधिकरण महापंडित हेमाद्रि ने उसे 'आचार्य' पद से स्मरण किया है। कुछ लोग कहते हैं कि सिन्धु प्रदेश पर जब यवनों का आक्रमण हुआ तब अनेक ब्राह्मणस्थल नष्ट हो गये और उसी काल में अन्य कोई गति न होने से वाग्भट ब्राह्मणत्व छोड़कर बौद्धधर्म में दीक्षित हुए। यह भी कहा जाता है कि क्योंकि एकादशी के दिन व्रतभंग के भय से आचार्य ने ग्रन्थों के पठन-पाठन का निषेध किया है अतः वाग्भट को बौद्ध होना चाहिए। अतः यह सर्वथा बौद्धमतावलम्बी हैं। फिर भी ब्राह्मणधर्म से इन्हें किंचित् भी द्वेष नहीं था क्योंकि वैदिकधर्मविहित अनेक तथ्यों का उन्होंने निर्देश किया है।"

डा० कीथ [2] वाग्भट को बौद्ध मानते हैं। डा० प्रफुल्लचन्द्र राय भी इसका समर्थन करते हैं। [3]

दूसरी ओर, गणेशशास्त्री तर्टे, भट्ट नरहरि, कृष्णराव शर्मा, रा० वि० पटवर्धन आदि विद्वान वाग्भट को वैदिकमतावलम्बी मानते हैं। [4] इनकी प्रमुख युक्तियां निम्नांकित हैं :—

१—देव, गो, विप्र, हर, हरि आदि की पूजा का विधान, अथर्वविहित शान्ति तथा प्रतिकूल ग्रहों की पूजा का प्रतिपादन वैदिक धर्म का समर्थन करता है। मंगलाचरण में 'बुद्ध' शब्द का अर्थ 'तथागत' न लेकर 'ज्ञानवान्' अर्थ लेना चाहिए।

२—यदि वाग्भट बौद्ध होते तो वेद के एक उपवेद आयुर्वेद में कैसे प्रवृत्त होते और उसमें भी परम वैदिक आत्रेयादि महर्षियों का कैसे अनुसरण करते ?

---

१. अष्टांगसंग्रह–उपोद्घात—पृ० ३-४

२. To identify him with Vagbhata, who was clearly a Buddhist, seems eminently reasonable—A History of Samskrit literatue, page 510.

३. Vagbhata was Buddhist by religion, as the opening.......... of his treatise, addressed to Bhuddha or some Buddhistic emblem, clearly reveals.

—History of Chemistry in ancient & modern India, page 70.

४. गुरुपद हालदार वाग्भट को परम हिन्दू मानते हैं (वृद्धत्रयी, पृ. २९९)

३—"न मात्रामात्रमप्यत्र किंचिदागमवर्जितम्" इस प्रतिज्ञा से स्पष्ट होता है कि वाग्भट प्रमाणपरतंत्र थे और परतंत्रता वैदिकमतावलंबिनी ही हो सकती है क्योंकि बौद्ध स्वतन्त्र और युक्तिवादी होते हैं।

४—शिष्योपनयनीय अध्याय में उपनयन का विधान ब्राह्मणधर्मानुसारी है।

५—धर्माधिकरण महापंडित हेमाद्रि ने आचार्य पद से उनका स्मरण किया है अतः उनका ब्राह्मणत्व सिद्ध होता है।

६—मद्य-मांस आदि का प्रतिषेध नहीं है। यदि वाग्भट बौद्ध होते तो इसका प्रतिषेध अवश्य करते।

७—तारा आदि देवताओं का उल्लेख वैदिकमतावलम्बी वराहमिहिर आदि ने भी किया है। इसके अतिरिक्त ये देवता बौद्धों की परंपरा में ही हैं, शाक्तों के नहीं यह कहना कठिन है।

इनमें अधिकांश विद्वानों का मत है कि वैदिकधर्मावलम्बी होते हुए भी वाग्भट बौद्धधर्म के प्रति उदार विचार रखते थे। कुछ लोग वाग्भट को जैन मानते हैं। इसका कारण यह है कि वाग्भट ने अपने ग्रन्थ में "अर्हत्" और "जिन" शब्दों का उल्लेख किया है तथा अहिंसा आदि पर विशेष जोर दिया है तथा वाग्भट नामक अनेक व्यक्ति जैन संप्रदाय में हो चुके हैं और जैन-वाङ्मय में भी यह अभिधा लोकप्रिय है।[1] वस्तुतः "जिन" शब्द भगवान बुद्ध के निर्वाण के बाद उनके लिए प्रयुक्त होने लगा था और अहिंसा आदि भी बौद्धधर्म के विशेष अंग हैं। अतः वाग्भट को जैन कहना उपयुक्त नहीं है। डा० प० ल० वैद्य की युक्तियां भी चिन्तनीय हैं। स्नान के बाद पिंडप्रदान का विधान स्मृतियों में भी है[2] और

---

१. देखें.—प्रबन्धचिन्तामणि, वैद्यवाग्भटप्रबन्ध

प्रबन्धकोश, हेमसूरिप्रबन्ध (संघे उदयनसुतो वाग्भटश्चतुर्विंशति महाप्रासादकारापकः)

२. परकीयनिपातेषु न स्नायाच्च कदाचन।
निपातकर्तुः स्नात्वा तु दुष्कृतांशेन लिप्यते॥
सप्तोद्धृत्य ततः पिण्डान् कामं स्नायाच्च पंचधा।
उदपानात् स्वयं ग्राहाद् बहिः स्नात्वा न दुष्यति॥ मनु ४।२०१ (९)
"पंचपिण्डाननुद्धृत्य न स्नायात् परवारिणि—या० स्मृ० १।१५९

वाग्भट में यही शब्दावली है अतः अधिक संभावना है कि यहीं से लिया गया हो।

वाग्भट ने संभवतः वहीं से लिया है। दश धर्मपथों का भी उल्लेख स्मृतियों के आधार पर ही है।[1] 'अनुयायात् प्रतिपदं सर्वधर्मेषु मध्यमाम्' यह बौद्ध आचार हो सकता है किन्तु यह ब्राह्मण ग्रन्थों में भी प्रतिपादित है। कालिदास ने अनेक स्थलों पर मध्यम क्रम का उल्लेख किया है[2]।

सम्भवतः वाग्भट ब्राह्मणकुल में उत्पन्न होने के कारण मूलतः वैदिकधर्मानुयायी था किन्तु बौद्ध गुरु का शिष्य होने के कारण बौद्धधर्म के प्रति उसने सम्मान प्रकट कर अपनी रचना में उसे उचित स्थान दिया है। इससे तत्कालीन राज्य और समाज की धार्मिक सहिष्णुता का भी परिचय मिलता है जिससे एक ब्राह्मण अपनी रचना में वैदिक धर्म के साथ साथ बौद्ध धर्म को भी सादर स्थान दे सका।

काल

वाग्भट के काल के सम्बन्ध में इतने मत हैं कि किसी निर्णय पर पहुँचना एक कठिन कार्य है। इन मतों की अधिकतम सीमा २ शती ई० पू० और न्यूनतम सीमा १३ वीं शती है। ये मत निम्नांकित हैं :—

(१) कुण्टे—२ शती ई० पू०

(२) ज्योतिषचन्द्र सरस्वती—ई० सन् के पूर्व (संग्रह), ५वीं शती या कुछ पूर्व (हृदय)

(३) चरित्रकोश—१५० ई० लगभग

(४) रुद्रपारशव—२ शती

(५) पटवर्धन—२ शती का अन्त या ३ शती का प्रारम्भ

(६) गुरुपद हालदार—२-३ शती

(७) चरक (जामनगर)—४ शती के पूर्व

(८) पराडकर—४ शती का उत्तरार्ध

(९) नन्दकिशोर शर्मा—४ शती का उत्तरार्ध

---

१. तस्येह त्रिविधस्यापि त्र्यधिष्ठानस्य देहिनः।
दशलक्षणयुक्तस्य मनो विद्यात् प्रवर्तकम्॥
त्रिविधं च शरीरेण वाचा चैव चतुर्विधम्।
मनसा त्रिविधं कर्म दश धर्मपथांस्त्यजेत्॥ मनु० १२।४–८(१)

२. नृपा इवोपप्लविनः परेभ्यो धर्मोत्तरं मध्यममाश्रयन्ते। रघु० १३।७
एषा मनो मे प्रसभं शरीरात् पितुः पदं मध्यममुत्पतन्ती। विक्र० १।२०

(१०) यादव जी—४ शती का अन्त या ५ शती का प्रारम्भ
(११) गणनाथ सेन—५ शती का प्रारम्भ
(१२) अत्रिदेव—५ शती का पूर्वार्द्ध
(१३) हरिप्रपन्न शर्मा—६ शती
(१४) हरिदत्त शास्त्री—६ शती
(१५) दासगुप्त—६ शती का अन्त या ७ शती का प्रारम्भ
(१६) कुटुम्बिया— " " "
(१७) हार्नले—६२५ ई० (I) ८ या ९ शती (II)
(१८) विण्टरनिज— " "
(१९) कीथ— " "
(२०) मुखोपाध्याय— " "
(२१) अग्रवाल—७ वीं शती
(२२) महाराष्ट्रीय ज्ञानकोश—८ शती के पूर्व
(२३) जौली—८ शती के पूर्व
(२४) फिलिओजा—७-१० शती
(२५) जिमर—९ शती
(२६) राय—९ शती (८००-८५० ई०)
(२७) भट्टाचार्य—९०० ई०
(२८) कार्डियर—११९६-१२१८ ई०

स्पष्टतः अधिकांश विद्वान् वाग्भट को गुप्तकाल या उत्तर गुप्तकाल में रखने के पक्षपाती हैं।

श्री कुण्टे ने अष्टांगहृदय के उपोद्घात (पृ० १७-१८) में वाग्भट का काल १ या २ शती ईस्वी पूर्व लिखा है और इसके समर्थन में निम्नांकित युक्तियां दी हैं :—

१—ग्रन्थ में विशाल आयुर्वेद वाङ्मय का निर्देश किया है जिस पर उनकी रचना आधारित है।

२—त्रिदोषसिद्धान्त सरल एवं विशुद्ध अवस्था में लिया गया है जब कि ५–६ शती में यह जटिल हो गया था विशेषतः जब ह्वेनसांग भारत में आया था।

३—मांसाहार का समर्थन किया गया है जिससे पता चलता है कि मांसाहार के प्रति बौद्धों का विरोध वैज्ञानिकों द्वारा मान्य नहीं था।

४—वैशेषिक दर्शन के आधार पर तथा उपनिषदों के समान छः रसों का निर्देश किया गया है।

५—कुछ प्राचीन प्रदेश जैसे सौवीर निर्दिष्ट हैं।

६—वार्तिककार कात्यायन ने हिंसा को जिस अर्थ में लिया है उसी अर्थ में यहां भी उसका प्रयोग हुआ है।

७—बौद्ध आचार का वर्णन किया गया है।

८—चैत्य आदि संस्थाओं का निर्देश है।

९—सुश्रुत के सम्बन्ध में कात्यायन को जानकारी थी और सुश्रुत के शताब्दियों बाद वाग्भट हुए।

१०—अनार्य की सेवा नहीं करनी चाहिये यह प्राग्बौद्ध काल तथा प्रारम्भिक बौद्धकाल की भावना है।

११—दक्षिणापथ का शृंगवेरपुर निर्दिष्ट है तथा दक्षिणी वायु की प्रशंसा की गई है। दक्षिणापथ का द्वार पतञ्जलि के समय खुला था।

१२—सुरापान का खुलेआम विधान है।

१३—प्रारम्भिक बौद्धकालीन भूगोल का वर्णन है।

१४—गोमांस का भी विधान है जो प्रारम्भिक बौद्धकाल की सम्भावना है। चतुर्थ या पंचम शताब्दी में ब्राह्मणधर्म के प्राबल्य के कारण गोमांस के विरुद्ध भावना का प्रचार था।

१५—राजवैद्य का निर्देश है और राजा शूद्र नहीं होकर आर्य था।

१६—वर्णिनी या श्रमणी प्रारम्भिक बौद्धकाल में ज्ञात थी।

१७—चरक का उल्लेख है अतः वाग्भट पंतजलि के बाद आते हैं।

१८—वर्गीकरण की पद्धति जो बौद्धकाल के प्रारम्भ में व्याप्त थी वही पाई जाती है।

१९—मेरे पास एक ४१० वर्ष पुरानी टीका की एक हस्तलिखित प्रति है।

२०—वाग्भट का एशिया-संबंधी वनस्पति-वर्णन किसी भी वैदिक या बौद्धिक रचना से विकसित है।

२१—हेमाद्रि ने सूत्रस्थान और कल्पस्थान पर टीका लिखी है इससे पता चलता है कि वाग्भट का समय बहुत पहले था।

उनके मत में, इस प्रकार वाग्भट का काल द्वितीय शती ई० पू०[१] है क्योंकि

१. देखिये—Bhagwat sinha jee: History of Aryan Medical science page 30.

"some one is of the opinion that Vagbhata, the celebrated

उसी समय बौद्ध सम्राटों के शिलालेखों द्वारा बौद्ध नीतियों की संपुष्टि की गई थी जिसके द्वारा मांसाहार का निषेध किया गया और जिससे इस सम्बन्ध में जनभावना का एक नया अध्याय खुला।

श्रीज्योतिषचन्द्र सरस्वती ने लिखा है[1] कि माधवकर के रुग्विनिश्चय नामक ग्रन्थ में वाग्भट के अनेक वचन मिलते हैं। इससे स्पष्ट है कि वाग्भट का ग्रन्थ अष्टांग-हृदय उस समय प्रसिद्ध एवं प्रचलित ग्रन्थ था। इसके लिए यदि दो शताब्दी का काल भी रखें और माधव का काल सातवीं शती है तो वाग्भट (अष्टांगहृदय) का काल पाँचवीं शती या कुछ पूर्व होता है।

संग्रहकार हृदयकार से प्राचीन हैं। उसमें शक नृपतियों तथा शकांगनाओं का बहुशः उल्लेख होने से उस समय भारत में शकाधिपत्य था ऐसा अनुमान होता है। हर्षवर्धन (विक्रमादित्य ?) के बाद शकों का आधिपत्य नहीं रहा, उसी ने शकों को जीतकर शकारि उपाधि प्राप्त की और शकाब्द चलाया[2]। इस प्रकार संग्रहकार का काल ईस्वी सन् के पूर्व ही हो सकता है।

चरित्रकोशकार मध्ययुगीन चरित्रकोश (पृ० ७२७) में वाग्भट काल के संबंध में लिखते हैं :—

"वाग्भट १५० ई०के आस-पास हुए। यह आयुर्वेदतन्त्र और सौगततन्त्र के कर्त्ता थे। इन्हीं के समय में शक राजा शासन करते थे जो वाग्भट के 'पलाण्डुप्रिय शकनृपति' इस कथन से सिद्ध होता है।

श्री टि० रुद्रपारशव ने अष्टांगसंग्रह के उपोद्घात में इस संबंध में अपना मत तो स्पष्ट नहीं किया किन्तु यह लिखा है कि जर्मन विद्वान वाग्भट का काल द्वितीय शती मानते हैं अतः इससे उनकी सहमति सूचित होती है।

---

author of the Astangahridaya flourished in the time of the Mahabharat, and that he was the family physician of the Pandawas.

—Ibid, page 188.

इसी प्रकार रसरत्नसमुच्चय (आनन्दाश्रम, पूना) के संपादक कृष्णराव वाग्भट का काल ३००० ई० पू० मानते हैं।

१. उपोद्घात, पृ० १४, अष्टांगहृदय तत्त्वबोधव्याख्या-सहित (श्रीस्वामी लक्ष्मीरामनिधिग्रन्थमाला, जयपुर)

२. Raj Bali Pande : vikramaditya of Ujjayini.

पं० रामचन्द्र विनायक पटवर्धन ने सुश्रुतसंहिता के उपोद्घात में लिखा है कि वाग्भट का काल द्वितीय शती के अन्त या तृतीय शती के प्रारम्भ में है। इस संबंध में वह निम्नांकित युक्तियां देते हैं :—

१—वाग्भट सिन्धु-देशवासी थे और संभवतः वह सिन्धु पर यवनों के आक्रमण के पूर्व हुए थे। यह आक्रमण ७१४ ई० के आस-पास हुआ था।

२—कौस्मा डि कोरस ने "ताञ्जूर" नामक जिस ग्रन्थ का शोध किया है उसमें चरक-सुश्रुत वाग्भट तीनों का नाम है। जार्ज हूट का मत है कि यह ग्रन्थ ८ वीं शती के उत्तरकाल का है।

३—चीनी यात्री इत्सिंग (७ वीं शती) ने यद्यपि वाग्भट का नाम नहीं लिया है किन्तु स्पष्टतः अष्टांगसंग्रह का संकेत किया है।

४—वाग्भट में रसचिकित्सा नहीं मिलती, रसचिकित्सा का प्रसार भारत में ६ शती के बाद ही हुआ। वाग्भट ने पारद का उल्लेख किया है और चिकित्सा में उसकी उपयोगिता प्रदर्शित की है। रसायन-प्रकरण (अ० हृ० ३९।१६१) का एक श्लोक[1] थोड़े रूपान्तर से वराहमिहिर की बृहत्संहिता में मिलता है[2]। संभवतःवराहमिहिर ने यह वाग्भट के आधार पर ही लिखा। वराहमिहिर का जन्मकाल ५०५ई० है अतः वाग्भट को १०० या १५० वर्ष पहले होना चाहिए। इस प्रकार वाग्भट ४ शती ई० के पूर्व नहीं हो सकते। अतः उनका काल २ शती के अन्त में या ३ शती के पूर्वभाग में होना चाहिए।

श्रीगुरुपद हालदार अष्टांगसंग्रह आदि ग्रन्थों के रचयिता वाग्भट का काल २–३ शती मानते हैं। उनका कथन है कि नागार्जुन का मतानुयायी होने से वह उसका

---

१. शिलाजतुक्षौद्रविडंगसर्पिर्लोहाभयापारदताप्यभक्षः।
आपूर्यते दुर्बलदेहधातुस्त्रिपंचरात्रेण यथा शशांकः ॥ सं० उ० ४९।२४५

२. माक्षीकधातुमधुपारदलोहचूर्णपथ्याशिलाजतुविडंगघृतानि योऽद्यात्।
सैकानि विंशतिरहानि ज्वरान्वितोऽपि सोऽशीतिकोऽपि रमयत्यबलां युवेव ॥
—बृ० सं० ७६।३.

और देखें:—vahata or vagbhata who was a Buddhist is thrice or four times referred to in this Commentary. His reference to Saka Kings being very fond of onions enables us to assign him to the second or third Century A. D.

—Hardatta Sharma and N. G. Sardesai, Introduction, P. VIII, Namalinganushashan with Kshirswami's Commentary.

परवर्ती है तथा भर्तृहरि (छठी शती) ने एक वैयाकरण आचार्य के रूप में उसके पितामह (वाग्भट) को उद्धृत किया है। इसके अतिरिक्त, वह शकाधिपति वासुदेव (कनिष्क के पौत्र) का समकालीन था क्योंकि दोनों सिन्धुवासी थे। संभवतः वह राजवैद्य भी था।[१]

चरकसंहिता (जामनगर) के प्रथम भाग (पृ० १००) में लिखा है कि चरकसंहिता, अष्टांगसंग्रह तथा अष्टांगहृदय की परस्पर तुलना करने पर स्पष्ट होता है कि वाग्भट ने चरक का आधार लिया है किन्तु दृढबलने वाग्भट का कुछ भी नहीं लिया है। दृढबल द्वारा प्रतिसंस्कृत चरक के गद्यभाग को भी वाग्भट ने ज्यों का त्यो श्लोकों में कर लिया है। इससे पता चलता है कि दृढबल वाग्भट के पहले हुए।

दूसरी बात यह है कि जेज्जट वाग्भट के शिष्य थे और उन्होंने चरक के दृढबल द्वारा प्रतिसंस्कृत अंश पर भी टीका लिखी है। इससे भी स्पष्ट है कि वाग्भट दृढबल के बाद हुए।

इसके अतिरिक्त,

१—चीनी यात्री इत्सिंग ६७५ और ६८५ ई० के बीच में भारत आया था। उसने अपने विवरण में वाग्भट का संकेत किया है। अतः वाग्भट का काल ७ वीं शती के पूर्व ठहरता है।

२— माधवनिदान ने वाग्भट के श्लोकों को उद्धृत किया है। माधवनिदान का अरबी अनुबाद हारुन-अल-रसीद के समय (८वीं शती, ७५०–८५० ई०) में हुआ था। अतः यदि माधवनिदान का समय ८ वीं शती में रक्खा जाय तो वाग्भट का समय एक शती और पहले अर्थात् ६ ठीं शती में आता है।

३—वराहमिहिर ने कान्दर्पिकाध्याय में वाग्भट के योगों को उद्धृत किया है। वराहमिहिर ५ वीं शती में थे अतः वाग्भट उसके पूर्व हुए।

४—भट्टार हरिचन्द्र वाग्भट के समकालीन थे। भट्टार हरिचन्द्र राजा साहसांक (३७५–४१३ ई०) के काल में हुए अतः वाग्भट ४ थी शती के बाद नहीं हो सकते।

श्री हरिशास्त्री पराड़कर[२] ने वाग्भट का काल ४ थी शती का उत्तरार्ध माना है। इस संबंध में उन्होंने निम्नांकित युक्तियां दी हैं :—

१—वाग्भट ने चरक और सुश्रुत का उल्लेख किया है और माधवकर ने वाग्भट के पाठों को यथावत् उद्धृत किया है। चरक का समय १ शती का अन्त[३]

---

१. गुरुपद हालदारः वृद्धत्रयी, पृ० ४४–४५; २९२–२९३.

२. अष्टांगहृदय-उपोद्घात पृ० १२-१५,

३. आचार्य यादव जी—चरक संहिता, उपोद्घात पृ० ९-१०

तथा माधवकर का समय ७ वीं शती[1] या उसके कुछ पूर्व है। इस प्रकार वाग्भट का समय १ से ७ वीं शती के बीच ठहरता है।

२—आभ्यन्तर साक्ष्य के आधार पर, वाग्भट ने अष्टांगसंग्रह में शक राजाओं तथा शकांगनाओं का उल्लेख किया है अतः वह शक राजाओं के समकालीन प्रतीत होते हैं। शक राजाओं का शासन-काल १ से ४ शती रहा है इस प्रकार वाग्भट २ से ५ शती के बीच में रहे हैं।

३—वाग्भट के शिष्यों इन्दु और जेज्जट ने चरक के व्याख्याकार भट्टार हरिचन्द्र का उल्लेख किया है अतः भट्टार हरिचन्द्र इन्दु और जेज्जट के समकालीन हों या पूर्ववर्त्ती हों ऐसा प्रतीत होता है किन्तु वाग्भट ने स्वयं भट्टार हरिचन्द्र का उल्लेख नहीं किया है अतः वह वाग्भट के पूर्वपर्ती नहीं होकर समकालीन ही सिद्ध होते हैं जेज्जट ने चरक की टीका लिखी, उसके कुछ ही पूर्व भट्टार हरिचन्द्र ने टीका की रचना की हो ऐसी संभावना है।

भट्टार हरिचन्द्र साहसांक राजा के राजवैद्य थे ऐसा भट्टार हरिचन्द्र के वंशज महेश्वर ने लिखा है।[2] साहसांक विक्रमादित्य चन्द्रगुप्त द्वितीय थे ऐसा ऐतिहासिकों का मत है। यह शक राजाओं के समकालीन भी थे और उनको युद्ध में परास्त कर 'शकारि'की पदवी प्राप्त की। द्वितीय चन्द्रगुप्त का काल ३७५-४१३ ई० था अतः भट्टार हरिचन्द्र का भी यही काल होगा। भट्टार हरिचन्द्र वाग्भट के शिष्यों से कुछ पहले हुए अतः वाग्भट का काल ४ थी शती का उत्तरार्ध ठहरता है।

वाग्भट सिन्धुदेशज थे और उस प्रदेश में शकों का बाहुल्य था अतः संभवतः उन्होंने उनकी जीवनचर्या तथा शकांगनाओं के लावण्य का स्वतः अनुभव किया होगा।

४—वराहमिहिर ने (५०५ ई० जन्मकाल) वाग्भट के एक श्लोक का उद्धरण दिया है अतः वाग्भट का काल उसके पूर्व ही होता है।

इस प्रकार वाग्भट का काल ४ थी शती का उत्तरार्ध ठहरता है।

पं नन्दकिशोर शर्मा[3] ने उपर्युक्त मत का समर्थन किया है।

---

१. कविराज गणनाथ सेन—प्रत्यक्षशारीरम्, उपोद्घात पृ० ५३

२. श्रीसाहसांकनृपतेरनवद्यवैद्यविद्यातरंगपदमद्वयमेव बिभ्रत्।
यश्चन्द्रचारुचरितो हरिचन्द्रनामा स्वव्याख्यया चरकतंत्रमलंचकार॥
—विश्वप्रकाशकोष, कान्तवर्ग, श्लो०५

३. अष्टांगसंग्रह—उपोद्घात—पृ० ६

महामहोपाध्याय कविराज गणनाथ सेन ने वाग्भट का काल ५ वीं शती का प्रारम्भ माना है। इसमें उन्होंने तीन हेतु दिये हैं :—[1]

१—चीनी परिव्राजक इत्सिंग द्वारा निर्देश।

२—चक्रपाणि, डल्हण आदि के द्वारा वाग्भट के पाठ का उद्धरण।

३—मुहम्मद बिन कासिम का सिन्ध पर आक्रमण। यह आक्रमण ८ वीं शती के प्रारम्भ में हुआ और उसके बाद राज-विप्लव के कारण ऐसे ग्रन्थों की रचना संभव नहीं थी।

श्री अत्रिदेवगुप्त श्रीपराड़कर के आधार पर वाग्भट का काल ५ वीं शती का पूर्वार्ध मानते हैं।[2] इसके अतिरिक्त एक युक्ति यह और देते हैं कि गुप्तकाल में पितामह का नाम रखने की प्रवृत्ति मिलती है।[3] वाग्भट का नाम भी पितामह के नाम पर है अतः यह गुप्तकालीन प्रतीत होते हैं।

आचार्य यादवजी त्रिकमजी वाग्भट का काल चतुर्थ शती का अन्त या पंचम शती का आरम्भ मानते हैं।[4] भट्टार हरिचन्द्र का समय द्वितीय चन्द्रगुप्त (३७५–४१३ ई०) के काल में मानते हैं। यह भट्टार हरिचन्द्र वाग्भट के पूर्ववर्ती थे क्योंकि वाग्भट के शिष्य (समकालीन) जेज्जट ने चरक की निरन्तरपदव्याख्या में भट्टारहरिचन्द्र का उल्लेख किया है।[5] चक्रपाणि ने भी "तन्मतानुसारिणा वाग्भटेन चोक्तं" कहकर वाग्भट का पूर्वभवत्व समर्थित किया है। अष्टांगसंग्रह में शकों का उल्लेख और वर्णन होने से वाग्भट शक राजाओं के शासन-काल में या उसके कुछ ही बाद थे ऐसा प्रतीत होता है। शकों का शासन-काल २–४ शती तक था। भट्टार हरिचन्द्र (४ थी शती के अन्त या ५ वीं शती के आरम्भ) से बाद में होने के कारण, इत्सिंग नामक चीनी यात्री (७ वीं शती) द्वारा अष्टांगसंग्रह के पठनपाठन के प्रचार का उल्लेख होने के कारण तथा माधवकर (७ वीं शती) के द्वारा वाग्भट के पाठों का उद्धरण होने से वाग्भट का काल चतुर्थ शती के अन्त या पंचम शती के प्रारम्भ में ठहरता है।

---

१. 'अथ वाग्भटकालनिर्णये त्रयो हेतव उपलभ्यन्ते'। प्रत्यक्षशारीर–उपोद्घात, पृ० ५४

२. अष्टांगसंग्रह–वक्तव्य, पृ० १४

३. आयुर्वेद का बृहत् इतिहास–पृ० २१५–२३४

४. चरकसंहिता–(निर्णयसागर)–उपोद्घात–पृ० १३–१५

५. आचार्यप्रणीतश्चायमध्यायः भट्टारहरिचन्द्रेणैव सुविवृतः।—चरक, मदात्ययचिकित्सा

पं० हरिदत्त शास्त्री[1] प्रायः इन्हीं युक्तियों का आधार लेते हैं। उनका कथन है कि शकों का राज्य ४ थी या ५ वीं शती में था अतः भट्टार हरिचन्द्र के परवर्ती होने के कारण वाग्भट का काल ६ ठी शती मानना चाहिए क्योंकि इत्सिंग (७ वीं शती) के समय यह पर्याप्त प्रसिद्ध हो चुके थे।

डा० हार्नले[2] वाग्भट प्रथम को ७ वीं शती के प्रारम्भ या ६२५ ई० के आस पास तथा वाग्भट द्वितीय को ८वीं शती में, चक्रपाणि (१०६० ई०)के पूर्व रखते हैं। उनके मत से माधव, दृढबल और वाग्भट द्वितीय वाग्भट प्रथम के परवर्ती हैं।[3]

डा० कीथ[4] वाग्भट प्रथम को इत्सिंग से कुछ पूर्व अर्थात् ७वीं शती में मानते हैं और वाग्भट द्वितीय को उससे एक शतक बाद तक रखते हैं।

दासगुप्त[5], कुटुम्बिया[6], विण्टरनिज[7], मुखोपाध्याय[8] और अग्रवाल[9] इसी के समर्थक हैं। इन विद्वानों ने प्रायः इत्सिंग के यात्रा-विवरण के आधार पर ही अपना मत स्थापित किया है। वासुदेवशरण अग्रवाल वाग्भट को लगभग बाणभट्ट का समकालीन मानते हैं।

महाराष्ट्रीय ज्ञानकोश (विज्ञानेतिहास विभाग नवम प्रकरण, पृ० ३७८) में लिखा है :—

"यद्यपि तिब्बत में उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर हूठ ने यह निर्णय किया है कि वाग्भट का काल आठवीं शती के बाद नहीं हो सकता तथापि इस विषय में अभी

---

१. चरकसंहिता–उपोद्घात (मोतीलाल बनारसीदास)।

२. Osteology, oxford, 1907, intro, page 16.

३. Drdhabala, Though he does not name vagbhat I as his authorities, guotes from him very frequently–Osteology intro page 12. footnote 5.

४. Keith–A History of Sanskrit literature, page 510.

५. Das Gupta : A History of Indian Philosophy, Vol. II, 433.

६. Kutumbiah : Ancient Indian Medicine, Gen. Introduction, XXXV.

७. Winternitz : A history of Indian Literature, III, II, 635.

८. G. N. Mukhopadhyaya : History of Indian Medicine, Vol. III, 630–633.

९. वासुदेवशरण अग्रवाल : हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० २२।

मतभेद है। अरबी ग्रन्थों में निर्दिष्ट "अष्टांकर" नामक ग्रंथ अष्टांगहृदय ही है यह मानने पर भी उसका काल नवीं शती ही आता है। इस प्रकार अष्टांगसंग्रह का काल ८ वीं शती से पूर्व ही होता है।"

डा० जौली[1] का कथन है कि वृन्द ने सिद्धयोगसंग्रह (११२७) में वाग्भट का उद्धरण दिया है। माधव वृन्द से पहले हुये हैं किन्तु माधव का भी उल्लेख वाग्भट (द्वितीय) में न होने से वाग्भट माधव के पूर्व हुयें हैं। वृन्द के पूर्ववर्ती होने से माधव को ९ वीं शती में रक्खा जा सकता है या यदि अरबी में अनूदित बदन, यदन (निदान) को माधवनिदान समझा जाय तो ८ वीं शती रक्खा जा सकता है। तिब्बती स्रोतां के आधार पर हूठ ने अष्टांगहृदय के काल की यही अन्तिम सीमा मानी है। अरबी में इसके अनुवाद "अष्टांकर" से भी यही निष्कर्ष निकलता है। इसके अतिरिक्त, अफीम, नाड़ी-परीक्षा तथा धातुओं के अन्य विधान भी इसमें नहीं मिलते। इस प्रकार यदि अष्टांगहृदय का काल ८ वी शती या इसके कुछ पूर्व माना जाय तो अष्टांगसंग्रह स्वभावतः इससे और प्राचीन सिद्ध होता है।

जिमर[2] का भी यही मत है। वह लिखता है :—

"With Sushruta the literary traditions of classic Hindu Medicine reaches a new style which sets the model for the next classic author, Vagbhata (8th Century A. D.), and the later text bo ks."

अर्थात् "सुश्रुत से प्राचीन भारतीय चिकित्सा की वाङ्मय-परम्परा की नवीन शैली का प्रारम्भ होता है जो परवर्ती ग्रंथकार वाग्भट (८ शती ई०) तथा अन्य लेखकों के लिए आदर्श रही है।"

फिलिओजा नागार्जुनकृत योगशतक तथा सुश्रुत-प्रतिसंस्कार पर अष्टांगसंग्रह और अष्टांगहृदय आधारित होने के कारण वाग्भट का काल ७ से १० वीं शती के बीच मानता है। इसके अतिरिक्त, अरबी की किताब-अल-फिहरिस्त (९८८ ई०) में अष्टांगहृदय असंकर या अष्टंकर नाम से उद्धृत है।[3]

---

१. Julius Jolly—Indian Medicine-page 10-12.

२. Zimmer—Hindu medicine-page 58.

३—"The texts attributed to Vagbhata, the Astangasamgraha and the Astangahridaya follow and eventually reproduce the Sushruta Samhita as it has reached us. They also reproduce the Verses of the Yogasataka, slightly anterior to Yi-tsing (vii th cntury) the Astangahridaya is quoted in the Kitab al-fihrist in Arabic, in 988, un ler

डा० पी० कौर्डियर[1] राजतरंगिणी के आधार पर वाग्भट को राजा जयसिंह (११९६-१२१८ ई०) के काल में रखते हैं। कविराज उमेशचन्द्र गुप्त का भी यही मत है। किन्तु राजतरंगिणी की तिथियाँ सर्वदा विश्वसनीय नहीं होतीं अत: डा० राय ने इसका खण्डन किया है। इसके अतिरिक्त, स्टीन के संस्करण में यह पाठ मिलता भी नहीं।

आचार्य प्रफुल्लचन्द्र राय[2] ने वाग्भट का काल संभवत: ९ वीं शती (८००-८५० ई०) माना है। वाग्भट को ७ वीं शती में मानने वाले विद्वानों के मत का प्रतिवाद करते हुए उन्होंने श्री दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य के मत का समर्थन किया है।

डा० गिरीन्द्रनाथ मुखोपाध्याय[3] ने वाग्भट के काल की समीक्षा करते हुए लिखा है कि वाग्भट प्रथम का काल अनिश्चित है तथापि इतना निश्चित है कि वह चरक और सुश्रुत के बाद हुए। भारतीय परम्परा के अनुसार वाग्भट चरक और सुश्रुत के साथ गिने जाते हैं और वृद्धत्रयी के अन्तर्गत आते हैं[4]। यह परम्परा डा० हर्नले के इस मन्तव्य से कि वाग्भट प्रथम ७ वीं शती के आरम्भ में हुए थे नितान्त

---

the name of Asankar or Astankar. These two texts, therefore, belong to the period between vii to xth centuries."

—Filliozat : the Classical doctrine of Indian Medicine, page 14.

१. "सिंहगुप्तसुत: परमबौद्धो वाग्भटाचार्य: काश्मीरनगरपतिजयसिंहस्य प्रजापालनसमये (खृष्टद्वादशशताब्द्यां शक १११८-४०) वर्तमान आसीत्।"

Quoted in Cordier's Vaghbhata et l 'Astanga Hridaya Samhita, 1896 (See Preface to Vaidyak Sabda Sindhu by Kaviraj Umesh Chandra Gupta, 1914, page 5 and Introduction by P. K. Gode of Astangahridaya, Nirnayasagar, page–5)

२. P. Ray–History of Chemistry in Ancient & Mediaval India Ch. VI, page–70 (Indian Chemical Society, Calcutta, 1956)

३. G. N. Mukhopadhyaya–History of Indian Medicine, Vol. III, page 790–809.

४. चरक: सुश्रुतश्चैव वाग्भटश्च तथाऽपर: ।
मुख्याश्च संहिता वाच्यास्तिस्र एव युगे युगे ॥
अत्रि: कृतयुगे वैद्यो द्वापरे सुश्रुतो मत: ।
कलौ वाग्भटनामा च गरिमात्र प्रदृश्यते ॥

—हारीतसंहिता (परिशिष्टाध्याय)

विरुद्ध है। डा० हार्नेल का मत इत्सिंग के कथन पर आधारित है। चीनी यात्री इत्सिंग नालन्दा में ६७५-६८६ ई० तक रहा था और उसने अपने विवरण में लिखा है कि 'आठ विद्यायें (चिकित्सा-शाखायें) जो पहले आठ ग्रन्थों में थीं उन्हें हाल में एक व्यक्ति ने एक ग्रन्थ में निबद्ध कर दिया'[1]। प्रोफेसर जोली इससे सुश्रुत का ग्रहण करते हैं जब कि डा० हार्नेल 'हाल में' शब्द के आधार पर सुश्रुत का निराकरण कर उससे वाग्भट प्रथम लेते हैं[2]। वस्तुतः इत्सिंग के विवरण से इन दोनों में किसी का भी निर्देश नहीं होता है। इसके अतिरिक्त, इससे वाग्भट द्वितीय का ग्रहण क्यों नहीं किया जाय इस सम्बन्ध में कोई युक्ति नहीं दी गई है। केवल इतना कहा गया है कि वाग्भट द्वितीय आठवीं शती से पूर्व नहीं रक्खे जा सकते किन्तु इस सन्बन्ध में प्रमाण नहीं दिया गया है। इसके अतिरिक्त, यह भी कहा गया है कि माधव, दृढबल और वाग्भट द्वितीय ७ वीं से ९ वीं शती के बीच में आते हैं[3] और इनके बीच की अवधि भी अधिक नहीं होगी। यह सब इत्सिंग के आधार पर वाग्भट प्रथम का काल मान कर किया गया है। उन्होंने यह भी दिखलाया है कि वाग्भट प्रथम वाग्भट द्वितीय के पूर्व तथा सुश्रुत के बाद हुये।

वाग्भट को ७ वीं शती में रखने के लिए उन्होंने एक और युक्ति दी है। याज्ञवल्क्यस्मृति में जो अस्थि गणना दी गई है उससे पता चलता है कि उसी प्रकार की गणना मूल चरक और सुश्रुत में पाई जाती थी और उसका अस्तित्व याज्ञवल्क्यस्मृति के पूर्व था। इनका परम्परागत परिवर्तित रूप बाद में आया होगा संभवतः याज्ञवल्क्य (३५० ई०) और वाग्भट प्रथम के बीच में क्योंकि वाग्भट प्रथम ने चरक और सुश्रुत के रूपान्तरित पाठ का ही अनुकरण किया है इससे पता चलता है कि संहिताओं का प्राचीन रूप ४थी शती तक सुरक्षित था और रूपान्तरण के लिए अपेक्षित अवधि का विचार कर वाग्भट प्रथम को ७ वीं शती के आरम्भ में रक्खा जा सकता है। किन्तु यह युक्तिसंगत तर्क नहीं है। यह भी कहा जा सकता है कि वाग्भट प्रथम याज्ञवल्क्य के पूर्व हुये और याज्ञवल्क्य के समय संहिताओं के दोनों रूपान्तर उपलब्ध थे जैसा कि आजकल भी चरकसंहिता के गंगाधरी और जीवानन्दी दोनों संस्करण चल रहे हैं। यदि यह मान भी लिया जाय, जैसा कि वह कहते हैं, कि वाग्भट प्रथम ने सुश्रुत का प्रतिसंस्कार किया तो यह अनुमान किया जा सकता है कि याज्ञवल्क्य ने अस्थिगणना मूल सुश्रुत के आधार पर की और वाग्भट

---

१. Itsing—A Record of the Buddhist Practices in India. Translated by Takakusu, p. 128.

२. J. R. A. S. 1907, p. 413.

३. Hornle's Osteology, introduction, p. 10. 11.

प्रथम द्वारा प्रातिसंस्कृत के नहीं और इस प्रकार इनका काल ७ वीं शती सिद्ध नहीं किया जा सकता। डा० हुर्नले ने स्वयं यह स्वीकार किया है कि यह कोई प्रमाणित तथ्य नहीं है।

डा हार्नले के मत के विरुद्ध निम्नांकित तथ्य हैं :—

१—वाग्भट प्रथम के विषय में ऐसा विश्वास प्रचलित है कि वह ई० सन् के बहुत पहले हुये। कुछ लोगों का यह भी कथन है कि वह युधिष्ठिर के राजवैद्य थे। चरक और सुश्रुत जैसे प्राचीन महर्षियों के साथ वह वृद्धत्रयी में भी परिगणित हैं। डा० हार्नले प्रो० जौली के मत का खंडन करने के लिए सुश्रुत के संबन्ध में इस विश्वास-परम्परा का आश्रय तो लेते हैं किन्तु वाग्भट प्रथम के सम्बन्ध में उसे भूल जाते हैं जिससे उनका आधार ही खंडित हो जाता है। इसके अतिरिक्त, वाग्भट द्वितीय के संबन्ध में यह आपत्ति लागू नहीं होती।

२—इत्सिंग के वर्णन से वाग्भट द्वितीय का भी संकेत हो सकता है।

३—डा० हार्नले ने इत्सिंग के हाल में (Lately) शब्द से वाग्भट प्रथम का ग्रहण किया है किन्तु परवर्ती रचना होने से वाग्भट द्वितीय का इसमें समावेश करना अधिक उपयुक्त है।

४—इत्सिंग ने जो लिखा है कि यह पुस्तक उस समय भारत भर में मान्य थी वाग्भट प्रथम और द्वितीय दोनों के लिए लागू हो सकती है। यदि यह मान लिया जाय कि वाग्भट प्रथम का ग्रन्थ ही उससे अभिप्रेत है तो यह समझ में नहीं आता कि वाग्भट द्वितीय उस पर आधारित एक अन्य ग्रन्थ पुनः १ या २ शती बाद क्यों लिखता। इसके विपरीत, हम देखते हैं कि इस समय वाग्भट द्वितीय का ग्रंथ अष्टांगहृदय संहिता अष्टांगसंग्रह की अपेक्षा अधिक लोकप्रिय और प्रचलित है।

५—अरबी चिकित्सक रेजस (९ वीं शती—८८२ ई०) ने आर्द्रक, कदली आदि द्रव्यों के सम्बन्ध में एक भारतीय लेखक को उद्धृत किया है जिसे उसने 'सिन्दक्षर' या 'सिन्दिचर' कहा है। यह 'सिन्दिचर' सिन्धुनिवासी वाग्भट द्वितीय ही था जो अपने समय में द्वितीय चरक (चर) के रूप में विख्यात था[1]। इसके अतिरिक्त, अष्टांगहृदय का अनुवाद ८ वीं शती में बगदाद के खलीफों के द्वारा कराया गया था।

६—चरक, सुश्रुत और वाग्भट का अनुवाद तिब्बती "तंजूर"[2] में मिलता है जिसका काल जार्ज हूठ ने ८ वीं शती रक्खा है[3]।

---

1. Bhagavat Sinhajee—History of Aryan Medical Science, page 195-196.

—Antiquities of Hindu Medicine, page-38.

2. Jour. Asiatic Soc. XXXVIII, 1835.

3. P. C. Ray's History of Hindu Chemistry, Intro. p. XXIX.

इस प्रकार इत्सिंग के विवरणों से सुश्रुत, वाग्भट प्रथम तथा वाग्भट द्वितीय का जो सम्बन्ध स्थापित किया गया है उसमें वाग्भट द्वितीय के पक्ष में अधिक बल है अतः वाग्भट प्रथम का जो काल बतलाया गया है वह (७ वीं शती का प्रारम्भ) वस्तुतः वाग्भट द्वितीय के लिए उपयुक्त है या सम्भवतः और पहले हो सकता है। इसके अतिरिक्त, यह कहना भी कठिन है कि इत्सिंग के विवरण का उन लेखकों की रचनाओं से सम्बन्ध हो जो अब लुप्त हो चुकी हैं।

श्री दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य ने वाग्भट के काल के संबन्ध में निम्नांकित विचार उपस्थिति किया है :—

१—संग्रह के चिकित्सा-स्थान के द्वितीय अध्याय के अन्त में आर्यावलोकित. पर्णशबरी, अपराजिता, तथा आर्यतारा को प्रणाम करने का विधान है और तथागतोष्णीष नामक मंत्र का जप विहित है। इसके अतिरिक्त मायूरी (७०० श्लोक), महामायूरी (४००० श्लोक) और रत्नकेतु के पाठ का भी विधान है। इन देवी-देवताओं तथा क्रियाओं का समावेश धर्म की अत्यन्त विकसित अवस्था को सूचित करता है विशेषतः पर्णशबरी का जिसके विविधवर्ण वाले तीन मुख तथा छः या ४ हाथ बतलाये गये हैं (साधनमाला पृ० ३०६, इस मंत्र में वह पिशाची और सर्वमारी-प्रशमनी कही गई है)।

२—संग्रह के उत्तरस्थान के ८ वें अध्याय में द्वादशभुज आर्यावलोकित की पूजा तथा उसके बाद महामायूरी के जप का विधान मिलता है। यह स्थिति महायान बौद्ध सम्प्रदाय के विकास की अन्तिम स्थिति में पहुचने की सूचक है। यद्यपि बौद्ध मूर्तियों के कालनिर्णय का प्रश्न बहुत विवाद का विषय है तथापि यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि द्वादशभुज अवलोकितेश्वर की पूजा का भारत में प्रचार नवीं शती के पूर्व नहीं मिलता अतः वाग्भट के काल की न्यूनतम सीमा ८०० ई० रक्खी जा सकती है। इस प्रकार की जितनी मूर्तियाँ देखी गई हैं उनमें से कोई भी १० वीं शती के पूर्व नहीं रक्खी जा सकती। वस्तुतः अवलोकित की भुजाओं में वृद्धि तथा पर्णशबरी के साथ उनका निर्देश परवर्ती बौद्धधर्म की तान्त्रिक अवस्था का द्योतक है।

३—निश्चलकर ने उन्माद-प्रकरण में वाग्भट के एक कथन का उद्धरण दिया है जिनमें रोगी को बोधिचर्या का पाठ सुनाने का विधान है। बोधिचर्यावतार शान्तिदेवरचित ७वीं शती के मध्य में लिखा गया था अतः इसकी धार्मिक ग्रन्थ के रूप में स्वीकृति में अपेक्षित समय को देखते हुये वाग्भट को ८०० ई० स० के पूर्व नहीं रक्खा जा सकता।

४—वाग्भट के पौत्र चन्द्रट योगरत्नसमुच्चय के रचयिता हैं। चक्रपाणि (चक्रदत्त १०४०-५० ई०) और वृन्द (९७५-१००० ई०) ने उनके अनेक योगों को गृहीत किया। निश्चलकर के अनुसार वातव्याधि-प्रकरण का माषतैल (तृतीय) चक्रपाणि ने चिकित्साकलिका (तीसटाचार्यकृत) से लिया है। वही योग वृन्दकृत सिद्धयोग में भी मिलता है। यदि वृन्द को हमलोग १०वीं शती के अन्तिम चरण में रखते हैं तो चन्द्रट और उनके पिता को उस शती के पूर्वार्ध में रखना चाहिए। इस प्रकार वाग्भट की न्यूनतम सीमा ९०० ई० निश्चित की जा सकती है। दूसरे शब्दों में, संग्रहकर्ता वाग्भट ९वीं शती की सीमा के अन्तर्गत हुये न पहले और न बाद में। हृदयकर्ता और रसवाग्भट को भी उसी काल में रखना पड़ेगा[1]।

५—चन्द्रट ने अपनी चिकित्साकलिका-व्याख्या में भोज और वृद्धभोज का उल्लेख किया है। डल्हण ने धन्वन्तरि के शिष्यों में भोज का उल्लेख किया है जो सुश्रुत के समकालीन थे। वृद्धभोज यही थे। निश्चलकर ने एक उद्धरण दिया है :—"इति वृद्धमतसंमत-भोजनृप-ग्रन्थस्यायमिति जेज्जटः" जिससे प्रतीत होता है कि जेज्जट से पूर्व एक भोज राजा हुये थे। वह भी मालवा के परमार थे और चित्तौड़ के राजा (६६५ ई०) के आसपास रहे। एक धारा के राजा भोज (१०१०-५५ ई०) हुये जिन्होंने चिकित्सा की एक.पुस्तक राजमार्तण्ड लिखी।

मेरुतुंग के प्रबन्धचिन्तामणि के ५वें अध्याय में वाग्भट और उनके जामाता लघु वाग्भट के सम्बन्ध में एक रोचक कथा है और ये दोनों धारा के भोज राजा के दरबार में थे ऐसा बतलाया गया है। ९वीं शती के सर्वोच्च प्रतिहार राजा कन्नौज के भोजदेव प्रथम (८४०-८९० ई०) हुये और सम्भव है कि वाग्भट का एक चिकित्सक के रूप में उनसे संपर्क हो! ऐसी स्थिति में वाग्भट ९वीं शती के मध्य में रक्खे जा सकते हैं।

६—संग्रह के पलाण्डुकल्प (उ० ४९) में शकों का जो उल्लेख आया है वहां 'शक' शब्द केवल शकों के लिए लेना उचित नहीं है। वस्तुतः यह शब्द

---

1. "Under the circumstances, the latest limit for the date of Vagbhata can be fixed at 900 A. D. In other words, Vagbhata the author of Sangraha flourished withIn the limits of the 9 th Cent. A. D. neither before nor after that period and the authors of the Hridaya and the Rasa-Vaghbhata, if they are still supposed to be different persons must jostle against the author of the Sangraha for their very existence within the same period." A. B. O. R. I., Vol. XXVIII, page 12੭.

सभी विदेशियों (मुसलमान भी) के लिये प्रयुक्त होता था। प्रस्तुत प्रमाण में इसका सम्बन्ध मुसलमानों से हो सकता है जो सपरिवार सिन्ध में उस समय तक बस गये थे। इसके प्रमाण में संगीतशिरोमणि (१४८५ ई० स०) का निम्नांकित श्लोक उद्धृत किया जा सकता है :—

"घनाटोपं गर्जद् गजतुरगसेनाजलधरैः,
समं नीत्वाशंकं शकशलभसप्तार्चिषभयम्।
तुरुष्कं निर्माय प्रकटितनयं तस्य तनयं
व्याधाद् गौडान् प्रौढः पुनरपि शकानां जनपदान्॥"

इस प्रसंग में श्रीभट्टाचार्य ने डा० हार्नले के इस मत का भी खंडन किया है जो इत्सिंग के यात्राविवरण के आधार पर उन्होंने वाग्भट प्रथम का काल ६२५ ई० के लगभग निश्चित किया है[1]। जौली का भी यह कथन है कि इत्सिंग का अभिप्राय सुश्रुत से था, गलत है। वस्तुतः वाग्भट के पूर्व अनेक आयुर्वेदीय ग्रन्थ लिखे जा चुके थे जो चक्रपाणि, वृन्द और चन्द्रट के आधारभूत रहे। इनमें रविगुप्त का सिद्धसार, अच्युत का आयुर्वेदसार तथा भद्रवर्मा और विन्दुसार की कृतियां मुख्य हैं जो इत्सिंग के समय लोकप्रिय और विख्यात रही होंगी और वस्तुतः इत्सिंग का अभिप्राय इन्हीं में से किसी से होगा न कि वाग्भट से।

समीक्षा

उपर्युक्त मतों के विवरण में हम देख चुके हैं कि वाग्भट के काल के सम्बन्ध में विभिन्न मतों मे इतना पार्थक्य और व्यवधान है कि उन्हें एक बिन्दु पर लाना या उनमें सामंजस्य स्थापित करना कठिन है। एक ओर श्री कुण्टे के अनुसार यह काल छ्ठी शती ई० पू० है तो कोर्डियर के मत में यह १२वीं-१३वीं शती है। इस प्रकार १५०० वर्षों का यह अन्तराल है जिस पर विचार अपेक्षित है।

वाग्भट ने चरक और सुश्रुत का उल्लेख किया है अतः यह निश्चित है कि चरक और सुश्रुत के बाद वाग्भट हुये। यदि यह मान भी लिया जाय कि पतंजलि ही चरक थे या उनके समकालीन थे तब भी उनकी प्रसिद्धि के लिए कुछ समय चाहिए ही। इस प्रकार २सरी शती ई० पू० जो पतंजलि का काल है वही काल वाग्भट का कैसे संभव है ? इसके अतिरिक्त वह युग दार्शनिक प्रमुखता का था जिसका दर्शन

---

1. 'Like many of his chronological theories this one also proves to be wrong. Jolly's contention that sushruta was the man referred to here by Itsing (J. R. A. S. 1907, pages 172-5) seems to be equally wrong.' —A. B. O. R. I., Vol. XXVIII, 127.

हम चरक संहिता में करते हैं। सुश्रुत में इसका पुट अत्यल्प तथा आगे चलकर वाग्भट में यह नितान्त लुप्त हो गया। इस दृष्टि से भी उसे उस काल में रखना संभव नहीं। सैद्धान्तिक जटिलता जो इस अवधि में विकसित हुई थी उसका परित्याग कर वाग्भट में विशुद्ध व्यावहारिक स्पष्टता का निखार है। इससे भी इसका परवर्त्तित्व सूचित होता है। मांसाहार और सुरापान तो स्मृतिविरुद्ध होने पर भी सदा प्रचलित रहा—विशेषतः राजकीय वर्ग में तो वह सदा सम्मानित स्थान पाता रहा। वाग्भट ने संग्रह में अनेक प्राचीन संहिताओं के तथ्यों और विचारों का संकलन किया है अतः यह स्वाभाविक है कि ऐसे प्राचीन विचार ज्यों के त्यों यहाँ मिलें किन्तु इस आधार पर इसकी प्राचीनता सिद्ध करना उचित नहीं होगा। इस प्रकार श्री कुण्टे ने इस सम्बन्ध में जो युक्तियां दी हैं वह साधार नहीं हैं। दक्षिणापथ का द्वार पतञ्जलि के समय खुला था अतः दक्षिणापथ का निर्देश करने से वह व्यक्ति पतंजलिकालीन हो यह आवश्यक नहीं, परवर्ती भी हो सकता है। आर्यत्व ब्राह्मणत्व की भावना प्राग्बौद्धकाल या प्रारम्भिक बौद्धकाल की अपेक्षा गुप्तकाल में अधिक विकसित मिलती है। वर्गीकरण की पद्धति भी वाग्भट की विकसित है। अतः वाग्भट दूसरी शती ई० पू० में नहीं हो सकते।

चरित्रकोशकार ने जो वाग्भट का काल १५० ई० के आसपास रक्खा है वह सम्भवतः कनिष्क के काल का विचार करते हुये किया गया है और उसका आधार अष्टांगसंग्रह में निर्दिष्ट शक और पलाण्डु रक्खा गया है किन्तु संग्रह में निर्दिष्ट धार्मिक एवं सामाजिक स्थिति इसका समर्थन नहीं करती। कनिष्क के काल में बौद्ध महायान-संप्रदाय की नींव ही पड़ी थी किन्तु संग्रह में उसका विकसित रूप मिलता है। कनिष्क के काल तक यक्ष, गन्धर्व, किन्नर आदि की ही मूर्त्तियाँ मिलती थीं किन्तु आगे चलकर देवी-देवताओं की मूर्त्तियां बनने लगीं और उनकी पूजा का विधान विकसित हुआ। संग्रह में यह विकसित रूप ही मिलता है। इसके अतिरिक्त, कुछ विद्वान चरक को कनिष्ककालीन मानते हैं ऐसी स्थिति में वाग्भट को उनके समकालीन कैसे रक्खा जा सकता है? अतः यह मत ग्राह्य नहीं हो सकता। इसी से श्री टि० रूद्रपारशव के द्वारा उद्धृत मत (२सरी शती) भी खंडित हो जाता है।

इस काल की निम्नतम सीमा (१२ वीं–१३वीं शती) मानने वाले पी० कौर्डियर तथा उमेशचन्द्र गुप्त का मत राजतरंगिणी पर आधारित है किन्तु यह पाठ स्टीन के संस्करण में नहीं मिलता तथा राजतरंगिणी की तिथियाँ सर्वदा विश्वसनीय नहीं होतीं अतः यह मत उचित नहीं प्रतीत होता। इसके अतिरिक्त, ८ वीं शती तक यह ग्रन्थ प्रसिद्ध होकर तिब्बती और अरबी में अनूदित हो चुका था तथा उसके पूर्व

चीनी यात्री इत्सिंग के द्वारा निर्दिष्ट हो चुका था अतः इसका काल ७ वीं शती के बाद नहीं रक्खा जा सकता। इसके अतिरिक्त, माधवकर (८ वीं शती) ने अष्टांग-हृदय के श्लोकों को उद्धृत किया है अतः संग्रहकार उसके और पूर्व होना ही चाहिये। वस्तुतः १२ वीं शती का वाग्भट वाग्भटव्याकरण आदि का प्रणेता अन्य व्यक्ति था। दोनों को मिला देने के कारण यह भ्रम हुआ है।

श्री दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य ने धार्मिक स्थिति के आधार पर वाग्भट का काल जो ९ वीं शती माना है वह भी उचित नहीं है। मायूरी, महामायूरी आदि विद्याओं का तथा अवलोकितेश्वर आदि देवताओं का प्रचार बहुत पहले ही हो चुका था। गुप्तकाल में तथा उसके कुछ पूर्व से इनका प्रचार दृष्टिगोचर होता है। फाहियान ने अवलोकितेश्वर का उल्लेख किया है। नावनीतक में भी महामायूरी विद्या का उल्लेख आता है। तान्त्रिक क्रियाएँ भी असंग (३री शती)के बाद प्रचलित हो गई[1]। रत्नकेतु आदि धारिणियों का प्रयोग भी गुप्तकाल में तथा उसके पूर्व से भी होने लगा था[2]। जहाँतक द्वादशभुज का प्रश्न है, उसका संबन्ध ईश्वर (कार्तिकेय) से है न कि अवलोकितेश्वर से। द्वादशभुज कार्त्तिकेय का उल्लेख महाभारत में हुआ[3]। जहां तक बोधिचर्या का संबन्ध है, यह श्लोक अष्टांगसंग्रह में नहीं मिलता, अतः इस आधार पर कोई निणय नहीं लिया जा सकता। वाग्भट के पुत्र एवं पौत्र के आधार पर जो यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है वह भी साधार नहीं है क्यों कि तीसटाचार्य वाग्भट के पुत्र थे और चन्द्रट उसके पौत्र थे यह स्वयं सिद्ध नहीं है। मेरुतुंग के प्रबन्धचिन्तामणि का यह कथन कि वाग्भट और उनके जामाता लघु वाग्भट धारा

---

1. Sadhanmala Vol. II, Introduction, XXVII.

'Tantrism existed from very early times and was transmitted in the most secret manner possibly from the time of Astanga (280-360 A. D.) down to the time of Dharmakirti (600-650 *A. D.*)

2. 'By the fourth Century A. D. there arose a class of works called Dharanis (Protective spells) within the fold of Mahayana Buddhism, and they quickly acquired immense popularity not only in India but also in the countries influenced by its culture.'

—The History and culture of the Indian people, classical age (Vol. III), 579

Also see Winternitz : A History of Indian Literature Vol. II, 380-387.

३. षट्शिरा द्विगुणश्रोत्रो द्वादशाक्षिभुजक्रमः। एकग्रीवैकजठरः कुमारः समपद्यत ॥

—म० भा० वनपर्व २२५।१७

के राजा भोज के दरबार में थे यह राजा भोज से संबद्ध अनेक दन्तकथाओं के समान ही प्रतीत होता है। इससे केवल इतना ही तथ्य निकाला जा सकता है कि उस काल में वृद्ध वाग्भट और लघु वाग्भट दोनों भिन्न व्यक्ति स्वीकृत हो चुके थे।[1] सिन्धुनिवासी वाग्भट का कन्नौज के राजा भोज के दरबार में राजवैद्य होना भी निराधार ही प्रतीत होता है। 'शक' शब्द से मुसलमानों का ग्रहण किया जाय यह भी एक काल्पनिक विचार है। इत्सिंग का अभिप्राय वाग्भट से न होकर चक्रपाणि, वृन्द और चन्द्रट के आधारभूत ग्रन्थों तथा सिद्धसार, आयुर्वेदसार आदि से रहा हो यह भी उपयुक्त नहीं प्रतीत होता क्योंकि एक तो यह कृतियां इतनी एकांगी हैं कि अष्टांग का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकतीं और दूसरे ये परंपरा में कभी विख्यात नहीं रहीं। अतः श्रीभट्टाचार्य के अनुसार वाग्भट का काल ९ वीं शती नहीं माना जा सकता। इसके अतिरिक्त, एक कठिनाई और यह आजाती है कि चूंकि वह तीनों वाग्भटों को एक ही मानते हैं अतः हृदयकार तथा रसरत्नसमुच्चयकार को भी इसी काल में लाना पड़ेगा जब कि रसरत्नसमुच्चयकार का काल १३ वीं शती है और हृदय का काल अरबी अनुवादों के आधार पर ८ वीं शती के पूर्व होना चाहिए।

इसी प्रकार श्री भट्टाचार्य के अनुयायी डा० प्रफुल्लचन्द्र राय का मत भी खंडित हो जाता है।

डा० जोली और जिमर अष्टांगहृदय का काल ८ वीं शती या उसके कुछ पूर्व मान कर संग्रह को उससे और प्राचीन मानते हैं। महाराष्ट्रीय ज्ञानकोशकार भी इसी आधार पर संग्रहकार का काल ८ वीं शती से पूर्व मानते हैं। डा० हार्नले तथा डा० कीथ वाग्भट प्रथम को ७ वीं शती के प्रारम्भ में तथा वाग्भट द्वितीय को ८ वीं या ९ वीं शती में रखते हैं। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल भी संग्रहकार को उत्तर गुप्तकाल में मानते हैं। स्पष्टतः ये सभी विद्वान इत्सिंग के यात्राविवरण-गत उल्लेख को प्रमाण मानकर संग्रहकार को ७ वीं शती से पूर्व रखने के पक्ष में हैं और वाग्भट द्वितीय को उससे १ या २ शती बाद रखना चाहते हैं किन्तु वराहमिहिर से इसके संबन्ध का उन्होंने नहीं विचार किया अन्यथा ऐसा नहीं होता। वराहमिहिर के ऊपर वाग्भट प्रथम का प्रभाव स्पष्ट देखने में आता है। कई स्थल तो बिलकुल मिलते-जुलते हैं जो पीछे बतलाया जा चुका है।[2]

फिलिओजा इत्सिंग के यात्राविवरण में निर्दिष्ट चिकित्सा के लोकप्रिय ग्रन्थ से

---

१. देखें—प्रबन्धचिन्तामणि, वैद्यवाग्भटप्रबन्ध, पृ० १२१–१२२ (सिंघी जैन ग्रन्थमाला)

२. देखिये 'तृतीय खण्ड : साहित्यिक अध्ययन' में 'वाग्भट और वराहमिहिर'।

नागार्जुनकृत योगशतक लेते हैं[1] तथा उसको उद्धृत करने के कारण अष्टांगसंग्रह का काल ७–१० वीं शती के बीच मानते हैं किन्तु योगशतक अष्टांग का संग्रह-ग्रंथ नहीं है और न वह इतना लोकप्रिय ही रहा। इसके अतिरिक्त, ऐसी भी संभावना है कि योगशतक ने अष्टांगसंग्रह का आधार लिया हो। संभवतः योगशतक का कर्ता वह नागार्जुन हो जिसका निर्देश अलबरूनी ने किया है[2]। अतः फिलिओजा का मत ग्राह्य नहीं प्रतीत होता।

एक दूसरा वर्ग उन विद्वानों का है जो वाग्भट प्रथम को वराहमिहिर का पूर्ववर्ती मानकर २री शती के अन्त से ५ वीं शती के पूर्वार्ध तक उसका काल मानते हैं। अधिकांश मत उसे ४ थी या ५ वीं शती में मानने के पक्ष में हैं। केवल श्रीपट-वर्धन उसे वराहमिहिर से १०० या १५० वर्ष पूर्व मानने के पक्ष में हैं और इस प्रकार वह उसे २ री शती के अन्त या तृतीय शती के आरम्भ में रखना चाहते हैं। इन लोगों ने मुख्यतः निम्नांकित युक्तियों का आश्रय लिया है :—

१—इत्सिंग का यात्रा–विवरण

२—अष्टांगहृदय के अनुवाद एवं उद्धरण

३—माधव के द्वारा उद्धरण

४—वराहमिहिर से संबन्ध

५—दृढबल का आधार

६—रसचिकित्सा का विकास

७—शक-शासन

८—भट्टारहरिचन्द्र से संबन्ध

९—इन्दु और जेज्जट से सम्बन्ध

१०—अन्य टीकाकारों द्वारा उद्धरण

११—मुसलमानों का सिन्ध पर आक्रमण

इन तथ्यों पर एक-एक कर हम विचार करें :—

१—इत्सिंग का यात्रा-विवरण :—

इत्सिंग नामक चीनी यात्री ७वीं शती के उत्तरार्ध (६७१-६९५ ई०) में भारत आया था और अपने यात्रा-विवरण में यहां की स्थिति का वर्णन किया है। उसमें

---

१. The Yogasatak is of a later date if the Chinese pilgrim yi-tsing, writing in the VII cenutry A. D., wrote about this text, as being an abridged text of medicine very popular and recently composed. He, however, does not give the name of this maunal.

—Filliozat : the classical doctrine of Indian Medicine, page 13.

२. Sachau : Alberuni's India, page 187–193.

एक स्थल पर लिखा है कि "पहले आयुर्वेद आठ अंगों में पृथक् पृथक् था किन्तु हाल ही में एक व्यक्ति ने उन्हें एक ग्रन्थ में संगृहीत कर दिया। भारत के पांचों प्रदेशों के सभी चिकित्सक इसी ग्रन्थ के अनुसार चिकित्सा करते हैं और कोई चिकित्सक जो इसमें पूर्ण योग्य होता है वह राजकीय वृत्ति से वंचित नहीं होता। इसलिए भारतीय लोग वैद्य का बहुत सम्मान करते हैं[१]।" यह कथन वस्तुतः एक ऐसा सूत्र है जिसकी व्याख्या अनेक प्रकार से की जाती है। कुछ लोग इस लेखक से वाग्भट प्रथम को[२] और कुछ द्वितीय को लेते हैं।[३] कुछ लोग इससे सुश्रुत का ग्रहण करते हैं[४] तो कुछ लोग इनमें किसी को न लेकर अन्य रचनाओं का ग्रहण करते हैं[५]। इसके अतिरिक्त कुछ लोग इत्सिंग के कथन को ही निराधार मानते हैं क्योंकि आयुर्वेद की पूर्ववर्ती संहिताओं में भी अष्टांग आयुर्वेद का ही प्रतिपादन है, आयुर्वेद के आठ अंग पृथक्-पृथक् नहीं थे जिन्हें एकत्र करने की आवश्यकता प्रतीत हुई। विचार करने पर प्रतीत होता है कि संभवतः इत्सिंग ने उन संहिताओं को देखकर यह धारणा बनाई हो जो प्राचीन काल में पृथक् पृथक् अंगों पर बनी थीं और उसने यह समझा हो कि आयुर्वेद के आठ अंग पहले पृथक् पृथक् ग्रन्थों में थे जिन्हें एक ग्रन्थ में संकलित कर दिया गया। यदि ऐसी बात है तब इस संकेत से अष्टांगसंग्रह का ही ग्रहण होना चाहिए। सौ वर्षों का अन्तराल इतिहास के लिये नगण्य है अतः इसके लिए "हाल में" ऐसा लिखना अनुपयुक्त नहीं है किन्तु इत्सिंग के अगले कथन से यह अनुमान होता है कि संभवतः इस कथन से उसका अभिप्राय अष्टांगसंग्रह से न होकर अष्टांगहृदय से हो। इसमें निम्नांकित प्रमाण दिये जा सकते हैं :—

१– इत्सिंग ने अपने यात्रा-विवरण में आगे दिया है कि प्राचीन अनुवादकों ने ऐसा उपदेश किया है कि यदि रोग लंघन से एक सप्ताह में न ठीक हो तो अवलो-

---

१. 'These eight parts formerly existed in eight books but lately a man epitomised them and made them into one bundle. All Physicians in the five parts of India practise according to this book and any Physician who is well-versed in it never fails to live by the Official fees. Therefore, Indians greately honour Physicians.'

Takakusu—Itsing record of Buddhist practices in India—page 128.

२. Hornle

३. Mukhopadhyaya

४. Jolly

५. Bhattacharya, Filliozat.

कितेश्वर की आराधना करे।[1] अष्टांगसंग्रह में सर्वज्वरनिवृत्ति के लिए अवलोकितेश्वर की पूजा का विधान है[2] अष्टांगहृदय में नहीं। अतः बहुत संभव है कि 'प्राचीन अनुवादक' शब्द से इत्सिंग का अभिप्राय वाग्भट प्रथम से हो और तब अर्वाचीन संग्रहकार वाग्भट द्वितीय ही होगा।

२– पलाण्डु के सम्बन्ध में उसने लिखा है–"भारत में लोग प्याज नहीं खाते। मैंने लोभवश कभी खाया तो उससे पीड़ा हुई और उदरविकार हुआ, इससे दृष्टि भी दुर्बल हो जाती है और शरीर कमजोर हो जाता है इसलिए भारतीय उसे नहीं खाते[3]।" ध्यान देने की बात है कि अष्टांगसंग्रह में पलाण्डु का वर्णन प्रशस्ति के साथ रसायन-प्रकरण में किया है किन्तु अष्टांगहृदय में उसे स्थान नहीं दिया गया। अष्टांगहृदय की यह प्रवृत्ति इत्सिंग के इस कथन से बिलकुल मिलती है।

३– औषधों में एक बटी (San teng समत्रितय ?) जो हरीतकी, शुण्ठी और शर्करा के मिश्रण से बनती थी, बहुत प्रचलित थी।[4] इसी प्रकार वृक्ष या ताचिन (सीरिया) से आने वाली बहुमूल्य गोंद से निर्मित होने वाली एक बहुमूल्य वटी का भी निर्देश किया गया है। रसौषधों का कोई संकेत नहीं है। अष्टांगहृदय में रसौषधों का प्रयोग नहीं है।

---

1. 'The old translators taught that if a disease be not cured by abstaining from food for seven days, one should then seek help from Avalokiteswara.' (p. 134).

२. आर्यविलोकितं पर्णशबरीमपराजिताम्। प्रणमेदार्यतारां च सर्वज्वरनिवृत्तये॥
— अ० सं० चि० २।१५५

3. People (in India) do not eat any kind of onions. I was tempted and ate them somtimes but they caused pain while taking a religious fast and injure the belly besides spoiling the eyesight and increasing disease and causing body to become more and more weak. This is why Indians do not eat them. (page 137-8).

४. संग्रह में पिप्पली, गुड़ तथा घृतभृष्ट हरीतकी का एक योग है (सं० चि० १०।५५); हृदय में भी यह योग है तथा इसके अतिरिक्त गुड़ के साथ शुण्ठी और हरीतकी का अलग अलग प्रयोग है (हृ० चि० ८।५४-५५)। इत्सिंग के काल में तीनों का एकत्र योग हो गया जो आगे चलकर वृन्दमाधव में उद्धृत हुआ :—

'हरीतकी भक्ष्यमाणा नागरेण गुडेन च।
सैन्धवोपहिता वापि सातत्येनाग्निदीपनी।। ६।८

गुडेन शुण्ठीमथवोपकुल्यां पथ्यां तृतीयामथ दाडिमं वा।
आमेष्वजीर्णेषु गुदामयेषु वर्चोविबन्धेषु च नित्यमद्यात्॥—६।१३

४– उसने यह भी लिखा है कि "यदि पूर्वी राजधानी–लोयांग के किसी प्रसिद्ध चिकित्सक से परामर्श लेने की आवश्यकता आ पड़े तो गरीब रोगी उतना व्यय वहन न करने के कारण जीवन से हाथ धो देते हैं और यदि पश्चिमी प्रदेशों से वनौषधियों के जुटाने का प्रश्न हो तो असहाय रोगी मृत्यु के मुख में चले जाते हैं[१]।" इससे स्पष्ट होता है कि चिकित्सा एक अर्थकरी वृत्ति के रूप में आ चुकी थी जिससे धनवान व्यक्ति ही लाभ उठा सकते थे और दूसरी ओर इससे यह भी पता चलता है कि चिकित्सा में जड़ी-बूटियों का ही प्राधान्य था। अष्टांगहृदय में भी वही स्थिति मिलती है।

इसके अतिरिक्त, संक्षिप्त और श्लोकबद्ध होने के कारण यह शीघ्र लोकप्रिय भी हो गया और इस प्रकार सारे भारत में इसका प्रचार स्वाभाविक ही है।

जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, इससे उस काल में निर्मित स्फुट रचनाओं का ग्रहण नहीं हो सकता क्योंकि उनका क्षेत्र अष्टांगव्यापी न होकर सीमित है और वे उतनी प्रसिद्ध भी नहीं हैं। जौली ने इससे जो सुश्रुत का ग्रहण किया है वह भी निराधार है क्योंकि वह तो बहुत पहले बन चुकी थी और यदि उससे नागार्जुन द्वारा प्रतिसंस्कार की बात ली जाय तब वह अष्टांग-निबन्धन का कार्य नहीं होता है। इसके अतिरिक्त, यदि ऐसा हो तो चरकसंहिता की भी बात उठ सकती है। अतः चरक और सुश्रुत को इस विवाद से पृथक् रखना ही उचित है। इस प्रकार इत्सिंग के कथन से अष्टांगसंग्रह का ही अभिप्राय लेना चाहिए।

२—अष्टांगहृदय के अनुवाद एवं उद्धरण :—

अरबी अनुवाद—८वीं शती के खलीफा के समय में अष्टांगहृदय का अरबी में अनुवाद "अष्टांकर" नाम से हुआ[२]। वस्तुतः बगदाद में उस समय अनेक भारतीय ग्रन्थों के अनुवाद हुये। कुछ ग्रन्थ तो संस्कृत से सीधे अनूदित हुये और कुछ फारसी के माध्यम से। यह कार्य मुख्यतः दो कालों में हुआ:—

(क) खलीफा मन्सूर (७५३-७७४ ई०)—इसके अधीन सिन्ध प्रदेश था और उसके राजदूत बगदाद में थे और भारत से अनेक पंडित अपने ग्रन्थों के साथ वहां

---

१. 'If it be necessary to consult some famous physician in Lo-Yang, the eastern capital, then the poor and needy one (on the grounds of expense) cut off from chord of life, and when it is a case of gathering the best herbs from the western fields, the parentless and helpless will lose their way.

(Pages 133-4)

२. जौली का मत है कि यह अनुवाद अष्टांगसंग्रह का था किन्तु वस्तुतः अष्टांगहृदय का ही विशेष प्रचार हुआ।

ले जाये गये थे और उनका अनुवाद कराया गया था। इस समय मुख्यतः ज्योतिष पर विशेष कार्य हुआ और ब्रह्मगुप्त की दो प्रसिद्ध रचनाओं ब्रह्मसिद्धान्त और खंडखाद्यक का अनुवाद क्रमशः 'सिन्दहिन्द' और 'अरकन्द' नाम से हुआ।

(ख) हारुन (७७६-८०८ ई०)—इसका मन्त्री बरमक (परमक) परिवार का था जो राजपरिवार के साथ बल्ख (बाह्लीक) से आया था जहां इसके पूर्वज एक बौद्ध विहार में पदाधिकारी थे। इसके अतिरिक्त वह मूलतः हिन्दू था। अतः अपनी पारिवारिक कुलपरम्पराओं से प्रेरित होकर उसने अपने यहां के विद्वानों को भारत भेजा और भारतीय विद्वानों को बगदाद बुलाया जिनकी सहायता से चिकित्सा, औषधविज्ञान, विषविज्ञान, सर्पविज्ञान आदि सम्बन्धी ग्रन्थों का अरबी अनुवाद कराया गया। सुश्रुत, चरक और अष्टांगहृदय के अनुवाद भी इस अवधि में हुये[1]।

अरबी चिकित्सक रेजस (८८२ ई०) ने अनेक द्रव्यों के वर्णन के प्रसंग में एक भारतीय लेखक को "सिन्दक्षर" या "सिन्दचर" नाम से कहा है। यह संभवतः सिन्धुनिवासी वाग्भट द्वितीय ही था।

ऐसा प्रतीत होता है कि अनुवाद के लिए उन्हीं ग्रन्थों को लिया गया जो तत्कालीन समाज में अत्यधिक प्रचलित थे। उदाहरण के लिए, ज्योतिष में वराहमिहिर की रचनाओं को न लेकर ब्रह्मगुप्त की रचनाओं का अनुवाद कराया गया। इसी प्रकार मूल ग्रन्थ संग्रह को न लेकर अष्टांगहृदय को लिया गया। इससे यह पता चलता है कि ८वीं शती में अष्टांगहृदय का काफी प्रचार हो चुका था और संग्रह के बदले लोग उसी को पसन्द करने लगे थे। जो भी हो, इससे इतना तो पता चलता ही है कि मूलग्रन्थ संग्रह ८वीं शती से काफी पहले हो चुका होगा। इस सम्बन्ध में यह ज्ञातव्य है, अलबरूनी (१०१७-३० ई०) को केवल चरक के बारे में ही जानकारी थी तथा अली इब्न जैन के संस्करण का चरक उसके पास था। इससे यह भी पता चलता है कि १०वीं शती के बाद मूल संहिताओं की ओर पुनः लोगों का ध्यान गया जिनके बाद उन पर टीकायें लिखी जाने लगीं। चरक और सुश्रुत के साथ अष्टांगहृदय बृहत्त्रयी में गिना जाने लगा और बाद में माधवनिदान को भी इसके साथ स्थान मिला। १०वीं शती में ये ४ ग्रन्थ सर्वप्रसिद्ध थे।

तिब्बती अनुवाद:—

तिब्बती "तंजूर" में चरक, सुश्रुत के साथ वाग्भट का भी अनुवाद है। इसका

---

१. Sachau : Alberuni's India Preface XXX-XXXII.

काल ८वीं शती रक्खा गया है[1]। इससे स्पष्ट है कि इसके पूर्व ही अष्टांगहृदय प्रसिद्ध हो चुका था तथा अष्टांगसंग्रह इसके और भी पहले हो चुका था।

३—माधव के द्वारा उद्धरणः—

माधवनिदान में अनेक श्लोक अष्टांगहृदय से उद्धृत किये गये हैं। इससे स्पष्ट है कि माधवनिदान के पूर्व अष्टांगहृदय बन चुका था। माधवनिदान का अरबी अनुवाद ८ वीं या ९ वीं शती में 'बदन' नाम से हो चुका था अतः उसका समय ८वीं शती का प्रारम्भ रक्खा जा सकता है। इसका अर्थ यह हुआ कि अष्टांगहृदय ८वीं शती तक प्रसिद्ध हो चुका था। इसके अतिरिक्त, वृन्द ने अपने ग्रन्थ सिद्धयोग-संग्रह में रोगों का वर्णनक्रम माधवनिदान के क्रमानुसार ही रक्खा है[2]। वृन्द का काल ९वीं शती है। डा० हार्नले ने वाग्भट प्रथम को माधव के पूर्व और वाग्भट द्वितीय को माधव के बाद रक्खा है। उसने काल की दृष्टि से वाग्भट प्रथम, माधव, दृढबल तथा वाग्भट द्वितीय यह क्रम रक्खा है। किन्तु अष्टांगहृदय के अनेक श्लोक अविकल रूप में माधवनिदान में मिलते हैं तथा इसके तिब्बती और अरबी अनुवाद को देखते हुए भी यह कालक्रम उचित नहीं प्रतीत होता। इसके अतिरिक्त, माधव, ने अनेक नवीन रोगों की उद्भावना कर उनका स्वतंत्र वर्णन अपने ग्रन्थ में किया है यथा—आमवात, अम्लपित्त, परिणाम एवं अन्नद्रवशूल, संग्रहणी, शीतपित्त, मेदो-रोग आदि। इन रोगों का स्वतंत्र उल्लेख प्राचीन संहिताओं में नहीं मिलता। यदि वाग्भट द्वितीय माधव के बाद होते तो अवश्य इन रोगों का वर्णन करते किन्तु इनमें किसी भी रोग का वर्णन नहीं मिलता। अतः वाग्भट द्वितीय माधव के बाद थे—यह कल्पना निराधार प्रतीत होती है[3]।

विजयरक्षित का निम्नांकित वचन भी इसका समर्थन करता है कि वाग्भट द्वितीय माधव के पूर्व ही थे, बाद में नहीं :—

'वाग्भटेन हि यथा दुष्टेन इत्यादि वदता विशिष्टमेव व्याधिजन्म संप्राप्तिरुक्ता।

—मधुकोश-पंचनिदान, श्लोक १०

४—वराहमिहिर से सम्बन्ध :—

वराहमिहिर का काल ५०५–५८७ ई० मानते हैं। वराहमिहिर ने संग्रह से रसायन का एक योग ज्यों का त्यों उद्धृत किया है और भी विषय वाग्भट के उसमें

---

१. P. K. Gode : Introduction, Astanga Hridaya, page 5.

२. गणनाथ सेनः प्रत्यक्षशारीर, उपोद्घात पृ० ५५, जिमर ने इसे सायण का भाई मानकर १२वीं शती में रक्खा है जो नितान्त हास्यास्पद है।

(देखें—Zimmer : Hindu Medicine, page-6)

३. Dasgupta : A History of Indian Philosophy, Vol. II, 433-434.

मिलते हैं। अतः वाग्भट उसका पूर्ववर्ती माना जाता है। डा० राजबली पाण्डेय कालिदास और वराहमिहिर को पहली शती ई० पू० में रखते हैं[1] किन्तु यह मत अतिवादी प्रतीत होता है।

५—दृढबल का आधार—

कुछ विद्वान दृढबल को वाग्भट प्रथम के पूर्व मानते हैं[2] और इस प्रकार अष्टांगसंग्रह को दृढबल द्वारा प्रतिसंस्कृत चरकसंहिता पर आधारित बतलाते हैं। इसके विपरीत, कुछ लोग उसे बाद में मानते हैं और कुछ लोग तो यह भी कहते हैं कि माधवनिदान भी मूल चरकसंहिता पर ही आधारित है अतः दृढबल माधव के बाद हैं[3]।

मेरे विचार से, दृढबल वाग्भट प्रथम के पूर्व हुए हैं। इसमें निम्नांकित युक्तियाँ दी जा सकती हैं :—

१—दृढबल कपिलबल के पुत्र कहे गये हैं। कपिलबल स्वयं भी आयुर्वेद के एक मान्य आचार्य रहे हैं और वाग्भट प्रथम तथा अन्य आचार्यों ने उनके मत का उल्लेख किया है[4]। यह संभव है कि दृढबल इनके कुछ ही पूर्व हुए हों और तब तक उनकी प्रसिद्धि न हुई हो अतः उनके पिता का मत ही निर्दिष्ट हुआ।

२—दृढबल ने चरकसंहिता के चिकित्सास्थान के १३ अध्याय, कल्पस्थान और सिद्धिस्थान का प्रतिसंस्कार किया। पंचकर्म के विषय का कल्पस्थान और सिद्धिस्थान के २४ अध्यायों में विस्तार से प्रतिपादन किया गया किन्तु अष्टांगसंग्रह में यह विषय अत्यन्त संक्षिप्त रूप से दिया गया है। इससे स्पष्ट होता है कि वाग्भट प्रथम दृढबल के बाद हुए हैं। पंचकर्म के प्रायोगिक पक्ष का क्रमशः ह्रास होता गया है अतः दृढबल को बाद में रखने से इस विस्तार की व्याख्या कैसे की जा सकेगी ?

दृढबल को वाग्भट के बाद मानने वालों में डा० हार्नले प्रमुख हैं। डा० जोली भी उनके समर्थक हैं। इनका कथन है कि माधव, दृढबल और वाग्भट द्वितीय वाग्भट प्रथम के पश्चात् हुए हैं और उनका काल भी इसी क्रम से रखा जाना चाहिए।[5]

---

१. Raj Bali Pandey : Vikramaditya of Ujjayini, page 75.

२. Charaka-samhita (Jamnagar), Vo. I.

३. Hornle : Osteology, Introduction, page 7-10.

४. Mukhopadhyaya : History of Indian Medicine Vol. III, 786-787.

५. गुरुपद हालदार का मत है कि कपिलबल कपिलबलतंत्र के प्रणेता तथा वाग्भट के पूर्ववर्ती आचार्य थे। इनके पुत्र कापिलबल, जो कनिष्ककालीन नवीन चरक हैं, ने चरकसंहिता का अंशतः प्रतिसंस्कार किया। इनका काल दूसरी शती है।

डा० हार्नले वाग्भट प्रथम के बाद दृढबल को रखने में निम्नांकित दो युक्तियां देते हैं—

१—सुश्रुत में नेत्ररोगों की संख्या ७६ है, माधव ने उसमें दो और जोड़ कर ७८ किया। वाग्भट प्रथम ने इनकी संख्या ९४ रक्खी है और दृढ़बल ने वाग्भट प्रथम का ९४ और माधव के दो विशिष्ट रोग लेकर कुल ९६ नेत्ररोगों की संख्या बतलाई है। इससे स्पष्ट है कि दृढबल वाग्भट प्रथम तथा माधव के बाद हुये।

२—माधव ने अपने निदान में मूल चरक का ही आधार लिया है, दृढ़बल-प्रतिसंस्कृत का नहीं। जहां कहीं दृढ़बल-प्रतिसंस्कृत अंश से विरोध या अन्तर पड़ता है वहां टीकाकारों ने कश्मीरपाठः देकर समाधान किया है। यह कश्मीरपाठ वस्तुत-:दृढ़बल—प्रतिसंस्कृत चरक का पाठ ही है।

जहां तक प्रथम युक्ति का संबन्ध है, नेत्ररोगों की संख्या शालाक्यतंत्र के विभिन्न संप्रदायों में भिन्न-भिन्न मानी जाती थी और बाद के आचार्यों ने इन्हीं में से किसी संप्रदाय के आधार पर इनकी संख्या बतलाई। दृढ़बल ने जो नेत्ररोगों की संख्या बतलाई है वह करालसंप्रदाय के आधार पर है जैसा कि चक्रपाणि ने स्पष्ट किया है :—

नेत्रामयेषु आचार्याणां विप्रतिपत्तिः नेत्ररोगाणां षट्सप्तति विदेहः प्राह करालस्तु इषण्णवतिम्, अशीतिं सात्यकिः प्राह।—च०चि० २५।१३० (चक्र)

सके स्पष्ट है कि माधव ने किंचित् परिवर्तन के साथ विदेह का मत लिया और वाग्भट प्रथम ने किंचित् परिवर्तन के साथ कराल का मत लिया और दृढ़बल ने कराल का मत ज्यों का त्यों ले लिया। अतः इस आधार पर उनका पारस्परिक संबन्ध या निर्भरता नहीं स्थापित की जा सकती।

दूसरी युक्ति के संबन्ध में, यह कहना कठिन है कि कश्मीरपाठ दृढ़बल-प्रतिसंस्कार के लिए ही आया है। कहीं कहीं दोनों का निर्देश साथ साथ हुआ है अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि कश्मीरपाठ दृढ़बलपाठ नहीं है। दृढ़बल ने माधव से कुछ लिया हो इसका भी कोई प्रमाण नहीं है।[1]

दृढबल का पिता वस्तुतः कपिबल था (कपिलवल नहीं) जो ६–७ शती का काश्मीरी पंडित था जिसने कोई वैद्यकग्रंथ भी बनाया था। दृढबल का काल दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य के अनुसार ७–८ शती है। (वृद्ध त्रयी पृ०. ३२–४२)

1. Dasgupta : A History of Indian Philosophy, Vol.II, 433–434.
Mukhopadhyaya : History of Indian Medicine, Vol. III, 630–633.

६—रसचिकित्सा का विकास—

अष्टांगसंग्रह में रसचिकित्सा का विशेष वर्णन नहीं मिलता अतः इस आधार पर भी इसके कालनिर्णय में सहायता मिल सकती है। यद्यपि चरक, सुश्रुत आदि प्राचीन संहिताओं में 'रस' शब्द से पारद का निर्देश आता है तथापि अष्टांगसंग्रह में रसायनप्रकरण में एक योग में पारद का स्पष्ट उल्लेख आया है। रसायन-योग में विहित होने से स्पष्टतः वह संस्कारित पारद होगा जो विकार उत्पन्न न करे यद्यपि उन संस्कारों का प्रसंगान्तर होने से उल्लेख न किया हो। हर्ष के राजदरबार में रसायन नामक एक वैद्य कुमार था। इस नाम से भी रसचिकित्सा का संकेत मिलता है। आठ बौद्ध-सिद्धियों में एक 'रस-रसायन' भी है जिसका उल्लेख बाणभट्ट ने भी किया है। धातुवाद का भी उल्लेख कौटिल्य, वराहमिहिर तथा बाणभट्ट की रचनाओं में मिलता है। धातुवाद की क्रियाओं के लिए भी पारद के संस्कार आवश्यक हैं ही अतः निश्चय ही ये संस्कार होते होंगे और उनसे लोग परिचित होंगे विशेषतः वैद्यसमाज। फिर धातुवाद की क्रियायें देहवाद के लिए प्रयुक्त होने लगी होंगी। कुछ ऐतिहासिक गुप्तकाल में एक नागार्जुन की सत्ता मानते हैं जो पारद के संस्कारों में दक्ष था। प्रबन्धकोश के पादलिप्ताचार्यप्रबन्ध (पृ० १४) तथा नागार्जुनप्रबन्ध (पृ० ८४–८६) में नागार्जुन की सातवाहन राजा से मित्रता तथा रसबन्धसिद्धि का वर्णन मिलता है। हर्षचरित में भी इसका उल्लेख है। सातवाहन का काल तीसरी शती माना जाता है। इसके अतिरिक्त महायान बौद्ध संप्रदाय की जिस धारा में यह पद्धति चल रही थी उसका भी ४थी शती तक पर्याप्त विकास हो चुका था। नेपाल पुस्कालय में कुब्जिकातंत्र की पाण्डुलिपि उपलब्ध हुई है जिसका काल ६०० ई० माना गया है। इसमें पारदभस्म तथा धातुवाद का उल्लेख है। इसके अतिरिक्त, रसरत्नाकरकार नित्यनाथ ने भी वाग्भट का स्मरण किया है :— 'यदुक्तं वाग्भटे तंत्रे सुश्रुते वैद्यसागरे। अन्यैश्च बहुभिः सिद्धैर्यदुक्तं च विलोक्य तत्॥ तत्सर्वं तु परित्यज्य सारभूतं समुद्धृतम।'—अतः यह कहना कि रसचिकित्सा का प्रारम्भ ८वीं या ९वीं शती से हुआ और इस आधार पर वाग्भट का काल पीछे ले जाना उचित नहीं प्रतीत होता। फिर रसरत्नसमुच्चयकार वाग्भट (रसवाग्भट) तो इन दोनों से भिन्न ही हैं अतः इसका प्रश्न ही नहीं उठता।

७—शक-शासन—

अष्टांगसंग्रह में शकों का अनेक स्थानों पर उल्लेख है। एक स्थल पर शकाधिपति तथा दो स्थानों पर 'शकांगनाओं' का उल्लेख हुआ है। पुनः रसायनप्रकरण में रसोन को हिमवच्छकदेशज कहा गया है। शकांगनाओं के सौंदर्य का भी वर्णन किया गया है।

शक मध्य एशिया की एक घूमने फिरने वाली (चरक ?) जाति के लोग थे। ई० पू० २री शती में मध्य एशिया की जातियों में चहल-पहल होने के कारण इनकी स्थिति भी अस्तव्यस्त हो गई। चीनी सम्राट् हूणों को दबाना चाहते थे। हूण यूची जाति के लोगों से लड़ गये और उन्हें निकाल दिया। फलतः वे पश्चिम की ओर बढ़े और शकों को अपने स्थान से हटाया। इस प्रकार स्थानान्तरित होकर लगभग ई० पू० १२७ से कुछ समय बाद वे सिन्धु नदी के किनारे पहुँचे। उन्होंने बैक्ट्रिया को जीत लिया और भारत में राज्य स्थापित किये। कुशानवंश भी इसी की एक शाखा के रूप में था जिसका प्रतापी सम्राट् कनिष्क (१२८ ई०) हुआ। इनका राज्य वाराणसी और मगध तक फैला। सौराष्ट्र और मालवा भी इनके अधिकार में रहा। सिन्धुप्रदेश तो इनका मुख्य केन्द्र था ही जो इनका मूलस्थान होने के कारण 'शाकद्वीप'[1] की संज्ञा से अभिहित हुआ। ये सूर्यपूजक थे और संभवतः चिकित्सा और ज्योतिष इनकी परम्परागत विद्या थी। सिन्धु देश में सर्वप्रथम सूर्यमन्दिर की स्थापना हुई। प्रभाकरवर्धन सूर्यभक्त था और उसके दरबार में रसायन नामक कुलक्रमागत वैद्य था। ये शक लगभग ४थी शती के अन्त तक निर्विघ्न शासन करते रहे जब तक कि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य(३७५-४१३ ई)ने इन्हें हराकर उन प्रदेशों पर अपना अधिकार न कर लिया। इसके पूर्व समुद्रगुप्त (३३५–३७५ ई०) इन्हें विजित कर लौट आया था और इनसे केवल कर लेकर संतुष्ट हो गया था। बाद में रामगुप्त के काल में इन लोगों ने फिर शिर उठाया था। उस काल में पारसी संपर्क के कारण सम्राट के लिए 'महाराजाधिराज' की पदवी प्रचलित थी किन्तु शक-शासक के लिए वाग्भट ने 'अधिपति' शब्द का प्रयोग किया है। शक लोग सिन्धु प्रदेश में बस गये थे अतः शकों की जीवनचर्या तथा शकांगनाओं के लावण्य से एक सिन्धुजन्मा के लिए परिचित होना स्वभाविक ही है। जहां तक शकाधिपति का प्रश्न है, यह कोई वाग्भट का समकालीन राजा नहीं था बल्कि संभवतः यह उस सम्राट के लिए प्रयुक्त हुआ है जिसने शकसंवत् का प्रवर्तन किया। वराहमिहिर ने भी इसी

---

१. Buddha Prakash in his 'Studies in the Puranic Geography and Ethnography-sakadwipa' discusses the identification of Sakadwipa and of the four tribes Viz–Maga, Magaga, Ganga and Mandaga (With several Variants) associated with it. According to Buddha Prakash, Sakadwipa included the land on the eastern, Western and Norrthern Shores of the Caspian sea upto Southern Russia.

—Chinmulgund and Mirashi : Review of indological Research in last 75 years, page 720.

अर्थ में शकेन्द्र और शकाधिप शब्दों का प्रयोग किया है[1]। वराहमिहिर के समकालीन आचार्य के लिए ऐसा प्रयोग स्वाभाविक ही है। यदि 'शक' शब्द से किसी विदेशी जाति को लेना ही चाहें तो हूणों का ग्रहण किया जा सकता है[2] जो उस समय सारे उत्तरी भारत में छाये हुये थे। हूणजाति भी सुन्दर और गौरवर्ण थी।

८—भट्टारहरिचन्द्र से संबन्ध—

चक्रपाणि के 'तन्मतानुसारिणा वाग्भटेन चोक्तं' इस कथन के आधार पर यह कहा जाता है कि भट्टार हरिचन्द्र वाग्भट के पूर्व हुए[3]। जो लोग दोनों वाग्भटों को एक मानते हैं उनके अनुसार यह वाग्भट प्रथम के भी पूर्व हो जाते हैं। विश्वप्रकाशकोषकार महेश्वर ने उन्हें साहसांक का राजवैद्य बतलाया है। आचार्य यादव जी के अनुसार यदि साहसांक से चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का ग्रहण किया जाय तो भट्टार हरिचन्द्र उसके समकालीन सिद्ध होते हैं।[4] बाणभट्ट ने हर्षचरित की प्रस्तावना में एक गद्यकवि भट्टार हरिचन्द्र का स्मरण किया है। कुछ लोगों का कथन है कि वह कोई अन्य व्यक्ति थे। डा० गोडे भट्टार हरिचन्द्र को इन्दु के समकालीन या कुछ पहले मानते हैं।

विश्वप्रकाश का रचयिता महेश्वर बौद्ध था जैसा कि 'नमः सम्यक् संबुद्धाय' ग्रन्थ के इस मंगलाचरण से स्पष्ट होता है। भट्टार हरिचन्द्र बौद्धिधर्मावलम्बी थे। इसके अतिरिक्त, ग्रन्थकार ने हरिचन्द्र से अपना संबन्ध जोड़ते हुए जो वंशावली

---

१. द्व्यूनं शकेन्द्रकालं पंचभिरुद्धृत्य शेषवर्षाणाम्।

—भारतीय ज्योतिष, पृ०२१२ (पंचसिद्धान्तिका से उद्धृत)

"While Aryabhata still computes by the era of Yudhisthira, Varaha-Mihira employes the Saka-Kāla, Saka-Bhupa-Kāla or Sakendra Kāla, the era of the Saka King, which is referred by his scholiast to Vikrama's era,"

Weber - the History of Indian Literature, page 260.

२. प्रबन्धकोश में मल्लवादिचरित्र में निम्नांकित श्लोक आया है :—

'ततोऽथाकृष्य वणिजा प्रक्षिप्ताश्च रणे शकाः।
तृष्णया ते स्वयं मग्नुर्हतो व्याधि र्महानयम्॥ (श्लो० ६५, पृ० २३)

यहाँ स्पष्टतः 'शक' शब्द हूणों के लिए प्रयुक्त हुआ है।

३. यादवजी : चरकसंहिता, उपोद्घात पृ० १४

४. गुरुपद हालदार भट्टार को ६-७ शती में गौडाधिपति शशांक (नरेन्द्र गुप्त) का वैद्य एवं सभापंडित मानते हैं।—वृद्धत्रयी. पृ० ३२-३६

प्रस्तुत की है वह इस प्रकार है :—

हरिचन्द्र
|
श्रीकृष्ण
|
दामोदर
|
मल्हण
|
केशव
|
ब्रह्म (भ्रातृज)
|
महेश्वर

इस प्रकार हरिचन्द्र के बाद सातवीं पीढ़ी में महेश्वर आता है। ग्रन्थ के अन्त में उसका निर्माणकाल १०३३ शाक संवत् दिया गया है तदनुसार ११०५ ई० होता है[1]। अतः इससे अधिक से अधिक यशोधर्मा विक्रमादित्य का ग्रहण किया जा सकता है। यशोधर्मा का काल ६ठीं शती है और यही काल वाग्भट का होने के कारण वह इसका समकालीन या किंचित् पूर्ववर्ती सिद्ध होता है और इस प्रकार चक्रपाणि की बात भी सही हो जाती है क्योंकि वह भी वाग्भट से वाग्भट द्वितीय का ही ग्रहण करता है। यह काल हर्ष के पूर्व का है अतः संभव है भट्टार ने कोई गद्यकाव्य भी लिखा हो जिसकी चर्चा हर्षचरित में की गई है[2]। हरिचन्द्रकृत एक अष्टांगसंग्रह की व्याख्या भी है।[3] संभवतः वह कोई अन्य हरिचन्द्र होगा जिसने संग्रह की रचना के बहुत बाद उसकी व्याख्या की होगी।

---

१. रामानलव्योमरूपैः शककालेऽभिलक्षिते।
कोषं विश्वप्रकाशाख्यं निरमाच्छ्रीमहेश्वरः॥

२. विशेष विवरण के लिए देखें :—
अग्रवाल : हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन पृ० ६
मोतीचन्द्र : चतुर्भाण, भूमिका, पृ० ९-१०
मेरा लेख 'भट्टार हरिचन्द्र और उनकी चरक-व्याख्या'
'सचित्र आयुर्वेद' मई-जून ६७

३. हरिश्चन्द्रकृतां व्याख्यां विना चरकसंमताम्।
यस्तृणोत्यकृतप्रज्ञः वातुमीहति सोऽम्बुधिम्॥
—अष्टांगसंग्रहव्याख्या (Des. Cat. Sanskrit Mss. G. O. M. L. Madras Vol. XXIII—Medicine)

९—इन्दु और जेज्जट—

इन्दु और जेज्जट एक लोकप्रसिद्ध श्लोक में वाग्भट के शिष्य कहे गये हैं। यद्यपि उस श्लोक की प्रामाणिकता सन्दिग्ध है तथापि अनेक विद्वान इसको सत्य मानते हैं और इस प्रकार उन्हें वाग्भट का समकालीन मानते हैं। यह समस्या और भी जटिल हो जाती है जब दोनों वाग्भटों को एक मान लिया जाता है। कुछ लोग इन्हें द्वितीय वाग्भट का शिष्य मान कर समस्या का समाधान करते हैं।

इन्दु

इन्दु का स्पष्ट उल्लेख हेमाद्रि ने किया है। अमरकोश की क्षीरस्वामीकृत व्याख्या में भी इन्दु का नाम आता है किन्तु वहां इन्दुनिघण्टु का उल्लेख किया गया है और उसके कुछ उद्धरण भी दिये गये हैं। इन्दु ने अष्टांगसंग्रह की शशिलेखा-व्याख्या में एक निघण्टु के श्लोक स्थान-स्थान पर उद्धृत किये हैं। उसमें कुछ उद्धरण धन्वन्तरिनिघण्टु के हैं तथा कुछ किसी अन्य निघण्टु के यद्यपि उसका नामतः निर्देश नहीं है। यदि इन्दु का अपना कोई निघंटु होता तो वह धन्वन्तरिनिघंटु के उद्धरण क्यों देता ? इससे दो बातों की संभावना होती है एक तो यह कि इन्दु ने इस निघंटु की रचना शशिलेखा के बाद की या क्षीरस्वामी द्वारा निर्दिष्ट निघण्टु का रचयिता इन्दु कोई अन्य व्यक्ति रहा होगा।

हेमाद्रि का काल १३वीं-१४वीं शती है अतः उसके द्वारा निर्दिष्ट होनेसे इन्दु का काल उसके पूर्व होना चाहिए। इन्दु ने धन्वन्तरिनिघंटु के उद्धरण दिये हैं अतः वह धन्वन्तरिनिघंटु का परवर्ती होना चाहिए। चक्रपाणि ने निघंटुकार का निर्देश किया है, संभव है इनका अभिप्राय धन्वन्तरिनिघण्टु से ही हो। अतः धन्वन्तरिनिघण्टु चक्रपाणि (१०६० ई०) के पूर्व ही होना चाहिए। अमरकोश की क्षीरस्वामी-व्याख्या (१०५०—११०० ई०) में अमरकोश के पूर्व धन्वन्तरिनिघण्टु का अस्तित्व बतलाया गया है[१]। अमरकोश की रचना ५वीं. या छठी शती में मानते हैं। अतः धन्वन्तरिनिघंटु का काल भी उसके कुछ पूर्व ५ वीं. शती में मान सकते हैं।

अष्टांगसंग्रह पर इन्दुकृत शशिलेखा-व्याख्या त्रिचुर से श्री० टी० रुद्रपारशव द्वारा संपादित–प्रकाशित (१९१३ ई०) हुई थी। उपोद्घात में सम्पादक ने निम्नांकित श्लोक उद्धृत कर यह दिखलाया है कि इन्दु और जेज्जट वाग्भट के शिष्य थे :—

लंबश्मश्रुककलापमंबुजनिभच्छायद्युतिं वैद्यका-
न्तेवासिन इन्दुजेज्जटमुखानध्यापयन्तं सदा।
आगुल्फामलकंचुकांचितदरालक्ष्योपवीतोज्ज्वलत्
कण्ठस्थागरुसारमंजितदृशं ध्याये दृढं वाग्भटम् ॥

मूलतः यह श्लोक केरल में प्रचलित दन्तकथा के आधार पर तन्त्रयुक्तिविचार नामक

१. Introduction, Page VII–VIII

ग्रन्थ के लेखक वैद्य नीलमेघ (उपनाम वैद्यनाथ) ने अपने ग्रन्थ के प्रारंभ में दिया है। यह ध्यान-श्लोक ही लोकप्रसिद्ध है इसके अतिरिक्त और कोई सूचना नहीं है। संपादक महोदय ने संग्रह, हृदय तथा रसरत्नसमुच्चय इन तीनों के कर्ता वाग्भट को एक ही माना है अतः प्रश्न और भी जटिल हो जाता है। इन्दु ने संग्रह के अतिरिक्त हृदय पर भी टीका लिखी है[1]।

डा० पी० के० गोडे ने इन्दु के देश-काल आदि के संबन्धमें निम्नांकित विचार उपस्थित किया है[2]।—

१—दुर्व्याख्याविषसुप्तस्य वाहटस्यास्मदुक्तयः।
सन्तु संवित्तिदायिन्यः सदागमपरिष्कृताः॥

इन्दु के इस वचन से प्रतीत होता है कि उसकी व्याख्या के पूर्व अनेक व्याख्यायें इस ग्रन्थ की हो चुकी थीं।

२—डा० हार्नले ने वाग्भट प्रथम का काल प्रारंम्भिक ७वीं शती रक्खा है और इन्दु ने उनकी रचना पर टीका की है अतः वह उनका परवर्ती है और उसका काल लगभग ६२५ ई० न्यूनतम सीमा पर रक्खा जा सकता है।

३—सूत्रस्थान षष्ठ अध्याय की व्याख्या में लिखा है 'गुणशब्दश्च भागपर्यायः। संख्याया गुणस्य निपाते इत्यादिना' पा० सू० ५-२-४७, यह उद्धरण काशिका का है जिसकी रचना ६५० ई० में हुई है। अतः इन्दु उसके बाद ही लगभग ७०० ई० हो सकते हैं।

४—एक स्थल पर (सू० २।१७) 'आमिषं भोग्यवस्तुनि इति कोषः' दिया गया है जो मेदिनीकोश पर आधारित है। मेदिनी का काल १२ वी. शती है।

---

१. "अष्टांगहृदयव्याख्या (शशिलेखा) इन्दुकृता 39 B 19 दे 657"

Adyar Library, Catalogue of Sanskrit Manuscripts, Part II (1928), page 69.

Triennial catalogue of Madras MSS Vol. IV, Part-I, Sanskrit B No. R 3447.

वयस्कर नारायण शंकर मूस ने इसे प्रकाशित किया है।

२. P. K. Gode : Chronological limits for the commentary of Indu on the Astangasamgraha of Vaghbhata I-A. B. O. R. I., Vol. XXV (1944), pages 117-130.

५— इन्दु ने अनेक स्थलों पर हृदय[1] का उद्धरण दिया है जिसका काल ८ वीं. या ९ वीं. शती रक्खा गया है। इससे स्पष्ट है कि इन्दु वाग्भट द्वितीय अर्थात् ९०० ई० के बाद हुये अतः उन्हें वाग्भट प्रथम का शिष्य बतलाना निराधार है।

इन्दु ने अपनी व्याख्या में द्रव्यों के प्रकरण में कश्मीर[2] के नामों का उल्लेख किया है। इससे पता चलता है कि वे कश्मीर के निवासी थे या कश्मीर के किसी वैद्य से परिचित थे जिसके द्वारा उन्हें यह जानकारी मिली हो।

सूत्रस्थान में शाकवर्ग-प्रकरण में यह बतलाया है कि द्रव्यों के पर्याय का ज्ञान निघण्टुओं से करना चाहिए। (पर्यायाः निघंटुज्ञानात् ....ज्ञायन्ते) इससे यह प्रतीत होता है कि वह कुछ निघंटुओं से परिचित थे या स्वयं किसी निघण्टु के रचयिता थे। यह संभव है कि शशिलेखा के कर्ता और इन्दु-निघण्टु[3], जिसे क्षीरस्वामी ने अपनी अमरकोशव्याख्या में बहुशः उद्धृत किया है, के रचयिता इन्दु एक ही व्यक्ति हों। इसके अतिरिक्त, काल भी दोनों रचनाओं का समान ही (लगभग १०५० ई०) है क्योंकि क्षीरस्वामी का काल ११वीं शती का उतरार्द्ध है।

इन्दु ने अपनी व्याख्या में (नि० अ० २) भट्टार हरिचन्द्र[4] का निर्देश किया है। भट्टार हरिचन्द्र ने चरकभाष्य बनाया है। उनका उल्लेख महेश्वर ने विश्वप्रकाश-कोश (११११ ई०) में, चन्द्रट (लगभग १००० ई०) ने, हेमाद्रि (१३वीं शती) ने अष्टांगहृदय-व्याख्या में तथा अरुणदत्त ने अष्टांगहृदय की सर्वांगसुन्दरी-व्याख्या (१२२० ई०) में किया है। इससे स्पष्ट है कि भट्टार हरिचन्द्र १००० ई० से पूर्व हुये अतः इन्दु का काल १०५० ई० के लगभग रखने में कोई आपत्ति नहीं है। इसके अतिरिक्त, इन्दु ने भट्टार हरिचन्द्र का उल्लेख उपेक्षा के साथ किया है[5] इससे प्रतीत होता है कि संभवतः वह उनके समकालीन हों।

---

१. उक्तं च हृदये परस्परोपसंस्तम्भा धातुस्नेहपरंपरा (शा० ३–३५); येन हृदये पठति—तदेव व्यक्ततां यातं रूपमित्यभिधीयते। इति। एवं च स्थिते सपूर्वरूपाः कफपित्तमेहाः इति यदा हृदयग्रंथे व्याख्यायते तत्रैव चोदयिष्यामः'।—

२—काश्मीरेषु महोयकः काश्मीरेषु केबुकं अन्यत्र कनाविकम् इत्यादि।

३. आहेन्दुः—उदुम्बरस्तुः यज्ञांगः सुचक्षुः श्वेतवल्कलः।
हेमदुग्धः कृमिफलः क्षीरवृक्षः सकांचनः॥ इत्यादि।

—नामलिंगानुशासन (अमरकोष)–क्षीरस्वामिव्याख्यायुत

(K. G. Ojha, poona 1913)

४. एतदेव हृदि कृत्वा भट्टारहरिचन्द्रेण वा शब्दस्याप्राधान्यं...व्याख्यातम्।

५. भट्टारकेण...द्वितीयोऽपि पक्षो य उद्भासितः सोऽस्माभिरुपेक्षित एव।

कुछ स्थलों में इन्दु ने अपने गुरु का निर्देश 'अस्मद् गुरवः[१]' शब्द से किया है। इससे यह प्रतीत होता है कि वह संभवतः अष्टांगहृदय के रचयिता वाग्भट द्वितीय के शिष्य थे। आचार्य शब्द से उनका स्मरण और वाहटग्रन्थ से अष्टांगहृदय का निर्देश किया गया है[२]।

इन्दु का निर्देश किसी परवर्ती लेखक के द्वारा किया अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है अतः उसके काल की निम्नतम सीमा निर्धारित करना कठिन है। फिर भी वह वाग्भट द्वितीय (८वीं या ९वीं शती) के बाद हुये यह ऊपर दिखलाया जा चुका है। इसके अतिरिक्त, यदि क्षीरस्वामी द्वारा उद्धृत निघण्टु के कर्ता से उसका ऐक्य सिद्ध हो तो इन्दु का काल ७५० ई० और १०५० ई० के बीच में रक्खा जा सकता है[३]।

श्री नलिनीनाथ दासगुप्त[४] ने भी इसका समर्थन किया है किन्तु उनका विचार है कि निदान के रचयिता माधवकर के पिता इन्दु ही इन दोनों ग्रन्थों के रचयिता हैं। चूंकि श्रीदासगुप्त ने माधवकर का काल ७वीं शती रक्खा है अतः इन्दु का काल भी वही हो जायगा। वाग्भट द्वितीय का काल भी वह ८वीं या ९वीं शती न मानकर ७वीं शती मानते हैं। इस प्रकार इन्दु, उनका पुत्र माधवकर और वाग्भट द्वितीय ये तीनों ७वीं शती के समकालीन व्यक्ति होंगे। इसके अतिरिक्त, इन्दु ने भट्टार हरिचन्द्र का उल्लेख किया है अतः वह इन्दु के समकालीन या उससे कुछ पूर्ववर्ती होंगे। इन सब संभावनाओं पर और विचार अपेक्षित है।

इन्दु ने अपनी व्याख्या (सं० उ० ५०।९९) में वाक्यपदीयकार भर्तृहरि के प्रसिद्ध श्लोक 'संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता। अथः प्रकरणं लिंगं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः ॥' को उद्धृत किया है। युधिष्ठिर मीमांसक[५] ने इन्दु को वाग्भट का शिष्य मान कर तथा वाग्भट का काल चन्द्रगुप्त द्वितीय के समान मान कर वाक्यपदीयकार को उसके पूर्व का सिद्ध किया है। किन्तु न इन्दु वाग्भट का शिष्य है और न वाग्भट का वह काल ही है।

---

१. एतच्चास्मद्गुरवो यथा ... अभिमन्यन्ते। (सू० अ० ९)

२. तथा च आचार्य एव हृदये केवलं महत्याः प्रतिषेधं करोति। (शा० अ० ३), 'तथा च श्रीवाहटग्रंथ एव'।

३. श्री हालदार इन्दु को काशिका पर अनुन्यास के प्रणेता इन्दुमित्र से अभिन्न मानते हैं और इसका काल १०-११ शती रखते हैं। (वृद्धत्रयी पृ० २७६)

४. N. N. Dasgupta : Indian Culture, Vol. III, p. 434.

५. संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ० ३४३-३४४

प्रो० कीथने वाग्भट द्वितीय को बौद्ध माना है। इन्दु ने 'सत्वाद्यवस्था विविधाश्च तास्ता:' (सू० ४–२०) में मार्ग शब्द की व्याख्या में 'मनुबुद्धादिप्रणीतेषु हितोपदेश-शास्त्रेषु यो मार्ग:' ऐसा दिया है। इससे स्पष्ट होता है कि उसने स्वयं वैदिक ब्राह्मण होते हुये भी बौद्धगुरु का शिष्य होने से ऐसा उल्लेख किया यद्यपि मूल में इसका कोई संकेत नहीं है। इसके विपरीत, वाग्भट प्रथम ने १०८ मंगलों में धर्मशास्त्र का समावेश किया है जिसका बौद्धधर्म से कोई संबन्ध नहीं है।

जहां तक वाग्भट द्वितीय का शिष्य होने का प्रश्न है, यह निराधार है क्योंकि किसके लिए 'गुरु' शब्द का प्रयोग किया गया यह कहना कठिन है। 'आचार्य' शब्द भी सम्मानजनक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। 'आचार्य हृदय का स्मरण कर ऐसा लिखते हैं' इन्दु का यह कथन निम्नांकित बातों की ओर संकेत करता है :—

१—वह संग्रह और हृदय के पौर्वापर्य के सम्बन्ध में भ्रान्त धारणा रखता था। संभवत: वह हृदय को पूर्ववर्ती रचना मानता था।

२—दोनों वाग्भटों को एक मानता था।

३—ऐसी भ्रान्त धारण रखने वाला व्यक्ति कभी उस लेखक का शिष्य नहीं हो सकता बल्कि वह लेखक से इतनी दूरी पर है कि उसे वास्तविकता के संबंध में भ्रम होना स्वाभाविक है।

अत: इन्दु किसी वाग्भट का शिष्य नहीं था और १३वीं शती में हुआ था। क्योंकि यदि इसके पूर्व होता तो डल्हण और अरुणदत्त उसका उल्लेख अवश्य करते। इसके अतिरिक्त उसने स्वयं मेदिनीकोश (१२वीं शती) को उद्धृत किया है। महेश्वर ने विश्वप्रकाश के प्रारम्भ में परिचय देते हुए लिखा है :—

"य: साहसांकचरितादिमहाप्रबन्धनिर्माणनैपुणगुणागतगौरवश्री:।
'यो वैद्यकत्रयसरोजसरोजबन्धुर्बंधु: सतां सुकविकैरवकाननेन्दु:।" १।६

इन्दु ने इसी आधार पर अष्टांगसंग्रह की शशिलेखा-व्याख्या के उपक्रम में कहा है:—

"सरसि सुविपुलायुर्वेदरूपे कृतास्थं मुनिवरवचनौघे दीर्घनाले निबद्धम्।
रचितदलमिवांगै: संग्रहाख्यं सरोजं विकसति शशिलेखाव्याख्ययेन्दोर्यथावत् ॥"

इससे ऐसा अनुमान होता है कि इन्दु महेश्वर (१२वीं शती) के बाद हुआ। उसने अष्टांगहृदय पर भी शशिलेखा-व्याख्या लिखी जिसकी हस्तलिखित प्रति अडियार पुस्तकालय (मद्रास) में उपलब्ध है। ऐसी स्थिति में इन्दु निघंटु का रचयिता कोई अन्य व्यक्ति होगा।

जेज्जट

जेज्जट ने अष्टांहृदय पर व्याख्या लिखी और चरक और सुश्रुत पर भी व्याख्याओं की रचना की। चक्रपाणि ने जेज्जट का निर्देश किया है अत: वह उससे

पूर्व हुआ है और जेज्जट ने वाग्भट द्वितीय का निर्देश किया है[1] अतः वह वाग्भट द्वितीय और चक्रपाणि के बीच में है। संभवतः वह ९वीं शती में हुआ[2]। वह कश्मीर का निवासी प्रतीत होता है। शैली से अनुमान होता है कि वह एक प्रौढ वैयाकरण था। इसी कारण कुछ लोगों की धारणा है कि वह वैयाकरण कैयट का पुत्र था। किन्तु इतना निश्चित है कि वह वाग्भट का शिष्य नहीं था क्योंकि जेज्जट ने वाग्भट का उद्धरण वाग्भट के नाम से ही दिया है[3] उसके साथ कोई आदरसूचक विशेषण नहीं लगाया। यदि शिष्य होता तो ऐसा न कर 'गुरवः' या 'आचार्याः' अवश्य लिखता। 'इति श्रीवाहटशिष्यस्य जेज्जटस्य कृतौ' यह पुष्पिका भी सर्वत्र नहीं मिलती, अतः यह भी सन्दिग्ध है।

१०—अन्य टीकाकारों द्वारा उद्धरण —

चक्रपाणि ने केवल वाग्भट के नाम पर सर्वत्र वाग्भट द्वितीय को उद्धृत किया है। बाद के टीकाकार अरुणदत्त और हेमाद्रि ने वृद्ध वाग्भट और वाग्भट करके क्रमशः प्रथम और द्वितीय वाग्भट का निर्देश किया है। इसका कारण यह हो सकता है कि चक्रपाणि के समक्ष केवल हृदय ही हो अतः उसी को उद्धृत किया। बाद के टीकाकारों ने वृद्ध और लघु शब्दों से दोनों का पार्थक्य स्पष्ठ किया। इससे इतना तो स्पष्ट है कि वाग्भट द्वितीय चक्रपाणि के पूर्व पर्याप्त प्रसिद्ध हो चुका था और संग्रह के स्थान पर हृदय ही पढ़ा-पढ़ाया जाता था।

११—सिन्ध पर मुसलमानों का आक्रमण—

७वीं शती के बाद मुसलमानों का आक्रमण प्रारम्भ होने के कारण सिन्ध का ऐसी अस्त-व्यस्त स्थिति थी कि वहां कोई रचनात्मक कार्य होना कठिन था अतः वाग्भट की रचना का काल उसके पूर्व ही मानना होगा ऐसा डा० गणनाथ सेन का विचार है। बहुत अंशों में यह विचार सत्य हो सकता है किन्तु जैसा कि हम देख चुके हैं, दोनों वाग्भट ७वीं शती के पूर्व ही हो चुके हैं अतः यह प्रश्न ही नहीं उठता।

कालनिर्णय का आधार

उपर्युक्त विभिन्न मतों की समीक्षा के बाद अब हमें कालनिर्णय के आधार पर

---

१. तथा वाग्भटेन प्राकृतश्चानिलोद्भवः—च० चि० ३। ४८-४९

२. Charaka (Jamnagar), Vol. I, page 116-117.

३. 'If Chandrata (About 1000 A. D. according to Hornle) quotes जेज्जट he is earlier than 1000 A. D. but I have no evidence to prove that इन्दु and जेज्जट were contemporaries.

—P. K. Gode : A. B. O. R. I., Vol. XXV, page 219 F. N.

विचार करना चाहिए। किसी भी रचना का कालनिर्णय बाह्य एवं आभ्यन्तर साक्ष्यों के आधार पर होता है। अतः इन साक्ष्यों की परीक्षा की जाय।

बाह्य साक्ष्य

डल्हण (१२वीं शती), अरुणदत्त, इन्दु, विजयरक्षित, (१३ वीं शती), हेमाद्रि, श्रीकण्ठदत्त और निश्चलकर (१४वीं शती) ने वृद्ध वाग्भट तथा वाग्भट दोनों का उल्लेख किया है। चक्रपाणि (११वीं शती) तथा जेज्जट (९वीं शती) ने केवल वाग्भट द्वितीय का उल्लेख किया है। वृन्दमाधव (९ वीं शती) ने वाग्भट को उद्धृत किया है[1] तथा उसके अनेक औषधयोगों का भी उल्लेख किया है (देखें परिशिष्ट ११)। जेज्जट संभवतः वाग्भट को उद्धृत करने वाला प्रथम व्यक्ति है। इसके तिब्बती एवं अरबी अनुवाद आठवीं शती में हो चुके थे। फिर माधवनिदान ने जिसका ८वीं शती में अरबी में अनुवाद हुआ है, अष्टांगहृदय के श्लोक ज्यों के त्यों उद्धृत किये हैं। चीनी–यात्री इत्सिंग (६७१-६९५ ई०) ने अपने यात्रा-विवरण में स्पष्टतः लिखा है कि हाल ही एक व्यक्ति ने आठों अंगों का संग्रह (Epitome) बनाया है जो समस्त भारत में प्रचलित है। पठनपाठन में सर्वदा हृदय का ही प्रचार रहा अतः यह स्पष्ट है कि इत्सिंग का विवरण अष्टांगहृदय से ही सम्बन्ध रखता है और यह पता चलता है कि उस काल तक यह ग्रन्थ सारे भारत में फैल चुका था[2]। अन्त में वराहमिहिर (५०५-५८० ई०) आता है जिसने वाग्भट के रसायन-योगों के अतिरिक्त अन्य भी बहुत सी बातें ली हैं। इसी प्रकार ज्योतिष-सम्बन्धी विचारों के सम्बन्ध में वाग्भट वराहमिहिर से प्रभावित हैं। ऐसा लगता है कि वराहमिहिर ने सबके अन्त में बृहत् संहिता लिखी और तब तक वह संभवतः वाग्भट के संपर्क में आ चुका था। इस प्रकार वराहमिहिर का काल (५०५-५८७ ई०) वाग्भट के काल की निम्नतम सीमा मानी जा सकती है।

---

१ सद्योभुक्तस्य सञ्जाते ज्वरे सामे विशेषतः।
वमनं वमनार्हस्य शस्तमित्याह वाग्भटः॥

—वृ० मा० ज्वराधिकार श्लो० २७

२. अभी भी पुस्तकालयों में अधिकांश हस्तलिखित ग्रन्थ अष्टांगहृदय के ही हैं। मद्रास राजकीय प्राच्य ग्रन्थागार में १३ पाण्डुलिपियाँ अष्टांगहृदय की हैं और केवल २ अ० संग्रह की हैं। ऐडियार पुस्तकालय में ६ पाण्डुलिपियाँ केवल अ० हृदय की ही हैं। हृदय की शशिलेखा-व्याख्या (इन्दुकृत) वहीं है। इसी प्रकार सरस्वती-भवन, वाराणसी में ११ पाण्डुलिपिया केवल हृदय की हैं। व्याख्यायें भी हृदय की लगभग ३४ हैं, संग्रह की २—३ मात्र।

जहां तक उच्चतम सीमा का प्रश्न है, वाग्भट ने चरक और सुश्रुत का उल्लेख किया है और उनके विचारों को उद्धृत किया है। यह कहना कठिन है कि वाग्भट के समक्ष चरक और सुश्रुत का मूल रूप था या प्रतिसंस्कृत किन्तु संभावना है कि चरक का दृढ़बल द्वारा प्रतिसंस्कार संभवतः तब तक नहीं हुआ था क्योंकि यदि होता तो वाग्भट दृढबल का नाम अवश्य लेता किन्तु कहीं भी दृढबल का निर्देश नहीं आया है। ऐसा लगता है कि दृढबल वाग्भट प्रथम का लगभग समकालीन या कुछ ही पूर्व था जिसकी रचना का उपयोग वाग्भट प्रथम ने नहीं वाग्भट द्वितीय ने किया। सुश्रुत के सम्बन्ध में ऐसा अनुमान है कि उसका प्रतिसंस्कर्ता या तो वाग्भट के समकालीन था या उसके बाद का क्योंकि उसके विचार बहुत आधुनिक हैं और अनेक विषय तो वाग्भट की अपेक्षा भी परिमार्जित हैं। अनुमान यह है कि कम से कम एक प्रतिसंस्कार वाग्भट के बाद अवश्य हुआ है। ऐसा सुना जाता है कि तीसट-पुत्र चन्द्रट (११वीं शती) ने जेज्जट की टीका के आधार पर सुश्रुत की पाठ शुद्धि की[1]। यह भी एक प्रतिसंस्कार ही था। यदि यह सत्य है तो यह मानना होगा कि सुश्रुत का वर्तमान रूप ११वीं शती में निर्धारित हुआ है। एक प्रतिसंस्कार तो दोनों का पहले हो ही चुका था। डा० हार्नले का मत है कि २री शती में यह काम पूरा हो गया था[2]। वाग्भट के समक्ष संभवतः संहिताओं का यही प्रतिसंस्कृत रूप था। नावनीतक के अनेक योग वाग्भट में मिलते हैं। नावनीतक का काल २री शती निश्चित किया गया है[3]। किन्तु इसमें चरक का नाम नहीं आता इससे अनुमान होता है कि यह चरक के पूर्व वृद्धसुश्रुत और अग्निवेशतन्त्र पर आधारित ग्रन्थ है। जो भी हो, वाग्भट में चरक-सुश्रुत का तो उल्लेख है ही और यदि हार्नले के अनुसार इसका काल २री शती मानें तो यह वाग्भट के काल की उच्चतम सीमा ठहरती है। इस प्रकार बाह्य साक्ष्य के आधार पर वाग्भट का काल २री शती और छठी शती के बीच में ठहरता है।

आभ्यन्तर साक्ष्य

१—भाषा एवं शैली—वाग्भट में अनेक गुप्तकालीन शब्द मिलते हैं। शैली भी गद्य-पद्यमय और हृदय से प्राचीन मालूम पड़ती है। छन्दोवैविध्य भी अधिक है जिसका पूर्ण विकास वराहमिहिर की बृहत्संहिता में मिलता है। कालिदास

---

१. चिकित्साकालिकाटीकां योगरत्नसमुच्चयम्। सुश्रुते पाठशुद्धिं च तृतीयां चन्द्रटो व्यधात्। —चन्द्रटः चिकित्साकालिकाव्याख्या

२. Hornle : Osteology, Introduction, page 5.

३. Bower Manuscript, Introduction, Ch. VI, Lxi.

(४-५वीं शती), विशाखदत्त (५वीं शती), भट्टि (५वीं शती) और शूद्रक (छठी शती) का स्पष्ट प्रभाव वाग्भट पर दृष्टिगोचर होता है। शूद्रक के "लिम्पतीव तमोंगानि वर्षतीवांजनं नभः" की स्पष्ट छाया वाग्भट में मिलती है। सुबन्धु (७वीं शती), बाणभट्ट (७वीं शती), दण्डी (७वीं शती) और माघ (७वीं शती) वाग्भट के परवर्ती हैं क्योंकि इनकी शैली अधिक आलंकारिक है। भारवि (६ठी शती) वाग्भट के समकालीन होंगे। अष्टांगहृदय भारवि के बाद की रचना है। इस पर किरातार्जुनीय की आलंकारिक छाया स्पष्ट दिखती है।

२– **भौगोलिक स्थिति** :— पर्वतों, नदियों, तीर्थों, संगमों का जो उल्लेख वाग्भट में हुआ है वह कालिदास के वर्णनों में मिलता-जुलता है। कालमान कौटल्य के आधार पर दिया है। कौटल्य के काल के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है किन्तु ३०० ई० समुचित प्रतीत होता है[१]।

३—**राजनैतिक स्थिति**:—सम्राट का शासन था। विजिगीषा प्रबल थी। प्रतिदिन युद्ध में हजारों आदमी मारे जाते थे और दूसरे राज्यों पर अधिकार किया जाता था। राजा पर मंत्री और गुरु का अंकुश रहता था। पुरोहित, मंत्री और गुरु नीति और अर्थशास्त्र के वेत्ता तथा गुरु अथर्ववित् होते थे[२]। तत्कालीन स्थिति पर अथर्वपरिशिष्ट तथा कामन्दकीय नीति का गंभीर प्रभाव था। अथर्वपरिशिष्टोक्त अनेक विधियाँ वाग्भट और वराहमिहिर में मिलती हैं। मेरा अनुमान है कि अथर्वपरिशिष्ट की रचना उसके कुछ ही पूर्व हुई होगी और वह ग्रन्थ उस समय लोकप्रिय होगा। कामन्दकीय नीतिसार के काल के संबन्ध में मतभेद है। डा० जायसवाल का मत है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय के प्रधान मंत्री शिखरस्वामी ने राजनीति पर कोई ग्रंन्थ लिखा था[३]। दूसरे लोग इसे ७वीं या ८वीं शती की रचना मानते हैं और कुछ लोग वराहमिहिर के समकालीन मानते हैं[४]। कामन्दकीय नीति की छाया वाग्भटपर स्पष्ट रूप से मिलती है अतः कामन्दकीय नीति का काल वराहमिहिर के समकालीन निर्धारित ही मानना चाहिये। शुक्रनीति को पहले लोग गुप्तकालीन रचना मानते थे अब कुछ विद्वान इसे अत्याधुनिक १८-१९वीं शती की रचना कहते हैं। एक

१. Winternitz : A History of Indian Literature, Vol. III, II, 593.

२. पुरोहितं प्रकुर्वीत दैवज्ञमुदितोदितम्।
दण्डनीत्यां च कुशलमथर्वांगिरसे तथा ॥—या० स्मृ० १।३१२
समाहितांगप्रत्यंगं विद्यासारगुणान्वितम्।
पैप्पलादं गुरुं कुर्यात् श्रीराष्ट्रारोग्यवर्धनम् ॥—अ० प० २।३।५

३. K. P. Jaisawal : J. B. O. R. S., 1932, pages 37-39.

४. कीथ : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ५४८

विचित्र बात यह है कि अष्टांगहृदय के सद्‌वृत्त-प्रकरण के लगभग ५० श्लोक अविकल-रूप में शुक्रनीति में मिलते हैं। यदि उसे १८ वीं शती की रचना मानें तो इसकी व्याख्या कैसे की जा सकेगी ? नीति का एक प्रसिद्ध ग्रन्थ एक वैद्यक ग्रंथ से उद्धरण क्यों लेगा और फिर हजार वर्षों के व्यवधान के बाद ? अतः यह स्पष्ट है कि मूल शुक्रनीति की रचना अष्टांगहृदय के पूर्व हुई है और इसने शुक्रनीति से वह विषय ज्यों का त्यों लिया है। हेमाद्रि के समकालीन मिथिलेश हरिसिंह देव के सान्धिविग्रहिक चण्डेश्वर (१३०४ ई०) के ग्रन्थ 'राजनीतिरत्नाकर' में भी शुक्रनीति का उद्धरण है[१]। अतः मूल शुक्रनीति ७ वीं शती के बाद का नहीं हो सकता। संप्रति जो शुक्रनीति का ग्रन्थ मिल रहा है वह अवश्य अत्याधुनिक प्रतीत होता है।[२] वाग्भट ने विषकन्या का उल्लेख किया है जिसका आधार कौटल्य और विशाखदत्त हो सकते हैं।

वाग्भट ने हीन और अनार्य राजा की सेवा का निषेध किया है। सिन्ध में उस समय कोई शूद्र राजा राज्य करता था। सम्भवतः यशोधर्मा की विजय के बाद वाग्भट सिन्धु छोड़कर उज्जयिनी चला आया। यशोधर्मा ने ५३३ ई० में हूणों को परास्त कर विक्रमादित्य की उपाधि ग्रहण की और उज्जयिनी में ५३३ ई० से ५८३ ई० तक राज्य किया।[३] वराहमिहिर और वाग्भट सम्भवतः इसी विक्रमादित्य के काल में थे। इस प्रकार ज्योतिर्विदाभरण (१६ वीं शती) के अनुसार विक्रमादित्य के नवरत्न में वराहमिहिर आ जाते हैं तो क्या नवरत्न के धन्वन्तरि वाग्भट ही थे[४]? यह विचारणीय है।

सामाजिक परिस्थिति—तत्कालीन समाज की जीवनचर्या पुराणों, धर्मसूत्रों एवं स्मृतियों द्वारा परिचालित थी और नागरक कामसूत्रोक्त विधानों के अनुसार अपना कार्यक्रम बनाता था। एक ओर धर्मप्राण जनता त्याग और मोक्ष की ओर जा रही थी तो दूसरी ओर वैभवसम्पन्न समाज भोगविलास की ओर बढ़ रहा था। एक को स्मृतियाँ पथप्रदर्शन कर रही थीं और दूसरे को कामसूत्र उत्साहित कर रहा था। त्याग और भोग का अपूर्व समन्वय गुप्तकाल की विशेषता है। कालिदास के

---

१. K. P. Jaisawal : J. B. O. R. S., 1936.

२. Lallanji Gopal : Date of Sukraniti, Modern Review, May-June '63.

३. गौरीशंकर चटर्जी : हर्षवर्धन पृ० ८९ (हार्नले और राधाकुमुद मुकर्जी के मतानुसार) Stein : Kalhan's Raj Tarangini Vol. I, Int : Page 83.

४. धन्वन्तरिक्षपणकामरसिंहशंकुवेतालभट्टघटकर्परकालिदासाः ।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य ॥
और देखें—वैद्यकशब्दसिन्धु, विज्ञापन, पृ० ९

काव्य इसी के सन्देशवाहक हैं। वाग्भट पर याज्ञवल्क्यस्मृति (३०० ई०) और विष्णुस्मृति[1] (३०० ई०) की पूरी छाप है। कामसूत्र[2] (४०० ई०) के अनेक विषय उसमें मिलते हैं।

धार्मिक परिस्थिति—समाज पर श्रौतसूत्रों, धर्मसूत्रों और गृह्यसूत्रों का प्रभाव था जिनके अनुसार यज्ञ-याग, विधि-विधान, संस्कार आदि होते थे। शिव, विष्णु, शक्ति, सूर्य एवं गणेश इन पांच देवताओं की पूजा लोक में प्रचलित थी। सूर्य की पूजा का बहुत प्रचार था। उज्जयिनी में सूर्यपूजक बहुत थे[3]। सम्भवतः विक्रमादित्य ने जब इसे दूसरी राजधानी बनाई होगी तो मगध से बहुसंख्यक सूर्यपूजक वहाँ जाकर बसे होंगे जिन्होंने इसका प्रचार किया होगा। कार्तिकेय की पूजा का भी प्रचार था। वाग्भट में विशेषता यह है कि वैदिक धर्म के साथ-साथ बौद्धधर्म का अद्भुत समन्वय किया है। यह छठी शती की विशेषता है जो आगे चल कर वर्धन-कुल में प्रतिफलित हुई है। मायूरी, महामायूरी आदि विद्याओं का प्रयोग हुआ है जो नावनीतक (२०० ई०) में तथा आगे चल कर हर्षचरित (६५० ई०) में मिलती हैं। अवलोकितेश्वर की मूर्तियां गुप्तकाल से अधिकाधिक मिलना प्रारम्भ हो गई थीं। अन्य मूर्तियों का प्रचार भी कालक्रम से होता गया होगा। असंग (३री शती) से बौद्ध तन्त्र का प्रादुर्भाव हुआ और इन्द्रभूति (८वीं शती) तक पूर्ण पल्लवित हुआ। इस बीच में इसकी धारा का क्रमिक विकास होता गया। विभिन्न तान्त्रिक देवी-देवता और उनके मन्त्रों का अनुसन्धान हुआ। यह प्रारम्भिक स्थिति मन्त्रयान की ही थी, वस्तुतः वज्रयान का प्रारम्भ इन्द्रभूति के बाद माना जाता है। वाग्भट में मन्त्रयान का ही रूप मिलता है, वज्रयान का नहीं। मन्त्रों के रूप में प्राचीन धारणियों के पाठ का विधान किया गया है। किन्तु मन्त्र के साथ तन्त्र शब्द का प्रयोग होने से यह स्पष्ट है कि तन्त्र भी विकासमान अवस्था में था। अञ्जन, पादलेप, रस-रसायन आदि आठ बौद्ध सिद्धियां मानी गई हैं। इनमें पादलेप, अञ्जन और रस-रसायन का प्रयोग वाग्भट में मिलता है। सर्वार्थसिद्ध अञ्जन का उल्लेख वाग्भट ने ही किया है जिसका निर्देश बाणभट्ट की रचनाओं में भी मिलता है।

मूर्तियों की भुजाओं के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि कालक्रम से भुजाओं की संख्या बढ़ती गई है। कार्तिकेय की भी पहले दो हाथ, फिर चार हाथ और फिर बारह हाथों की मूर्तियाँ बनने लगीं। निम्नांकित श्लोक भी इस क्रमिक विकासशील अवस्था का द्योतक है :—

---

१. काणे : धर्मशास्त्र का इतिहास, प्राक्कथन पृ० १४

२. Winternitz : A History of Indian literature Vol. III, II, 624.

३. दिवसेनेव मित्रानुवर्तिना (उज्जयिनीवर्णन)—का० पृ० १५९

कमण्डलोदकर्णाभं कुमारं सुकुमारकम् ।
गण्डकैश्चिकुरैर्युक्तं मूषकरवाहनम् ॥
स्थानीये खेटनगरे भुजा द्वादश कल्पयेत् ।
चतुर्भुजः खर्वटे स्याद् वने ग्रामे द्विबाहुकः ॥[1]

पटना-संग्रहालय में दो मूर्त्तियां बारह हाथों की हैं एक सप्ताक्षर की और दूसरी किसी देवी की। ये दोनों मूर्त्तियां ८वीं शती की बतलाई जाती हैं[2] किन्तु महाभारत के वर्णन से प्रतीत होता है कि कुछ पहले से ही ऐसी मूर्त्तियां बनना प्रारम्भ हो गया होगा अतः वाग्भट के काल (छठी शती) में उनका होना असम्भव नहीं है।

काल की दृष्टि से संस्कारों में दो महत्वपूर्ण हैं एक षष्ठी-पूजन और दूसरा कर्णवेध। षष्ठी-पूजा का प्रचार गुप्तकाल से ही हुआ है[3]। कर्णवेध संस्कार भी अर्वाचीन स्मृतियों में ही मिलता है[4]। वाग्भट में ये दोनों मिलते हैं जो उसके गुप्तकालीन होने की सूचना देते हैं।

शिक्षापद्धति—शास्त्रचर्चा के क्षेत्र में गुप्तकाल की दो विशेष प्रवृत्तियां देखने में आती हैं—एक आर्ष की तुलना में मानव के महत्त्व को स्थापित करना और दूसरे विशाल वाङ्मय का संग्रह। ये प्रवृत्तियां गुप्तकालीन प्रायः सभी लेखकों में मिलती हैं। वाग्भट में ये भी प्रवृत्तियां स्पष्टतः देखी जा सकती हैं।

धातुओं की भस्म तो पहले भी बनती थी किन्तु उसकी संज्ञा चूर्ण थी किन्तु अब उसमें स्पष्ट विकासपरम्परा लक्षित होती है। रसशास्त्र की भूमिका प्रस्तुत हो रही थी। पारद का प्रयोग होने लगा था, गन्धक भी प्रयोग में आ गया था। बाद में दोनों का संयोग होने पर रसशास्त्र का अवतरण हुआ। यह कार्य वस्तुतः हृदयोत्तरकाल में तान्त्रिक सम्प्रदाय के द्वारा हुआ। पाल राजाओं के संरक्षण में विक्रमशिला विश्वविद्यालय उस काल में तान्त्रिक साधना का सर्वोत्तम केन्द्र था। सम्भवतः रसशास्त्र का प्रारम्भिक और मध्यम विकास वहीं हुआ होगा।

---

१. सूत्रधारमण्डनः देवतामूर्तिप्रकरणं रूपमण्डनं च। (Calcutta Sanskrit Series XII), ८।३७-३८

२. Patna Museum Catalogue-Antiquities, 1965, No. 6500,6505

इस सूचना के लिए मैं डा० एच० के० प्रसाद, असिस्टेण्ट क्यूरेटर, पटना म्युजियम का आभारी हूं।

षोडशभुज गणेश की एक मूर्ति (९वीं शती) काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के भारत-कलाभवन (नं० २००७४) में है।

३. अत्रिदेव : अष्टांगसंग्रह टीका, उ० १।२६; काश्यपसंहिता—पृ० १४५

४. काणे : धर्मशास्त्र का इतिहास, प० १७८

आयुर्वेद की शिक्षा विश्वविद्यालय और परम्परागत दोनों रूप में होती थी। विद्यालयों में एक सामान्य शिक्षणक्रम था जिसमें आयुर्वेद एक अनिवार्य विषय था और दूसरा विशिष्ट पाठ्यक्रम था जिसमें आयुर्वेद की विशिष्ट शिक्षा दी जाती थी। इसी प्रकार परम्परागत भी दो प्रकार का था एक कुल-परम्परा से और दूसरा गुरु-परम्परा से। कुछ लोगों की यह कुल-परम्परागत विद्या थी और कुछ लोग गुरु के पास रहकर शिक्षा प्राप्त करते थे। वाग्भट ने अपना गुरु तो अवलोकित को बनाया था किन्तु अधिकांश शिक्षा अपने पिता से ही प्राप्त की थी। सिंहगुप्त एक विद्वान और विख्यात वैद्य थे। उनके नाम से एक योग भी प्रचलित है[1]। बाणभट्ट ने लिखा है कि प्रभाकरवर्धन का वैद्य रसायन नाम का था जो अष्टांग आयुर्वेद का ज्ञाता था। मेरा अनुमान है कि उस समय अष्टांग का पठन-पाठन संग्रह और हृदय के द्वारा प्रारम्भ हो गया था। मेरा तो ऐसा भी विचार है कि वैद्य अष्टांग आयुर्वेद का ज्ञाता हो यह मान्यता वाग्भट के द्वारा ही प्रचारित हुई। इसी प्रकार समाज पर ज्योतिष का प्रभाव भी गुप्तकाल की ही देन है।

वाग्भट के द्वारा गुग्गुलु का मेदोरोग में प्रयोग तथा उसके क्लैब्य आदि उपद्रवों का वर्णन भी गुप्तकालीन स्थिति का द्योतक है जो कि तत्कालीन साहित्य से प्रमाणित होता है[2]।

राजभवन सूतिकागार आदि का वर्णन भी गुप्तकालीन ही है। अग्रवाल का कथन है कि बाणभट्ट ने सम्भवतः सर्वप्रथम चारणों का उल्लेख किया है किन्तु वाग्भट में कथकचारण-संघ का निर्देश उपलब्ध होता है। जैसा कि ऊपर कहा गया है, वाग्भट बाणभट्ट का पूर्ववर्ती है अतः यदि प्रथम उल्लेख की बात हो तो यह वाग्भट का होना चाहिये।

इस प्रकार आभ्यन्तर साक्ष्य से कामसूत्र (४०० ई०) और वराहमिहिर (६ठीं शती) के बीच वाग्भट का काल ठहरता है।

उपसंहार

इस प्रकार बाह्य और आभ्यन्तर साक्ष्यों पर विचार करने से वाग्भट का काल कामसूत्र (४०० ई०) तथा वराहमिहिर (५०५-५८७ ई०) के बीच आता है। चूंकि वाग्भट और वराहमिहिर में परस्पर आदान-प्रदान है, वाग्भट प्रथम का काल ५५० ई० मानना चाहिए। इस प्रकार वाग्भट द्वितीय का काल ६०० ई० होगा।

---

१. नाम्ना खदिरवटिका कथितेयं सिंहगुप्तेन—गदनिग्रह, भाग १, पृ० २३२

२. चतुर्भाणी : पादताडितक—पृ० २०८-२०९

रचनायें

श्रीहरिशास्त्री पराड़कर ने वाग्भट की निम्नांकित चार रचनाओं का उल्लेख किया है[१]।

१—अष्टांगसंग्रह २—अष्टांगहृदय ३—अष्टांगनिघण्टु ४—अष्टांगावतार। प्रथम दो ग्रन्थ तो प्रसिद्ध ही हैं। अष्टांगनिघण्टु अष्टांगहृदय का परिशिष्ट रूप है। इस ग्रन्थ का उल्लेख न तो अष्टांगहृदय की किसी पुस्तक में मिलता है और न अरुणदत्त या हेमाद्रि ने इसका उल्लेख किया है अतः यह सन्देह उठता है कि हृदयकार ने ही इसकी रचना की या किसी अन्य वाग्भट ने ? मद्रास तथा तंजोर पुस्तकालयों में उपलब्ध इसके हस्तलिखित ग्रन्थों में से एक में ग्रन्थान्त पुष्पिका में लिखा है :—"श्रीमद्वाहटाचार्यविरचितायां अष्टांगहृदयसंहितायां अष्टांगनिघण्टुः समाप्तः।" इससे स्पष्ट होता है कि यह ग्रन्थ वाहट द्वारा रचित एवं हृदय का परिशिष्टभूत है। संहिताओं में परिशिष्टरूप में निघण्टुओं की परम्परा का उल्लेख पं० हेमराज शर्मा ने विस्तार से किया है[२]। सुश्रुतसंहिता के परिशिष्टरूप में निघण्टु की हस्तलिखित प्रति उनके पास है और उनकी मान्यता है कि ऐसे निघण्टुभाग सभी संहिताओं के परिशिष्ट रूप में हों।

अष्टांगावतार का यद्यपि औफ्रेक्ट ने अपनी सूची में उल्लेख नहीं किया है और न इसकी कोई हस्तलिखित प्रति ही प्राप्त हुई है तथापि अरुणदत्त ने इसका उल्लेख किया है[3] अतः इसकी सूचना मिलती है। जेज्जट ने भी चरक-टीका में अष्टांगावतार का उल्लेख किया है[४] अतः श्री पराड़कर का कथन है कि अष्टांगावतार भी वाग्भट की एक रचना है[५]। इस प्रकार के नाम पर अन्य रचनायें भी उपलब्ध होती हैं। गंगनरेश दुर्विनीत ने शब्दावतार[६] तथा सिद्धसेन दिवाकर ने न्यायावतार की रचना की थी। श्री दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य ने वाग्भट की चार रचनाओं का उल्लेख किया है[७]।

---

१. उपोद्घात—अष्टांगहृदय (निर्णयसागर)—पृ० १८–२७

२. उपोद्घात—काश्यपसंहिता (चौखम्बा) पृ० ५७

३. अयमेव तन्त्रकृत् अष्टांगावतारेऽभ्यगीष्ट—हृ० चि० १७।१८

४. तदन्तर्भूतानि च रसायनानि अष्टांगावतारे प्रदर्शितानि।
—च० चि० १।४ (जेज्जट)

५. उपोद्घात–अष्टांगहृदय (निर्णयसागर) पृ० २७

६. शब्दावतारकारेण देवभारतीनिबद्धवड्डकथेन किरातार्जुनीयपञ्चदशसर्गटीकाकारेण दुर्विनीतनामधेयेन।—बलदेव उपाध्याय : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० २१९

७. D. C. Bhattacharya : Date & works of Vaghbhata the Physician; A. B. O. R. I. vol XXVIII, Page 112

१—अष्टांगसंग्रह या वृद्ध-वाग्भट

२—मध्यसंहिता या मध्य-वाग्भट

३—अष्टांगहृदय या स्वल्प-वाग्भट

४—रसरत्नसमुच्चय या रस-वाग्भट

उपर्युक्त तीनों ग्रन्थों के कलेवर के अनुसार इन्हें क्रमशः द्वादशसाहस्री[1] दशसाहस्री और अष्टसाहस्री भी कहा है।

मध्यवाग्भट के अस्तित्व की सूचना निश्चलकर की रत्नप्रभा के उद्धरणों के आधार पर दी गई है। अनेक स्थलों पर उसने मध्यसंहिता या मध्यवाग्भट का उल्लेख किया है[2]। कहीं-कहीं वृद्ध वाग्भट और स्वल्प वाग्भट के साथ भी इसका उल्लेख मिलता है अतः इसका पृथक् अस्तित्व प्रतीत होता है। इसका विषय प्रायः संग्रह और हृदय का ही है। श्रीभट्टाचार्य का कथन है कि संग्रह और हृदय के विकास के मध्य की स्थिति का यह द्योतक है।

वाग्भट के नाम पर इतनी रचनायें आने का एक कारण यह भी है कि श्रीपराड्कर आदि विद्वानों ने दोनों वाग्भटों को एक माना है और सभी रचनाओं को एक व्यक्ति के नाम पर जोड़ दिया गया है[3] किन्तु चूंकि दोनों वाग्भट भिन्न हैं अतः वाग्भट प्रथम की रचनाओं में केवल अष्टांगसंग्रह उपलब्ध है और अन्य कौन रचनायें उसकी हैं इसका पता नहीं है। अष्टांगहृदय वाग्भट द्वितीय की रचना है। अष्टांगनिघण्टु भी उसी की रचना है यह कहना कठिन है। सम्भवतः वह किसी परवर्ती व्यक्ति द्वारा निर्मित है जो अष्टांगसंग्रह का प्रचार होने पर लिखी गई है। जैसा कि सुश्रुत में निघण्टु भाग जोड़ दिया गया है (देखें उपोद्घात, काश्यपसंहिता पृ० ५७)। यदि वाग्भट की रचना ही माननी हो तो वाग्भट द्वितीय की मान सकते हैं[4]। किन्तु मद्रास राजकीय प्राच्य हस्तलिखित ग्रन्थागार में ग्रन्थलिपि में

---

१. निश्चलकर-रत्नप्रभा (चक्रदत्त-मुखरोगप्रकरण) द्वादशसाहस्रवाग्भटेऽप्युक्तम् टी० रुद्रपारशव—सं० उपोद्घात।

२. शिवदास सेन ने भी अष्टांगहृदय-व्याख्या में अनेक स्थलों पर मध्यवाग्भट के उद्धरण दिये हैं।

३. 'श्रीमद्वाग्भटाचार्यप्रणीतं ग्रन्थान्तरमष्टांगसंग्रहोऽप्युपलभ्यते।'
—पं० रामप्रसाद शर्मा, भूमिका, पृ० १, अष्टांगहृदय, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई

४, इति श्रीमदाचार्यबाहटकृतनिघण्टुः समाप्तः—अष्टांगनिघण्टु With आन्ध्रटीका D. 13256, Trienniel catalogue G. O. M. L., Madras, Vol. V–C Pages 6868–6869

द्राविडीटीकासहित अष्टांगनिघण्टु की एक तालपत्रीय पाण्डुलिपि है (R. W. 4969) जिसका प्रारम्भ निम्नांकित रूप में किया गया है :—

"स्मरहरवसुधेयं पीठिका दक्षिणांघ्रेर्जंगनलघुतपातोऽकुञ्चितो वामपादः ।
दशदिशभुजदण्डोच्छूललब्धावकाशा कनकमयसमा सा रंगमासीत् कथं ते ॥
धात्रीपयोवह्निसमीरणाभ्रशशांकभास्वत्पुरुषैर्निजांगैः ।
भैषज्यरूपैर्भवतां विधत्तामारोग्य(मव्या)हतमादिवैद्यः ॥"

इससे स्पष्ट है कि अष्टांगनिघण्टु का रचयिता वाग्भट अष्टमूर्ति शिव का उपासक पाशुपत शैवधर्मावलम्बी था ।

कुछ लोग अष्टांगहृदय पर वैदूर्यंकभाष्य तथा एक अन्य टीका का रचयिता स्वयं वाग्भट द्वितीय को मानते हैं[1] कुछ लोग वैदूर्यंकभाष्य का रचयिता तिब्बती भिक्षु जरन्धर तथा धर्मश्रीवर्मा (शाक्य) को मानते हैं[2] ।

अरुणदत्त[3] के आधार पर कुछ लोग सिद्धसार को भी वाग्भट की रचना मानते हैं[4] किन्तु वस्तुतः वह रविगुप्त की रचना है जैसा कि स्वयं अरुणदत्त ने ही आगे चल कर कहा है :—'रविगुप्तः सिद्धसारेऽध्यगीष्ट' (हृ० सू० ५।२१) । मध्यवाग्भट का उद्धरण वंगीय टीकाकारों, निश्चलकर तथा शिवदास सेन, ने दिया है । सम्भवतः उसका रचयिता वाग्भटगुप्त नामक कोई वंगीय आचार्य रहा हो ।

रसरत्नसमुच्चयकार वाग्भट

कुछ लोग (पं० कृष्णराव शर्मा, श्रीरुद्र पारशव, पं० हरिदत्तशास्त्री, श्री दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य) रसरत्नसमुच्चय को भी इसी वाग्भट की रचना मानते हैं । डा० प्रफुल्लचन्द्र राय तथा हरिशास्त्री पराड़कर ने रसरत्नसमुच्चयकार वाग्भट को भिन्न माना है । पराड़करजी ने अपने समर्थन में निम्नांकित युक्तियां दी हैं :—

१—संग्रह या हृदय में रसरत्नसमुच्चय का उल्लेख नहीं है और टीकाकारों ने भी ऐसा निर्देश नहीं किया है ।

२—इन ग्रन्थों की शैली में भी पर्याप्त भेद है जिससे भिन्नकर्तृकता सिद्ध होती है ।

---

१. देखें—पी० के० नारायण पिल्लाई कृत उपोद्घात, पृ० १–२, अष्टांगहृदय, श्रीदासपंडितकृत-हृदयबोधिकाव्याख्यासहित, भाग २

२. Vagbhata's Astangahridaya Samhita (German Translation) —Hilgenburg and Kirfel, Introduction, Page–15

३. अतिसंक्षेपं किंचित्तन्त्रं यथा सिद्धसारादि, किंचिच्चातिविस्तरं यथा संग्रहादि । अरुणदत्त (हृ० सू० १।१५)

४. उपोद्घात—अष्टांगहृदय (निर्णयसागर प्रेस) पृ० २७

३—संग्रह या हृदय में रसक्रिया का वर्णन नहीं है अतः रसरत्नसमुच्चय पारद-कर्म के बहुल प्रचार के बाद निर्मित हुआ होगा अतः इनके निर्माणकाल में भी पर्याप्त अन्तर होगा।

४—संग्रह या हृदय में शंखिया, अहिफेन का उल्लेख नहीं है किन्तु रसरत्नसमुच्चय में इसका वर्णन है।

५—संग्रह या हृदय में वर्णित रोगों से कुछ अधिक रोग यथा रक्तवात, शीतवात, सोमरोग आदि का वर्णन रमरत्नसमुच्चयकार ने किया है। शवगन्धि आदि कुष्ठ के अधिक भेद भी दिये हैं। दोनों के रोगानुक्रम में भी भेद हैं।

६—कुछ विषयवस्तुगत भेद भी मिलता हे यथा वाग्भट ने जिसे श्वित्र, किलास आदि नामों से कहा है उसे रसरत्नसमुच्चयकार ने श्वेतकुष्ठ कहा है। वातव्याधिमें प्रमुख अपतानक का पाठ रसरत्नसमुच्चय में नहीं किया।

संग्रह आदि तथा रसरत्नसमुच्चय के कर्त्ता को एक मानने के कारण इस पक्ष के समर्थकों को वाग्भट के काल के सम्बन्ध में भी अनावश्यक खींचतान करनी पड़ी है। इसी कारण एक ओर जहां श्रीगुरुपद हालदार इसे २-३ शती में रखते हैं तो दूसरी ओर श्री दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य इसे ९वीं शती तक ले जाने के पक्ष में हैं। इतना ही नहीं, श्री हालदार को इस विषय की संगति बैठाने के लिए रसरत्नसमुच्चय का प्रतिसंस्कार १३ वीं शती में सोमदेव द्वारा मानना पड़ा[1]।

वस्तुतः रसरत्नसमुच्चयकार वाग्भट संग्रहकार या हृदयकार वाग्भट से भिन्न हैं। इसके काल में बहुत अन्तर है। रसरत्नसमुच्चय १३ वीं शती की रचना मानी जाती है[2]। इसके अतिरिक्त, विषय और शैली में भी बहुत अन्तर है। पुष्पिका में में भी कहीं-कहीं वाग्भट के स्थान पर नित्यनाथ या अश्विनीकुमार का नाम मिलता है। इसकी पाण्डुलिपि भी बहुत प्राचीन नहीं है। प्राचीनतम पाण्डुलिपि १६९९ ई० की है[3]।

टीकायें

अष्टांगसंग्रह की इन्दुकृत शशिलेखा-व्याख्या प्रसिद्ध है। हिन्दी में निम्नांकित तीन व्याख्यायें प्रचलित हैं :—

---

१. वृद्धत्रयी, पृ० २९९

२. गणनाथ सेन : प्रत्यक्षशारीर, उपोद्घात, पृ० ५४-५५

P. C. Ray : History of Chemistry in Ancient & Mediaval India

३. Jolly : Indian Medicine. Page 5

१—गोवर्धनशर्मा छांगाणीकृत (सूत्रस्थान)
२—अत्रिदेवगुप्त कृत
२—लालचन्द्र वैद्यकृत (सूत्रस्थान)

हरिशास्त्री पराड़कर ने अष्टांगहृदय की निम्नांकित टीकाओं का उल्लेख किया है—

१—श्रीमदरुणदत्तकृता	सर्वांगसुन्दरा टीका
२—श्रीहेमाद्रिकृता	आयुर्वेदरसायन टीका
३—श्रीचन्द्रनन्दनकृता	पदार्थचन्द्रिका टीका
४—इन्दुकृता	शशिलेखा इन्दुमती वा
५—आशाधरकृता	अष्टांगहृदयोद्योतनाम्नी
६—वैद्यतोडरमल्लकान्हप्रभुकृता	मनोज्ञा, चिन्तामणिर्वा
७—रामनाथकृता	अष्टांगहृदय टीका
८—हृाटकांककृता	अष्टांगहृदयदीपिका
९—शंकरकृता	ललिता
१०—परमेश्वरकृता	वाक्यप्रदीपिका
११—विश्वेश्वरपण्डितकृता	विज्ञेयार्थप्रकाशिका
१२—दासपण्डितकृता	हृदयबोधिका
१३—श्रीकृष्णसेमलिककृता	वाग्भटार्थकौमुदी
१४—दामोदरकृता	संकेतमञ्जरी
१५—यशोदानन्दनसरकारकृता	प्रदीपाख्या
१६—भट्टनरहरिकृता	वाग्भटखण्डनमण्डननाम्नी
१७—रामानुजाचार्यकृता	आन्ध्रटीका
१८—जेज्जटकृता	अष्टांगहृदय टीका
१९—भट्टारहरिचन्द्रकृता	,,
२०—वाचस्पतिमिश्रकृता	,,
२१—मनोदयादित्यभट्टकृता	मनोदयादित्यभट्टीया
२२—भट्टश्रीवर्धमानकृता	सारोद्धारनाम्नी
२३—................	बालप्रबोधिका
२४—................	बालबोधिनी
२५—................	कर्णाटी टीका
२६—................	द्राविडी टीका
२७—................	सुगत टीका
२८—................	केरली टीका

२९—··············· पाठ्या
३०—··············· बृहत्पाठ्या
३१—··············· व्याख्यासारः
३२—··············· हृद्या हृद्यार्था वा
३३—··············· अष्टांगहृदयव्याख्या
३४—पं० शिवशर्मकृता शिवदीपिका[1]

गुरुपद हालदार ने निम्नांकित व्याख्याओं की सूची प्रस्तुत की है[2] :—

१. हिमदत्त या सर्वहितमित्रदत्त (९वीं शती)
२. जेज्जट (९-१० शती)
३. इन्दु (१०-११ शती)
४. चन्द्रनन्दन (१०-११ शती)—इसके द्वारा रचित पदार्थचन्द्रिका-व्याख्या की एक टिप्पणी चतुर्थ वाग्भट ने बनाई है।
५. ईश्वरसेन (११ शती)
६. अरुणदत्त (१२-१३ शती)
७. हेमाद्रि (१३-१४ शती)
८. आशाधर (१३-१४ शती)
९. रामनाथ गणक (१६ शती)

इनके अतिरिक्त, निम्नांकित व्याख्याओं का निर्देश और मिलता है :—

१—वासुदेव अन्वयमाला
२—··············· बृहत् व्याख्यासार[3]
३—नारायणयोगीन्द्रशिष्य टीका
४—पुरन्दर (उदयादित्य) दीपिका
५—वाग्भटकृत वैदूर्यकभाष्य
६— „ टीका
७—विट्ठलपण्डित दीपिका
८—··············· पंजिका

उपर्युक्त व्याख्याओं में पाठ्या, हृद्या, व्याख्यासार, ललिता, केरली, वाक्यप्रदीपिका तथा पंजिका केरल के विद्वानों द्वारा रचित हैं। इनके अतिरिक्त, श्रीकण्ठ-

---

१. उपोद्घात, अष्टांगहृदय (निर्णयसागर)
२. वृद्धत्रयी, पृ० २७६-२७७
३. नारायण शंकर मूस : उपोद्घात, पृ० ५-६, अष्टांगहृदय परमेश्वरकृत वाक्यप्रदीपिका व्याख्यासहित, भाग १ (व्याख्याकार के रचयिता का नाम रवि दिया है)

कृत अल्पबुद्धिप्रबोधन आदि कुछ मलयालम टीकायें भी केरलीय विद्वानों द्वारा लिखी गई हैं। कुछ व्याख्याओं की पाण्डुलिपियां अपूर्ण प्राप्त हुई हैं तथा अनेक की पहचान नहीं हो सकी है[1]। हिन्दी में निम्नांकित टीकायें प्रचलित हैं :—

१—अत्रिदेवगुप्त कृत

२—लालचन्द्रवैद्य कृत

उपर्युक्त टीकाओं में अरुणदत्त, इन्दु तथा हेमाद्रि की अतीव प्रसिद्ध हैं। इन्दु पर विचार पहले किया जा चुका है। अरुणदत्त का काल डा० हार्नले ने १२४० ई० रक्खा है[2]।

कुछ लोग डल्हण द्वारा उद्धृत 'संग्रहारुणौ' से अरुणदत्त लेते हैं और इस प्रकार उसका काल डल्हण (१२वीं शती) से पूर्व रखते हैं। डा० दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य का यह भी अनुमान है कि उपर्युक्त पाठ वस्तुतः 'संग्रहारुणः' है जिससे अष्टांगसंग्रह पर अरुणदत्तकृत व्याख्या का बोध होता है। इससे यह भी अनुमान होता है कि अष्टांगहृदय पर उसकी व्याख्या 'हृदयारुणः' कहलाती होगी किन्तु निर्णयसागर द्वारा प्रकाशित तथा आचार्य यादवजी द्वारा सम्पादित सुश्रुतसंहिता (डल्हण व्याख्या सहित) में उपर्युक्त पाठ 'संग्रहारुणौ' है अतः यह द्विवचनान्त होने से संग्रह एवं अरुण दोनों का वाचक है। डल्हण ने इस प्रसंग में यह कहना चाहा है कि 'अक्षिवैराग्यम्' इस शब्द का गयदास 'रुपग्रहण में अलसत्व' ऐसा अर्थ करते हैं और संग्रह तथा अरुण नेत्रों की विगतरागता अर्थ करते हैं[3]। संग्रह पर अरुणदत्त की व्याख्या का कोई निर्देश नहीं मिलता और न वह उपलब्ध ही है किन्तु यदि अरुणदत्त का यह अभिप्राय होता तो अष्टांगहृदय के सम्बद्ध प्रकरण की वह ऐसी ही व्याख्या करता किन्तु ऐसा नहीं मिलता। हृदय के इस प्रकरण में 'अक्षि-वैराग्यम्' की व्याख्या 'विगतरागे अक्षिणी भवतः' न कर केवल 'अक्षिविरक्तता' की है[4] जिससे कोई स्पष्ट अर्थ लेना कठिन है। आफ्रेक्ट की ग्रन्थसूची में भी संग्रह पर अरुणदत्त की व्याख्या का निर्देश नहीं है। वस्तुतः अरुण एक कोशकार भी हुआ है

---

१. पी० के० नारायण पिल्लाई : उपोद्घात, पृ०१-२ अष्टांगहृदय श्रीदासपण्डित-कृत हृदय-बोधिकाव्याख्या सहित, भाग २

२. Hornle : Studies in the Medicine of Ancient India Part I Introduction, Para II.

३. अक्षिवैराग्यं रूपग्रहणेऽलसत्वमिति गयी, विगतरागे अक्षिणी भवतः इति संग्रहारुणौ।—डल्हण (सु० क० १।३३)

४. हृ० सू० ७।१६ (सर्वांगसुन्दरा व्याख्या)

जिसके अनेक उद्धरण यत्र तत्र उपलब्ध होते हैं[1]। अतः उपर्युक्त उद्धरण में 'संग्रह' शब्द से अष्टांगसंग्रह[2] तथा अरुण शब्द से व्याख्याकार अरुणदत्त से भिन्न कोषकार अरुण लेना चाहिये। श्रीहरिशास्त्री पराड़कर ने डा० पी० के० गोडे के अनुसार अरुणदत्त को १२वीं शती में माना है[3] किन्तु यह भ्रम कोषकार तथा व्याख्याकार अरुणदत्त को एक मानने के कारण हुआ है। हेमाद्रि ने अरुणदत्त को उद्धृत किया है। हेमाद्रि का काल १३वीं शती के उत्तरार्ध से १४वीं शती के पूर्वार्ध तक मानते हैं। हेमाद्रि ने अरुणदत्त को उद्धृत किया है[4] अतः इसका काल १३वीं शती का पूर्वार्ध मानना उचित है और डा० हार्नले का मत युक्तियुक्त प्रतीत होता है।

हेमाद्रि

हेमाद्रि देवगिरि के महाराजा महादेव (१२६०-१२७१ ई०) तथा रामदेव (१२७१-१३०९ ई०) के प्रधानामात्य, श्रीकरणाधिप तथा धर्माधिकरणपण्डित था। इसने धर्मशास्त्र का प्रसिद्ध ग्रन्थ चतुर्वर्गचिन्तामणि तथा अष्टांगहृदय की व्याख्या (आयुर्वेदरसायन) लिखी। अन्य भी अनेक ग्रन्थों का निर्माण किया। विजयरक्षित के शिष्य श्रीकण्ठदत्त ने हेमाद्रि को उद्धृत किया है अतः विजयरक्षित भी प्रायः हेमाद्रि का समकालीन और श्रीकण्ठदत्त उसका परवर्त्ती है। इस दृष्टि से डा० हार्नले द्वारा निर्धारित इनका काल युक्तियुक्त नहीं है।

---

१. हर्षारुणौ, दुर्गारुणयोः—अरुणः-परिशिष्ट टिप्पणी। दुर्गसिंहकृत नामलिंगानुशासन, पृ० ४६, ४८, ५४, ५५, ५६

२. चकोरस्याक्षिणी विरज्येते। सं० ८।२३

३. उपोद्घात, अष्टांगहृदय, पृ० ३२

४. मधु क्षौद्रम्, मार्द्वीकम् इत्यरुणदत्तः, मैरेयो धान्यासवः इति चन्द्रनन्दनः, खर्जूरासव इत्यरुणदत्तः इन्दुश्च। हेमाद्रि (हृ० सू० ६।४०)

सन्दर्भ-सूची

प्रथम खण्ड : शास्त्रीय अध्ययन

१—चरक	चरकसंहिता
२—भट्टार हरिचन्द्र	चरकन्यास (चरकव्याख्या)
३—जेज्जट	निरन्तरपदव्याख्या (चरकसंहिता)
४—चक्रपाणि	आयुर्वेददीपिका (चरकव्याख्या)
५—चक्रपाणि	चक्रदत्त
६—चक्रपाणि	द्रव्यगुणसंग्रह
७—सुश्रुत	सुश्रुतसंहिता
८—डल्हण	निबन्धसंग्रह (सुश्रुतव्याख्या)
९—भेल	भेलसंहिता
१०—काश्यप	काश्यपसंहिता
११—वाग्भट	अष्टांगसंग्रह
१२—इन्दु	शशिलेखा (अष्टांगसंग्रह-व्याख्या)
१३—किंजवडेकर	अष्टांगसंग्रह (सम्पादन)
१४—जलूकर-बिन्दुमाधव	अष्टांगसंग्रह (सम्पादन)
१५—अत्रिदेव	अष्टांगसंग्रह (हिन्दी टीका)
१६—गोवर्धन शर्मा छांगाणी	अष्टांगसंग्रह (हिन्दी टीका)
१७—लालचन्द्र वैद्य	अष्टांगसंग्रह (हिन्दी व्याख्या)
१८—वाग्भट	अष्टांगहृदय
१९—अरुणदत्त	सर्वांगसुन्दरा (अष्टांगहृदय-व्याख्या)
२०—इन्दु	शशिलेखा (अष्टांगहृदय-व्याख्या)
२१—हेमाद्रि	आयुर्वेदरसायन (अष्टांगहृदय-व्याख्या)
२२—चन्द्रनन्दन	पदार्थचन्द्रिका (अष्टांगहृदय-व्याख्या)
२३—परमेश्वर	वाक्यप्रदीपिका (अष्टांगहृदय-व्याख्या)
२४—परमेश्वर	केरली (अष्टांगहृदय-व्याख्या)
२५—शिवदास सेन	तत्त्वबोध (अष्टांगहृदय-व्याख्या)
२६—शिवदास सेन	तत्वचन्द्रिका (चक्रदत्त-व्याख्या)

२७—शिवदास सेन	द्रव्यगुणसंग्रह-व्याख्या
२८—श्रीदास पण्डित	अष्टांगहृदय-व्याख्या
२९—लालचन्द्र वैद्य	अष्टांगहृदय (हिन्दी टीका)
३०—अत्रिदेव	" "
३१—माधवकर	माधवनिदान
३२—विजयरक्षित	मधुकोश (माधवनिदान व्याख्या)
३३—श्रीकण्ठदत्त	माधवनिदान व्याख्या
३४—श्रीकण्ठदत्त	कुसुमावली (वृन्दमाधव-व्याख्या)
३५—वाचस्पति	आतंकदर्पण (माधवनिदान-टीका)
३६—यदुनन्दन उपाध्याय	माधवनिदान-व्याख्या
३७—लोलिम्बराज	वैद्यजीवन

द्वितीय खण्ड : सांस्कृतिक अध्ययन

३८—अमर सिंह	अमरकोश
३९—वाचस्पति मिश्र	सांख्यतत्वकौमुदी
४०—केदारभट्ट	वृत्तरत्नाकर
४१—गंगादास	छन्दोमंजरी
४२—मम्मट	काव्यप्रकाश
४३—विश्वनाथ	साहित्यदर्पण
४४—अप्पय दीक्षित	कुवलयानन्द
४५—भरतसिंह उपाध्याय	बुद्धकालीन भारतीय भूगोल
४६—जनार्दन भट्ट	अशोक के शिलालेख
४७—मानसोल्लास	
४८—कौशिक सूत्र	
४९—केशव	पद्धति (कौशिकसूत्र-व्याख्या)
५०—अथर्वपरिशिष्ट	
५१—जैमिनिगृह्यसूत्र	
५२—खादिरगृह्यसूत्र	
५३—आपस्तम्बीय गृह्यसूत्र	
५४—मानवगृह्यसूत्र	
५५—बोधायन गृह्यसूत्र	
५६—काठक गृह्यसूत्र	(जम्बू-कश्मीर गवर्नमेण्ट, श्रीनगर)
५७—काठक गृह्यसूत्र	(कैलण्ड द्वारा सम्पादित)

५८—हिरण्यकेशि गृह्यसूत्र	
५९—गोभिलगृह्यसूत्र	
६०—शांखायन गृह्यसूत्र	(राजकोट)
६१— ,,	(डा० सहगल द्वारा सम्पादित)
६२—पारस्कर गृह्यसूत्र	
६३—आश्वलायन गृह्यसूत्र	
६४—कात्यायन सूत्र	
६५—बौधायन गृह्यशेषसूत्र	
६६—राजबली पाण्डेय	हिन्दू संस्कार
६७—बौधायन धर्मसूत्र	
६८—आपस्तम्ब धर्मसूत्र	
६९—वासिष्ठ धर्मशास्त्र	
७०—मनु	मनुस्मृति
७१—याज्ञवल्क्य	याज्ञवल्क्यस्मृति
७२—विज्ञानेश्वर	मिताक्षरा (याज्ञवल्क्य-स्मृति-व्या०)
७३—विष्णुस्मृति	
७४—काणे	धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, २
७५—गरुड़पुराण	
७६—वायुपुराण	
७७—महाभारत	
७८—पतंजलि	महाभाष्य
७९—सद्धर्मपुण्डरीकसूत्र	(नलिनाक्षदत्त द्वारा सम्पादित)
८०—आर्यमंजुश्रीमूलकल्प	(अनन्तशयन ग्रंथावलि, ७०, त्रिवेन्द्रम)
८१—ताराभक्तिसुधार्णव	(तांत्रिक ग्रंथावलि, भाग ११, आर्थर ऐवलान)
८२—सूत्रधारमण्डन	(देवतामूर्ति प्रकरणं रूपमण्डनं च) कलकत्ता सं० सीरीज सं० १२
८३—नावनीतक	(मेहरचन्द लक्ष्मणदास द्वारा सम्पादित)
८४—वात्स्यायन	कामसूत्र
८५—यशोधर	जयमंगला (कामसूत्र-व्याख्या)
८६—कामन्दकीय नीतिसार	
८७—शुक्रनीतिसार	(बम्बई-संस्करण)
८८— ,,	(कलकत्ता-संस्करण)

८९—बृहदारण्यकोपनिषद्

९०—राजशेखर	काव्यमीमांसा
९१—हर्ष	नैषधीयचरित
९२—नारायण	नारायणीटीका (नैषधीयचरित)
९३—आर्यभट	आर्यभटीय
९४—ब्रह्मगुप्त	ब्रह्मसिद्धान्त
९५—ब्रह्मगुप्त	खण्डखाद्य
९६—शं० बा० दीक्षित	भारतीय ज्योतिष
९७—जगमोहन वर्मा तथा महेशप्रसाद साधु	यात्रा-विवरण (नागरी प्रचारिणी सभा, काशी)
९८—वासुदेवशरण अग्रवाल	हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन
९९—मोतीचन्द	श्रृंगारहाट (चतुर्भाणी)
१००—अत्रिदेव	चरक का सांस्कृतिक अध्ययन

101. Alexander Cunningham : The Ancient Geography of India.
102 N. L. Dey : Geographical dictionary of India.
103. D. C. Sircar : Studies in the Geography of Ancient and Medieval India.
104. S. M. Ali : The Geography of the Puranas.
105. M. S. Pandey : The Historical Geography and Topography of Bihar.
106. Jeannine Anboyer : Daily life in Ancient India.
107. Padmini Sen Gupta : Everyday life in Ancient India.
108. Om Prakash : Food and Drinks in Ancient India.
109. Oldenberg : Grihya Sutras.
110. B. C. Lele : Some Athervanic portions in the Grihya Sutras.
111. S. C. Banerjee : Dharma Sutras a Study in their origin and development.
112. Ved Mitra : India in Dharmasutras.
113. B. T. Bhattacharya : Sadhan Mala, Vol. I & II.
114. B. T. Bhattacharya : Buddhist Iconography.
115. J. N. Banerjee : The development of Hindu Iconography.
116. Patna Mnseum Catalague—Antiquities, 1965.
117. Mathura Museum Catalogue.
118. Shama Shastri : Kautilya's Arthasastra.

119 The Sukraniti (The Sacred Books of the Hindus, Vol. XIII.)
120 Mitra & Cowell : Twelve Principal Upanishads.
121 R. K. Mookerji : Education in Ancient India.
122 Ghosh : A Guide to Nalanda.
123 H. A. Gibes : Travels of Fahsien.
124. Beal : Si-Yu-Ki, Buddhist Records of the Western World.
125 Watters : On Yuan Chwang's Travels in India.
126 Itsing : A Record of Buddhist practices in India.
127 R. K. Mookerjee : Ancient India.
128 R. K. Mookerjee : Glimpses of Ancient India.
129 The History and Culture of the Indian people. (Bharatiya Vidya Bhavan)
130 2500 years of Buddhism (Govt. of India Publication)
131 P. K. Gode : Studies in Indian Cultural History,

तृतीय खण्ड : साहित्यिक अध्ययन

१३२—अश्वघोष बुद्धचरित
१३३—अश्वघोष सौन्दरनन्द
१३४—कालिदास रघुवंश
१३५—कालिदास कुमारसम्भव
१३६—कालिदास मेघदूत
१३७—कालिदास ऋतुसंहार
१३८—कालिदास अभिज्ञानशाकुन्तल
१३९—कालिदास विक्रमोर्वशीय
१४०—कालिदास मालविकाग्निमित्र
१४१—सीताराम चतुर्वेदी कालिदास-ग्रन्थावली
१४२—भगवतशरण उपाध्याय कालिदास का भारत भाग १, २
१४३—श्रीराम गोयल गुप्तकालीन भारत
१४४—विशाखदत्त मुद्राराक्षस
१४५—शूद्रक मृच्छकटिक
१४६—भारवि किरातार्जुनीय
१४७—वराहमिहिर बृहज्जातक

१४८—वराहमिहिर लघुजातक
१४९—बाणभट्ट हर्षचरित (चौखम्बा, वाराणसी)
१५०—बाणभट्ट कादम्बरी (चौखम्बा, वाराणसी)
१५१—सूर्यनारायण चौधरी हर्षचरित (हिन्दी)
१५२—दण्डी दशकुमार चरित
१५३—सुबन्धु वासवदत्ता (लुई-एच-ग्रे द्वारा संपादित)
१५४—भट्टि भट्टि-काव्य
१५५—अत्रिदेव संस्कृत साहित्य में आयुर्वेद
156—Cowell & Thomas : Harsa carita (English Translation)

चतुर्थ खण्ड : ऐतिहासिक अध्ययन

१५७—यादवजी त्रिकमजी उपोद्घात (चरकसंहिता, निर्णयसागर, बम्बई)
१५८—यादवजी त्रिकमजी उपोद्घात (सुश्रुतसंहिता, „)
१५९—हरिदत्तशास्त्री उपोद्घात (चरकसंहिता, मोतीलाल बनारसीदास)
१६०—चरकसंहिता (जामनगर-संस्करण)—भाग १
१६१—गणनाथ सेन उपोद्घात (प्रत्यक्षशारीरम् भाग १)
१६२—हरिप्रपन्न शर्मा उपोद्घात (रसयोगसागर, भाग १)
१६३—हेमराज शर्मा उपोद्घात (काश्यपसंहिता)
१६४—रा० वि० पटवर्धन उपोद्घात (सुश्रुतसंहिता)
१६५—कुण्टे उपोद्घात (अष्टांगहृदय)
१६६—हरिशास्त्री पराड़कर वाग्भटविमर्श (प्रस्तावना, अष्टांगहृदय)
१६७—गुरुपद हालदार वृद्धत्रयी
१६८—गर्दे सार्थ वाग्भट (उपोद्घात)
१६९—रुद्रपारशव उपोद्घात(अष्टांगसंग्रह, त्रिचुर संस्करण)
१७०—नन्दकिशोर शर्मा प्रस्तावना (अष्टांगसंग्रह, निर्णयसागर)
१७१—अत्रिदेव प्राक्कथन (अष्टांगसंग्रह, निर्णयसागर)
१७२—महाराष्ट्रीय ज्ञानकोश (विज्ञानेतिहास विभाग, नवम संस्करण)
१७३—चित्रावशास्त्री मध्ययुगीन चरित्रकोश
१७४—अत्रिदेव आयुर्वेद का बृहद् इतिहास
१७५—महेन्द्रकुमार आयुर्वेद का इतिहास
१७६—सुरमचन्द आयुर्वेद का इतिहास

१७७—कीथ	संस्कृत साहित्य का इतिहास
१७८—बलदेव उपाध्याय	संस्कृत साहित्य का इतिहास
१७९—युधिष्ठिर मीमांसक	संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास भाग १, २
१८०—गौरीशंकर हीराचन्द ओझा	मध्यकालीन भारतीय संस्कृति
१८१—ईश्वरीप्रसाद	भारतवर्ष का इतिहास
१८२—गौरीशंकर चटर्जी	हर्षवर्धन
१८३—वाग्भट	रसरत्नसमुच्चय
१८४—वाग्भट	नेमिनिर्वाण
१८५—वाग्भट	काव्यानुशासन
१८६—वाग्भट	वाग्भटालंकार
१८७—सत्यव्रत सिंह	वाग्भटालंकार (भूमिका)
१८८—वाग्भट	अष्टांगनिघण्टु
१८९—धन्वन्तरि	धन्वन्तरि निघण्टु
१९०—क्षीरस्वामी	अमरकोश-व्याख्या
१९१—मेदिनीकर	मेदिनीकोश
१९२—हर्षकीर्ति	शारदीयाख्यनाममाला
१९३—दुर्गसिंह	लिंगानुशासन
१९४—हलायुध	अभिधानरत्नमाला
१९५—हेमचन्द्र	अभिधानचिन्तामणि
१९६—माणिक्यभिषग्वर	अष्टांगहृदयकोश
१९७—भर्तृहरि	वाक्यपदीय
१९८—वामन-जयादित्य	काशिका
१९९—वृन्द	सिद्धयोग (वृन्दमाधव)
२००—शान्तिदेव	बोधिचर्यावतार
२०१—महेश्वर	विश्वप्रकाशकोश
२०२—तीसटाचार्य	चिकित्साकलिका
२०३—चन्द्रट	चिकित्साकलिका-व्याख्या
२०४—चन्द्रट	योगरत्नसमुच्चय
२०५—निश्चल कर	रत्नप्रभा (चक्रदत्त-व्याख्या)
२०६—कालिदास	ज्योतिर्विदाभरण
२०७—सोढल	गदनिग्रह
२०८—सोढल	गुणसंग्रह (सोढलनिघण्टु)

२०९—पण्डितमण्डली संगीतशिरोमणि
२१०—मेरुतुंग प्रबन्धचिन्तामणि
२११—राजशेखर सुरि प्रबन्धकोष
२१२—हजारीप्रसाद द्विवेदी नाथ-संप्रदाय
२१३—राहुल सांकृत्यायन बुद्धचर्या
२१४—प० ल० वैद्य वाग्भटाचार्यः किं वैदिक उत सौगतः १ (वैद्यसम्मेलनपत्रिका भाग ५, सं० १)
२१५—प्रियव्रत शर्मा भट्टार हरिचन्द्र और उनकी चरकव्याख्या (सचित्र आयुर्वेद, अप्रिल-मई १९६७)
२१६—वैद्यसम्मेलनपत्रिका
२१७—सचित्र आयुर्वेद
218 L. Hilgenburg and W. Kirfel : Vagbhata's-Astangahrdaya Samhita (German translation)
219 P. K. Gode : Introduction (Astangahridaya)
220 U. C. Gupta : Preface to Vaidyak Sabda Sindhu.
221 U. C. Dutt : Materia Medica of the Hindus.
222 Jolly : indan Medicine.
223 Zimmer : Hindu Medicine.
224 Hoernle : Studies in the Medicine of Ancient India. Part-I (Osteology)
225 J. Filliozat : the Classical doctrine of indian Medicine..
226 G. N. Mukhopadhyaya : History of Indian Medicine, Vols. I, II. s III,
227 G. N. Mukhopadhyaya:Surgical Instruments of the Hindus
228 P. C. Ray : history of Chemistry in Ancient and Medieval Period.
229 Dasgupta : History of Indian philosophy, Vol.-II.
230 Bhagawat Sinhajee : History of Aryan Medical Science.
231 Kutumbiah : Ancient Indian Medicine.
232 Hall and Hall : A Brief history of Science.
233 Wise : Review of the History of Medicine.
234 Maxmuller : History of Ancient Sanskrit Literature.
235 M. Winternitz : A History of Indian Literature.
236 A. Weber : The History of Indian literature.

237 Keith : History of Sanskrit Literature.
238 Dasgupta & De : History of Sanskrit literature.
239 G. K. Nariman : Literary history of Sanskrit Buddhism.
240 Manning : Ancient and Medieval India.
241 V. Smith : The oxford history of India. Book-I.
242 V. Smith : The Early history of India.
243 E. J. Rapson : the Cambridge History of India, VOl. I.
244 K. P. Jaiswal : Imperial history of India.
245 Stein : Kalhana's Raj Tarangini
246 Sachau : Alberuni's India
247 Sudhakar Chattopadhyaya : Sakas in India
248 Raj Bali Pandey: Vikramaditya of Ujjayini
249 Chinmulgund and Mirashi : Review of Indological Research in last 75 years
250 R. K. Mookerji : harsha.
251 P. Cordier : Vagbhata et l' Astangahridaya Samhita
252 Idem : Vagbhata (Journal Asiatique 9,Series T 18, 1901)
253 D. C. Bhattacharya - Date and works of Vagbhata the physician (A. B. O. R. I Vol. XXVIII, 112-127)
254 Idem : New light on Vaidyak Literature (Indian historical quarterly. Vol 23,1947).
255 P. K. Gode : Chronological Limits for the Commentary of Indu on the Astanga Sangraha of Vagbhata I (A. B. o. R. I. Vol XXV. 1944, 117-130).
256 D, C. Ganguly :Sasanka (I. H. Q. Vol. XIII,1936,456-469)
257 Idem : Rajyavardhana and Sasanka (I. H. Q. XXiii, i, 1947)
258 Idem : Malva in 6th and 7th centuries (J. B. O. R. S. XiX)
259 A. Laxmipati : Astangahridaya, the monumental work of Vagbhata (Nagarjuna, Feb-March, 1961)
260 Lallaji Gopal : The Date of Sukraniti (Modern Review, May-June, 1963).

261 Mazumdar : Medical Sciences in Ancient India,
(Calcutta Review, Feb. 1825).
262 Bower : Manuscripts.
263 Aufrecht : Catalogus Catalogorum.
264 Catalogue of MSS, India Office library, London.
265 Catalogue of MSS, Saraswati Bhavan, Varanasi.
266 Catalogue of MSS, Saraswati Mahal library, Tanjore,
Vol. XVI.
267 Catalogue of Sanskrit MSS. Adyar Library, Madras.
268 Triennial Catalogue of Madras MSS. Vol. IV, Part-I.
269 Descriptive Catalogue of the Sanskrit MSS, G. O. M. L.
Madras, Vol. XXIII, Medicine.
270 Descriptive Catalogue of MSS in the Govt. Mss Library,
B. O. R. I., Poona, Vol XVI, Part I.
271 Journal of the Royal Asiatic Society.
272 Journal of the Asiatic Society of Bengal.
273 Annals of Bhadarkar Oriental Research Institute.
274 Indian Historical Quarterly.
275 Indian Culture.
276 Nagarjuna.



परिशिष्ट १

टीकाकारों के महत्वपूर्ण सम्बद्ध उद्धरण

१. जज्जट (९वीं शती)

चरकसंहिता

चिकित्सा-स्थान

१—गुरूपदेशमन्तरा न विद्याप्राप्तिः। तदन्तर्भूतानि च रसायनानि अष्टांगावतारे प्रदर्शितानि। १।४

२—गोत्रं भारद्वाजादि।—२।१५

३—इति श्रीवाहटशिष्यस्य जज्जटस्य कृतौ निरन्तरपदव्याख्यायां संयोगशरमूलीयः पादः समाप्तः। (अ०२ पा०२)

४—आचार्या हि वारिजा वारिचारिणः परं वृष्या इति।—२।११

रसालालक्षणम्—सचातुर्जातकाजाजि सगुडार्द्रकनागरम्। रसाला स्याच्छिखरिणी सुमृष्टं ससरं दधि। २।२६

५—इति जज्जटस्य कृतौ निरन्तरपदव्याख्यायां माषपर्णभृतीयः समाप्तः।

६—आचार्यका हि ततो जगदुः।—३।४

७—कोपश्च विलयनं कार्यारम्भाभिमुख्यं वेति केचित्। आचार्यको हि वर्षाशीतोचितांगानां सहसैवार्करश्मिभिः। तस्माद् विलयनमात्रमेव कोपः।३।४२–४६

८—तथा च वाग्भटेन प्राकृतश्चानिलोद्भवः (वा० नि०२) ३।४८–४९

९—न केवलं तन्त्रान्तरप्रामाण्यादस्माच्च सन्ततसूत्रभाष्यात् प्रतिपादयिष्यत्याचार्यः। शरदि दोषः पित्तं, दूष्यं रक्तं, पैत्तिकी प्रकृतिः रसमधिष्ठानम्। यथा राजाऽतिबलीयस्त्वात् कंचिदन्तर्विरूपं वशीकृत्यानिच्छन्तमपि स्वकार्येऽवस्थापयति।
—३।५३–६०

१०—अग्निवेशतन्त्रं चरकाचार्येण संस्कृतम् तथाहि तद्वचः वातमूत्रशकृद्वाहिस्रोतसां व्यापिनो मलाः। "तथाऽन्ये प्राहुः—तस्मादार्षोग्रन्थः" "तस्मादाचार्येण नोक्तम्"। "तथा च जातुकर्णवचः" "अपरं च क्षारपाणीयं वचः" "तन्त्रान्तरे च स्रोतांसि दीर्घाण्याकृत्या प्रतानसदृशानि च। वीरुधामिव मूलेषु स्थूलान्यग्रे तनूनि च। दारुवाहे च पठ्यन्ते। ३।६३–६७

११—किं वातकफज्वरे द्वन्द्वसमुत्थ एव नेत्याह कुतः आचार्यप्रवृत्तेः। ३।१३३–१४४

१२. अस्ति चात्र तन्त्रान्तरमनुग्राहकं द्रव्याणां चिरसंस्थितानामपि नात्युद्वान्तरसादीनां षोडशभिरपां भागैरूपसृज्यार्धशेषं कारयेत् । सरसे रागषाडवयवागुभक्तादिषु प्रयोक्तव्यः । तथाऽन्येऽपि निश्रिताः पठन्ति—यच्चास्यश्रृतशीताम्बुषडंगादि प्रयुज्यते । कर्षमात्रं ततो दत्त्वा क्वाथयेत् प्रास्थिकेऽम्भसि । (अर्धश्रृतं प्रयोक्तव्यं) पाने पेयादिसंविधौ । वृद्धवैद्याश्च पलं द्रव्याणामावाप्य उदकाढके क्वाथयन्ति अर्धाढकं च शेषयन्ति । तस्मान् निष्प्रकम्प्यो वृद्धवैद्यव्यवहारः ।—३।१४५

१३, अयमुत्सर्ग अस्यापवादः । भट्टारकहरिश्चन्द्रमतानुसारिणोऽन्ये त्वन्यथा । नायं पाठः ।" इति विधिरयं न प्रतिषेधः ।३। १४९–५४

१४. तथा चाचार्यः—प्रदेहस्तूष्णः शीतो वा बहलो मुहुर्मुहुरविशोषी ।—३।१७४-१७५

१५. अत्राग्निवेशसंहितायामधीयते-क्वाथद्रव्यांजलिं क्षुण्णं श्रपयित्वा जलाढके । दश यवाग्वो व्याख्यानयन्ति हरिश्चन्द्राः । ३।१७९–१८७

१६. अवश्यं चाचार्यवचोऽनुमन्तव्यम् । आचार्याः उक्तानपि पुनः पुनः उच्चारयन्ति अनर्थमाशंकमानाः ।—३।१९४–९६

१७. यदुक्तं शौनकवचनमनुवदता वाग्भटेन—स्नेहे सिध्यति शुद्धाम्बुनिःक्वाथस्वरसैः क्रमात् । कल्कस्य योजयेदंशं चतुर्थं षष्ठमष्टमम् । इति । तथा शणस्य कोविदारस्य कर्बुदारस्य शाल्मलेः । कल्काढ्यत्वात् पुष्पकल्कं प्रशंसन्ति चतुःपलम् । भवतु, अलमतिप्रपंचेन, सर्वथा व्यवहारानुगतमेव शास्त्रं प्रमाणीकर्तव्यम् । ३।१९७–९९

१८. तथा हि सुश्रुताचार्यः "आमाशयगते वाते छर्दिताय यथाक्रमम् । देयः षड्धरणो योगः इत्यादि । भेलाचार्यः—संनिपातज्वरे पूर्वं कुर्यादामकफापहान् । पश्चाच्छ्लेष्मणि संक्षीणे शमयेत् पित्तमारुतौ । स्वतंत्रे तु—अत ऊर्ध्वं कफे मन्दे । —३।२८५–६

१९. इति महाजलवति श्रीवाहट(शिष्य)जज्जटकृतौ निरन्तरपदव्याख्यायां रक्तपित्तचिकित्सितं नाम चतुर्थोऽध्यायः समाप्तः ।—४।११०–१११

२०. चरकाचार्यसंस्कृतश्चायमध्यायो भट्टारहरिश्चन्द्रेणैव सुविवृतः ।२४।३–५

२१. मनुष्याणां द्विजातयः श्रेष्ठाः (शिक्षयन्ति हिते) सर्वान् वर्णान् । २४।७

२२. आचार्यको हि सन्तिह्येवंविधारोगाः—इत्यनेनैतदाचष्टे ।—२४।८८–९७

२३. विच्छिन्नमद्यः सहसा यस्तु मद्यं निषेवते ।"—इति आचार्येण कस्मादुक्तः ? —२४।१९९–२०५

२४. (पाचनं हि दीपनं न) भवति इति ब्रूमः । यथा पटोलपत्रादि पाचनं कस्यचिन्न दीपनम् । दीपनमपि किंचिन्न पाचनम् यथा त्रिफलोक्तं च

तन्त्रान्तरे:—"त्रिफला कफपित्तघ्नी मेहकुष्ठविनाशिनी। चक्षुष्या दीपनी चेति।—२८।८३-८८

२५. अत्रान्तरे "पुनरेव" इत्यादिग्रन्थं—केचित् पठन्ति, तच्चान्ये अनार्षं वदन्ति—एवमस्यार्षत्वविवादेऽपि काश्मीरादिदेशानुमतत्वाद् किंचित् व्याकरणं कुर्म एव। अत्रान्ये काश्मीरकाः सैन्धवाश्च ग्रन्थमधीयते।—दृढबलो ग्रन्थः स्मर्यते। ३०।१२७-३२

२६. इदानीं दृढबलाचार्यचरकाचार्योद्दिष्टः तंत्र (प्रतिसंस्कारस्तत्र तद्विभागस्यो) चिताविष्करणायाह लोकानुग्रहार्थं गुर्वाज्ञासंपादनाय न पुनः शास्त्रचिकीर्षया इति।—३०।२८९-२९०

२७: इत्येते दशौषधकालाः आचार्यव्याख्याताः एवं सुप्रणीतं सूत्रभाष्यं भवति। तत्रान्तरे—किं तु सूत्रभाष्यसंगतिर्नास्ति।

२८:—इति वाहटशिष्यजज्जटस्य कृतौ निरन्तरपदव्याख्यायां चरकटीकायां चिकित्सितस्थानम्।

सिद्धिस्थान

२९: उत्सर्गश्चायं निरपवाद इत्याचार्याः। "इति वैष्णवाः" तथा चोक्तं "यदेनं भोजयित्वा द्रवाधिकम्। ज्वरं विदग्धभक्तस्य कुर्यात् स्नेहः प्रयोजितः।
—३।२७-२९

३०. तदेतद् युक्तमित्याचार्याः। "इति पैतामहाः"

३१. इति आचार्या वर्णयन्ति।—३।३०

३२. प्रत्येकं दशेत्यदोषः इत्याचार्याः।—६।५८—६०

२. चक्रपाणि (११वीं शती) चरकसंहिता-व्याख्या

१. वाग्भटेन तु यदुक्तं ब्रह्मा स्मृत्वाऽऽयुषो वेदं प्रजापतिमजिग्रहत्। सोऽश्विनौ तौ सहस्राक्षं सोऽत्रिपुत्रादिकान् मुनीन् (वा०सू०अ०१) इत्यनेनात्रेयस्येन्द्रशिष्यत्वं, तदायुर्वेदसमुत्थानीयरसायनपादे आदिशब्देन वक्ष्यमाणेन्द्रशिष्यतायोगात् समर्थनीयम्। तत्र हीन्द्रेण पुनर्महर्षीणामायुर्वेद उपदिष्ट इति वक्तव्यम्।
—च० सू० १।३१

२. यदाह वाग्भटः—"तत्राद्या मारुतं घ्नन्ति त्रयस्तिक्तादयः कफम्। कषायतिक्तमधुराः पितमन्ये तु कुर्वते" (वा०सू०अ०१)।—च० सू० १।६६

३. यदुक्तं वाग्भटे—"भूबाष्पेणाम्लपाकेन मलिनेन च वारिणा। वह्निनैव च मन्देन तेष्वित्यन्योऽन्यदूषिषु॥ साधारणो विधिः कार्यस्त्रिदोषघ्नोऽग्निदीपनः" (वा०सू०अ०३) इति।—च० सू० ६।४०

४. यदुक्तं वाग्भटे—ऋत्वोरन्त्यादिसप्ताहावृतुसन्धिरिति स्मृतः। तत्र पूर्वो विधिस्त्याज्यः सेवनीयः परः क्रमात् (वा०सू०अ०३) इति।
—च०सू०६।४१,४८

५. यदुक्तं वाग्भटेन—"नित्यं सर्वरसाभ्यासः स्वस्वाधिक्यमृतावृतौ (वा०सू०-अ०३) इति।—च० सू० ७।४१

६. मणिको गोलकः, मणति गभीरत्वाज्जलार्पणे शब्दायते इति मणिकः।
—च० सू० १५।७

७. एतत्पूर्वरूपाभिप्रायेण च वाग्भटेऽप्युक्तं यत्—"प्राग्रूपं येन लक्ष्यते। उत्पित्सुरामयो दोषविशेषेणानधिष्ठितः" (वा०नि०अ०१) इति।—च० नि० १।८

८. अत एव वाग्भटेऽप्येवमेव संप्राप्तिलक्षणमुक्तं—"यथा दुष्टेन दोषेण यथा चानुविसर्पता। निर्वृत्तिरामयस्यासौ संप्राप्तिर्जातिरागतिः" (वा० नि० १) इति। च०नि०१।११

९. यदुक्तं वाग्भटे—"समधातुः समस्तासु श्रेष्ठा (वा०सू०अ०१) इति।
—च० वि० ८।१००

१०. अन्ये तु ब्रुवते—वर्षाकाले वातजोऽपि प्राकृतः, किंत्वयं कृच्छ्रः, वसन्तशरदुद्भवस्तु प्राकृतः सुखसाध्यो भवतीति विशेषः, तथा च वाग्भटेन "प्राकृतश्चानिलोद्भवः" (वा०नि०अ०२) इति कृतमिति। च० चि० ३।४८,४९

११. यदुक्तं शौनकवचनमनुवदता वाग्भटेन—"स्नेहे सिध्यति शुद्धाम्बुनिष्क्वाथस्वरसैः क्रमात्। कल्कस्य योजयेदंशं चतुर्थं षष्ठमष्टमम्" इति, तथा "शणस्य कोविदारस्य कर्बुदारस्य शाल्मलेः। कल्काढ्यत्वात् पुष्पकल्कं प्रशंसन्ति चतुःपलम्" इति। अत्र स्नेहप्रस्थापेक्षया चतुःपलः कल्कः स्नेहादष्टभाग एव भवतीत्यादिविशेषवचनेन "कल्कश्च स्नेहपादिकः" इति सामान्यवचनस्य बाधा क्वचिद्विषयविशेषे भवतीह न विरोधमावहति। भवतु, अलमतिप्रपंचेन, सर्वथा व्यवहारानुगतमेव शास्त्रं प्रामाणीकर्तव्यम्।
—च० चि० ३।१९७,१९९

१२. वाग्भटेऽपि—भवेत् पित्तोल्वणस्यासौ पाण्डुरोगादृतेऽपि च (वा०नि०अ०१३) इति।—च० चि० १६।३८

३. डल्हण (१२ वीं शती) सुश्रुतसंहिता—व्याख्या

१. शुक्रमप्यासां पुंसां समागमे क्षरति, न तु तद्गर्भोपयोगीति तत्क्षरण—प्रतिपादनं न युक्तम्। तथाच वृद्धवाग्भटः—"योषितो पि स्रवन्त्येव शुक्रं पुंसां समागमे। तत्तु गर्भस्य किंचित्तु करोतीति न चिन्त्यते"—(अ० सं० शा० अ० १)। इति।
—सु० शा० २।३६

२. वृद्धवाग्भटेन कलास्वरूपमभिहितम् । यथा—"यस्तु धात्वाशयान्तरेषु क्लेदोऽवतिष्ठते स यथास्वमूष्मभिर्विपक्वः स्नायुश्लेष्मजरायुच्छन्नः काष्ठ इव सारो धातुरसशेषोऽल्पत्वात् कलासंज्ञः" (अ० सं० शा० अ०५) इति । –सु० शा० ४।६

३. वृद्धवाग्भटेनाप्युक्तं—"पंचमी पुरीषधरा, सा ह्यन्त्रामपक्वाशयाश्रया, तत्रोण्डुकस्थं मलं विभजति (अ० सं० शा० अ०५) इति । सु० शा० ४।१७

४. वृद्धवाग्भटेनोक्तम्—"सप्तमी शुक्रधरा व्यंगुले दक्षिणे पार्श्वे बस्तिद्वारस्याधो मूत्रमार्गमाश्रिता सकलशरीरव्यापिनी शुक्रं प्रवर्तयति" (अ० सं० शा० अ०५) इति ॥—सु०शा० ४।२२

५. यकृत् कालखण्डं दक्षिणपार्श्वस्थं, प्लीहा अनेनैव नाम्ना प्रसिद्धो वामपार्श्वस्थितः, यकृत्प्लीहानावित्युपलक्षणं, तेन क्लोमापि शोणितम्, तथा च वृद्धवाग्भटः—"रक्तादनिलयुक्तात् कालीयकम्" (अ० सं० शा० अ०५) इति ।—सु० शा० ४।२५

६. आशयक्रमस्तु वाग्भटेनोक्तो यथा—"रक्तस्याद्यः क्रमात् परे । कफामपित्तपक्वानां वायोर्मूत्रस्य च क्रमात् । गर्भाशयोऽष्टमः स्त्रीणां पित्तपक्वाशयान्तरा"—(वा० शा० अ० ३) इति ।—सु० शा० ५।८

७. वृद्धवाग्भटोऽपि कोष्ठे षष्टिमेवाह ।—सु० शा० ५।३८

८. वृद्धवाग्भटेन—"स्तनचूचुकयोरूर्ध्वं व्यंगुलमुभयतः स्तनरोहिते" (अ० सं० शा०अ०७) इत्युक्तम् ।—सु० शा० ६।२५

९. वृद्धवाग्भटे तु "विद्रधौ पार्श्वशूले च पार्श्वकक्षास्तनान्तरस्थां" (अ० सं० सू० अ०३६) इति सामान्येनैव पार्श्वशब्दोपादानं कृतं, तस्मादत्रापि वामपार्श्वग्रहणं दक्षिणपार्श्वोपलक्षणं, तेन दक्षिणपार्श्वे यदा शूलविद्रधी भवतस्तदा दक्षिणपार्श्वे कक्षास्तनान्तरस्थां सिरां विध्येदित्यर्थः ।—सु०शा० ९।१७

१०. केचिदत्र उन्मादेऽपस्मारे च इति पठन्ति, तत्रापस्मारस्य पाठो न संगच्छते, तथाच वाग्भटः—उरोऽपांगललाटस्थामुन्मादेऽपस्मृतो पुनः । हनुसन्धौ समुद्भूतां सिरां भ्रूमध्यगामिनीम्"—(वा० सू० अ०२७) इति ।—सु० शा० ९।१७

११. वृद्धवाग्भटे च "अनन्तमिश्रं मधुसर्पिषी" (अ० सं० उ० अ०१) इति पाठः तत्र चानन्ता दूर्वा व्याख्याता ।—सु० शा० १०।१४,१५

१२. वृद्धवाग्भटेन त्वन्यथा प्राशनमभिहितं, यथा—"ऐन्द्रीब्राह्मीशंखपुष्पीवचाकल्कं मधुघृतोपेतं हरेणुमात्रं कुशाभिमन्त्रितं सौवर्णेनाश्वत्थपत्रेण वा मेधायुर्बलजननं प्राशयेद् ब्राह्मीवचानन्ताशतावर्यन्यतमचूर्णं वा" (अ० सं० उ० अ०१) इति ।—सु० शा० १०।१३

१३. अत्रार्थे वृद्धवाग्भटः—"अथ सूतिकां बलातैलेनाभ्यज्यात्, बुभुक्षितां च पंचकोलचूर्णेन यवान्युपकुञ्चिकाचव्यचित्रकव्योषसैन्धवचूर्णेन वा युक्तामहः परिणामिनीं यथासात्म्यं स्नेहमात्रां पाययेत्, स्नेहायोग्यां वातहरौषधक्वाथं ह्रस्वपंचमूली-

क्वाथं वा, पीतवत्याश्च यमकेनाभ्यज्य वेष्टयेदुदरं वस्त्रेण, तथाच वायुरुदरे विकृतिमुत्पादयत्यनवकाशत्वात्, जीर्णे तु स्नेहे पूर्वौषधैरेव सिद्धां विदार्यादिगणक्वाथेन वा क्षीरेण यवागूं सुस्विन्नां द्रवां मात्रया पाययेत्" (अ० सं० शा० अ०३) इति ॥
—सु०शा० १०।१७

१४. एतच्च यवागूदानं लंघनपूर्वम् । तथाच वाग्भटः–"आमान्वये च तत्रेष्टं शीतं रूक्षोपसंहितम् । उपवासो घनोशीरगुडूच्यरलुधान्यकाः । क्वथिताः सलिले पानं तृणधान्यादिभोजनम्" (वा० शा० अ० २) इति ।—सु० शा० १०।५७

१५. वाशब्दात् केचिदेकमेव योगमामनन्ति, तथा च वृद्धवाग्भटः—"सक्षौद्रे च व्रणे बद्धे सुजीर्णेऽन्ने घृतं पिबेत् । क्षीरं वा शर्कराचित्रालाक्षागोक्षुरकैः शृतम् ॥ रुग्दाहजित् सयष्ट्याह्वैः परं पूर्वोदितो विधिः" (अ० सं० उ० तं०३१) इति ।—
—सु० चि० २।४९

१६. अपरे त्वन्यथा व्याख्यानयति, यथा—अभिन्नादन्यथा अपरप्रकारं भिन्नमन्त्रं प्रवेश्यं न भवेत्, तथा च वृद्धवाग्भटः—अभिन्नमन्त्रं निष्क्रान्तं प्रवेश्यं न ह्यतोऽन्यथा" (अ० सं० उ० अ० ३२) इति ।—सु० चि० २।६५

१७. हैमवता उत्तरापथसंभूताः, ते पुनः कस्तूरीशटीकुष्ठमांसीसरलसुरदारुमुरादयः । दक्षिणापथगाः चन्दनजातीफलकंकोललवंगादयः । सु० चि० ४।२९

१८. ताम्रचूडादिवसा पाने, तदुक्तं वृद्धवाग्भटे—"कुक्कुटकुलीरशिशुमारवराहवसाः पाययेत्"—(अ० सं० चि० अ० २३) इति ।
—सु० चि० अ० ५।१८

१९. अनार्षे नीलमहानीलघृते, एते चेदशे जेज्जटगयदासाभ्यां व्याख्याते, अतस्तन्मतानुसारिणा मयाऽपि पठिते व्याख्याते च । जलापेक्षया क्वाथ्यद्रव्यस्यातिबाहुल्यमत्र योगे, तस्माद्वृद्धवाग्भटीयं महानीलघृतं लिख्यते यथा—"मदयन्त्याः सवायस्याः सुरभ्याः प्रग्रहस्य च । शतं पलानां प्रत्येकं वरायास्त्वाढकत्रयम् ॥ व्याघ्रीवल्लिकपोतावत्सकखदिरार्कमूलदन्त्योन्द्रियः । सनिशाद्वया दशपलाः क्वाथेऽमीषां क्षिपेत् पिष्ट्वा ॥ बीजं करञ्जेंगुदशिग्रुनिम्बान्नीलीं सनीलोत्पलचन्द्ररेखाम् । श्यामां किरातं कटुकत्रयं च पंचाढकं तत्र च पंचगव्यात् ॥ शमयत्यचिरेण घृतं मृदुहुतवहसाधितं महानीलम् । न किलासमेव केवलमपि च व्रणगुह्यरोगवल्मीकान्" (अ० सं० चि० ३२) इत्यादि ॥
—सु० चि० ९।३८

२०. तापीजं तापीनदीजं सुवर्णमाक्षिकं रजतमाक्षिकं च ।—सु० चि० १३।१८

२१. लघुवाग्भटेऽपि—सन्निपातोदरे कुर्यान्नातिक्षीणबलानले । दोषोद्रेकानुरोधेन प्रत्याख्याय क्रियामिमाम्" (वा० चि० अ० १५) इति ।
—सु० चि० १४।८

२२. चरकमतानुसारिणा वाग्भटेन क्षीरेणैव षण्मासान् वृत्तिरभिहिता, नाम्लपानीयाभ्यां, तथा—स्यात् क्षीरवृत्तिः षण्मासांस्त्रीन् पेयां पयसा पिबेत्। त्रींश्चान्यान् पयसैवाद्यात् फलाम्लेन रसेन वा। अल्पशः स्नेहलवणं जीर्णश्यामाककोद्रवम्॥ (वा० चि० अ० १५) इति।—सु० चि० १४।१८

२३. श्रीवाग्भट आह—"श्लक्ष्णशुष्कघनो लेपश्चन्दनस्यापि दाहकृत्। त्वग्गतस्योष्मणो रोधाच्छीतकृच्चान्यथा गुरो इति—सु० चि० १७।९

२४. सोमः सोमसंज्ञः सोमलतेत्यन्ये, कट्फल इति जेज्जटाचार्यः, तन्नेच्छति गयी, तस्य तीक्ष्णोष्णत्वात्। सु० चि० १७।२०

२५. वाग्भटेन चोभयत्रापि व्यधो दर्शितः। यथा—"इत्यशान्तौ गदस्यान्यपार्श्वंजंघासमाश्रितम्। बस्तेरूर्ध्वमधस्ताद्वा मेदो हृत्वाग्निना दहेत्" (वा० उ० अ० ३०) इति।—सु०चि०१८।२६

२६. तत्र रहसि हर्षेण शिरस्ताडनं परित्यजेत्। यथाह वृद्धवाग्भटः "मूर्धाभिघातं परिहरेत्", (अ०सं०सू०अ०९) लघुवाग्भटोऽपि, पर्वाण्यनंगं दिवसं शिरोहृदयताडनम् "(वा०सू०अ०७) इति। मूर्धाभिघाते च तन्त्रान्तराद्दूषणं ज्ञेयं, तथा च वृद्धवाग्भटः—तिमिरादिगदोत्पत्तिर्मूर्धाभिहननाद् ध्रुवम्" (अ०सं०सू०अ०९) इति।—सु०चि० २४।११०–१२९

२७. एतेन वातकफाधिकः कफाधिकश्च दिवा स्नेहं पिबेदिति गम्यते। अत्रार्थे च वृद्धवाग्भटः—सर्वं सर्वस्य च स्नेहं युंज्याद् भास्वति निर्मले। ऋतौ साधारणे दोषसाम्येऽनिलकफे कफे॥ दिवा निश्यनिले पित्ते संसर्गे पित्तवत्यति (अ०सं०सू०अ०२५) इति। यदा च ग्रीष्मे वातकफोत्थो रोगः स्नेहसाध्यस्तदा कालमाश्रित्य तदनुविहितः स्नेहो निशि प्रयोज्यो दोषादीन् वीक्ष्य च, तथा च वृद्धवाग्भटः—त्वरमाणे तु शीतेऽपि दिवा तैलं प्रयोजयेत्। उष्णेऽपि रात्रौ सर्पिस्तु दोषादीन् वीक्ष्य चान्यथा (अ०सं०सू०अ०२५) इति।
—सु०चि०३१।२२

२८. तथा च वाग्भटः—"वृद्धबालाबलक्लीबभीरून् रोगानुरोधतः। आकण्ठं पाययेन्मद्यं क्षीरमिक्षुरसं रसम्॥ यथाविकारविहितां मधुसैन्धवसंयुताम्। कोष्ठं विभज्य भैषज्यमात्रां मन्त्राभिमन्त्रिताम्॥ प्राङ्मुखं पाययेत् (वा०सू०अ०१८) इति।—सु०चि०३३।७

२९. चतुस्त्रिमासगर्भिणीति सप्तमासान् यावद्गर्भिणीः, तथा च वाग्भटः—मासान् सप्त च गर्भिणी (वा०सू०अ०१९)—सु०चि०३५।२१

३०. तत्रोदरे वाग्भटः—सुविरिक्तस्य यस्य स्यादाध्मानं पुनरेव तम्। सुस्निग्धैरम्ललवणैर्निरूहैः समुपाचरेत्—(वा०चि०अ०१५) इति।
—सु०चि०३५।२२

३१. तथा वाग्भटेनापि कर्मकालयोगबस्तयोभिहिताः । तथा च —प्राक् स्नेह एकः पंचान्ते द्वादशास्थापनानि च । साग्वासनानि कर्मैवं बस्तयस्त्रिंशदीरिताः ॥ कालः पंचदशैकोऽत्र प्राक्स्नेहोऽन्ते त्रयस्तथा । षट् पंचबस्त्यन्तरिताः, योगोऽष्टौ बस्तयोऽत्र तु । त्रयो निरूहाः स्नेहाश्च स्नेहावाद्यन्तयोरुभौ' (वा० सू० अ० १९) इति । यापनबस्तिविषयोऽयं ग्रन्थः निरूहा एव यापनबस्तयः अत एवैकान्तरिताः स्नेहाः, कर्मकालयोगसंज्ञया यथासंख्यं वातपित्तकफहरो बस्तिप्रयोगो ज्ञेयः । —सु०चि० ३७।७६

३२. तथाच वाग्भटः—' बस्तींस्त्रिरात्रमेवं च स्नेहमात्रां विवर्धयेत् । त्र्यहमेव च विश्रम्य प्रणिदध्यात् पुनस्त्र्यहम् (वा०सू०अ०१९) इति । —सु० चि० ३७।११३

३३. स्नैहिकोत्तरबस्तिदानानन्तरं यदनुक्तं स्फिक्ताडनादिकं कर्म तदनुवासनचिकित्सितं वीक्ष्य प्रयोजयेत् तथा च वाग्भटः,—पीडितेऽन्तर्गते स्नेहे स्नेहबस्तिक्रमो हितः (वा०सू०अ०१९) इति । सु०चि०३७।१२२

३४. तथा च वृद्धवाग्भटः—प्राही प्रियङ्ग्वम्बष्ठादिकवाथः कल्कैः क्रमेण इति । —सु०चि०३८।८७

३५. वृद्धवाग्भटस्त्वाह–'दद्यान्मधुरद्रव्याणि ततोऽम्ललवणौ रसौ । स्वादुतिक्तौ ततो भूयः कषायकटुकौ ततः । अन्योन्यप्रत्यनीकानां रसानां स्निग्धरूक्षयोः । व्यत्यासादुपयोगेन क्रमात्तं प्रकृतिं नयेत् ॥ —सु०चि०३९।२०

३६. वैरेचनिकमिति उत्क्लिष्टकफाभिव्याप्तकण्ठोरसो नासया, अनुत्क्लिष्टकफः पुनर्वैरेचनिकमपि प्राग्वक्रेण, तथा च वाग्भटः,—प्राक् पिबेन्नासयोत्क्लिष्टे दोषे घ्राणशिरोगते । उत्क्लेशनार्थं वक्रेण विपरीतं तु कण्ठगे ॥ सु०चि०४०।९

३७. स्वास्थ्यवृत्तिकनस्यकालावधारणं तन्त्रान्तराज्ज्ञेयम् । तथा वृद्धवाग्भटः—स्वस्थवृत्ते तु शीते मध्यान्हे, शरद्वसन्तयोः पूर्वाह्णे, ग्रीष्मेऽपरान्हे, वर्षास्वादित्यदर्शने, पंचकर्माण्याचरतो बस्तिकर्मोत्तरकालमेव—इति । —सु० चि० ४०।२४

३८. दत्तमात्रे च यत् कर्तव्यं तत्तन्त्रान्तराज्ज्ञेयं, तथा च वृद्धवाग्भट :—दत्तमात्रे नस्ये कर्णललाटकेशभूमिगण्डमन्यास्कन्धपाणिपादतलान्यनुसुखं मर्दयेत्, शनैः शनैश्चोच्छिं्घ्‌याद् —इति । सु०चि०४०।२७

३९. निष्ठीवेदिति वदनप्राप्तं मुञ्चेत्, वामदक्षिणयोरिति वाक्यशेषः । तथा च वृद्धवाग्भटः—अनभ्यवहरंश्च वामदक्षिणपार्श्वयोर्निष्ठीवेत्, एकपार्श्वष्ठीवने न सर्वाः सिरा भेषजेन सम्यग्व्याप्यन्ते'—इति ॥—सु०चि०४०।३०

४०. वृद्धवाग्भटे चान्यथा प्रतिमर्शप्रमाणं । तथा च—प्रमाणं प्रतिमर्शस्य बिन्दुद्वितयमिष्यते । बिन्दुर्वा येन चोत्क्लेशो नानुत्क्लिष्टस्य जायते ॥ निहितो यत्र वा स्नेहो न साक्षादुपलभ्यते । इति । —सु०चि० ४०।५३

४१. अक्षिवैराग्यं रूपग्रहणेऽलसत्वमिति गयी, विगतरागे अक्षिणी भवत इति संग्रहारुणौ । सु०क० १।३३

४२. विविधा राज्यः श्रीवाग्भटेन व्याख्याताः तथा च —नीला राजी रसे ताम्रा क्षीरे दधनि दृश्यते । श्यावा पीता सिता तक्रे घृते पानीयसन्निभा ॥ काली मद्याम्भसोः क्षौद्रे हरित्तैलेऽरुणोपमा इति । सु०क० १।४५

४३. सद्यो घृतमित्यत्र जेज्जटस्तु सद्य एव घृतं पेयमिति व्याख्यानयति । समागध-मिति आवर्तितक्षीरसाधितपिप्पलीकल्कसिद्धं घृतं तर्पणमिति वृद्धवाग्भटः —सु०क० १।७१

४४. चन्द्रमसः चन्द्रस्य, आमयो यक्ष्मा रोगः, केचिदिति आत्रेयप्रभृतयः, यस्मादेष आमयो द्विजानां राज्ञश्चन्द्रमसश्चन्द्रस्याभूत्तस्मात् तं रोगं केचित् पुनर्जना राजयक्ष्मेति ब्रुवते, यतोऽयं यक्ष्मा रोगो रोगाणां राजा अतो राजयक्ष्मेति वाग्भटो व्याख्यानयति । किलेति वार्तायाम् एवं खलु यथा श्रूयते—पूर्वं दक्षनामा प्रजापतिरभूत, तस्य बह्व्यो दुहितरो बभूवुः, तेन च सप्ताधिका विंशतिः कन्यकाश्चन्द्राय विवोढे दत्ताः, स चन्द्रमास्तासु मध्ये रोहिण्यामेवा नुरक्तो बभूव, ततश्च सशोकाभिरश्विन्यादिभिर्दुहितृभिरात्मपितरि दक्षसंज्ञके चन्द्रस्य रोहिण्यामासक्तिवृत्तान्तो निवेदितः, ततो दुहितृणां वार्तामाकर्ण्य, चन्द्रमाहूय, सर्वास्वपि निजपुत्रीषु समतया वर्तनाय चन्द्रोऽभिहितः, स च तथेति स्वीकृत्यापि स्वगुरोर्वचनमनादृत्य न तासु समवर्तत, ततो दक्षप्रजा-पतेः क्रोधो निश्वासरूपेण मूर्तिमान् भूत्वा निःसृत्य यक्ष्मरूपेण रोहिण्यामति-प्रसङ्गेनाविलं चन्द्रमाविशत्, ततोऽसौ तेन रोगेणाभिभूतः सन् गतप्रभो गतोत्साहश्च संजातः गुरुवचनातिक्रमेण दोषं मत्वा तमेव दक्षनामानं गुरुं शरणं गतवान्, ततोऽनन्तरं देववैद्याभ्यामश्विभ्यां स चिकित्सितः, प्राप्त बलश्चन्द्रो (रराजातीव सुप्रभः) लब्धगुरुप्रसादोऽश्विभ्यां चिकित्सतोऽ-भूत् । एवं च सति कर्मदोषजो व्याधिरिति दर्शितम् ॥—सु० उ० ४१-४,५

४५. सर्पिरपक्वमेव । उक्तं च वाग्भटेन "हन्ति मारुतजां छर्दि सर्पिः पीतं ससै न्धवम् । (वा० चि० अ० ६) इति । पंचमूलीकृतां शालपर्ण्यादिकेन बिल्वा दिकेन वा कृताम् । यूषमाह—मुद्गारलकयूषो वेत्यादि । सर्पिरिह यूषसंत' लनार्थम् । ससैन्धवः सैन्धवयुक्तः । यवागूमित्यादि । पंचमूली महतीति चन्द्रिकाकारः, स्वल्पेति चक्रपाणिः । रसमाह—पिबेद्वा व्यक्तसि-न्धूत्थमित्यादि । किम्भूतं ? व्यक्तसिन्धूत्थं प्रकटलवणम् । वैष्किरं लावादि-मांसरसम् । तथा फलाम्लं फलेन दाडिममातुलुंगादिनाम्लमम्लतां प्राप्तम् । विरेचनमाह—सुखोष्णलवणं चात्रेति । अत्र वातच्छर्द्यां, स्नेहविरेचनं स्नेहेन एरण्डतैलादिना विरेचनं स्नेहविरेचनम् । सुखोष्णलवणं सुखं सुखकरमुष्णं

लवणं यस्मिन् तत् उक्तं च वाग्भटेन—कोष्णं सलवणं चात्र हितं स्नेहविरेचनम् (वा० चि० अ० ६) इति। अथवा सुखोष्णं लवणं चात्र इति पाठः। सु० उ० ४९।२०

४. अरुणदत्त (१३वीं शती) अष्टांगहृदय-व्याख्या

सूत्रस्थान

१. तथेक्षुवर्गे शैत्यात्प्रसादान्माधुर्यात्पौड्रकाद्वांशिको वर इत्यसावभ्यधात्। पौंड्रकश्च वांशिकाद्वर इति सुप्रसिद्धमेतत्। अत्र मतिवैभवाद्भट्टारकहरिचन्द्रो व्याख्याविशेषमवोचताम्। यथा पौंड्रकाद्वांशिको वर इति। एवं चैतदुपपन्नमेव। १।१

२. तथा चास्यैव संग्रहे। न मात्रामात्रमप्यत्र किंचिदागमवर्जितम्। तेऽर्थाः स ग्रन्थसंदर्भः संक्षेपाय क्रमोऽन्यथेति। तदेवमागमप्रामाण्यमस्य तन्त्रस्येत्युक्तं भवति। १।१

३. अतिसांक्षेपं किञ्चित्तन्त्रं यथा सिद्धसारादि किंचिच्चातिविस्तरं यथा संग्रहादि

४. विशिष्टः पाको विपाको न पाकमात्रस्वरूपः। तथा च भट्टारकचरकमुनी रसो विपाके द्रव्याणां विपाकः कर्मनिष्ठया। वीर्यं यावदधीवासान्निपाताच्चोपलभ्यते॥ एवं कर्मनिष्ठानुमत एकरूपावस्थो जाठराग्निसंयोगमात्राद्रसानामनेकावस्थः प्राङ्मधुरोऽनन्तरे स एव पच्यमानोऽम्लस्ततो विपच्यमानः स एव कटुविपाकः। १।१७

५. संग्रहेऽप्युक्तम्—ब्राह्मे मुहूर्ते उत्तिष्ठेज्जीर्णाजीर्णं निरूपयन्नित्यादि, अर्काद्युपादानादेव कषायादित्वे लब्धे कषायादिग्रहणं संग्रहादिगृहीतस्य संग्रहार्थस्पष्टार्थं च। २।२

६. तथा चाष्टांगसंग्रहेऽन्नपानप्रकरणेऽप्यगीष्ट। अन्नपाने तु सलिलमेव श्रेष्ठम्। सर्वरसयोनित्वात्सर्वभूतसात्म्याज्जीवनादिगुणयोगाच्च। ५।१

७. हृद्यं हृदयाय हितं नतु हृदयस्य प्रियं हृद्यमिति व्याख्येयम्। एवं हि व्याख्यायमानेऽम्ले हृद्यानामिरयप्रयाणां मध्ये तत्पाठं मुनिर्नैवाकरिष्यत्। यस्मात्किञ्चिद्द्रव्यं कस्यचित्प्रियं भवति न सर्वं सर्वस्य। तस्माद्धृदयाय हितं हृद्यमिति बोध्यम्। ५।२

८. मुनिरपि हिमवत्प्रभवानां पथ्यत्वमाह। कृष्णात्रेयसुश्रुतौ त्वपथ्यत्वमाहतुः। अत एवायं ग्रंथकारो युक्त्या मतद्वयमपि संगिरमाणो विशेषणमुपन्यस्तवानुपलास्फालनाक्षेपविच्छेदैः खेदितोदका इति। तेन या एवंविधा न भवन्ति ता न पथ्या इति।—५।१०

९. आदिशब्देन संग्रहोक्ता गृह्यन्ते। यथा कोपसारसताडागचौड्यप्रास्रवणोद्भिदकम्। वापीनदीतोयमिति तत्पुनः स्मृतमष्टधा।—५।१२

१०. संग्रहे त्वेवमुवाच—काममल्पमशक्तौ तु पेयमौषधसंस्कृतम्। पाषाणरूप्यमृद्धेमजाततापार्कतापितम्॥ पानीयमुष्णं शीतं वा त्रिदोषघ्नं तृडर्तिजिदिति। —५।१५

११. तथा च संग्रहे। भक्तस्यादौ जलं पीतमग्निसादं कृशांगताम्। अन्ते करोति स्थूलत्वमूर्ध्वमामाशयात्कफम्। मध्ये मध्यांगतां साम्यं धातूनां जरणं सुखम्।—५।१५

१२. तथा चोक्तं संग्रहे। अनवस्थितदोषाग्नेर्व्याधिक्षीणबलस्य च। नाल्पमप्याममुदकं हितं तद्धि त्रिदोषकृत्।—५।१५

१३. संग्रहोक्तमेव ग्रंथमिमं केचिदत्रापि पठन्ति। तथा पानीयं न तु पानीयं पानीयेऽन्यप्रदशजे। अजीर्णे क्वथितं चामे पक्वे जीर्णेऽपि नेतरत्।—५।१८

१४. यच्च रविगुप्तः सिद्धसारेऽप्यध्यगीष्ट। गव्यात् स्निग्धं गुरुतरं माहिषं स्वप्नकृत्पय इति। तद्बुधैर्भ्रित्यम्। सर्वमतविरुद्धत्वात्।—५।२२

१५. अत एव संग्रहे यदुक्तम्। पिण्याकाम्लाभिषिनीनां तु गुर्वभिष्यंदि तद्भृशमिति तदेतेनैवोक्तप्रायत्वान्नेहोक्तम्।—५।२४

१६. आदिग्रहणात्तक्रपिंडकक्षीरशाकयोर्ग्रहणम्। वह्निनाशकत्वं चैषां बल्यत्वेन शुक्रकृत्त्वेन विष्टंभिदोषलत्वेनावगतमेवेति 'वह्निनाशना' इति ग्रंथकृता नेह कृतम्। संग्रहे तु स्पष्टार्थं कृतमेव। तत्र किलाटोऽल्पक्षीरो बहुना तक्रेण कृतः। पीयूषः सद्यःप्रसूताक्षीरकृतः। कूर्चिका दधितक्रकृता किलाटिका मोरणः क्षीरसदृशः किलाटिकः, पिंडकं उत्तरापथे प्रसिद्धम्, क्षीरशाकः प्रसिद्धः—५।४०

१७. अत एव संग्रहे सुस्पष्टं कृत्वोक्तम्। विद्यादृधिघृतादीनां गुणदोषान्यथा पयः।५।४१ अतोऽस्यापीक्षुरसस्य मारुतजित्त्वं वेद्यम्॥ ग्रंथकृता तु स्पष्टं कृत्वा नोक्तम्। भुक्ते हि समीरणकृत्त्वमस्य दृष्टम्। तथा संग्रहे। वृष्यः शीतः पवनजिद्भुक्ते वातप्रकोपन इति। खरनादेऽप्युक्तम्। मारुताध्मानजननश्चक्षुष्यो बृंहणो रस इति।—५।४२

१८. तथा ह्ययमेव तंत्रकारः संग्रहे मधुनो भेदानाख्यत्। तथा भ्रामरं पौत्तिकं क्षौद्रं माक्षिकं तद्यथोत्तरम्।—५।५२

१९. संग्रहेऽप्युक्तम्। मेध्यस्तिलः स्पर्शशीतो मेध्यं तैलं खलो हिमः। तस्यैव श्लेष्मकर्तृत्वं न तैलस्य खलस्य चेति। पानकस्त्वायुर्वेदावतारेऽभिजगे। विपाके कटुकं तैलं वातघ्नं कफपित्तकृदिति।—५।५५

२०. तथा च संग्रहेऽधिकमप्युक्तम्। दंतीमूलकरक्षोघ्नकरंजारिष्टशिग्रुजम्।—५।६१ यदि हि शिग्रौबान्यस्य मारुतकृत्त्वं समेयात् तदैतद्वक्तुं युज्यते। तस्माद्वातकृत्त्वमस्यास्तीति स्थितम्। तस्मिश्च सत्याध्मानकारित्वमप्युपपन्नमेव। अत एव संग्रहेऽस्याध्मानकारित्वमुक्तम्। मुद्गादीनां च विशेषास्तत्रैवोक्ताः।

यथा—हरितास्तेष्वपि वरा मकुष्टाः कृमिकारिणः । वर्ण्याः परं प्रलेपाद्यै-मंसूरा ग्राहिणो भृशमिति । ६।१६

२१. संग्रहे तु स्पष्टं कृत्वोक्तम् । ६।१८

२२. संग्रहोक्तं चाम्लपाकत्वं कषायमधुरत्वं चेह नोक्तम् । यतोऽम्लपाकित्वं विदाहित्वादेवास्योक्तम् । कषायस्वादुत्वं च शिबीधान्यसामान्यगुणकथनेनैव । कृष्णात्रेयस्त्वाह । निष्पावा मधुरा रूक्षाः सकषाया विदाहिनः । उदावर्ते प्रशस्यंते गुरवो वातपित्तला इति । ६।१९

२३. स्निग्धत्वमनिलघ्नत्वं कषायकटुतिक्तरसत्वं नानाजातित्वं चेहास्य ग्रन्थकृता लाघवान्नोक्तम् । संग्रहे तूक्तमेव ।—६।२१

२४. संग्रहे त्वेवमुक्तम् । नवं धान्यमभिष्यंदि सैक्यं कैदारजं च यत् । लघु वर्षोषितं देवंभूमिजं स्थलसंभवमिति । ६।२४

२५. सिद्धसारे चोक्तम्। अत्युष्णा मंडकाः पथ्याः शीतला गुरवो मता इति। ६।३९

२६. आदिशब्देन संग्रहोक्ताः खंजरीटकपारावताः गृह्यन्ते । ६।४५

२७. संग्रहे तु स्पष्टं कृत्वोक्तम् । यथा । तत्र बद्धमला रुच्या मांसानामुत्तमा हिमाः । कषायस्वादुविशदा लघवो जांगला हिताः । ६।५४

२८. मुनिना चान्येऽप्युक्ताः । न्यग्रोधोदुंबराश्वत्थप्लक्षपद्मादिपल्लवाः । कषायाः स्तम्भनाः शीता हिताः पित्तातिसारिणाम् । तथा सुश्रुते गदितम्—करीरकुसुमं ज्ञेयं कफपित्तहरं लघु । आगस्त्यं नातिशीतोष्णं नक्तांधानां प्रशस्यते । चातुर्थकज्वरहरं नस्ययोगेन शीलितम् ॥—६।८०

२९. संग्रहे त्वस्य स्वादुविपाकित्वमुक्तम् । तत्पाठे । महत्पुनः रूक्षोष्णं कटुकं स्वादु विपाके सर्वदोषकृदिति । तच्चामविषयम् ।—६।१०२

३०. मधूकबदरयोरपि विशेषांतरमुक्तं संग्रहे । मधूकजमहृद्यं तु बदरं सरणात्मकमिति ।—६।१२२

३१. संग्रहे सहकारस्य गुणा उक्ताः यथा सहकाररसो हृद्यः सुरभिः स्निग्धरोचन इति ।—६।१२६

३२. निघण्टावुक्तम् । आरुकं वीरसेनं च वीरा वीरारुकं तथा ।
विद्यात्जातिविशेषेण तच्चतुर्विधमारुकम् ॥—६।१३३

३३. कृष्णात्रेयस्त्वामलकं त्रिदोषघ्नं व्याख्यत् । यथा । अम्लभावाज्जयेद्वातं पित्तं माधुर्यशैत्यतः । कफं रूक्षकषायत्वादेवमेष त्रिदोषनुत् ।—६।१५५

३४. तथा च धन्वन्तरिराख्यत् । विभीतकः कर्षफल इत्यादि । अन्वर्था हीयं संज्ञा । कर्षः कर्षप्रमाणं फलं यस्य स कर्षफल इति । तदेवं बिभीतकस्य फलं यत्कर्षप्रमाणं तद्ग्राह्यमित्यवतिष्ठते । हरीतक्या अपि प्रमाणं नियतमेव । तंत्रांतरेऽप्युक्तम् । नवा स्निग्धा घना वृत्ता गुर्वी क्षिप्ता तथाऽम्भसि।

निमज्जेद्या प्रशस्तत्वाद्गुणकृत्सा प्रकीर्तिता। नवादिगुणयुक्तत्वं तथैकत्र द्विकर्षता। हरीतक्याः फले यत्र तेनैतच्छ्रेष्ठमुच्यत इति। तदेवं द्विकर्षप्रमाणत्वं हरीतक्याः स्थितम्। धात्रीफलस्यापि युक्त्या नियतप्रमाणत्वमेव। तथा चोक्तं तंत्रांतरे। अभयैका प्रदातव्या द्वावेव तु बिभीतकौ। धात्रीफलानि चत्वारि त्रिफलेयं प्रकीर्तितेति। तदेवमामलकानामर्धकर्षप्रमाणत्वमवतिष्ठते। तस्मान्नियतप्रमाणत्वं त्रिफलायाः स्थितम्।—६।१५६

३५. संग्रहे त्वधिकमुक्तम्। यथा सुवर्णं बृंहणं स्निग्धं मधुरं रसपाकयोः। विषदोषहरं शीतं सकषायं रसायनम्।—६।१६९

३६. अन्नस्य रक्षाऽन्नरक्षा सोपदेश्या यत्राध्याये सोऽप्युपचारादन्नरक्षेत्युच्यते। यथा शिशुपालवधः काव्यमिति।—७।१

३७. तस्मान्मधुमद्यदधिष्वत्युष्णं विरुद्धमित्यत्राचार्यो युक्त्या प्रत्यपादयत्। संग्रहे तु स्पष्टं कृत्वोक्तम्। मद्यमधुदधिभल्लातकेषु चोष्णमिति।—७।३६

३८. संग्रहे चातोऽधिकमप्युक्तम्। यथा। सौवीरेण तिलशष्कुली। क्षीरेण लवणम्।

३९. तथानंगम् अंगं जघनम् नांगमनंगमंगसदृशं जघनकार्यनिर्वर्तनयोग्यं मुखादिकमुच्यते। दाक्षिणात्या हि मुखेन कुर्वन्ति तन्निषिध्यते।—७।७१

४०. संग्रहे तु स्पष्टार्थमुक्तम्। यथा, कंठकपोलं विदहत्यन्नं प्ररोचयतीति।—१०।३

४१. संग्रहोक्तानि मध्यमान्यपराणि कर्माण्येषां संत्येव। यथा रसस्य दृष्टिरक्तपुष्ट्यादिकं कर्म।—११।४

४२. अन्ये त्वाहुः परशब्देनैतद् द्योतयति। अन्यदप्योजोऽस्ति न तद्धातूनां शुक्रांतानां तेज. श्लेष्माख्यमिति। तथा चोक्तं संग्रहे। मृदु सोमात्मकं शुद्धं रक्तमीषत्सपीतकमित्यादि। यन्नाशे यस्यौजसो नाशेऽभावे नियतं निश्चितं प्राणिनोऽभावः।—११।३८

४३. तदेव वृद्धक्षीणसमा दोषा वेद्याः। क्षीणा दोषाः क्षीणत्वादेवाकिंचित्करत्वात्कदाचित्पीडां नोत्पादयंत्येवेति विचिंत्याल्पमतयो वैद्याः क्षीणदोषवर्धनार्थं कदाचिदनादरं कुर्युरित्याह।—११।४४

४४. तद्विकाराश्च संग्रह उक्ताः। तथा च तद्ग्रंथः। अशीतिर्वातजा रोगाश्चत्वारिंशच्च पित्तजाः। विंशतिः श्लेष्मजाश्चैव स्थूला नानात्मजा मताः।—१२।५४

४५. संग्रहेऽप्यन्यदप्युक्तम्। यथा। ततो गुरुप्रावरणो निवाते शयने स्थितः। जरणांतं प्रतीक्षेत तृष्यन्नुष्णाल्पवारिपः।—अ० १६।२३

४६. मृदुकोष्ठे च स्नेहगो दोषः संग्रहे कथितः। यथा। चत्वार्यहानि पंच वा स्नेहं पिबेदिति। यदि च त्र्यहेण सम्यक्स्निग्धलक्षणं न स्यात्ततश्चतुष्पंचरात्रमपि स्नेहं पिबेत्। मध्यकोष्ठस्तु षड्रात्रं पिबेदित्याह। सम्यक्स्निग्धे लक्षणोत्पत्तिरेव नियमोऽतः सप्ताहादप्यूर्ध्वमच्छस्नेहः पेयो यावत्स्निग्धलक्षणं स्यात्। अतः परं स्नेहः सात्मीभवेत्। सात्मीभूते च स्नेहे यो दोषः स संग्रहे कथितः। यथा। सात्मीभूतो हि कुरुते न मलानामुदीरणम्। यदि तु सप्ताहेनापि स्नेहलक्षणं नोत्पद्यते तदा दिनमेकं विश्रमय्य पुनः स्नेहो योज्य इति सद्वैद्याः।—१६।२९

४७. आदिशब्देन तु बलक्षयजाड्यवाग्ग्रहादयः संग्रहोक्ताः गृह्यन्ते।—१६।३२

४८. या स्त्री सुरतव्यवहारगर्भग्रहणायोग्या अथवा बाला या अप्रौढा तस्या योनिर्मूत्रस्यैव केवलं मार्गस्तस्या नेत्रं द्व्यंगुलं प्रवेश्यम्। अत ऊर्ध्वं तु प्रवेशात्तासां मांसक्षतिः स्यात्।—१९।७९

४९. ननु कुठारिकाविषये कथं व्रीहिवक्त्रस्य प्रयोगः। यतोऽपवादविषयं परिहृत्योत्सर्गाः प्रवर्तन्त इति न्यायः। व्रीहिवक्त्रस्यैव सामान्येन प्रयोगोऽनुज्ञातः। तथा चाह। व्रीहिवक्त्रं प्रयोज्यं वा तत्सिरोदरयोर्व्यधे इति। कुठार्याः पुनर्विशेषोऽभिहितः। तयोर्ध्वदंडया विध्येदुपर्यस्थ्नां स्थितां सिरामिति। तस्मादयुक्तमेतत्। अत्रोच्यते। ज्ञापकं कुठारिकाविषये व्रीहिवक्त्रस्य प्रयोगो न्याय्य एव। यदयमाचार्यो वक्ष्यति। मांसले निक्षिपेद्देशे व्रीह्यास्यं व्रीहिमात्रकमिति। अनेन हि वचनेन ग्रंथकार इदं प्रत्यपादयत्। बहुमांसे शरीरावयवे व्रीहिमुखं व्रीहिमात्रं निक्षेप्यम्। अन्यत्र स्वाशयानुरोधेन व्रीहिवक्त्रस्य प्रयोगः कार्य इति। अनेनैवाभिप्रायेण शास्त्रकृता प्रमाणपरिमाणाभ्यां संख्यायाश्चापि विषये मात्रच् वक्तव्य इत्यनेन मात्रच् कृतः। अन्यथा तु स्पष्टं कृत्वा व्रीहिप्रमाणं व्रीह्यास्यं मांसले निक्षिपेद्व्यधे इति पाठं कुर्यात्। तस्माद्युक्तो व्रीहिमुखस्य कुठारिकाविषयेऽपि प्रयोग इति।
—२७।२४

शारीरस्थान

५०. अत एवायमेव तन्त्रकारोऽन्यथा संग्रहे जगाद।—१।८

५१. गर्भस्य सन्निवेशोऽपि संग्रहे प्रोक्तो यथा। गर्भस्तु मातृपृष्ठाभिमुखो ललाटे कृतांजलिः संकुचितांगो गर्भकोष्ठे दक्षिणं पार्श्वमाश्रित्यावतिष्ठते पुमान् वामं स्त्री मध्यं नपुंसकम्। तत्र स्थितश्च गर्भो मातरि स्वपत्यां स्वपिति प्रबुद्धायां प्रबुध्यत इति।—१।६६

५२. आयुर्वेदावतारे तूक्तम्। शीतोष्णशमवृद्ध्याप्यं न पित्तं द्रुतता मतम्। करकाभः कफो भौमो नानिलानलसंहत इति।—३।७–८,

५३. तथा चाष्टांगसंग्रहेऽप्यधीतम् । तत्राहाररसो व्यानविक्षिप्तो यथास्वं सप्तसु धात्वग्निषु क्रमात्पच्यमानः स्वात्मभावप्रच्युतिसमनंतरमेव प्राप्तरक्तादिसंज्ञः कालवदस्खलितबलप्रमाणो देहमूर्जयित्वेत्यादि । तथा चरकसंहितायां दृढबलोऽप्याह । रसाद्रक्तं ततो मांसं मांसान्मेदस्ततोऽस्थि च । अस्थ्नो मज्जा ततः शुक्रं शुक्राद्गर्भः प्रसादजः ।।—३।६२

५४. समुदायेषु हि प्रकृताः शब्दा अवयवेष्वपि वर्तन्ते इति नकुलशब्दोऽत्र नकुललोचनविषयो वेद्यः । यथा च नागानन्दनाटके । चक्षुस्तामरसानुकारि हरिणा वक्षःस्थलं स्पर्धत इति । अत्र हि हरिवक्षसा यस्य स्पर्धते वक्षःस्थलमित्ययमर्थो वेद्यः । अथवा नकुललोचनयो उपमा ययोस्ते नकुलोपमे इत्यत्र मध्यमपदलोपी समासः ।—५।८

निदानस्थान

५५. संग्रहे तु जगाद । उभयार्थकारि पुनर्दैवव्यपाश्रयं तथा छर्यां छर्दनमित्यादि । एवंविधं ह्यविपरीतमेव भेषजं विपरीतमर्थं करोतीति । १।६

५६. तथा चाष्टांगसंग्रहे शोषनिदाने वक्ष्यति । योंऽशः शरीरसंधीनाविशति तेन जृंभा ज्वरश्चोपजायत इत्यादि । २।२०—

५७. संग्रहे च रसादिधातुस्थज्वरलक्षणमुक्तम् । यथा उत्क्लेशो गौरवं दैन्यं भंगोऽङ्गानां विजृंभणम् । अरोचको वमिः सादः सर्वस्मिन् रसगे ज्वरे । —२।७५

५८. संग्रहे च नक्षत्रसमाश्रयणेन च साध्यासाध्यज्वरलक्षणमुक्तम् । यथा आधानजन्मनिधनप्रत्वराख्यविपत्करे । नक्षत्रे व्याधिरुत्पन्नः क्लेशाय मरणाय वा । —२।७९

चिकित्सास्थान

५९. अन्ये त्वाहुः । क्रमान्मरुत्पित्तकफाः सर्वत्र सच्चो बले । वातादीनां यथापूर्वं यतः स्वाभाविकं बलम् ।।ऊचे पराशरोप्ययंममुमेव प्रमाणयन् । यथोपन्यासतः प्राप्तमादौ दोषभिषग्जितम् । नेतृभंगेन दृष्टो हि समं सैन्यपराजय इति । —१।१४६

६०. तृवृता शुक्लगोपीत्युच्यते । श्यामा मालविका तृवृदुच्यते । तयोः कषायेण तथा कल्केन तयोरेव मात्रामाश्रित्यैतदुक्तमत्र कंटकारिकालेहवत्क्वाथकल्कशर्कराणां परिमाणं वेद्यमिति वृद्धवैद्यव्यवहारः । २।८—

६१. तथा चोक्तम् । सप्तलाशंखिनीदंतीद्रवंतीगिरिकर्णिकाः । त्रिवृच्छ्यामोदकीर्या च प्रकीर्या क्षीरिणी तथा । छगलांडी गवाक्षी च कुचाक्षी गिरिकर्णिका । मूसरदिदला चैव भवेन्मूलविरेचनमिति । ६।५६—

६२. भाष्यकारस्त्वाह द्वंद्वात्परो यः श्रूयते स सर्वैः संबध्यत इति । तेन दीपनग्राहिशब्दयोरपि भावप्रत्ययार्थसंबंधो भवतीति । १०।५—

६३. यथाऽयमेव तन्त्रकृदष्टांगावतारेऽप्यगीष्ट—दग्धमलाम्भसा सिद्धैर्व्योषक्षार-रजोन्वितैः···कौलत्थमौलकैरपि ।—१७।१९

कल्पस्थान

६४. उपकुंचिका कुरूडी इति कोंकणे प्रसिद्धा ।—४।४२

६५. हरणात् सर्वरोगाणां—ग्रा प्रशस्यते । इति वृद्धवाग्भटात् ।—३९।१४

६६. आमाम्बुपानेक्षुविकारमत्स्य—स वर्जनीयः इति वृद्धवाग्भटात् ।—३९।१२९

उत्तरस्थान

६७. अतएव संग्रहे जगाद । ज्वरी ज्वरघ्नांबुदपर्पटादिक्वाथेन रक्ती मधुयष्टि-कायाः ।

६८. गिरिजं चतुर्गुणजलं क्वाथ्यं स्याद्भावनौषधं तत्र । चतुर्थशेषे क्वाथे पूतोष्णे प्रक्षिपेद्गिरिजमिति । अत्र चतुर्गुणजलस्यौषधस्य क्वाथेन मुक्तरसा न तथा स्यादिति वाग्भटोक्तमेवाष्टगुणजलक्वाथेन कार्यमिति मन्यामहे ।—३९।१५३

६९. संग्रहे च गुग्गुलुकल्पो विहितः ।—३९।१४३

७०. ननु संग्रहेणैव महामुनिमतं संगृहीतम् । तत्किमनेनेत्याह । महासागर इव गंभीरो यः संग्रहाख्यस्तस्योपलक्षणमुपायभूतमेतत् । तस्मात्पृथगेतत् तंत्रमुदितम् । अष्टावंगानि यस्य तदेवाष्टांगम् तद्वैद्यकं च तदेव महोदधिरष्टांगवैद्यकमहोदधिस्तस्य मंथनमिव मंथनं पाठश्रवणचिंतनादिभिर्विक्षोभणात् । तेन कारणभूतेन योऽष्टांगसंग्रह एव महानमृतराशिराप्तस्तस्मादष्टांगसंग्रहमहामृतराशेः सकाशात् पृथगेतत्तंत्रमुदितम्—४०।८१

५ इन्दु (१३ वीं शती)

(अष्टांगसंग्रह-व्याख्या)

सूत्रस्थान

१. प्रोद्भासिस्वच्छशंखस्फुटशशिकलोद्दामवैशद्यहृद्यप्रोद्यत्सौन्दर्यवर्यप्रकटितवपुषन्नौमि वागीश्वरीं ताम् । कल्लोलोल्लासशान्तिप्रततसिततरक्षीरसिन्धून्तरालश्लिष्यत्पीयूषरेखां स्मरयति विबुधाञ्ध्यायतो या दयालुः ।। सरसि सुविपुलायुर्वेदकल्पेकृतास्थं मुनिवरवचनौघे दीर्घनाले निबद्धम् । रचितदलमिवांगैः संग्रहाख्यं सरोजं विकसति शशिलेखाख्यास्य्येन्दोर्यथावत् ।। (मंगलाचरण)

२. दुर्व्याख्याविषसुप्तस्य वाहटस्यास्मदुक्तयः । सन्तु संवित्तिदायिन्यः सदागमपरिष्कृताः ।—अ० १

३. सोऽयं वाहटनामा शास्त्रकारो लोकहिताय शास्त्रमारिप्सुः विघ्नोपशमायाभिमतदेवतानमस्कारं करोति ।"

४. वाहटेन असंयता बधुशब्दप्रयोगः कृतः।"

५ तत् वाहट एकीकुर्वन् आह।"

६. परतन्त्रविरोधो यथा—चरकग्रन्थेन कृष्णात्रेयो विरुद्धः। तथा चरको हिमवत्प्रभवानां नदीनां पथ्यत्वमिच्छति। कृष्णात्रेयसुश्रुतौ तासामेव गलगंडादिकर्तृत्वम्। वाहटस्तूपलास्फालनेत्यादिना विरोधं निवर्तयति॥"

७. अप्सदृशो मेदसो भागो वसा। तथा च शुद्धमांसस्य यः स्नेहः सा वसा परिकीर्तिता इति चरकः। अ० ३

८. हंसोदकमिति नाम चरक (सू०अ०६।४६) आह।—अ० ४

९. गुणशब्दश्च भागपर्यायः (पा०सू०-५-२।४७ काशिका)—अ०६

१०. प्राच्याः गौड़ाः। अवन्तयो मालवाः। अपरान्ताः कोंकणाः।"

११. पर्णीमूलमेरकामूलम्। एरका कश्मीरेषु पित्ती अन्यत्र दर्भेरकपट्टेरकभेदेन प्रसिद्धा।"

१२ उक्तं च हृदये—परस्परोपसंस्तम्भाद्धातुस्नेहपरंपरा—(शा० ३-६५)। —अ० ७

१३. मुंजातः काश्मीरेषु महोग्रकः।"

१४. कशेरुकं प्रसिद्धं मध्यदेशे। क्रौंचादनं काश्मीरेषु केबुकमन्यत्र कनाविकम्।"

१५. प्रायोग्रहणमेतेषां मध्ये केचिन्नैवंस्वरूपा इति ज्ञापनार्थम्। तेषां च पर्याया निघण्टुज्ञानात् देशभाषासंस्करणाच्च किंचित् ज्ञायन्ते। माषः गान्धारीकाश्मीरेषु खिलः। क्षोणिका काश्मीरेषु लोनारा यवशाकः क्षारपत्रकम्—काश्मीरेषु कोणीकः।"

१६. तथा च बालमूलकस्य कन्दमूलकबीजदेशकालसंस्थानपरिणतिविशेषाद् भिन्नजातीयत्वं प्रसिद्धमेव काश्मीरेषु।"

१६ उपदंशो येन सहान्नं भोक्तुं युज्यते। जम्बीरः क्षारपत्रः काश्मीरेषु तुम्बुरुः।"

१८. अत्र शाकानां हरितकानां च येषां नामानि नोक्तानि तेषां देशभाषादिविद्भ्योऽपिमस्यापभ्रंशसंस्कारादुपयोगविशेषाच्च ज्ञातव्यानि।"

१९. सिचती-काश्मीरेषु वृक्षबदरी।"

२०. राजधान्यां प्राच्यां उदीच्यां वा दिशि गुप्तं भेषजगृहं दृश्यते। अ० ८

२१. कौटिल्ये प्रसिद्धाः (सूदाः)।"

२२, क्षेमकुतूहले (सूदाध्यक्षः)।"

२३. ये हि मध्यदेशादौ वृक्षाः प्रसिद्धाः।"

२४. एतच्चास्मद्गुरवो यथाप्रकान्तशब्दार्थपरतन्त्रास्तंत्रेतेषि च प्रविरुद्धानि परामृशन्तो वचनादिवत् पूर्वं देतस्याभिसंस्कर्तेरपि बुद्ध्यविधेयतामभिसन्त्यमानाश्चरकस्य बोद्धारो व्याख्यातमभिमन्यन्ते। भट्टारकेण तु तथाविधैर्वा

द्रव्यैः पूर्वमभिसंस्कारः शरीरस्य इत्यस्य वाक्यस्य व्याध्युत्पत्त्यनैकान्तिकप्रदर्शनपरत्वमंगीकृत्य तथाविधैरिति च विरुद्धसमाप्तिं परामृश्य विरुद्धैरेव पूर्वसंस्कारो व्याध्यनुत्पत्तिहेतुरिति सात्म्याहारप्रायतया द्वितीयोऽपि पक्षो य उद्भासितः सोऽस्माभिरुपेक्षित एव। अ० ९

२५. समुदाये तु संज्ञकूष्माण्डकादौ विद्यते। अ० १३

२६. अत उच्यते तिक्तकषायौ पित्तहराविति अस्माभिरतः पराशरमतमचतुरस्रमिव। अनन्तरं वाहटो यन्मधुरं इत्यादिना प्रकृतं प्रस्तौति।"

२७. वृद्धमूलकस्य त्रिदोषकर्तुः कटुकस्य कफकर्तृत्वे यदाचार्यवाहटेन मधुरविपाकित्वं कारणमुक्तं तत्स्वयं हृदयपठितस्यैव वृद्धमूलकस्य कटुविपाकित्वं स्मृतं किं वान्यत् किंचिदिति न जाने।"

२८. आचार्यकपिलबलस्त्वेषां रसत्वरूपेणैव निर्दिदेश। सुश्रुतः कपिलबलमतमेव विशेषयति।—अ० २०

२९. ब्राह्मणप्रयुक्ताभिः वेदविहिताभिराशीर्भिरभिमंत्रिताम्, ब्रह्मोत्थाविर्वेदवादिमंत्रः, ॐ नमः इत्यादि सौगतः।—अ० २७

३०. तथा च वैदेह्यां संहितायां स्कन्दरक्षितसंस्कृतायां पठ्यते।

३१. तच्च रक्तं केचिदाचार्या दोषमित्याहुर्धान्वन्तरीयादयः—तथान्ये चरकादयः तद्रक्तं दूष्यमित्याहुः।—अ० ३६

शारीरस्थान

३२. तथा चाचार्य एव हृदये केवलं महत्याः प्रतिषेधं करोति। अ० ३

३३. इत्यनेन प्रकारेण पृथिव्यादिविकारसमुदायात्मकं देहमाहुराचार्याः। यथाह भगवान् चरकः।—अ० ५

३४. इहायुर्वेदे उभयेषामाचार्याणां भिन्नदर्शनम्। एकेषामन्तरग्निपक्वान्नसारात् क्रमेण धातुपरिपोषोऽन्येषां यौगपद्येनेति।—अ० ६

३५. प्रभावः सर्वातिशायिनी शक्तिः। एकाहः षड्रात्रमासभेदेन मतत्रये स्थिते प्रभावादेव वाहटः सर्वशास्त्रसिद्धान्तं दर्शयति प्राय इत्यादिना। न केवलं वृष्यादि यावदन्यदपि भेषजं प्रायः अहोरात्रादेव कर्म करोति।"

३६. जात्या यथा—ब्राह्मणो मधुरप्रायाहारस्थिरसाहसिको बहुलभीतिः शस्त्रायसहत्वादियुक्तो भवति।—अ० ८

"केचित् पुनः प्ररूढेऽपि ग्रीष्मसमये तप्तांगाराधिकतरप्लोषदायिनस्तीक्ष्णदीधितिपादानपि कालवद्गुणकलापानिवाभिमन्यन्ते।" "

३७. जातिः ब्राह्मणादिका।—अ० १२

३८. चत्वार आश्रमाः ब्रह्मचारी गृहस्थो यतिर्वानप्रस्थ इति पाषण्डाः लिंगिनः।"

३९. आन्ध्रद्रविडौ दाक्षिणात्यजनपदनामनी।"

निदानस्थान

४०. येन हृदये पठति—तदेव व्यक्ततां यातं रूपमित्यभिधीयते इति । एवं च स्थिते सपूर्वरूपाः कफपित्तमेहाः इति यदा हृदयग्रन्थे व्याख्यायते तत्रैव चोदाहरिष्यामः । अ० १

४१. अभ्यशनादीनां लक्षणान्युक्तानि—(अ० हृ० ८।३३-३४) ।"

४२ एतदेव हृदि कृत्वा भट्टारहरिचन्द्रेण वा शब्दस्य निर्दिष्टस्याप्राधान्यं लंघनस्याप्राधान्यं व्याख्यातं ··· तच्च भिषक्शास्त्रनिष्णाता नांगीकुर्वन्ति ।—अ० २

४३. मणिकोऽलिंजराख्यो जलाधारः—अ० ९

४४. आचार्या (चरकाचार्याः) इदं छिद्रोदरं नाम्ना आहुः । अपरे आचार्याः (सुश्रुताचार्याः) छिद्रोदरस्यैव परिस्रावीति नाम मन्यन्ते ।—अ० १२

चिकित्सास्थान

४५. तथाऽऽचार्येणैव युक्तया संपन्ने हृदये कथितम् । अ० ५

४६. क्षीरशुक्ला क्षीरविदारीत्युच्यते । "अन्या क्षीरविदारी स्यादिक्षुगंधेक्षुवल्ल्यपि । क्षीरवल्ली क्षीरमन्दा क्षीरवृक्षा पलाशिनी । इति पठन्ति ।"

४७. बालस्थविरं—बोलवृक्षः शकदेशे मुण्डिकेति प्रसिद्धा (भूकर्दबकः) ।"

४८. कुलहलोऽलम्बुसो भूमिकन्दबकः कुटकदेशे मुण्डिकेति प्रसिद्धः ।—अ० ७

४९. अलिंजराः मणिका. महामृन्मयाः जलाधाराः ।—अ० ९

५०. गण्डीरो महान् कन्दप्रायः कार्तिकेयपुरादौ गिरिराजभूमिषु प्रसिद्धः । चरकपाठे तु गंडीरादिकं पिष्ट्वा कषाये विनयेत् ।—अ० १०

५१. वसुकः बुकः काश्मीरे मुसूरः । वसिरः पार्वतेयः । भल्लुकः सल्लको फल्गुवृंतको अम्बुको मतः ।—अ० १३

५२. कम्पिल्लको रंजनको रेचको रक्तचूर्णकः ।—अ० १४

५३. उपदिशतीत्यनेनाचार्योऽनादरेणागमं प्रदर्शयति । अनादरकारणं च मूत्राणां तीक्ष्णत्वात् पाकहेतुत्वम् । हृदये तु इति पाठः-क्षीरिवृक्षाम्बु पानाय बस्तमूत्रं च शस्यते ।"

५४. शाणं कर्षस्य चतुर्थांशः । हृदये तु तथा चरकसंवादेन पठितम् तथा त्रायमाणायाः शाणमापतति, पटोलमूलस्य कर्षो मसूरस्यार्धपलमिति । तत्र पठ्यते-त्रायन्ती त्रिफला निम्बकटुकामधुकं समम् ।—अ० १५

५५. एवं च क्वाथस्य घृताद्द्विगुणत्वमौषधाच्च जलस्य षोडशगुणत्वं हृदयविरुद्धमुक्तमिव । यदा हृदयपाठकरूपतया व्याख्यायते तदा प्रस्थश्चासौ क्वाथः प्रस्थक्वाथः स च त्रायमाणाया इति ज्ञायते । किं तु तद्विरुद्धम् । ··· तथा च तत्रैवं पठितम्-कुडवं त्रायमाणायाः साध्यमष्टगुणेऽम्भसि ········ अस्य पक्षस्य चरकेण साम्यं केवलम् ।"

५६. करसी—(नि०)—कपित्थपत्रा क्रकसी निर्ज्वरा तुम्बपत्रिका। नक्राहि-दंष्ट्रिका काली वृश्चिकाल्युष्ट्रधूमक: ॥—अ० १७
५७. वृक्षादनी (नि०) वन्दाक: स्याद् वृक्षरुहा सेवारो कामरूपक:। वृक्षादनी वटरुहा कामिन्यारोहणी च सा ॥"
५८. (नि०) "पारिजातश्च रोहीत: प्लीहघ्नो रक्तपुष्पक:।"
५९. गंडीरो महान् द्रुमप्राय: कार्तिकेयपुरादौ गिरिराजमभिप्रसिद्ध:। सुधेत्यन्ये।
—अ० १८
६०. (नि०) अरेणुका राजपुत्री नर्मणिकपिला द्विजा। कपिलोला पाण्डुपत्री
—अ० १९
६१. धामार्गव: कोशफला राजकोशातकी तथा। कटुकोशातकी ज्ञेया—॥"
६२. हस्तिकर्ण: रक्तैरण्ड:, नि०—नलिका विद्रुमलता कपोतचरणा नली।"
६३. नाकुली सर्वसुगन्धा, नि०—जयस्त्यावर्तिकापत्रा जयना माधुराजिता।"
६४. (नि०)—गृष्टिर्विष्वक्सेनकान्ता वाराही वरमालिका।—अ० २०
६५. मेषश्रृंगी अजश्रृंगी, सप्तच्छदो गुच्छपुष्प: प्रसिद्ध:। द्वे सारिवे वल्लीसारिवा काष्ठसारिवा च। बृहतीद्वयं स्थूला सूक्ष्मा च। अ० २१
६६. नि०—अंकोठोऽङ्गोलको रेची निर्दिष्टो दीर्घकीलक:। नि०—उच्चटा सोमपर्णी च प्रचला तलला तथा।"
६७. केबुकं प्रसिद्धं मध्यदेशे। (नि०) वितिक्ता स्याच्छङ्खिनी तु छपाद्दा विसर्पिणी।"
६८. तुवराणां पश्चिमोदधितश्च प्रसिद्धानां फलविशेषणाम्।"
६९. गर्भबालयोर्वातेन शुष्यतो:शुक्लसमन्वयोऽपि हृदि स्फुरत्याचार्यस्य। अ० २३
७०, रथकारचुल्ली रथकारो नाम जातिविशेषो वर्णत्रयादूनो लोहकारवृत्तिर्गुर्जरदेशप्रसिद्ध:। तस्य चुल्ली अग्निकर्मस्थानम्।"
७१. तंत्रकृता च मतिवैभवादस्य नामविशिष्टं कृत्वा कथितम्।"
७२. अत एव मुनिनाऽत्र व्योषशब्द: निर्दिष्ट:।"
७३. नि०—मृत्तिका यवनो वल्को पिण्डित: श्रीनिवासक:। (नि०)—कुटन्नटं प्लवं धान्यं वितुन्नं परिपेलवम्।"
७४. शंखपुष्पी काश्मीरेषु बीरटीति प्रसिद्धा। अ० २४

कल्पस्थान

७५. बिम्बी रक्तफला तुण्डी तुण्डिकेरफला च सा। शणपुष्पी बृहत्पुष्पी सा घोण्टा शणघंटिका।—अ० १
७६. कटुकालाबुनी तुम्बी लम्बा पिण्डफला तथा।"
७७. कर्णिकारो राजवृक्ष: प्रग्रह: कृतमालक:।—अ० २
७८. लोध्र: शाबरकस्तिल्व: तिल्वकस्तिरकस्तथा।"

७९. स्नुहिः सुधा महावृक्षो गुडा निस्त्रिंशपत्रकः ।"
८०. यवतिक्ता शंखिनी च हढपादा विसर्पिणी ।—सातला समला सारी विदुला विमलाऽमला ।"
८१. दन्ती शीघ्रा निकुम्भा स्यादुपचित्रा मुकूलकः ।"
८२. चूडामणिः शीतपाकी शिखण्डी कृष्णला लता ।—अ० ४
८३. जीमूतको देवदाडस्तिक्तकोशा गरागरी ।"
८४. अत्र वृद्धवैद्यानुस्मरणाविच्छेद एवाचार्येणागमत्वेनोपनिबद्धः । न चानिबद्धपूर्वमागममाचार्यस्य प्रदर्शयितुं युक्तमित्याशंक्याचार्येण यस्माद् वृद्धवैद्यानुस्मर्यमाणं आचार्यचरकोक्तं लिंगं अनुमापकं विद्यते । तथा चरके वातशोणितचिकित्सिते पठिता अतोऽनुमीयतेऽन्यत्राप्येवमिति । पारम्पर्याविच्छेदस्य चागमत्वं अप्रतिहतमिति सर्वशास्त्रेषु गृहीतम् एव । अ० ८
८५. तथा च पठन्ति—निर्देशस्याविशेषेऽपि विशेषो रूढिमागतः । अविच्छेदात् प्रवक्तॄणां श्रोतॄणां च क्रियाविधौ । कर्मण्यणुविशेषेऽपि विशेषे लक्षणं स्थितम् । आदित्यं पश्यतीत्यत्र नाविशेषात् प्रयुज्यते ।"
८६. तथा च कश्चित्तन्त्रकारः पठति—
वचनाच्च सदा कार्यं फलमूलादि यत् स्मृतम् । भिषगव्यंजिते द्रव्ये मूलं दद्याद् विशेषतः । व्यक्तेरनुपलब्धौ तु मूलमेव प्रदापयेत् । मूलवीर्या हि भूयिष्ठमोषधीः परिचक्षते । मूलाभावे तु दातव्यं मूलतुल्यगुणं च यत् ॥"
८७. दक्षिणो भूभागो विन्ध्य उत्तरो हिमवान् ।"

उत्तरस्थान

८८. शंखपुष्पी काश्मीरेषु वीरटिः । अ० १
८९. (नि०) खादारी काकहस्ताली तोया खदिरवल्ल्यपि ।"
९० द्वे विद्ये एका लघुमायूरी सप्तशती द्वितीया महामायूरी चतुःसाहस्री, आर्याशब्दः प्रजावाची । रक्तकेतुनाम्ना विशिष्टा धारिणीति सौगतादीनां या प्रसिद्धा ॥"
९१. (नि०) गवादनी क्षुद्रफला वृषपादी गवाक्ष्यपि ॥—अ० २
९२. स्पृष्टरोदिका लज्जालुका प्रसिद्धा दाक्षिणात्येषु ।"
९३. (नि०) लक्ष्मणा पुत्रजननी रक्तबिन्दुच्छदा तथा ।—अ० ४
९४. कुक्कुटी मेकवाटिके प्रसिद्धा रसायनाध्यायोक्तलक्षणा ॥—अ० ६
९५. पाशिकाख्यो वृक्षः प्रसिद्धो दाक्षिणात्येषु ।"
९६. (नि०) आम्लानकस्तु कोरण्डो राजसैरेयसंज्ञकः ।—अ० १४
९७. साऽम्लविदलेति नाम्ना स्मृता आचार्यैः ।—अ० १५
९८. सोहला दमिकसी क्षेमा सैवापराजिता ।—अ० १६

९९. सैयंकस्य सहचरस्य पुष्पमाम्लायनस्येति केचित्-"सुनिषण्णकनामानूपे भवति। काश्मीरेषु सुल्येति प्रसिद्धः। पत्तूरो जले भवति नाम्ना मत्स्याक्षकः।अ० २०
१०० काला नीलिनी। (नि०) नीलिन्युक्ता नीलिका नीलपत्री नीला नीली नीलयष्टी विषघ्नी। चाण्डाल्यान्याराजनी भारवाही काला काली चास्पृशा शोधनी च ॥ "एकैषीका महादूर्वा त्रिवृद्वा" ।अ० २३
१०१ (नि०) मदनं राढः पिण्डी करघाटः शल्यकः फलं जगदुः।—अ० २६
१०२ ((नि०) श्रीवेष्टको वायसिकः श्रीवासश्चेति शब्दितः।—अ० ३०
१०३ कालेयकं दार्वी (नि०) कालेयकं दारुनिशा दार्वी पीतद्रु पीतनः।
१०४. अंकोलः प्रसिद्धो मालवादिषु वेतसाकारपत्रः सकण्टकः।—अ० ३५
१०५. अश्वखुरः कृष्णशंखपुष्पी, (नि०) गिरिकर्ण्यपरा नीला वाजिखुरा व्यक्तगन्धकुसुमा च। अश्वखुरा तुरगखुरप्रतिमा स्यात् शंखिनी कृष्णा ॥"
१०६. अपद्रव्याणि लोहादिमयानि दाक्षिणात्यासु प्रसिद्धानि।—अ० ३८
१०७. (अम्बष्ठा दक्षिणापथे प्रसिद्धैव, माचीकमुत्तरापथे प्रसिद्धमेव)—अ० ३९
१०८. वृक उरुवूक आदिलोपात् एरण्डः पुल्लासः उत्तरापथे।"
१०९. सर्वाणि पठितापठितानि विषाश्रयाणि प्रसिध्यैव भारतदेशेषु ज्ञायन्ते। अ० ४०
११०. (नि०) सुरसा च सुपत्रा च बहुपत्री च तक्ला।"
१११. सुराला (नि०) सुलक्षणा सुरालाख्या ज्ञेया पुत्रवती परा। प्रजावृद्धिकरी ज्ञेया पुत्रपुष्पफलैः शुभा॥"
११२ पावकी (नि०) क्षुरधारा पावकाख्या ज्ञेया सस्यवतीति च। वीरिणी वीरगुच्छोक्ता सैवारुणवचा मता॥"
११३. सर्प (नि०) सर्पमंजरिसंज्ञाया केसरी तु समंजरी।"
११४. वेताली (नि०) वेताली तालवर्णी च ताली च परिकीर्तिता।"
११५. द्विजचिह्नं यज्ञोपवीतादि ब्राह्मणचिह्नम्।—अ० ४१
११६ सल्लकी झिंझिणीजम्बूवटशाल्मलिकः त्वचः। पंचवल्कलसंज्ञोऽयं मुनिभिः परिकीर्तितः॥ अ० ४२
११७. कर्कोतनं पद्मरागविशेष इति जर्जटः॥
११८. महासुगन्धा रास्ना, गन्धनाकुली (नि०) सूक्ष्मपत्रा परा ज्ञेया सर्पाक्षी गंधनाकुली। अ० ४५
११९. तापी मध्यदेशप्रसिद्धा। अ० ४९
१२०. पारदं शिलाजतुताभ्यां मर्दितुं योग्यो भवति।"
१२१. (नि०) अभ्यण्डेक्षुरकस्तैलकण्टकः कोकिलाक्षकः। अ० ५०
१२२. उच्चटा प्रसिद्धा महामुरता श्वेतदुर्वारिका इति स्वल्पविटपः प्रायशो नदीतीरे दृश्यते इति सुश्रुतटीका, चूडालाचक्रलोच्चटा इत्यमरः।"

१२३. यथा मार्गाख्यमार्यसत्यमभ्यस्यतः चत्वार्यपत्यानि दुःखं समुदायो निरोधो मार्गश्चेति सौगतप्रसिद्धलक्षणानि ।"

१२४. यद्यपि भट्टारकप्रस्थानेन च परिप्रश्नव्याकरणव्युत्कान्ताभिधानहेत्वाख्या-श्चतस्रोऽवशिष्यन्ते तथापि ता आचार्येण तन्त्रेऽनिबद्धा इत्यत्र नोच्यन्ते ।अथवा उक्तास्वेवान्तर्भाव्या ।'अथवा तन्त्रयुक्तित्वेमेव तासां नांगीक्रियते । तत्र-चाग्न्य तियोगोक्तौ वातादिविशेषेणावस्थापनं संभवप्रसादाल्लभ्यमेवमाद्युक्तम् ॥"

१२५. एताश्च युक्तयो वाक्यन्यायोदधेरसंख्यप्रकारसंभविनो गेयस्येव जातयः सारं गृहीत्वा एवं व्यवस्थिताः । पदार्थयोजनास्तु व्युत्पन्नानां प्रसिद्धा एवेत्यत आचार्येण नोक्ताः । तासु च तत्र भवतो हरेः श्लोकौ-संसर्गो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता… विशेषस्मृतिहेतवः ।"

१२६. इतीन्दुविरचितायामष्टांगसंग्रहव्याख्यायां शशिलेखाख्यायामुत्तरे पंचाशोऽध्यायः ॥

इन्दु (अष्टांगहृदय-व्याख्या)

सूत्रस्थान

वन्दे शरीरं गिरिजासमेतं कैलासशैलेन्द्रगुहागुहस्थम् । अंके निषण्णेन विनायकेन स्कन्देन चात्यन्तसुखायमानम् ।।—अ०८

१. चरकस्य बोद्धारो व्याख्यानमभिमन्यन्ते-भट्टारकेन तु तथाविधैर्द्रव्यैः पूर्वं अभिसंस्कारः शरीरस्येति अस्य वाक्यस्य व्याध्युत्पत्ति अनैकान्तिकं च प्रदर्शनपरत्वमंगीकृत्य तथाविधैरिति च विरूद्धसमानि च परामृश्य विरूद्धैरेव पूर्वसंस्कारो व्याध्यनुत्पत्तिहेतुरिति संज्ञा, द्वारप्रबलतया द्वितीयः पक्षो य उद्भासितः सोऽस्माभिरुपेक्षित एव ।—अ०८

२. अन्ये पुनरन्यथा वर्णयन्ति ।"

३. तथा च शास्त्रकृद्भिरेव—दृष्टा, अन्ये पुनरन्यथा वर्णयन्ति ।"

४. बालोऽसंपूर्णधातुषोडशवर्षादयः वृद्धः सप्ततेरूर्ध्वं मैथुनं त्यजेत् ।"

५. अथेति मंगले चरकशैलिनी ।"

"इन्दुविरचितायां अष्टांगहृदयव्याख्यायां शशिलेखायां अष्टमोऽध्यायः समाप्तः ।"

६. आचार्याः गुरुस्निग्धादिकं वीर्यं चरकस्तु बहुविधमन्ये द्विविधमिति । चरक इत्यादिना बहुवीर्यवादिनां पक्षमाह ।—अ०९

७. बहुवीर्यवादिमतेन चरकाचार्येण नानाविधशक्तित्वात् द्रव्यस्य बहुवीर्यवादिता।"

८. दुष्टं रसमाममित्याचार्याः प्रचक्षते, अन्ये पुनराचार्याः अन्यथामसंभवं वर्णयन्ति ।—अ०१३

९. अन्ये पुनराचार्याः पित्तावसानमुत्कृष्टं वमनमाहुः ।—अ०१८

१०. तथा च श्रीमत्संग्रहग्रंथः।"
११. एवं दोषक्रमेणैवान्ये चिकित्सकाश्चरकाचार्यमतानुसारिणः वस्तित्रितयमिच्छन्ति अन्ये पुनराचार्या.........इच्छन्ति।—अ०१९
१२. उक्तं हि सौश्रुते—शल हिंसायां धातुस्तस्य शल्यमिति रूपं भवतीति।—अ०२८
१३. अथातः क्षाराग्निकर्मविधिमध्यायं व्याख्यास्यामः—अ० ३०

शारीरस्थान

१४. विदध्यान्मयि सान्निध्यं स देवः कलभाननः।
यस्यानुग्रहमात्रेण जायन्ते सर्वसंपदः॥—अ०१
१५. शाल्यन्नं भुक्त्वा मौहूर्तिकाज्ञया तदनुमते राशिभागे...शयनमारोहेत्॥—अ०१
१६. तथा च संग्रहे-पुरुषानभिलाषिणी च सा पुत्रं सूत इति।"
१७. तयोश्च क्रमयोगपद्यं यथासंभवं व्याख्येयम्।"
१८ तथा चाचार्य एव संग्रहेऽप्युक्तवान् पंचकोलचूर्णेनाहः परिणामपायिनीं......पाययेदिति।"
१९. तथा च संग्रहे।"
२०. आचार्याः शोकादिभिः भाव्यातिश्रमाद्वितोर्वा.........इत्याहुः।—अ०२
२१. ग्रहण्याख्या पित्तधरा नाम कलामर्यादा अग्न्यधिष्ठानमिति धन्वन्तरिवचनेन धान्वन्तरसिद्धान्तो ऽस्याप्यनुमत एवेति द्योत्यते।—अ०३
२२. इहायुर्वेदे उभयेषामाचार्याणां भिन्नदर्शनम्।"
२३. यच्चोष्मणानुबन्धं रोमकूपेभ्यो निष्पतत् स्वेदवाच्यं तदुदकमिति संग्रहे।"
२४. अन्येषामाचार्याणां गुदो मांसमर्म इति स्मृत तेनैकादश मांसमर्माणीति।—अ०४
२५. केचिच्चोदयन्ति दृष्टेऽपि जीवितं दृष्टमदृष्टेऽपि मरणमिति तान् प्रति चरकमतानुसारेण समर्थयति अरिष्ट इति।—केचिदाचार्या कृष्णात्रेयादयः द्विविधारिष्टमाहुः स्थिरमस्थिरंचेति अर्थः।—अ०५
२६. को योगः पातंजलादिशास्त्रदृष्टेन विधिना संपादितः।"
२७. तस्य नरस्यात्रेयो धन्वन्तरिः संशयप्राप्तं जीवितं मन्यते।"
२८. श्वपाको डोंबः।—अ०६
२९. देवता हरिहरहिरण्यगर्भस्कन्देन्द्रायः श्वित्रादिकृताः।"
३०. द्रविडान्धा दाक्षिणात्या जनपदं नाम।"

निदानस्थान

३१. जयति महः करिवदनं जयति च वाणी जगत्त्रयीजननी।
यत्पादपद्मकरुणा कविताकरुणालयोल्लसज्योत्स्ना।—अ०१
३२. ज्वर इत्यादिना पर्यायकथनेनेतिहासरूपेण ज्वरादिरोगाणामुत्पत्तिरुच्यते।
—अ०२
३३. रुद्रस्य श्रेणीवती महेश्वरस्य।"

३४. एतदेवं हृदि कृत्य भट्टारहरिश्चन्द्रेण—नांगीकुर्वन्ति यतो न पूर्वदर्शनमात्रेणैव भिषग् चिकित्सायां प्रवर्तते ।...... भट्टारकेण तु पूर्वरूपेषु सकलदोषसाधारणत्वाल्लब्धशनस्य प्राधान्यमूलं तदनु प्राग्रूपाणामनन्तरं क्रमेण ज्वरस्य व्यक्तता भवेदिदि ।"

३५. तथा च संग्रहे—रोहिण्यति-प्रसंगात्......कासश्वासादय इत्यादि ।—अ०५

३६. तन्नाम्नोष्णवातं वदन्त्याचार्याः ।—अ०९

३७. आचार्या इदं छिद्रोदरं नाम्ना आहुः अपरे आचार्याः छिद्रोदरस्यैव परिस्रावीति नाम मन्यते ॥—अ०१२

(एडियार मद्रास पुस्तकालयस्थ पाण्डुलिपि सं०३९बी०१९ दे ६५७ से साभार उद्धृत)

६. विजयरक्षित (१३वीं शती)

माधवनिदान-व्याख्या

१. अत्र, औषधान्नविहाराणामित्युपलक्षणं, तेन 'देशकालावपि बोद्धव्यौ । अतएव वृद्धवाग्भटेन व्याध्यादिविपरीतमभिधाय एतेन देशकालावपि व्याख्यातौ । (वृ०वा०नि०स्था०अ०१) इत्याख्यातम् । —१।९

२. तस्माद्दोषेतिकर्तव्यतोपलक्षितं व्याधिजन्मेह संप्राप्तिः; नतु केवलं जन्म । वाग्भटेन हि यथा दुष्टेन...(वा०नि०स्था०अ०१) इत्यादि वदता विशिष्टमेव व्याधिजन्म संप्राप्तिरुक्ता, तथा सति क्रियाविशेषोऽपि लभ्यते । यथा ज्वरे आमाशयदूषणाग्निहननादिबोधे लंघनपाचनस्वेदादिकरणमिति—१।१०

३. तेन सर्वज्वरे पित्ताविरोधिनी क्रिया कार्येति सिध्यति । यदुक्तं वाग्भटेनैव ऊष्मा पित्तादृते नास्ति ज्वरो नास्त्यूष्मणा विना । तस्मात्पित्तविरुद्धानि त्यजेत्पित्ताधिकेऽधिकम् इति (वा०चि०स्था०अ०१) । २।१

४. तच्चानवधानाद्व्याख्यातमिति, लक्ष्यते क्षवस्य स्तम्भः क्षवथोर्ग्रहः । भ्रमः प्रलापो घर्मेच्छा विलापश्चानिलज्वरे" इति (वा०नि०स्था०अ०२) । २।९

५. चकारादन्यान्यपि च बोद्धव्यानि । यदाह वाग्भटः—तद्वच्छीतं महानिद्रा दिवा जागरणं निशि । सदा वा नैव वा निद्रा महान् स्वेदोऽति नैव वा । गीतनर्तनहास्यादिविकृतेहाप्रवर्तनम्—इति (वा०नि०स्था०अ०२) ।—२।२३

६. एतच्च लक्षणं त्रयोदशसन्निपातेषु मध्ये स्वमानाद्व्यंदोषैस्तुल्यैरारब्धस्य ज्वरस्य चरकेण पठितं, व्युल्बणैकोल्बणादीनां च द्वादशानां लक्षणं तत्रैव द्रष्टव्यम् । तथा च—काश्मीरपाठे चरकः—भ्रमः पिपासा दाहश्च गौरवं शिरसोऽतिरुक् । वातपित्तोल्बणे विद्याल्लिंगं मन्दकफे ज्वरे ॥ शैत्यं कासोऽरुचिस्तन्द्रापिपासादाहहृद्व्यथाः । वातश्लेष्मोल्बणे व्याधौ लिंगं पित्तावरे विदुः ॥ छर्दिः शैत्यं मुहुर्दाहस्तृष्णा मोहोऽस्थिवेदना । मन्दवाते व्यवस्यन्ति लिंगं पित्तकफोल्बणे । सन्ध्यस्थिशिरसां शूलं प्रलापो गौरवं भ्रमः । वातोल्बणे

स्याद्द्वयनुगे तृष्णा कण्ठास्यशुष्कता ।। रक्तविण्मूत्रता दाहः स्वेदस्तृष्णा बलक्षयः। मूर्च्छा चेति त्रिदोषे स्याल्लिंगं पित्ते गरीयसि ।। आलस्यारुचिहृल्लासदाहवम्यरतिभ्रमैः । कफोल्बणं सन्निपातं तन्द्राकासेन चादिशेत् ।। प्रतिश्या छर्दिरालस्यं तन्द्रारुच्यग्निमार्दवम् ।। हीनवाते पित्तमध्ये लिंगं श्लेष्माधिके मतम् । हारिद्रमूत्रनेत्रत्वं दाहस्तृष्णा भ्रमोऽरुचिः । हीनवाते मध्यकफे लिंगं पित्ताधिके मतम् । शिरोरुग्वेपथुश्वासप्रलापच्छर्द्यरोचकाः । हीनपित्ते मध्यकफे लिंगं वाताधिके मतम् । शीतता गौरवं तन्द्रा प्रलापोऽस्थिशिरोतिरुक् । हीनपित्ते वातमध्ये लिंगं श्लेष्माधिके विदुः । वर्चोभेदोऽग्निदौर्बल्यं तृष्णा दाहोऽरुचिभ्रमः। कफहीने वातमध्ये लिंगं पित्ताधिके विदुः । श्वासः कासः प्रतिश्यायो मुखशोषोऽतिपार्श्वरुक् । कफहीने पित्तमध्ये लिंगं वाताधिके मतम्''' इति (च०चि०स्था०अ०३) ।—२।२३

७. यथोक्तं वाग्भटेन'''सश्लेष्ममेदः पवनः साममत्यर्थसंचितम् । अभिभूयेतरं दोषमूरू चेत्प्रतिपद्यते । सक्थ्यस्थिनी प्रपूर्यान्तः श्लेष्मणा स्तिमितेन च । तदा स्तभ्नाति तेनोरू स्तब्धौ शीतावचेतनौ (वा०नि०स्था०अ०१५) इति ।—२।२३

८. चित्तविभ्रंशो भ्रमादिः । यदाह वाग्भटः''' कामाद्भ्रमोऽरुचिर्दाहो ह्रीनिद्राधीधृतिक्षयाः (वा०नि०स्था०अ०२) इत्यादि ।—२।२९

९. कोपाच्चेति चकारेण शिरोरुजं समुच्चिनोति । यदाह वाग्भटः—क्रोधात्कम्पः शिरोरुक् च प्रलापो भयशोकजः (वा०नि०स्था०२) इति ।—२।२९

१०. एते च सर्व एव ज्वरा न विरुद्धाः, सर्वेषामेव मुनिप्रणीतत्वात् । यथोक्तं स्मृतिशास्त्रे—स्मृतिद्वैधं तु यत्र स्यात्तत्र धर्मावुभौ मतौ—इति । दृश्यन्ते च नानाविधा एव विषमज्वराः, एष एव न्यायश्चरकसुश्रुतयोः कुष्ठवैषम्ये वाप्यचन्त्रेण दर्शितः, न वा चिकित्साभेदोऽप्येषामुक्तः यैव तृतीयकादौ चिकित्सा सैव तद्विपर्ययेऽपीति ।। २।६६

११. अत्र वाग्भटेन वातजस्य प्राकृतत्वप्रणयनं यत्कृतं तदन्ये नानुमन्यन्ते, दुःसाध्यत्वेन वैकृताविभिन्नत्वात् ।।—२।५५

१२. सप्ताहादर्वागपि यदेतत्पाचनकषायपानमुक्तं तन्नात्युद्भूतसामतायां द्रष्टव्यम् । यदाह वाग्भटः—सप्ताहादौषधं केचिदाहुरन्ये दशाहतः । केचिल्लघ्वन्नभुक्तस्य योज्यमामोल्बणे न तु ।। तीव्रज्वरपरीतस्य दोषवेगोदयो यतः । दोषेऽथवाऽतिनिचिते तन्द्रास्तैमित्यकारिणि । अपच्यमानं भैषज्यं भूयो ज्वलयति ज्वरम्—इति (वा०चि०स्था०अ०१) २।६६

१३. आधानजन्मनिधनप्रत्यरास्यविपत्करे । नक्षत्रे व्याधिरुत्पन्नः क्लेशाय मरणाय वा । ज्वरस्तु जातः षड्रात्रादश्विनीषु निवर्तते''' इत्यादिना ग्रन्थेन नक्षत्रभेदेन ज्वरस्य साध्यत्वासाध्यत्वं यदभिहितं, तद्धारीतवृद्धवाग्भटयोर्द्रष्टव्यं, इह तु विस्तरभयान्न लिखितम् ।—२।७३

१४. वाग्भटोऽप्याह—धातून् प्रक्षोभयन् दोषो मोक्षकाले विलीयते। ततो नरः श्वसन् स्विद्यन् कूजन्वमति चेष्टते—(वा०नि०स्था० अ०२) इति। २।४७

१५. सुश्रुतेन तु मांसांकुरत्वसाधर्म्यात् शस्त्रक्षाराग्निसाध्यत्वाच्च तेष्वर्शःशब्द-प्रयोगः कृतः, सर्षपादिस्नेहे तैलव्यपदेशवत् सुश्रुतानुवादिनो वाग्भटस्याप्ययमेवाभिप्राय इति।। ५।२

१६. काश्मीरास्तु चरके—विट् श्यावा कठिना रूक्षा—इत्येव पठन्ति। अधोवायुर्न वर्तते गुदेन, प्रतिलोमगत्वात्।।—५।२४,२७

१७. वीर्यं शक्तिः। ओजः सर्वधातुसारभूतं हृदयस्थमिति पराशरः, पराभिभवेच्छेति जेज्जटः।।—८।१०

१८. करपादयोरित्यत्र प्राण्यंगत्वादेकवद्भावं मन्यमानः काश्मीराः—'तापः पादकरस्य च' इति पठन्ति, करपादिक इति पाठान्तरम्। एतत्त्रयं प्रायोभावित्वेन चरकेणोक्तं, तेनैकादशरूपेषु मध्येऽन्यदपि त्रयं बोद्धव्यम्।। १०।५

१९. विबद्धसंस्तम्भयुतं इति काश्मीराः।—१५।२

२०. रक्तमद्यविषजानां यथादोषमेतास्वन्तर्भावः सुश्रुते चैता रक्तादिजा लक्षणचिकित्साभेदख्यापनार्थं साक्षात् पठिताः, त्रिदोषजाया दोषजास्वन्तर्भावः, इत्यभिप्रायेण भेद आचार्ययोः, संग्रहे चात्र सर्वतन्त्रस्वीकारादुभयमपि लिखितमित्यदोषः।—१७।१३

२१. ननु चरकविदेहवाग्भटादिभिश्चतुर्थो मदो न पठितस्तत्कथं सुश्रुतेन तृतीयो मद इति कृत्वा पठितः, यस्तु चरके तृतीयः स च सुश्रुतेन चतुर्थः पठित इत्यविरोधः—१८।११

२१. अष्ठीला उत्तरापथे वर्तुलः पाषाणविशेष इति जेज्जटमतानुवादी कार्तिकः।
—२२।७०

२३. अधिकं समाः शतमिति पंचदिनाधिकं सविंशं वर्षशतम्। यदाह वराह आयुर्विरूपणे—समाः षष्टिर्द्विघ्ना मनुजकरिणां पंच च निशाः इत्यादि :
—२३।८०

२४. उच्यते, शर्करा अश्मरीभेद एव। यथाह दृढबलः—एषाश्मरी मारुतभिन्नमूर्तिः स्याच्छर्करा मूत्रपथात् क्षरन्ती (च०चि०स्था०अ०२६) इति अतोऽश्मरीजेनैव शर्कराजग्रहणमिति मन्यमानो दृढबलोऽष्टावित्यपठत्।।
—३०।२

श्रीकण्ठदत्त (१३वीं शती)
(माधवनिदान-व्याख्या)

१. तस्माद् भाविनीं मधुमेहतामाश्रित्य सर्व एव मेहा मधुमेहशब्दवाच्याः। उक्तं हि वाग्भटे—मधुरं यच्च मेहेषु प्रायो मध्विव मेहति। सर्वेऽपि मधुमेहाख्या माधुर्याच्च तनोरतः (वा०नि०स्था०अ०१०) इति।—३३।२१

२. अयं तु ग्रन्थिज्वरके गण्डमालायामस्ति, संग्रहकारेण तु गण्डमालया सह तुल्यत्वादपच्या अपच्यामेव पठितः।—३८।१०

३, अन्ये तु मांसासृग्भ्यां षष्ठं ग्रन्थि वदन्त एवं पठन्ति,—मांसासृजं चार्बुदलक्षणेन तुल्यं हि दृष्टं त्वथ लक्षणज्ञैः—इति। किंत्वनार्षोऽयं पाठः, भोजादिसमानतन्त्रेष्वदृष्टत्वात् ॥—३८।१६

४. विदारिका भवेद्रक्ता सर्वजा सर्वलक्षणेत्यत्र केचिदसर्वजा, असर्वलक्षणेति उभयत्रापि नञः प्रयोगमिच्छन्ति, तेनासर्वजा इति सर्वदोषैः सन्निपतितैर्न भवति, असर्वलक्षणेति सन्निपातलक्षणरहितेत्यर्थः। तेन प्रत्येकदोषद्वन्द्वजत्वेन षड्विधा सन्निपातमात्रेण न भवतीति वाक्यार्थः। किंत्वयं पक्षो यद्यभिमतः स्यादाचार्यस्य, तदा व्यक्तयर्थं षड्विधा द्व्येकदोषजा इति पदं कृतं स्यात्।
—५५।२१

५. तेनात्राप्यल्पपित्तयुक्तकफवातजत्वेन सर्वजत्वं ज्ञेयम्। यथा—ज्वरयोगेनाल्पपित्तत्वम्। यदुक्तम्—ऊष्मा पित्तादृते नास्ति ज्वरो नास्त्यूष्मणा विना (वा०चि०स्था०अ०१) इति।—५५।२१

६. करालस्तु सुश्रुतेऽनुक्तोऽधिकः संग्रहकारेण पठितः, तेन सुश्रुतोक्तपंचदशसंख्याहानिः ॥—५६।२०

७. अत्रावकाशे हनुमोक्षः सुश्रुते दन्तदेशसामीप्याद्दन्तपीडनाच्च पठितः, स इह संग्रहकारेण मुख्यदन्तगतत्वाभावान्न पठितः पठितस्तु हनुग्रहसंज्ञया वातव्याधौ भोजवचनात्। यदुक्तं, वाताभिघाताज्जन्तोर्हि हनुसन्धिर्विमुच्यते। निरस्तजिह्वः कृच्छ्रेण भाषितं तत्र गच्छति। सम्यक् तमनिलव्याधि हनुमोक्षं विनिर्दिशेत्—इति ॥—५६।२७

८. यद्यप्येकवृन्दः कफरक्तजः, वृन्दस्तु पित्तरक्तजः पठितः. तथा वृन्दस्यैव सतोदत्वेन वातात्मकत्वमुक्तं, तथाप्येकवृन्दस्यावस्थाविशेषत्वेन वृन्दः संगच्छत एव, यथा कामलायां तद्भिन्नहेतुलक्षणस्यापि हलीमकस्य संग्रहः यथा वातमदात्ययेन ध्वंसकविक्षेपकयोरत्यन्ताभेदोऽपि स एव स्यान्न पुनस्तेन संग्रहः, भोजेऽप्ययमेकवृन्दज एव पठितः।—५६।४७

९, शुक्तिसंज्ञः, अयं पित्तजः। अत्र वाग्भटः—पित्तं कुर्यात् सिते बिन्दूनसितश्यावपीतकान्। मलाक्तादर्शतुल्यं वा सर्वं शुक्लं सदाहरुक् ॥ रोगोऽयं शुक्तिकासंज्ञः सशकृद्भेदतृड्ज्वरः (वा०उ०त०अ०१) इति।—५९।६६

१०. अत्र सिरोत्पातसिराहर्षौ वाग्भटेन पठितौ। तथा हि—रक्तराजीनिभं शुक्ले उष्यतेऽपि सवेदनम्। अशोफाश्रूपदेहं च सिरोत्पातः सशोणितम्। उपेक्षितः सिरोत्पातो राजीस्ता एव वर्धयन्। कुर्यात् सास्रं सिराहर्षं तेनाक्ष्युद्वीक्षणाक्षमम् (वा०उ०तं०अ०१०) इति ॥—५९।६९

११. कुम्भीका कच्छदेशोद्भवा दाडिमफलाकारफला लता, तद्बीजेन प्रतिमा यासां ता इत्यर्थः अन्ते कुम्भीकबीजसदृशा इति पठन्ति, तत्र कुम्भीकः कुम्भाडुलता, तद्बीजमपि दाडिमफलबीजाकारं, तत्सदृशाः पिडका उच्यन्ते ॥—५९।७७

१२. अस्यायमर्थः प्रत्येतव्यः—यदा तदेव प्रक्लिन्नवर्त्म श्लेष्मात्मकमेव सद्वात-पित्ताभ्यां विशेषकाभ्यामुपनिरुध्यते तदा सन्निपातजं सदपरिक्लिन्नवर्त्मा-र्थान्तरमासादयत् पिल्लमित्यभिधीयते, तथा चोभयोरप्यविरोधः, उभा-भ्यामेवापरिक्लिन्नवर्त्मन एव पिल्लाख्यत्ववर्णनादिति । अयं च वाग्भटे कफोत्क्लिष्टाख्यतया निबद्धः ।—५९।८८

१३. कुंचनं न कस्यापि तन्त्रस्य माधवकरेण लिखितं न सौश्रुतं, तेन सुश्रुतोक्त-षट्सप्ततिसंख्या न हीयते, एवं वक्ष्यमाणेऽपि पक्ष्मशाते बोद्धव्यम् ।—५९।९६

१४. पक्ष्माशयोऽत्र पक्ष्ममूलं, शातयेदुन्मूलयेदित्यर्थः । अयं च कफपैत्तिकः, कण्डूदाहवत्त्वात् । अत्र कृच्छ्रोन्मीलनं वाग्भटः पठति—रोगान् कुर्युश्चलस्तत्र प्राप्य वर्त्माश्रयाः सिराः । सुप्तोत्थितस्य कुरुते वर्त्मस्तम्भं सवेदनम् । पांशुपूर्णाभनेत्रत्वं कृच्छ्रोन्मीलनमश्रु च । विमर्दनात् स्याच्च शमः कृच्छ्रोन्मीलं वदन्ति तम् । (वा०उ०स्था०अ०८) इति ।—५९।९९

१५. माधवकरेण तु त्रिदोषजत्वेन तदधिकम्पहनुग्रहलिंगयोगाच्च केवलवात-जादन्यतोवाताद्विलक्षण एवायमिति अनन्तवातोऽधिकः पठितः, भेदो हि भेदवतां कारणभेदाद्विरुद्धधर्माध्यासाच्च भवतीति ।—६०।१०

१६. एवं पंचपंचाशत् स्थावराणि विषाणि भवन्ति । एषां च व्याधपुलिन्दादिभ्यो व्यक्तिज्ञानं कर्तव्यम् ।—६९।१

१७. दुःखस्पर्शत्वं स्पर्शासहत्वम् । शूलेनोपलक्षितः, तच्च पार्श्वादौ बोध्यम् । वाग्भटेनापि पठ्यते—पार्श्वशूली (वा०नि०स्था०अ०३ इति ।—११।११

१८. ननु कासादेव क्षयो जायते तत्कथं क्षयजः कास इति ? उक्तं हि…… कासात्संजायते क्षयः—इति । उच्यते, दृष्टो हि परस्परं व्यक्तिभेदेन कार्य-कारणभावो बहुधः, यथाऽतीसारार्शोग्निमान्द्यादाविति । गात्रशूलेत्यादि श्लोकार्धस्य क्षयजकासमध्ये पाठो युक्तः प्रतिभाति, सुश्रुते क्षतजकासे पठितत्वात्, क्षयकासश्चात्र चरकसुश्रुतवाक्ये मेलयित्वा माधवकरेण लिखितः, उच्यते, स गात्रशूलेत्याद्यनन्तरं क्षयकासः सुश्रुतेन पठितः, तेन स गात्रशूले-त्यादिश्लोकार्धस्य परेण सम्बन्धनात् क्षयकासलिंगत्वमिति माधवकरस्या-भिप्रायः, एतच्चान्ये नानुमन्यन्ते, यतः क्षतकासस्यावस्थायामसाध्यत्वख्या-पनपरमेतद्व्याख्यातं जेज्जटेन, गयदासेनापि क्षतजकासरूपत्वेनेति ।

—११।१२

(वृन्दमाधव-व्याख्या)

१. सामदोषादिस्वरूपनिरूपणे श्रीवाग्भटाचार्यं :—"ऊष्मणोऽल्पबलत्वेन धातुमाद्यमपाचितम् ।.........सामा इत्युपदिश्यन्ते ये च रोगास्तदुद्भवाः ।—१।२५

२. श्रीमाधवोऽप्याह—लंघनं तद् द्विधा ज्ञेयं शमनं शोधनं च तत्..............
वमनं लंघनं कुर्यात् कफे रक्षन् बलादिकम् ।—१।२५

३. वृद्धवैद्यव्यवहारो वाग्भटव्याख्यातो वृन्देन श्लोकं कृत्वा लिखितः ।—१।४९

४. अत्र हेमाद्रिव्याख्यानम् कर्षार्धमित्यादि ।—१।५२

५. एवंगुणमप्युष्णोदकं ज्वरेऽल्पं देयमित्याचार्याः ।—१।५३

६. दृढबलस्तु समादधाति-विरुद्धैरपि न त्वेतैः गुणैर्घ्नन्ति परस्परम् ।—१।१४०

७. यत्तु ऋतुर्जातककर्पूरकक्कोलागुरुसिह्लकम् । लवंगसहितं चैव सर्वगन्धं विनिर्दिशेत् ।। इति निघण्टुकारवचनं क्वचिच्छ्रूयते तदुद्वर्तनादिविषयं ज्ञेयम् ।।—१।२०१

७. पंचविधं ज्वरमिति प्रलेपकवर्जं सन्ततसततान्येद्युष्कतृतीयकचतुर्थकम् । यतश्चरकस्यैते पंच योगाः । तत्रैतत्पंचकमेव पठित्वाऽमी योगा उक्ताः । संग्रहकारस्तु सततान्येद्युष्कत्र्याख्यचतुर्थकप्रलेपकान् पठित्वा योगानिमाँल्लिखितवानिति न मनोहरम् ।—१।२२५

९. ज्वरातिसारमेलकश्च ज्वरातीसाराभ्यामनन्यत्वात् माधवकरेण निदानसंग्रहे पृथङ् न दर्शितः । चिकित्साविशेषं तु वक्तुं वृन्दः पृथगमुं कल्पितवान् ।—२।१

१० दशमूलीरसश्चतुर्गुण इति जेज्जटमतानुयायिनां पन्थाः ।—४।३५

११. यदाह वाग्भटः—'पक्वजम्ब्वसितं शस्तं सम्यग्दग्धं विपर्यये...........गुदे विशेषाद् विण्मूत्रसंरोधो वाऽतिवर्तनम् ।—५।११९

१२. चक्रस्तूष्णवीर्याया अपि गुडूच्या आचार्यपाठानुरोधाद् द्रव्यान्तरसंयोगमहिम्ना दाहप्रशमकत्वमिच्छति । (न) खलु टीकाकारहरिश्चन्द्रवचसा महर्षिवचनं बाधामर्हति ।—५।१२१

१३. युक्तश्चायं पक्षो नागार्जुनयोगसंवादात् ।—६।१४

१४ अतश्च रसस्य रुधिरादिहेतोरसम्यक्परिपाक इत्यर्थः इत्यरुणाचन्द्रनन्दनौ । हेमाद्रिस्तु व्याख्याति रसशेष इति ।'—६।१९

१५. तथा च वाग्भटः शयीत किंचिदेवात्र इति । अस्य व्याख्या तत्र रसशेषं किंचिदेव मुहूर्त्तमेव स्वप्यात् नाजीर्णं इव प्रभूतम् इत्यरुणदत्तहेमाद्री ।—६।१९

१६. तेनेह हरीतकीभक्षणात् सिद्धं तावद् गुडात् पलं भक्ष्यमिति योगव्याख्यायां माधवकराचार्य. ।—१०।१५

१७. आढकं द्रव्यचूर्णानामासुतं सलिलाढके । अहोरात्रस्थितं कुर्यात् स्वरसं स्वरसेऽसति ।। इति हेमाद्रौ ।—१३।८

१८. तथा च नागार्जुनेंवार्तामालायां पठ्यते—

छिन्नरुहायाः क्वाथं सुशीतलं यो नरः पिबेन्मधुना ।

छर्दि स वातपित्तश्लेष्मसमुत्थां निवारयति ॥—१५।१५

१९. अयं चार्थो जेज्जटादिभिर्व्याख्यातः प्रायो बकुलकारेण श्लोकैर्निबद्धः ।२०।२७

२०. वाग्भटे नागरस्थाने पिप्पली दृश्यते ।—२६।३६

२१. यस्य तन्त्रस्यायं प्रयोगस्तत्तन्त्रोक्तहिङ्ग्वाद्यपरिज्ञानाद् वक्ष्यमाणो हिङ्ग्वादिरनन्तरपठितत्वात् संग्रहकारस्याभिमतो लक्ष्यते ।।३०।१२

२२. एष योगो वाग्भटेऽधिकत्रिवृद्दन्तीयोगात् पठितस्तद्यथा—३०।१३

२३. शिलामधुकबीजैरित्यत्र बीजपदमिन्दीवरेण संबन्धनीयं न तु बीजो बीजकः पीतशालो वाग्भट-संवादात् ।—३४।१७

२४. अपच्या सह तुल्यक्रियत्वाद् ग्रन्थेरर्थस्य चात्रावपचीग्रन्थमेव ग्रन्थौ लिखितवान् संग्रहकारकः ।—४१।३३

२५. वाग्भटेन चोभयत्रापि व्यर्थो दर्शितः ।—४१।४९

२६. वाग्भटेऽप्युक्तम्-वचा हरीतकी लाक्षा कटुचन्दनरोहिणी-इति ।४१।५४

२७. लशुनालेपविधानं प्रागपि लिखितत्वात् पुनरुक्तं संग्रहकारस्य श्लोकपूर्णतानुरोधादपुनरुक्तमिति चेत् । श्लोकार्धेनापि व्यवहारदर्शनात् ।४४।४६

२८. हस्तिदन्तमषीरसांजनाभ्यां लेपः । तैलेन वाग्भटे ।·········तथा च वाग्भटः ···५७।८४

२९. वाग्भटेऽप्ययः शब्दः पठितः ।—५८।६६

३०. वाग्भटेऽप्येतैः सिद्धं क्षीरं प्रतिपादितम् ।—६५।६

३१. वृष्यादिद्रव्याणां सद्यः शुक्रादिकरणे प्रभावोऽयम् । तथा च वाग्भटः ।७०।१

३२. स नर इत्यस्य स्थाने ससितानिति पाठो वाग्भटे । ७०।६

३३. अत्रार्थे च वृद्धवाग्भटः ।—७१।३

३४. तथा श्रीवाग्भटेनापि कर्मकालयोगबस्तयोऽभिहिताः ।—७६।१०

३५. वृद्धवाग्भटस्त्वाह ।—७६।१४

३६. तथा च वाग्भटः ।—७७।९

३७. तथा च वृद्धवाग्भट एव ।—७८।७

३८. तथा च वृद्धवाग्भटः ।—७८।४

३९. श्रीमन्माधवः प्राह ।—८१।३

४०. यदाह कपिलबलः ।—८१।४६

४१. कर्णपूरणकालस्य संख्या वाग्भटः प्राह ।—८१।८०

४२. बदरं प्रक्षणश्चेति संज्ञाद्वयं वाग्भटाज्ज्ञेयम् ।—८२।२०

४३. अस्य व्याख्याऽरुणदत्तहेमाद्रिभ्यां सुस्पष्टं कृत्वोक्ता ।—८२।२५

४४. अनिर्दिष्टाप्रसिद्धेषु मूलं ग्राह्यं त्वगादिष्विति संग्रहवचनात् ।८२।२५

४५. शाणमानं च संग्रहोक्तम् ।
संग्रहे चरणं तु पलस्य दशमो भागः ।८२।२७

४६. लवणस्य तदभावादयोनित्वमिति हेमाद्रिः ।८२।२७

४७. स्वरसादीनां लक्षणं वाग्भटादाह ।
संग्रहे तु उपलदशनादिपिष्टस्तु कल्कः ।—८२।२७

४८. श्रीकण्ठदत्तभिषजा ग्रन्थविस्तरभीरुणा । टीकायां कुसुमावल्यां व्याख्या मुक्ता क्वचित् क्वचित् रत्नं नागरवंशस्य भिषग् भामल्लनन्दनः। नारायणो द्विजवरो भिषजां हितकाम्यया ।। भाष्याणि डल्लणादीनि बहुशो वीक्ष्य यत्नतः ।
टीकापूर्ति व्यधात् सम्यक् तेन नन्दन्तु साधवः ।।—

८. हेमाद्रि (१३-१४वीं शती)

(अष्टांगहृदय-व्याख्या)

१. हेमाद्रिणा चतुर्वर्गचिन्तामणिविधायिना ।
तदुक्तव्रतदानादिसिद्ध्यंगारोग्यसिद्धये ।। २ ।।
क्रियतेऽष्टांगहृदयस्यायुर्वेदस्य सुग्रहा ।
टीका चरकहारीतसुश्रुतादिमतानुगा ।। ३ ।।
चरके हरिचन्द्राद्यैः सुश्रुते जेज्जटादिभिः ।
टीकाकारैर्न निर्णीतमिह हेमाद्रिणोदितम् ।। ४ ।।
देशभ्रंशभयाद्विचाल्य लयिनः स्नेहैः प्रतापैः परं
प्रद्राव्य प्रसृतान् प्रवेश्य परितो दुर्गोदरं द्राक्तः ।
ऊर्ध्वाधोगति निर्गमय्य मदनैर्दन्त्यादिभिर्विद्विषो
दोषानद्रढि रामराज्यमगदांकारेण हेमाद्रिणा ।। ५ ।।
हेमाद्रिर्नाम रामस्य राज्ञः श्रीकरणेऽधिप ।
ननूभौ भगवन्निष्ठाषाड्गुण्यकारणेऽधिप ।। ६ ।।
सर्वेषां द्वीपवर्षाणां मेरुरुत्तरतः स्थितः ।
तदस्तु सर्वोत्तरता हैमाद्रौ दृश्यते यतः ।। ७ ।।
सेव्या हेमाद्रिटीकेयमायुर्वेदरसायनम् ।
आयुर्वेदात्मनां पुंसां निर्दोषत्वं हि नान्यथा ।। ८ ।।
अष्टांगहृदयं मुख्यमनुक्तेऽष्टांगसंग्रहः ।
तत्रान्तराणि चोक्तानि वैषम्ये विवृतानि च ।। ९ ।।

आयुर्वेदं व्याचिख्यासुः श्रीवाग्भटाचार्यः प्रथमश्लोकेनेष्टदेवतां नमस्करोति—रागादिरोगानिति । स चापूर्ववैद्यः । अपूर्वत्वं च अद्भुतशक्तित्वम् तच्च ज्वरादिविलक्षणानां रोगाणां घातेन ।। अ० हृ० सू० १।१

२. उक्तं हि संग्रहे (सू० अ०३)–अणुतैलं ततो नस्यं ततो गण्डूषधारणम् । घनोन्नतप्रसन्नत्वक्स्कन्धग्रीवास्यवक्षसः ।। सुगन्धिवदनाः स्निग्धनिस्वना विमलेन्द्रियाः । निर्वलीपलितव्यंगा भवेयुर्नस्यशीलिनः इति । सू० २।७

३. संग्रहे तु (सू०अ ४) मासराशिस्वरूपाख्यमृतोर्वल्लक्षणत्रयम् । यथोत्तरं भजेच्चर्या तत्र तस्य बलादिति इति । मासलक्षणाद्राशिलक्षणं बलवत्, अतो राशिलक्षणमेवांगीकृतम्, स्वरूपलक्षणस्य ऋतुविपर्ययपर्यवसानात् । उक्तं हि तत्रैव (संग्रहे सू०अ० ४) ऋतुष्वेवंविधेष्वेव विधिः स्वास्थ्याय देहिनाम् । निर्दिश्यतेऽन्यरूपेषु विरुद्धज्ञानिकोविधिः ।। इति । तस्माच्छिशिरषट्कप्रावृट्षट्कयोः संज्ञामात्रेणैव भेदः । सू० ३।२

४. एवमेव संग्रहे (सू० अ० ७) । तस्मात्कोऽत्र क्रमः? उच्यते । इह रक्तशालिशब्देन मृदुमधुरस्निग्धसुरभिशुक्लविशदस्थूलायतत्वादीनां लोकप्रसिद्धानां स्वगुणानामुत्कर्ष उपलक्ष्यते । तेषु यथा यथा समुत्कर्षस्त उत्तमाः । यथा यथा अपकर्षस्ते हीनाः । उपलक्षणानि पुनर्वक्तृविवक्षाभेदाद्भिन्नानि । यानेव गुणान् सुश्रुतखारणादी कलमशब्देनोपलक्षयतः तानेव चरकवाग्भटौ महाशालिशब्देन । ननु, सम्बन्धं विना नोपलक्षणत्वम्, न च कलमस्य महाशालिगुणैर्महाशालेर्वा कलमगुणैः कदाचित्सम्बन्धः । मैवम् । यदा कलमो महाशालिक्षेत्रे निष्पद्यते, तदा तयोस्तुल्यगुणत्वात्। स्वक्षेत्रजादेव महाशालेः स्वक्षेत्रज एक कलमो हीनः । एवमितरेष्वपि वाच्यम् । तस्मात्सर्वमेव प्रमाणम् उक्तप्रकारेणाविरोधात् । —सू० ६।५

५. माधवकरोऽप्याह-पटोलपत्रं पित्तघ्नं वल्ली चास्य कफापहा ।
फलं त्रिदोषशमनं मूलं तस्य विरेचनम् ।।—सू० ६।७८

६. उक्तं च माधवकरेण—सा पित्तशमनी पूर्वं दर्शिता वीर्यवादिना ।
शास्त्रकारेण निर्दिष्टा सा सत्यं पित्तकोपिनी ।।
यद्वाऽऽर्द्रा पित्तशमनी शुष्का पित्तप्रकोपिणी ।। इति । सू० ६।१६०

७. मध्वादीनां विरोधमाह—मधुमैरेयेति । मधु—क्षौद्रम्, मार्द्वीकम् इत्यरुणदत्तः । मैरेयो—धान्यासवः इति चन्द्रनन्दनः, खूर्जरासवः इत्यरुणदत्तः इन्दुश्च। मैरेयो-धातुकीपुष्पगुडधान्यक्षसंहितः इति माधवकरः । आसवस्य सुरायाश्च द्वयोरप्येकभाजने। सन्धानं तद्विजानीयान्मैरेयमुभयात्मकम् ।। इति जेज्जटो ब्रह्मदेवश्च । पैष्टीगुडासवमधुभिः पैष्टीमध्वाससगुडैर्वा त्रियोनिः—मैरेयः इति डल्हणः । सर्वमेतत्प्रमाणम् सर्वेषामाप्तत्वात् शंक्यमानस्यापि विरोधस्य परिहरणीयत्वाच्च । शार्करः–शर्कराकृतं मद्यम् । अत्र चकारमनुवर्त्य पद्मोत्तरिकाशाकमनुक्तमपि समुच्चेयम्, चतुर्णां संयोगस्य विरुद्धत्वात् । तथा च चरकः (सू० अ० २६।८६)—पद्मोत्तरिकाशाकं शार्करो मैरेयो मधु च सहोपयुक्तं विरुद्धं वातं चातिकोपयति । इति । संग्रहेऽप्येवमेवोक्तम् । पद्मोत्तरिकाशाकं-कुसुम्भशाकम्।

क्षैरेयस्य मन्थानुपानाद्विरोधमाह—मन्थानुपान इति। द्रवालोडिताः सक्तवो मन्थाः। क्षैरेयः—पायसः।—सू० ७।४०

८. सहात्मना भूतं—सात्म्यम्. आत्मनः सहायभूतमनुकूलं सुखावहमित्यर्थः। तच्च द्विविधं, कृत्रिममकृत्रिमं च। तत्र यदभ्यासेन क्रियते तत्—कृत्रिमम्। उक्तं च संग्रहे (सू० अ०) अहितान्यपि चान्येषामभ्यासादुपशेरते। इति अकृत्रिमं तु द्विविधं. निरुपाधिकं सोपाधिकं च। तत्र दोषादिनिरपेक्षं निरुपाधिकम्, तद्दोषसात्म्याख्यम्। यदाह चरकः—उपशेते यदौचित्याद्दोषसात्म्यं तदुच्यते। इति दोषादिसापेक्षं सोपाधिकम्। तत्र दोषादिविपरीतगुणत्वंउपाधिः यदाह खारणादिः—दोषप्रकृतिदेशर्तुव्याधीनां स्वगुणैः पृथक्। विपरीतगुणैः सात्म्यं तुल्यं चासात्म्यमुच्यते ॥ इति ॥ असात्म्यं तु—यथायथं सात्म्यविपरीतम्। तत्तु कृत्रिमं चिरपरित्यागेन क्रियते। सोपाधिके दोषादितुल्यगुणत्वं उपाधिः सात्म्यासात्म्ये एव निरुपाधिके पथ्यापथ्ये उच्येते। सोपाधिके त्वौषधानौषधे। तत्र विरुद्धभोजनस्य निरूपाधिकासात्म्यस्य कृत्रिमत्वेन सोपाधिकत्वेन वा सात्म्यत्वे सति न पीडाकारत्वम्। निरुपाधिकसोपाधिककृत्रिमाणा मुत्तरोत्तरं बलवत्त्वात्। किमत्र प्रमाणम् ? इति चेत्, निरुपाधिकात्सोपाधिकं बलीय इत्यत्र तावत्संग्रहवचनं प्रमाणम् (सू० अ०९)—दोषादिवैपरीत्येन हरते रोगिणां रुजम्। ऐकध्यं दधिदुग्धादियोजना न विरुध्यते॥ इति। ताभ्यामपि कृत्रिमं बलीय इत्यत्र ऋतुचर्योक्तः ऋतुसन्धिक्रमः। तत्र हि पूर्वर्तुचर्याया उत्तरर्तुसम्बन्धात्सोपाधिकमसात्म्यत्वम्। पूर्वर्तुशीलनाच्च कृत्रिमं सात्म्यत्वम् ॥ उत्तरर्तुचर्यायास्तु तत्सम्बन्धात्सोपाधिकं सात्म्यत्वम्। पूर्वर्ताविशीलनाच्च कृत्रिममात्म्यत्वम्। तत्र कृत्रिमाभ्यां मत्वा तन्निवृत्त्यर्थमृतुसन्धिक्रम उक्तः। देशकालप्रकृतिदोषव्याधिसात्म्यानामुत्तरोत्तरं बलवत्, उत्तरोत्तरमेवान्तरंगत्वात्। अल्पहीनमात्रम्। ननु अल्पमप्यल्पां पीडां करोत्येव तत्कथं न पीडायै ? सत्यम्। करोत्येव। किन्त्वसावल्पत्वेनानभिव्यक्तत्वात् सद्वदुपचर्यते. अनुदरा कन्येतिवत्। असकृदुपयुज्यमाने तु तस्मिन्नभिव्यज्यते एव। सू० ७।४७

९. पुनः पुनरुत्पादो दुष्टबुभुक्षायां भोजनात्। सा तूक्ता संग्रहे (सू० अ० ११) दोषोपनद्धम् इत्यादि (श्लो० १९ टी०)। सू० ८।२८

१०. अतएव विलम्बिकां तां भृशदुश्चिकित्स्याम् इति माधवकरः (मा० नि० (मा० नि० अग्निमान्द्यादौ श्लो०२१)। सू० ८।२८

११. संस्कारस्यानुवर्तनात्—यथा शीतैः संस्कृतं शीतताम्, उष्णैः संस्कृतमुष्णतां भजते इत्यादि। संग्रहे तु (सू० अ० २५)—माधुर्यादविदाहित्वाज्जन्मादेव च शीलनात्। इति। सू० ११।२

शिवदास सेन (१५ वीं शती)
(अष्टांगहृदय-तत्त्वबोध-व्याख्या)

उत्तरतन्त्र

१. मण्डूकपर्णी माण्डूकी वरमादित्यवल्यपि—१।४४

२. आन्ध्यमिति लिंगनाशताम्, उक्तं हि वृद्धवाग्भटे लिंगनाशो नीलिका पटलमान्ध्यमिति पर्यायाः इति (उ०१७ ।अ०)—१३।२

३. उक्तं हि निघण्टौ—सिंही धावनिका क्षुद्रा बृहती कण्टकारिका—१३।५४

४. तथा रत्नप्रभायामपि गुडपाठ एव दृश्यते ।—१३।८२

५. उक्तं हि धन्वन्तरिनिघण्टौ-पृश्निपर्णी पृथक्पर्णी पर्णी क्रोष्टुकपुच्छकेति—१८।२१

६. सर्वं चेदं मध्यवाग्भटेऽप्युक्तम्—वातज ओष्ठकोपे देवदारुगुग्गुलुसर्जरसमधूच्छिष्टसिद्धेन महास्नेहेनाभ्यंगः । तेनैव समधुकचूर्णेन प्रतिसारणम् । एरण्डपल्लवैः क्षीरोत्क्वथितैः नाडीस्वेदः । खण्डोष्ठोक्तं च नावनम्, महास्नेहाक्तेन पिचुना प्रच्छादनम्, शिरोऽभ्यंगश्च ।—२१।५

७. मध्यवाग्भटेऽप्युक्तम्—क्रिमिदन्तसुषिरं स्रावयेत् मधूच्छिष्टेन सर्पिषा पूरयित्वा तप्तशलाकया दहेत् इति ।—२२।२१

८. यदाह वृद्धवाग्भटः—अधिमांसमचिरोत्थितं स्रावयेत् विवृद्धं तु बडिशेन मुचुण्ड्या वा गृहीत्वा मण्डलाग्रेण छित्त्वा तीक्ष्णैः प्रतिसारयेत् इति (उ०२६अ०) तेजोवती चवी मूर्वेत्यन्ये किन्तु चव्येव युक्ता उक्तं—वृद्धवाग्भटवचने तीक्ष्णैरित्युक्तत्वात् ।—२२।३९

९. मध्यवाग्भटेऽप्युक्तम्—उपजिह्विकां शाकपत्रेणांगुलिशस्त्रेण वा परिस्राव्य यवक्षारेण प्रतिसारयेत् इति (उ०२६अ०)—२२।४८

१०. उक्तं हि मध्यवाग्भटे-पक्वस्य मण्डलाग्रेणाष्टापदवद् भेदनं तीक्ष्णैरवघर्षणम्, पटोलारिष्टजातीकरवीरगुडूचीवृषकटुकाहरिद्राद्वयवेत्राग्रकण्टकारिकाक्वाथकवलो मधुतैलं च—इति (उ०२६अ०)—२२।५४

११. उक्तं हि मध्यवाग्भटे—तालुशोषे पिप्पलीनागरसिद्धमोत्तरभक्तिकं सर्पिरतृष्णः पिबेत् । अम्लैश्चास्य गंडूषः पयस्यामधुकमधूलिकाविपक्वं क्षीरसर्पिर्नस्यं स्निग्धो धूमस्तृष्णाघ्नमनुपानम् इति ।—२२।५५

१२. उक्तं हि मध्यवाग्भटे-वातरोहिणिकामन्तर्बहिः स्विन्नामंगुलिशस्त्रेण मधुलवणगर्भेण नखेन वा विस्राव्य तीक्ष्णैः प्रतिसारयेत् । महापंचमूलक्वाथः, पुनर्नवासिंहीकपित्थकल्कपयोविपक्वं गण्डूषो नावनं च—२२।६१

१३. निश्चलेनापि चरकोक्तखदिरगुडिकायां सौवीराजनमिति व्याख्यातम् ।२२।९४

१४. ससर्षपैरित्यत्र ससैन्धवैरिति पाठः चन्द्राटादौ सर्वत्र दृश्यते।—२४।२७

१५. अत्रान्तरे बहव उच्चावचा योगाः शिवागुडिकादयः क्वचिद् क्वचित् दृश्यन्ते। ते च तथाविधेष्वाकरपुस्तकेषु न दृश्यन्ते टीकाकृद्भिश्चोपेक्षिता इति कृत्वा मयापि उपेक्षिता इति।—३९।१२३

१६. महासागरवद् गंभीरो यः संग्रहो वृद्धवाग्भटः तदभिहितानामर्थानामुपलक्षणं सूचनम्।—४०।७९

१७. इदानीमस्य स्वल्पवाग्भटतन्त्रस्य संग्रहाद् वृद्धवाग्भटाख्यात् पृथक्करणे प्रयोजनमाह अष्टांगेत्यादि। अष्टांगं वैद्यकमष्टांग आयुर्वेदः स एव महोदधिः। अष्टांगसंग्रहो वृद्धवाग्भटः स एव महान् अमृतराशिः। तस्मादष्टांगसंग्रहादिदं तंत्रं पृथक् कृत्वा उदितमुक्तम्।—४०।८०

चक्रदत्त-व्याख्या

१. वाग्भटेऽप्युक्तम्—पित्तश्लेष्महरत्वेऽपि कषायस्तु न शस्यते। नवज्वरे मलस्तम्भात् कषायो विषमज्वरम्॥ कुरुतेऽरुचिहृल्लासहिक्काध्मानादिकानपि।" —१।४

२. सन्तर्पणोत्थिते इत्यत्र 'सामे विशेषतः' इति वाग्भटे पाठो दृश्यते।—१।१४

३. किन्तु 'प्राग् लाजपेयां सुजरां सशुण्ठीम्' इति वाग्भटदर्शनात् हरिचन्द्रपक्ष एव समीचीनः यतोऽस्मिन् प्रकरणे तत्र लाजपेया नोच्यते।—१।२३

४. तेन पेयाविलेपीव्यतिरेकेण पृथग् यवागूर्नास्तीत्याहुः, अत एव वाग्भटेऽपि यवागूगुणः पृथङ्नोक्तः।—१।३१

५. यदाह वाग्भटः—पयस्युत्क्वाथ्य मुस्तां वा विंशतिं त्रिगुणेऽम्भसि—इत्यादि। अत्र छागदुग्धमित्याहुर्वृद्धाः। २।३५

६. अयं योगो वाग्भटे अतीसारचिकित्सिते लिखितः।—३।३२-३३

७. वाग्भटे पुनरयं योगो ग्रहणीचिकित्सिते पठ्यते। ४।२९-३७

८. केचित्तु गुडमानाच्चतुर्गुणमिति पठन्ति, तन्न, वाग्भटविरोधात्, प्रभूतशर्कराप्रसंगाच्च।४।२९-३७

९. किन्त्वयं योगो विभीतकामलकयोगात् गुडिकाऽपि क्रियते। यदाह वाग्भटः —४।५८

१०. वाग्भटेऽप्युक्तम्–सकफेऽस्रे पिबेत् पाक्यशुण्ठीकुटजवल्कलम् इति। निश्चलस्तु इन्द्रयवक्वाथ इत्याह।...अन्ये तु उक्तवाग्भटवचनसंवादात् शुण्ठीकुटजवल्कलयोः क्वाथ इत्याहुः। ४।११३

११. वातरोगांश्च हन्यादित्यत्र वाग्भटे "वातगुल्मं निहन्ति" इति पाठः।५।२

१२. यष्टीमधुकशब्देन ब्रह्मयष्टीति श्रीकण्ठदत्तो व्याचष्टे तत्तु न व्यवहारसिद्धं नापि टीकान्तरदृष्टमिति। (२२।२०-२२)

१३. जलं च्यवनमन्त्रेण सप्तवाराभिमन्त्रितं पीत्वेति वृद्धवैद्यव्यवहारः संग्रहकृन्द्धि-लिख्यते न तु सुश्रुतेन।—(६३।२१-२४)

द्रव्यगुणसंग्रह-व्याख्या

१. वाग्भटेऽप्युक्तम्—कषायः कफपित्तघ्नो गुरुर्वस्तिविशोधनः—पृ० ८

२. उक्तं च वाग्भटेन—

जाठरेणाग्निना योगाद् यदुदेति रसान्तरम्।
रसानां परिणामान्ते स विपाक इति स्मृतः॥ पृ० १२

३. एतदेवोक्तं माधवेनापि—

स्वाद्वादीनां स्वादुपाकः सुश्रुताचार्यसम्मतः।
तत्कथं पित्तजननं स्यातामम्लकटू रसौ॥
कटुपाकौ कथं पित्तनाशनौ तिक्ततूवरौ॥ पृ० १८

४. तथा वाग्भटेऽपि स्वादुपाकरसाः स्निग्धाः इत्यादि। पृ० २०

५. अत एव वसन्तचर्यायां वाग्भटेन पुराणयवगोधूमक्षौद्रजांगलशूल्यभुक्—पृ०२२

६. अन्ये तु फलानि माषवद् विद्यात् काकाण्डोमात्मगुप्तयोरिति वाग्भटे द्विवचनं दृष्ट्वा काकाण्डोमा कटभीति व्याचक्षते। पृ० २९

७. उक्तं हि वाग्भटे-वरा शाकेषु जीवन्ती सर्षपस्त्ववरः स्मृतः।—पृ० ४९

८. तदुक्तं हि वाग्भटे-चक्षुष्या सर्वदोषघ्नी जीवन्ती मधुरा हिमा।—पृ० ४९

९. यदाह मूलकगुणे वाग्भटः-वातश्लेष्महरं शुष्कं सर्वमामं तु दोषलम्।—पृ०५०

१० अम्लं पित्तकरं प्रायो दाडिमामलकादृते इति वाग्भटविरोधो दुष्परिहर इत्यवधेयम्।—पृ० ६६

११. किन्तु वाग्भटे वातपित्तास्रकृद् बालमिति दर्शनात् रक्तपित्तकरत्वं चास्य न विरुध्यत इति ज्ञेयम्।—पृ० ६७

१२. यतश्चरकेऽपि दुर्जरं बिल्वसिद्धन्तु इत्यादिना द्विविधमेव वाग्भटेऽप्येवम्।—७३

१३. अत्र देशादिभेदेन क्वथनप्रकर्षापकर्षावपि बोध्यौ यदाह वृद्धवाग्भटः—पृ० ८४

१४. अत्रैवार्थे माधवकरः तन्त्रान्तरमन्यादृशं लिखति यदयथा—

"शारदं सार्धपादोनं पादहीनं तु हैमनम्।
शिशिरे च वसन्ते च ग्रीष्मे चार्धावशेषितम्॥—पृ० ८४

१५. अस्मद्गुरुचरणास्तु द्विविधं हि आन्तरीक्षं लूतादिसंबद्धासंबद्धंच। पृ० ८६

१५. अत एवोक्तं वाग्भटेन विद्याद्दधिघृतादीनां गुणदोषात् यथा पय इति।
—पृ०९७-९८

१७. एवं वाग्भटेऽपि व्रणशोधनसन्धानरोपणं वातलं मध्विति पठ्यते। पृ० १०६

१८. एतेन चरकवाग्भटसुश्रुतैरपि यवागूगुणः पृथङ्नोक्तः।—पृ० १२०

परिशिष्ट २

अष्टांगसंग्रह में निर्दिष्ट आचार्य

१ अगस्त्य
२ अग्निवेश
३ अत्रि
४ अवलोकित
५ अश्विनौ
६ अस्थिक
७ आलम्बायन
८ इन्द्र
९ उशना
१० कपिल
११ कराल
१२ कश्यप
१३ काश्यप
१४ कृष्णात्रेय
१५ कौटल्य, चाणक्य
१६ खण्डकाप्य
१७ गौतम
१८ चरक
१९ जनक
२० तुम्बुरु
२१ दक्ष
२२ धान्वन्तरि
२३ नग्नजित्
२४ नारद
२५ निमि
२६ पराशर
२७ पुनर्वसु आत्रेय
२८ पुष्कलावत
२९ बृहस्पति
३० ब्रह्मा
३१ भरद्वाज
३२ भेल
३३ भोज
३४ माण्डव्य
३५ रुद्र
३६ वशिष्ठ
३७ विष्णु
३८ वैतरण
३९ शिव
४० शंकर
४१ सिंहगुप्त
४२ सुश्रुत
४३ हारीत

परिशिष्ट ३

अष्टांगसंग्रह में निर्दिष्ट भौगोलिक नाम

पर्वत	नदी	समुद्र	प्रदेश	देश
हिमवान्	गंगा	महोदधि	मरु	बाह्लीक
विन्ध्य	तापी	पश्चिमोदधि	प्राच्य	बाह्लव
सह्य	महानदी	सागर	सैन्धव	चीन
मलय	संगम		अश्मक	शूलीक
मेरु			मलय	यवन
महेन्द्र			कोंकण	शक
पारियात्र			अवन्ति	बोक्काण
			उदीच्य	किरात
			दक्षिणापथ	कम्बोज
			मगध	
			विदेह	
			सौराष्ट्र	
			अपरान्त	

परिशिष्ट ४

अष्टांगसंग्रह के औषध-वर्ग (सू. अ. १२-२५) में निर्दिष्ट औषध-द्रव्य

(क) औद्भिद

१ अगस्त्य
२ अगुरु
३ अग्निमुखी
४ अजकर्ण
५ अजगन्धा
६ अजमोद
७ अजशृंगी
८ अजाजी
९ अतिबला
१० अतिविषा
११ अपराजिता
१२ अपामार्ग
१३ अमोघा
१४ अम्बष्ठकी
१५ अम्लवेतस
१६ अरणिका
१७ अरिमेद
१८ अरिष्ट
१९ अर्जुन
२० अलर्क
२१ अशोक
२२ अश्मन्तक
२३ अश्वकर्ण
२४ अश्वगन्धा
२५ अश्वत्थ
२६ असन
२७ आखुपर्णी
२८ आत्मगुप्ता
२९ आमलकी
३० आम्र
३१ आम्रातक
३२ आरग्वध
३३ आर्त्तगल
३४ इक्षु
३५ इक्षुबालिका
३६ इक्षुरक
३७ इक्ष्वाकु
३८ इत्कट
३९ इन्द्रयव
४० इन्द्रवारुणी
४१ इंगुदी
४२ उत्पल
४३ उत्पलिका
४४ उदकीर्या
४५ उदुम्बर
४६ उद्दालक
४७ उपचित्रा
४८ उपोदक
४९ उशीर
५० ऋद्धि
५१ ऋषभक
५२ ऋष्यप्रोक्ता
५३ एरण्ड
५४ एलवालुक
५५ एला (सूक्ष्म)
५६ एला (स्थूल)
५७ ऐरावणी
५८ ओदनपाकी
५९ कच्छुरा
६० कट्फल
६१ कटुक
६२ कटुका
६३ कण्टकारी
६४ कतक
६५ कर्त्तृण
६६ कदम्ब
६७ कदर
६८ कदली
६९ कन्दली
७० कपित्थ
७१ कबरी
७२ कर्कन्धु
७३ कर्कटशृंगी
७४ कर्पूर
७५ कर्बुदार
७६ करमर्द
७७ करवीर
७८ करञ्ज
७९ कसेरुक
८० काकतिक्ता
८१ काकमाची
८२ काकादनी
८३ काकोली
८४ काण्डीर
८५ काण्डेक्षु
८६ काम्पिल्लक
८७ कारवी
८८ कार्पासी
८९ कार्मुक
९० कालमाल

९१ कालवृन्त
९२ काला
९३ कालीयक
९४ काश
९५ काश्मर्य
९५ कासमर्द
९७ किणिही
९८ किंशुक
९९ कुंचिका
१०० कुटज
१०१ कुन्दरुक
१०२ कुबेराक्षी
१०३ कुमुद
१०४ कुलत्थ
१०५ कुलहल
१०६ कुलिंग
१०७ कुवल
१०८ कुष्ठ
१०९ कुंकुम
११० केतकी
१११ केम्बुक
११२ कोरण्ट
११३ कोविदार
११४ कोशातकी
११५ कंकोल
११६ क्रमुक
११७ क्रौंचादन
११८ क्लीतनक
११९ क्षवक
१२० क्षीरिणी
१२१ खदिर
१२२ खर्जूर
१२३ गजपिप्पली
१२४ गण्डीर
१२५ गन्धप्रियंगु
१२६ गुग्गुलु
१२७ गुंजा
१२८ गुडूची
१२९ गुण्ठ
१३० गुन्द्रा
१३१ गोक्षुर
१३२ गोप
१३३ गोलोमी
१३४ घोण्टा
१३५ चक्रमर्द
१३६ चण्डा
१३७ चन्दन श्वेत
१३८ चन्दन रक्त
१३९ चम्पक
१४० चविका
१४१ चित्रक
१४२ चिरबिल्व
१४३ चोच
१४४ चोरक
१४५ छगलान्त्री
१४६ जटिला
१४७ जम्बू
१४८ जातिपत्री
१४९ जाती
१५० जातीरस
१५१ जिंगिणी
१५२ जीमूतक
१५३ जीवक
१५४ जीवन्ती
१५५ ज्योतिष्मती
१५६ तगर
१५७ तमाल
१५८ तर्कारी
१५९ तवक्षीरी
१६० त्वक्
१६१ तामलकी
१६२ ताम्बूल
१६३ ताल
१६४ तालीस
१६५ तिनिश
१६६ तिन्दुक
१६७ तिल
१६८ तिल्वक
१६९ तुम्बरु
१७० तुरुष्क
१७१ तुलसी
१७२ तुंग
१७३ तेजस्विनी
१७४ त्रिवृत्
१७५ दन्ती
१७६ दर्भ
१७७ दाडिम
१७८ दारुहरिद्रा
१७९ दीप्यक
१८० दुरालभा

१८१ दूर्वा
१८२ देवदारु
१८३ द्रवन्ती
१८४ द्राक्षा
१८५ धन्व
१८६ धन्वयास
१८७ धव
१८८ धातकी
१८९ धान्यक
१९० धामार्गव
१९१ ध्यामक
१९२ नन्दीवृक्ष
१९३ नल
१९४ नलद
१९५ नागकेसर
१९६ नागदन्ती
१९७ नागबला
१९८ नालिकेर
१९९ निम्ब
२०० निर्गुण्डी
२०१ नीप
२०२ नीलिनी
२०३ नीलोत्पल
२०४ न्यग्रोध
२०५ पटोल
२०६ पत्तूर
२०७ पत्रक
२०८ पद्म
२०९ पद्मक
२१० पयस्या
२११ पर्पटक
२१२ परिपेलव
२१३ परुषक
२१४ पलाश
२१५ पाटल
२१६ पाटला
२१७ पाटला
२१८ पाठा
२१९ पालिन्दी
२२० पाषाणभेद
२२१ पिप्पली
२२२ पिप्पलीमूल
२२३ पियाल
२२४ पीलु
२२५ पुन्नाग
२२६ पुनर्नवा
२२७ पुष्करमूल
२२८ पूग
२२९ पृश्निपर्णी
२३० प्रतिविषा
२३१ प्रपौण्डरीक
२३२ प्रियंगु
२३३ प्लक्ष
२३४ फणिज्जक
२३५ फल्गु
२३६ बकुल
२३७ बदर
२३८ बन्धुजीवक
२३९ बला
२४० बाकुची
२४१ बालक
२४२ बाष्पिका
२४३ बिभीतक
२४४ बिम्बी
२४५ बिल्व
२४६ बीजक
२४७ बृहती
२४८ ब्राह्मी
२४९ भद्रपर्णी
२५० भल्लातक
२५१ भार्ङ्गी
२५२ भूतकेशी
२५३ भूनिम्ब
२५४ भूर्ज
२५५ भूस्तृण
२५६ मंजिष्ठा
२५७ मण्डूकपर्णी
२५८ मदन
२५९ मधुक
२६० मधुपर्णी
२६१ मधूक
२६२ मरिच
२६३ मरुबक
२६४ मल्लिका
२६५ महानिम्ब
२६६ महामेदा
२६७ मातुलुंगी
२६८ मालती
२६९ माष
२७० माषपर्णी

२७१ मुंजात
२७२ मुद्गपर्णी
२७३ मुस्तक
२७४ मुरङ्गी
२७५ मुष्कक
२७६ मूर्वा
२७७ मूलक
२७८ मृद्वीका
२७९ मेदा
२८० मेषश्रृंगी
२८१ मोचरस
२८२ मोरट
२८३ यव
२८४ यूथिका
२८५ रक्तपुनर्नवा
२८६ रसांजन
२८७ राजक्षवक
२८८ राजादन
२८९ राजिका
२९० रास्ना
२९१ रोध्र
२९२ लज्जालु
२९३ लवंग
२९४ लशुन
२९५ लाक्षा
२९६ लामज्जक
२९७ लांगली
२९८ लिकुच
२९९ वचा
३०० वंजुल
३०१ वरुण
३०२ वर्षाभू
३०३ वशिर
३०४ वसुक
३०५ वाट्यपुष्पी
३०६ वासा
३०७ वास्तुक
३०८ वीरण
३०९ वीरतरु
३१० वृकी
३११ वृक्षरुहा
३१२ वृक्षाम्ल
३१३ वृद्धि
३१४ वृश्चिकाली
३१५ शटी
३१६ शणपुष्पी
३१७ शतावरी
३१८ शताह्वा
३१९ शर
३२० शाक
३२१ शाबरकरोध्र
३२२ शाल
३२३ शालपर्णी
३२४ शालि
३२५ शाल्मली
३२६ शाल्मलुका
३२७ शिग्रु
३२८ शिरीष
३२९ शिशपा
३३० शीतपाकी
३३१ शुक्ति
३३२ शुण्ठी
३३३ श्रृंगाटक
३३४ श्रृंगाटिका
३३५ शेवाल
३३६ शैलेय
३३७ शंखपुष्पी
३३८ शंखिनी
३३९ श्यामा
३४० श्योनाक
३४१ श्रीवासक
३४२ श्लेष्मातक
३४३ षष्टिक
३४४ सदापुष्पी
३४५ सप्तपर्ण
३४६ सप्तला
३४७ समंगा
३४८ सरल
३४९ सरसी
३५० सर्ज
३५१ सर्जरस
३५२ सर्षप
३५३ सल्लकी
३५४ सारिवा
३५५ सिन्धुवार
३५६ सुमनस
३५७ सुवर्णक्षीरी
३५८ सुवर्णत्वक्
३५९ सुषवी
३६० सैरेयक

३६१ सोमवल्क
३६२ सौमनस्या
३६३ स्थपनी
३६४ स्थौणेयक
३६५ स्नुही
३६६ स्पृक्का
३६७ स्पन्दन
३६८ हपुषा
३६९ हरिद्रा
३७० हरीतकी
३७१ हरेणु
३७२ हस्तिकर्ण
३७३ हस्तिपर्णी
३७४ हंसपदी
३७५ हिंगु
३७६ हिंस्रा
३७७ हैमवती
३७८ ह्रीबेर

(ख) जांगम

१ शंख
२ मुक्ता
३ प्रवाल
४ शुक्ति
५ समुद्रफेन
६ नख
७ व्याघ्रनख

(ग) भौम

१ सैन्धव
२ सौवर्चल
३ विड
४ सामुद्र
५ औद्भिद
६ रोमक
७ कृष्ण
८ स्वर्जिक्षार
९ यवक्षार
१० ऊषक
११ सुवर्ण
१२ रूप्य
१३ ताम्र
१४ कांस्य
१५ त्रपु
१६ सीस
१७ कृष्णलोह
१८ तीक्ष्णलोह
१९ पद्मराग
२० महानील
२१ महानील
२२ वैदूर्य
२३ वज्रेन्द्र
२४ स्फटिक
२५ काच
२६ अंजन
२७ स्रोतोऽञ्जन
२८ तुत्थक
२९ कासीसद्वय
३० शिलाजतु
३१ हरिताल
३२ शिलाजतु
३३ गैरिक

गण

त्रिफला
त्रिजातक
चतुर्जात
त्रिकटुक
पंचकोल
महत् पंचमूल
मध्यम पंचमूल
ह्रस्व पंचमूल
जीवन पंचमूल
तृण पंचमूल
वल्ली पंचमूल
कण्टक पंचमूल

परिशिष्ट ५

अष्टांगसंग्रह में निर्दिष्ट तैलयोनि द्रव्य (सं० सू० ६)

उष्णवीर्य

१ एरण्ड
२ तिल
३ सर्षप
४ अतसी
५ कुसुम्भ
६ दन्ती
७ मूलक
८ करञ्ज
९ निम्ब
१० शिग्रु
११ सुवर्चला
१२ इंगुदी
१३ नीम
१४ पीलु
१५ शंखिनी
१६ सरल
१७ अगुरु
१८ देवदारु
१९ शिशपा
२० तुवरक
२१ भल्लातक

शीतवीर्य

१ बिभीतक
२ अतिमुक्तक
३ अक्षोड
४ नारिकेल
५ मधूक
६ त्रपुस
७ एर्वारुक
८ कूष्माण्ड
९ श्लेष्मातक
१० पियाल

परिशिष्ट ६

अष्टागसग्रह म ानादष्ट धान्य (स० सू० ७)

शूकधान्य

१—शालि		२—व्रीहि	३—क्षुद्रधान्य	
रक्त	महिष	षष्टिक	कंगु (प्रियंगु)	शान्तनु
महान्	शूक	महाव्रीहि	कोद्रव	सण्डि
कलम	दूषक	कृष्णव्रीहि	चूर्णा	वेणुपर्णी
तूर्णक	कुसुमाण्डक	जतूमुख	गर्मूटी	प्रशान्तिका
शकुनाहृत	लायल	कुक्कुटाण्डक	चूर्णपादिका	गवेधुक
सारामुख	लोहवाल	लाव	श्यामाक	अण्डलोहित्य
दीर्घशूक	कर्दम	पारावतक	तोयश्यामाक	तोदपर्णी
रोध्रशूक	शीतभीरुक	सूकर	हस्तिश्यामाक	मुकुन्दक
सुगंधक	पतंग	वरक	शिम्बिर	
पुण्ड्र	तपनीय	उद्दालक	शिशिर	
पाण्डु	यवक	उज्वाल	दारु	
पुण्डरीक	हायन	चीन	नीवार	
प्रमोद	पांशु	शारद	वरु	
गौर	वाष्प	दर्दुर	कूबरक	
शारिव	नैषधक	गन्धन	उत्कट	
कांचन		कुरुविन्द	मधूली	

४—यव	५—गोधूम
वेणुयव	

शिम्बी धान्य

मुद्‌ग	चणक
मंगल्य	कुलत्थ
वनमुद्‌ग	निष्पाव
मकुष्ठक	माष
मसूर	काकाण्डोला
चवल (राजमाष)	आत्मगुप्ता
आढकी	कशाम्रशिम्बी

परिशिष्ट ७

अष्टांगसंग्रह में निर्दिष्ट भोज्यप्रकार (कृतान्न)

निरामिष		पेय
मण्ड	अपूप	जल
पेया	धारिका	नारिकेलोदक
विलेपी	इण्डरिका	मन्थ
ओदन	पूर्णकोश	रसाला
कृशर	उत्कारिका	पानक
यूष	पायस	मद्य
खल	पिष्टक	सुरा
काम्बलिक	ओकुल	वारुणी
तिलपिण्याकविकृति	अभ्योष	मधूलक
शुष्कशाक	कुल्माष	अरिष्ट
विरुढक	पलल	मार्द्वीक
शाण्डाकीवटक	पूप	खार्जूर
पर्पट	स्वस्तिक	शार्कर
लाजा	घृतपूर	गौड़
धाना	गुड़पूर	शीधु
पृथुक	संयाव	आसव
सक्तु	मण्डक	मध्वासव
पिण्याक	पोलिका	सुरासव
वेशवार	वल्ल	मैरेय
शष्कुली		धातक्यासव
पूपलिका		द्राक्षासव
मोदक		मृद्वीकासव
		इक्षुरसासव

सामिष	उपदंश	
मांसरस	राग	सौवीरकाम्ल
दकलावणिक	षाडव	शाण्डाकी
वेशवार	सट्टक	निमर्दकत
गुलिका	कट्टर	चन्द्रकान्त
	धान्याम्ल	

परिशिष्ट ८

अष्टांगसंग्रह में निर्दिष्ट कुछ प्रमुख शाक (सं. सू. ८)

पाठा	करीर	अलाबू	नालिका
कासमर्द	पुनर्नवा	कालिंग	मार्ष
सुनिषण्णक	कर्कारु	केम्बुक	द्रोणपुष्पी
सतीन	कोशातक	एर्वारु	चिल्ली
वास्तुक	धामार्गव	तिंडिश	निष्पाव
काकमाची	कोविदार	त्रपुस	लोणीका
चांगेरी	तण्डुलीयक	चिर्भट	आलुक
पटोल	पालक्या	मृणाल	चक्रमर्द
मण्डूकपर्णी	उपोदिका	बिस	वंशकरीर
कर्कोट	चंचु	शालूक	कुसुम्भ
कारवेल्लक	विदारी	शृंगाटक	बिम्बी
नाड़ी	जीवन्ती	कसेरुक	मूलक
कलाय	भण्डी	क्रौंचादन	पलाण्डु
गोजिह्वा	कूष्माण्ड	कलम्ब	सूरण
वार्ताक			

परिशिष्ट ९

अष्टांगसंग्रह में निर्दिष्ट कुछ प्रमुख फल (सं. सू. ७)

द्राक्षा	फल्गु	बिम्ब	वृक्षाम्ल
कदली	श्लेष्मातक	टंक	पीलु
खर्जूर	वाताम	बकुल	प्राचीनामलक
नारिकेल	अभिषुक	धन्वन	कदम्ब
परुषक	अक्षोड	कपित्थ	मातुलुंग
आम्रातक	मुकूलक	सिंचतिका	कोल
ताल	निकोचक	भव्य	लकुच
काश्मर्य	उरुमाण	जम्बू	ऐरावत
राजादन	प्रियाल	उदुम्बर	दन्तशठ
मधूक	तिन्दुक	कमलबीज	अम्लिका
सौवीर	अश्मन्तक	आम्र	करमर्द
बदर	प्रियंगु	लवली	भल्लातक
अंकोल	तूद	बिल्व	पालेवत

परिशिष्ट १०

अष्टांगसंग्रह में निर्दिष्ट जन्तु (सं० सू० ७)

मृग

हरिण
एण
कुरङ्ग
ऋष्य
गोकर्ण
मृगमातृक
कालपुच्छक
चारुष्क
वरपोत
शश

उरण
श्वदंष्ट्र
राम
शरभ
कोहकारक
शम्बर
कराल
कृतमाल
पृषत्

महामृग

महिष
न्यंकु
रोहीत
वराह
रुरु
वारण
सृमर
चमर
खड्ग
गवय

प्रसह

गौ
खर
अश्वतर
उष्ट्र
अश्व
द्वीपी
सिंह
ऋक्ष
वानर
मार्जार
मूषक
व्याघ्र
वृक
बभ्रु
तरक्षु
लोपाक
जम्बुक
श्येन
चाष

उलूक
कुक्कुर
वायस
शशघ्नी
भास
कुरर
गृध्र
वेश्य
कुलिंगक
धूमिक
मधुहा

विष्किर

लाव
वार्तीर
वर्तीक
रक्तवर्त्मक
ककुभ
कपिंजल
उपचक्र
चकोर
कुरुबाहु
वर्तक
वर्तिका
तित्तिर
क्रकर
मयूर
ताम्रचूड़
वरक
गोनर्द
गिरिवर्तिक
सारपद
इन्द्राभ
वरट

प्रतुद

शतपत्र
भृंगराज
कोयष्टि
जीवजीवक
खंजरीट
हारीत
दुर्नामारि
कृश
गृह
लट्वा
लड्डूष
वटहा
गोक्ष्वेड
डिण्डिमाणव
जटी
दुन्दुभि
पाकरि
लोहपृष्ठ
कुलिंगक
सारिका

शुक
शार्ङ्ग
चिरीटी
ककुयष्टिका
मंजुलीयक
दात्यूह
गोपापुत्र
प्रियात्मज
कलविक
परभृत
कपोत
अंगारचूड़क
पारावत
पाणविक

जलचर

हंस
सारस
कादम्ब
वक
कारण्डव
प्लव
मृणालकण्ठ
चक्रवाक
बलाका
रक्तशीर्षक
उत्क्रोश
पुण्डरीकाक्ष
शरारी
मणितुण्डिक
काकतुण्ड
घनाराव
मद्गु
क्रौंच
अम्बुकुक्कुट
नन्दीमुख
मल्लक

मत्स्य

रोहित
पाठीन
कूर्म
कुम्भीर
कर्कट
शुक्ति
शङ्ख
उद्र
शम्बूक
शफरी

वर्मि
चन्द्रिका
चुल्लकी
नक्र
मकर
शिशुमार
तिमिंगल
राजी
चिलचिम

बिलेशय

श्वेत काकुली
श्याम काकुली
चित्रपृष्ठ काकुली
कालक काकुली
मृग
भेक
चिल्लट
कूचीका
गोधा
शल्लक

शशक
वृष
अहि
कदली
श्वावित्
नकुल

कीट (सं० उ० ४३)

वायव्य १८

कुम्भीनस	शराव
तुण्डिकेरी	कुर्द
शृंगी	परुष
शतकुलीरक	चित्रशीर्ष
उच्चिटिङ्ग	रजाक
अग्निनामा	
चिच्चिटांग	
मयूरक	
अहिज	
उरभ्रक	
आवर्त्त	
शारिकामुख	
वैदल	

सौम्य १३

विश्वम्भर
पञ्चशुक्ल
पञ्चकृष्ण
कोकिल
स्थैर्यक
प्रचलाक
वटभ
किटिभ
जटी
सूचीमुख
कृष्णगोधा
दभ्र
काषायवासिक

आग्नेय २४

कौण्डिन्यक	अरिमेदक
कणभक	दुन्दुभि
वरटीपत्र	पंककीट
वृश्चिक	मकर
विनासिका	शतपाद
ब्राह्मणिका	पञ्चाल
बिन्दुल	पाकमत्स्य
भ्रमर	सूक्ष्मतुण्ड
बाह्यकी	गर्दभि
पिच्चिट	क्लीत
कुम्भी	कृमिसरारी
वर्चःकीट	

संकीर्ण १२

तुंगनास
विपिलिक
तलक
वाहक
कोष्ठागारी
कृमिकर
मण्डलपुच्छक
तुण्डनाभ
सर्षपक
मद्गुलि
शम्बूक
अग्निकीट

परिशिष्ट ११

चक्रदत्त (११वीं शती) में उद्धृत वाग्भट के औषध-योग

योग	अधिकार
१ गुडूच्यादि पंचघृत	ज्वर
२ इन्द्रयवक्वाथ	अतीसार
३ कपित्थाष्टक चूर्ण[1]	ग्रहणी
४ दाडिमाष्टक चूर्ण	"
५ वार्त्ताकु गुटिका	"
६ शूरणपुटपाक	अर्श
७ प्राणदा गुटिका[2]	"
८ शूरणपिण्डी	"
९ हिंग्वष्टक चूर्ण[3]	अग्निमान्द्य
१० पाराशरघृत	राजयक्ष्मा
११ नागबलाघृत	"
१२ दशमूलादि घृत	कास
१३ बृहत् कण्टकारी घृत	"
१४ रास्नाद्य घृत	"
१५ अगस्त्य हरीतकी	"
१६ तृष्णाहर योग (श्लो० ५)	तृष्णा
१७ केतक्याद्य तैल	वातव्याधि
१८ नागरादि कल्क	गुल्म
१९ पूतीकपत्रादि लवण	"
२० कफमेहहर क्वाथ (श्लो०११,१२)	प्रमेह
२१ रोहीतकघृत	प्लीहयकृत्
२२ अजाज्यादि चूर्ण	शोथ
२३ गोधूमकल्कप्रयोग	वृद्धिब्रघ्नप्रयोग

---

१. यह योग अष्टांगहृदय के अतीसाराधिकार में पठित है।

२. यह योग अष्टांगहृदय के ग्रहणी-अधिकार में पठित है।

३. यह योग अष्टांगहृदय के गुल्माधिकार में पठित है।

२४ काकप्रयोग	वृद्धिव्रध्नप्रयोग
२५ अभयादि वर्त्तिका	व्रणशोथ
२६ व्रणधूपन (श्लो०४२)	"
२७ शल्यापगमे विधिः (श्लो०५८)	"
२८ जातिकाद्य घृत	"
२९ रक्तस्राव-चिकित्सा (श्लो०६२–६३)	"
३० शल्यजनाडीव्रणचिकित्सा (श्लो०४)	नाडीव्रण
३१ सर्षप्यधिमन्थचिकित्सा	शूकदोष
३२ अलजीचिकित्सा	"
३३ पुष्कर्यादि चिकित्सा	"
३४ उत्तमाचिकित्सा	"
३५ भृष्टसर्षपकल्कप्रयोग	कुष्ठ
३६ विचर्चिकाहर लेप (श्लो०३७)	"
३७ भल्लातकादि लेप	"
३८ शशांकलेखादि चूर्ण	"
३९ पंचतिक्तघृत गुग्गुलु	"
४० न्यग्रोधादि लेप	विसर्प-विस्फोट
४१ त्रिफलादि लेप	" "
४२ शुकतर्वादि लेप	" "
४३ व्यंगहर लेप (श्लो०४४)	क्षुद्ररोग
४४ अधिजिह्वा-चिकित्सा	मुखरोग
४५ दार्वीरसक्रिया	"
४६ शतावर्यादि तैल	कर्णरोग
४७ जीवनीयाद्य तैल	"
४८ शुण्ठ्यादि तैल, घृत	नासारोग
४९ मन्थ-चिकित्सा	नेत्ररोग
५० दन्तवर्त्ति	"
५१ दूर्वादि लेप	"
५२ पयस्यादि लेप	"
५३ तुत्थकाद्यंजन	शिरोरोग
५४ प्रपौण्डरीकाद्य तैल	योनिव्यापत्
५५ वचादि कल्क	"

५६ नतादि तैल	योनिव्यापत्
५७ रजन्यादि चूर्ण	बालरोग
५८ पंचकोल चूर्ण	"
५९ वल्लूर प्रयोग	"
६० दन्तोद्भमे विधिः (श्लो० ५२)	"
६१ दशांग अगद	विष
६२ श्वेतसर्षप प्रयोग	"
६३ नतकुष्ठ प्रयोग	"
६४ अश्वगन्धा रसायन	रसायन
६५ शिवागुटिका	"
६६ तैलप्रयोग (श्लो०३)	स्नेह

—०—

काव्य—वृन्दमाधव (९ वीं शती) में इस सूची के अधिकांश योग आये हैं। इससे प्रतीत होता है कि वाग्भटोक्त योगों का प्रचार क्रमशः बढ़ता गया है।

शब्दानुक्रमणिका

अ

——:o:——